भारतीयता की आत्मा, भारत की एकता के प्रतीक
राष्ट्रपति पूज्य राजेन्द्रबाबू
को
जिनके चरणों में बैठ मैंने
गुरु का ज्ञान, पिता की
सीख और मां की
ममता प्रसाद
रूप में
पाई

जनभारती की आत्मा, भारत की एकता के प्रतीक
राष्ट्रपति पूज्य राजेन्द्रबाबू
को
जिनके चरणों में बैठ मैंने
गुरु का ज्ञान, पिता की
सीख और मां की
ममता प्रसाद
रूप में
पाई

प्रकाशकीय

प्रति वर्ष हिंदी में प्रकाशित होनेवाले शोध-प्रबंधों की संख्या राष्ट्रभाषा में उद्भूत स्वस्थ चेतना का लक्षण है। पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबंध—'भारतीय नेताओं की हिंदी-सेवा'—हिंदी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें गौरव का अनुभव हो रहा है—एक तो इसलिए कि अपनी संस्था के प्रारंभिक काल में ही हमने शोध-प्रबंध के प्रकाशन जैसे गुरुतर और महत्त्वपूर्ण कार्य का यथेष्ट सफलतापूर्वक सम्पादन किया है; दूसरे, प्रस्तुत शोध-प्रबंध विषयवस्तु एवं दिशा-बोध की दृष्टि से अपने ढंग का प्रथम और अनुपम प्रयास है।

प्रायः शोध-प्रबंधों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—तथ्य-शोधक तथा तत्व-शोधक। परंतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध में दोनों का समन्वित रूप उपस्थित किया गया है। जननायकों के राष्ट्रभाषा के लिए किये गए प्रयासों का आकलन, संकलन तथा निरूपण करके जहां लेखिका ने अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर किया है, वहां उन्होंने उन प्रयासों के अंतरंग में व्याप्त तथा गतिशील बौद्धिक चेतना का विवेचन भी किया है। भारतीय नेताओं के राजनैतिक व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व पर प्रकाश डालनेवाले ग्रंथ तो हिंदी में पर्याप्त लिखे और प्रकाशित किये गए हैं, कुछेक प्रमुख साहित्यिक नेताओं के साहित्य की समालोचना भी यत्र-तत्र मिल जायगी। परन्तु संभवतः हिंदी मे अबतक ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं था, जिसमें गत सौ वर्षों के राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर भारतीय नेताओं के उन प्रयासों तथा कृत्यों का मूल्यांकन किया गया हो, जिनके द्वारा हिंदी राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हो सकी तथा जिन्होंने उसे प्रभावित किया। प्रस्तुत शोध-प्रबंध इसी अभाव की पूर्ति है।

"कुछ दिनों के बाद ये बातें अतीत के गर्त में चली जायंगी और लोग इन्हें भूल जायंगे। श्रीमती दरबार ने बड़े परिश्रम से यह सामग्री एकत्र की है। उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार के पर्यावरण में जन-जीवन की उदीयमान भावनाओं ने जननायकों और जनसेवकों को प्रोत्साहित और स्फूर्त किया और किस प्रकार हिंदी-साहित्य का विकास नेताओं से अनुप्राणित हुआ . . ."

डा. सम्पूर्णानन्द द्वारा लिखे गए प्राक्कथन की उपर्युक्त पंक्तियां वस्तुतः ग्रंथ के लिए सर्वथा सुयोग्य प्रमाण-पत्र हैं, क्योंकि उनके राजनीतिक व्यक्तित्व में एक समर्थ और जाग्रत साहित्यकार निवास करता है।

प्राक्कथन-लेखन के लिए हम श्रद्धेय सम्पूर्णानन्दजी के अत्यन्त आभारी हैं।

आशा है, जनता जनार्दन को यह ग्रंथ सराहनीय लगेगा और अध्ययनशील विद्यार्थियों को उपादेय।

१९-१२-६१ —संचालक

विषय-सूची

प्राक्कथन

कोई भी भाषा हो उसकी उन्नति उन लोगों पर निर्भर करती है, जो उसको अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। राजाश्रय हो या न हो, परन्तु यदि विचारों में प्राण हैं तो वे अपने लिए स्वयं लोकाश्रय प्राप्त कर लेते हैं, जो राजाश्रय की अपेक्षा सर्वथा उपादेय और बलवत्तर है। इसका पुष्ट उदाहरण हिन्दी और उर्दू के वाङ्मय से मिलता है। उर्दू को लखनऊ के नवाबों का पूरा सहारा प्राप्त था, दिल्ली की ढलती बादशाहत ने भी उसका यथाशक्य पुष्ट-पोषण किया, पर वह बहुत ही सीमित परिधि के भीतर बंधकर रह गई, जनता तक न पहुंच पाई। कुछ तो भाषा कृत्रिम थी और कुछ विचार दुर्बल थे। केवल श्रृंगार मनुष्य-जीवन का सर्वस्व नहीं है। इसके विपरीत भले ही शाही दरबारों में उसकी पहुंच न हुई हो, परन्तु हिन्दी की रचनाएं नगर और ग्राम में, स्त्री, पुरुष, वृद्ध और बालक की जुबानों पर फैली हुई हैं, इसलिए कि भाषा को सरलता के साथ-साथ उन्होंने जीवन के उन पहलुओं को भी अपनाया, जिनकी उर्दू में उपेक्षा की गई। उनके क्षेत्र में श्रृंगार के साथ-साथ वीर, करुण और शान्त के लिए भी जगह थी।

जैसा कि ग्रंथकर्त्ता ने लिखा है, वाङ्मय का मुख्य स्रोत जन-जीवन है। जन-जीवन की प्रतिच्छाया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य पर पड़ती है और फिर साहित्य उसको प्रभावित करता है। इस बात के उदाहरण के लिए भी हमको दूर जाने की आवश्यकता नहीं, हिन्दी के इतिहास में ही प्रचुर सामग्री देख पड़ती है। पिछले सौ वर्षों से पूर्व का जमाना हमारे लिए एक प्रकार से सुसुप्ति का युग था। उत्तर भारत, जहां हिन्दी-भाषी रहते हैं, पूर्णतया पठान और मुगल शासन के अधीन था। बड़े से बड़े राजपूत नरेश भी पठानों और मुगलों के करद थे। यदि देवालयों में घंटे बजते थे और दीपक जलते थे तो मुसलमान शासकों की कृपा से। हिन्दू आत्मसम्मान खो बैठा था। जहां जन-जीवन की यह अवस्था हो वहां उत्कृष्ट साहित्य की आशा निष्फल होती है। और बातों से मन हटाकर विलासिता में ही आत्म-विस्मृति होती थी और गम गलत किया जाता था। काव्य की रचना इन कारणों से की जाती है।

काव्यम् यशसऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये
सद्यः परनिवृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे

यश, अर्थ आदि की लालसा तो कवि को थी परन्तु दासता के उस काल में 'शिवेतरक्षिति' की बात कहां सोची जा सकती थी? सबसे बड़ा अशिव तो राज-नीतिक गुलामी थी। जबतक खुलकर उसे दूर करने की बात न की जाय तब-

तक सत् साहित्य कैसे तैयार होता ?

मै जानता हूं कि उन दिनों प्रभूत भक्ति-साहित्य तैयार हुआ। राष्ट्र में भक्ति का इतना प्रचंड प्रवाह दासता युग की ही देन था। इस्लाम के ईश्वर की परछाईं पड़ने से हिन्दुओं का ईश्वर भी इतना शक्तिशाली हो गया था, जितना वह पहले कभी नहीं था। भक्ति की रचनाओं में ईश्वर के सामने नाक रगड़कर भिक्षा मांगने का जितना प्राचुर्य है, उसका शतांश भी वैदिक वाङ्मय में नहीं मिल सकता। जो यह भूल गया है कि मै अमृतस्यपुत्राः में से हूं, उसीको पद-पद पर दुर्बल के बल राम याद आते हैं, और वही रोकर कहता है "मैं हरि पतित पावन सुने।"

संस्कृत-साहित्य में भी प्रायः यही बात देख पड़ती है। देश की प्रतिभा पर तुषारपात-सा हो गया था। इन सैकड़ों वर्षों में शायद ही कोई मौलिक ग्रंथ लिखा गया होगा। टीकाओं की भरमार थी। जहां साहित्य इस ओजहीन लोक-जीवन से प्रभावित हुआ था, वहां वह उसको अपनी ओर से प्रभावित भी कर रहा था। अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करनेवाला कृष्ण आंखों से ओझल हो गया था। जिस कृष्ण को लोगों के सामने रखा जाता था वह कभी स्नान करती हुई स्त्रियों के कपड़े चुराता था, कभी राधा के पीछे ब्रज की गलियों की धूल छानता फिरता था। महाभारत का पढ़ना अशुभ माना जाने लगा था। योग और वेदान्त का फैशन उठ गया था। अब गीध और तोता पढ़ानेवाली गणिका का आदर्श सामने था। नायिकाएं कितने प्रकार की होती है, इसको समझाना कवियों का कर्तव्य हो गया था। बख्तियार खिलजी के ३० सवारों के सामने राज छोड़कर खिड़की के रास्ते भाग जानेवाले गौड़ नरेश के दरबार के महाकवि जयदेव ने जिस बात को संस्कृत में कहा था :

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः

उसी बात को अपनी-अपनी प्रगल्भता दिखलाते हुए कहने में हिन्दी कवि भी अपनेको धन्य मानते थे। बिगड़े जन-जीवन को और बिगाड़ा जा रहा था।

सदैव से ऐसा नहीं रहा है। हमारे देश में ऐसे कई व्यक्ति हो गये है, जो जाग्रत जन-जीवन के नेता थे। उससे प्रभावित हुए थे और उसको प्रभावित करते थे। उन्होंने वाङ्मय की सेवा की है और उनकी रचनाएं अपने-अपने क्षेत्र में अमर हैं। रामायण और महाभारत को जाने दीजिये। कालिदास को लीजिये, रघुवंश में दिग्विजय का और उसके बाद के अश्वमेध का कैसा जीता-जागता चित्र है। एक पंक्ति में कैसे स्फूर्तिदायक शब्द भरे हे।

शतारिकल आयत इषुप्रथम, शत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुद्रः

मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना की।

सम्राट् हर्षवर्धन नाटककार थे, विजयनगर साम्राज्य के सूत्रधार सायण ने वेदों का भाष्य किया।

अस्तु, उस दासता के युग ने भी, जिसने भारत के राष्ट्रीय जीवन–मैं राष्ट्रीय जीवन शब्द का प्रयोग केवल राजनीतिक अर्थ में नहीं कर रहा हूं—और उसकी अभिव्यक्ति भारतीय वाङमय को कलुषित कर रखा था, पलटा खाया। राष्ट्र की प्रसुप्त आत्मा ने अगड़ाइयां ली। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन अच्छा था या बुरा, परन्तु उसने इस देश के निवासियों को गुलामी के एक सूत्र में बांधकर सम्भूय समुत्थान, मिलकर उठने की ओर प्रेरित किया और अस्पष्ट रूप से लोगों की चेतना में स्वतंत्रता के उस बीज का वपन किया, जो अन्त में १५ अगस्त १९४७ को स्वाधीन भारत के रूप में विश्व के सामने प्रकट हुआ। यह ऐतिहासिक सत्य है कि यह बीज भारत के हिन्दी-भाषी खंड में ही सबसे पहले अंकुरित हुआ। सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम में सबसे पहले शहीद उत्तर प्रदेश में मंगल पांडे हुए। लखनऊ, कानपुर, मेरठ, झांसी के नाम इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगे। नानासाहब, तातिया टोपे, लक्ष्मीबाई, हजरतमहल, बाबू कुंवरसिंह के नाम अमर हैं। भले ही वह युद्ध असफल रहा हो, परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी-कभी पराजय विजय से भी अधिक गौरव प्रदान करती है। इसके बाद भी देश में जब-जब स्वाधीनता के लिए आन्दोलन हुआ, महात्माजी के नेतृत्व में २५ वर्ष तक जो संग्राम चलता रहा, उसमें सारे देश की जनता ने आत्मोत्सर्ग और वीरता का अपूर्व परिचय दिया और उसका प्रभाव उस प्रदेश के साहित्य पर स्पष्ट रूप से पड़ा, परन्तु यह संतोष की बात है कि इस प्रकार के आन्दोलनों में हिन्दी-भाषी प्रदेशों के निवासियों का स्थान बहुत ऊंचा रहा है। धन और जन दोनों ही दृष्टियों से इन प्रदेशों ने देश की बलिवेदी पर जो समर्पण किया है, वह आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए अविस्मरणीय रहेगा। इस जाग्रत जनजीवन का साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। जब किसी देश में जागृति-काल आता है, स्वप्नोत्थित राष्ट्र जब जगत में अपने अनुरूप स्थान प्राप्त करने के लिए यतमान होता है, तो उसकी प्रतिभा चतुर्दिक फैलती है, केवल राजनीति तक सीमित नहीं रहती। इस युग में हिन्दी ने बड़े उत्कृष्ट कोटि के लेखकों को जन्म दिया। एक और बात हुई। हिन्दी को किसी ने राष्ट्रभाषा माना हो या न माना हो परन्तु देश में इसके बराबर किसी अन्य प्रादेशिक भाषा का प्रचुर नहीं है। इस बात की ओर लब्धप्रतिष्ठ लोकनायकों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी को आर्य भाषा के नाम से अपनाया और उसको अपने प्रचार का माध्यम बनाया। लोकमान्य तिलक ने भी इसकी

महत्ता को स्वीकार किया। महात्माजी ने हिन्दी को जो स्थान दिया और उनके प्रसाद से हिन्दी का जो अभ्युदय हुआ, वह हमारे सामने की बात है। इन बातों का स्वभावतः यह परिणाम हुआ कि हिन्दी बहुत व्यापक रूप में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। यों तो पिछले सौ वर्षों में सभी भारतीय भाषाओं ने अभूतपूर्व प्रगति की है और हमारे देश में कई ख्यातनामा लेखकों ने जन्म लिया है, परन्तु जैसा कि श्रीमती दरबार ने लिखा है, इस दृष्टिकोण से हिन्दी बहुत ही भाग्यशाली रही है।

मैंने ऊपर इस बात की ओर संकेत किया है कि संस्कृत वाङ्मय के विकास में कई ऐसे व्यक्तियों का सक्रिय योगदान हुआ, जो शासक या सेनानी के रूप में राजकार्य में आचूड़ान्त डूबे हुए थे। हिन्दी को भी इस बात का गौरव है कि पिछले सौ वर्षों में जिन लोगों को अपने अश्रान्त परिश्रम से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने का श्रेय है, उनमें कुछ सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का मूर्द्धन्य स्थान है। इसी प्रकार हिन्दी के वाङ्मय भंडार में राजनीतिक क्षेत्र में काम करने-वालों ने ऐसी कृतियां अर्पित की हैं, जिनसे उसकी श्रीवृद्धि हुई है। सच तो यह है कि आज से कुछ दिन पहले तक हिन्दी की सेवा करना भी एक प्रकार का राजनीतिक कार्य था। जो लोग इस काम में पड़ते थे, उनको तत्कालीन सरकार की अप्रसन्नता का भाजन बनने के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता था। सरकार की कोप दृष्टि के कारण जिन सम्पादकों को कष्ट उठाने पड़े और जो समाचारपत्र काल-कवलित हो गये, उनमें हिन्दी के सेवकों की पर्याप्त संख्या थी।

कुछ दिनों के बाद ये बातें अतीत के गर्त में चली जायंगी और लोग इन्हें भूल जायेंगे। श्रीमती दरबार ने बड़े परिश्रम से यह सामग्री एकत्र की है। उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार के पर्यावरण में जन-जीवन की उदीयमान भावनाओं से जननायकों और जनसेवकों को प्रोत्साहित और स्फूर्त किया और किस प्रकार हिन्दी-साहित्य का विकास नेताओं से अनुप्राणित हुआ। साहित्य के द्वारा अशिव की हानि और शिव की स्थापना का सन्देश घर-घर पहुंचता है। कान्तासम्मित उपदेश-विधि से साहित्य जन-जीवन में उदात्त गुणों का उद्रेक करता है और इस प्रकार जनता को सद्धर्म के कठिन मार्ग पर चलने की शक्ति प्रदान करता है।

मुझे श्रीमती ज्ञानवती दरबार की यह कृति सर्वथा उपादेय प्रतीत हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन और ऐतिहासिक हिन्दी-[illegible]

[illegible] त्रिवेदी

८२, पार्क रोड, लखनऊ

१ दिसम्बर, १९६६

विषय-प्रवेश

इस शोध-प्रबन्ध में ली हुई सौ वर्ष की अवधि हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण अवधि है। सौ वर्ष किसी भी जीवित और प्रचलित भाषा को उन्नत करने के लिए पर्याप्त होते हैं और वास्तव में इस शताब्दी में हिन्दी-समेत भारतीय भाषाओं ने अप्रत्याशित प्रगति की है। यदि यह संभव हो कि उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध का कोई व्यक्ति हिंदी के आज के विकसित स्वरूप का अवलोकन कर सके, तो निस्संदेह वह चकित हुए बिना नहीं रह सकेगा। जो भाषा विगत शताब्दी के मध्य तक सब दिशाओं व सब विषयों में अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ़ रही थी और जिसके गद्य को आगे बढ़ाने के लिए अधिकतर देश के गौरवमय अतीत की एक झलक और तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न भावना तथा महत्वाकांक्षा ही थी, जिसकी गद्य-शैली अभी शैशवकाल में प्रवेश किया ही चाहती थी, वह भाषा साहित्यिक दृष्टि से किसी भी अन्य समृद्ध मानी जानेवाली भाषा की भांति आज समुन्नत है और सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से उसने एक महान देश के दीर्घ-कालीन सफल स्वाधीनता-आन्दोलन का भार वहन किया है तथा आज वह इस बहुभाषी भूखंड को एक गणराज्य रूपी एकता के सूत्र में पिरोने की क्षमता रखती है।

यह समझना गलत होगा कि इन वर्षों में यह प्रगति हिन्दी ने ही की है। जनजागरण के अनुकूल वातावरण में सभी भाषाएं पली और फली-फूली हैं। संभव है, उनमें से कतिपय भाषाओं ने हिन्दी से भी अधिक पुष्टि पाई हो, परन्तु कम-से-कम व्यापकता की दृष्टि से हिन्दी ही सब जगह सबसे पहले पहुंच पाई है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी विद्यार्थी अथवा इस भाषा का कोई भी हितैषी यह दावा नहीं करेगा कि साहित्यिक सौष्ठव का एकाधिकार हिन्दी को ही मिला है अथवा और कोई भी भाषा इससे अधिक समृद्ध नहीं हो पाई है। किन्तु फिर भी हिन्दी का रूप सार्वदेशिक है और इसके भविष्य का हित-चिन्तन एक राष्ट्रीय प्रश्न माना जाता है, तो उसके कुछ कारण हैं। वे ही कारण हिन्दी की विशेषता हैं, जिन्हें हृदयंगम किये बिना हिन्दी के महत्व को अथवा उसके विकास-क्रम को समझना असंभव है। इसलिए उस विशेषता का सविस्तर विवेचन अनिवार्य है।

आधुनिक युग की अनेक सुविधाओं, जैसे मुद्रण, विज्ञान की प्रगति, पाश्चात्य ज्ञान का संसर्ग और पारस्परिक प्रभाव, रेल तथा यातायात की अन्य सुविधाओं के कारण देश-विदेश के लोगों का सहज संपर्क, सामाजिक तथा राज-नीतिक विचारधारा में उथल-पुथल व परिवर्तन, सार्वजनिक शिक्षा की परि-

कल्पना—ये सब कारण ऐसे हैं, जिनके प्रभाव से किसी भी भाषा के प्रवाह को गति मिलनी स्वाभाविक है। इसलिए आर्य-परिवार की बंगला, गुजराती, मराठी आदि और द्रविड़-परिवार की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम आदि भाषाएं इस काल में उन्नत ही नहीं हुईं वरन पूर्णरूप से प्रौढ़ बनीं। इस प्रगति की दृष्टि से हिन्दी और अन्य भाषाओं में समानता है। तो फिर हिन्दी की विशेषता क्या है?

१. जहां अन्य भाषाओं के विकास का आधार अधिकांशतः साहित्यिक गतिविधि ही है, वहां साधारणतः हिन्दी के विकास के कारण साहित्यिक और साहित्येतर दोनों ही तथ्य हैं। यद्यपि बंगला, मराठी आदि में भी आंदोलनों की चेतना का स्वर मुखरित हुआ है, किन्तु हिन्दी की तुलना में उनकी व्यापकता कम है। कोई भी गतिविधि, चाहे वह सामाजिक हो या राजनीतिक, धार्मिक हो या सांस्कृतिक, ऐसी नहीं जिसने अनायास ही हिन्दी के विकास में हाथ न बंटाया हो।

२. बंगला तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाएं क्षेत्र-विशेष के आंदोलनों से ही मुख्यतः प्रभावित तथा संबंधित हुई हैं, किन्तु हिन्दी की विशेषता यह है कि यह अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के आन्दोलनों में भी पनपती आई है। ब्रह्मसमाज का जन्म कलकत्ता में हुआ और आर्यसमाज की नींव बम्बई में रखी गई, किन्तु इन दोनों ही संस्थाओं ने हिन्दी को प्रोत्साहन ही नहीं दिया, अपितु एक स्वर से उसे अखिल भारतीय भाषा माना तथा क्रमशः अपने-अपने प्रचार का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया।

३. कोई भी आन्दोलन इस अवधि में ऐसा नहीं हुआ, जिसके प्रणेताओं ने उसे राष्ट्र-व्यापी रूप देना न चाहा हो और हिन्दी की व्यापकता से प्रभावित होकर उसके प्रचारार्थ हिन्दी के उपयोग को अनिवार्य न समझा हो। धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के पश्चात जब विशुद्ध राजनीतिक आन्दोलन की बारी आई तो महात्मा गांधी से लेकर छोटे-बड़े सभी राष्ट्रीय नेताओं ने आन्दोलन के प्रसार और सफल संचालन के लिए हिन्दी को आवश्यक समझा। इसलिए सहज ही परिस्थितियों द्वारा और दूरदर्शी नेताओं के निर्देशन द्वारा हिन्दी पर अखिल भारतीयता की छाप लग गई।

४. हिन्दी का वंशानुक्रम तथा उसकी परंपरा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी ऐसी है, जिससे नेताओं की यह धारणा पुष्ट होती है। बुद्धोत्तर काल की भाषाओं तथा उपभाषाओं के उदय और अस्त की पूरी कहानी यदि लिखी जाय तो उससे निस्संदेह यह निष्कर्ष निकलेगा कि यद्यपि आर्य-परिवार की सभी भाषाओं की उत्पत्ति प्राचीन प्राकृतों और अपभ्रंश से हुई है, तथापि हिन्दी ही वह भाषा है, जो समस्त देश में समय-समय पर प्रयुक्त होनेवाली बोलियों की एकमात्र उत्तराधिकारिणी है। प्राचीन और मध्यकालीन उपलब्ध साहित्यिक सामग्री इस तथ्य

का प्रमाण है और हिन्दी को राष्ट्रभाषा की पदवी दिलाने का सुदृढ़ आधार है। हिन्दी के विकास-क्रम में इस तथ्य को प्रायः सभी साहित्यिकों ने सर्वप्रथम माना है और हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने इसपर यथेष्ट बल दिया है। इसकी पुष्टि के लिए मैं यहां दो विद्वानों के मतोद्धरण देती हूं। सबसे पहले हम सुप्रसिद्ध भाषाविद् और कलकत्ता विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष, डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी के विचार को देखें। अपनी पुस्तकों, विशेषकर 'आर्य भाषा-परिवार और हिन्दी' तथा फुटकर साहित्यिक निबन्धों में उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। १९५० में जब स्वतंत्र भारत के संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया, उस समय उन्होंने हिन्दी-संबंधी अपनी समस्त खोजों तथा धारणाओं का निचोड़ 'विशाल भारत' में प्रकाशित 'हिन्दी की महत्ता तथा उसका दायित्व' शीर्षक अपने लेख में इस प्रकार दिया है :

"पिछले काल में संस्कृत परिवर्तित होकर प्राकृत और अपभ्रंश में रूपान्तरित हो गई, परन्तु मध्यदेश की प्राकृत, जो संस्कृत का ही परिवर्तित रूप थी, संस्कृत की ही राह पर चली। बुद्धदेव के समय में अर्थात् ईसा के पूर्व सहस्राब्दी के मध्य-भाग में संस्कृत जब कुछ पुरानी और अप्रचलित होनेवाली हो गई, तब लोक-भाषा—प्राकृतों के पक्ष में बौद्ध और जैन-धर्म नेताओं ने जनता में प्रवृत्ति ला दी। इसका यह फल हुआ कि आम लोगों में चालू, मौलिक या घरेलू बोलियों में साहित्य-सर्जन का आरंभ हुआ।. . . बुद्धदेव ने तो साफ-साफ कह दिया था कि अपने उपदेश लोग अपनी-अपनी भाषाओं या बोलियों में सुनें। उनकी शिक्षा पहले-पहल मगध की बोली में ही दी गई थी। शिक्षापदों का पहला संग्रह इसी प्राच्य या पूरब की मागधी भाषा में हुआ था। पर तुरन्त बुद्ध-वचनों के विभिन्न अनुवाद विभिन्न प्रांतिक भाषाओं में होने लगे। ऐसे ही जब प्राकृत परिवर्तित होकर अपभ्रंश की अवस्था में आ पहुंची, तब भी हम देखते हैं कि और सब प्रांतिक अपभ्रंशों का शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रंश के सामने कोई भी मर्यादापूर्ण स्थान नहीं था। लगभग ईस्वी ८०० से शुरू होकर १२००-१३०० तक शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो नागर अपभ्रंश भी कहलाने लगी, उत्तर भारत के लिए एक विराट साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश का ही स्थान उस समय था।...इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि लगभग १००० ई० सातो में किसी उत्तर भारतीय आर्यभाषी को यदि देशाटन करना और साथ-साथ साधारण जनों से तथा शिष्ट जनों से मिलना होता तो संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी अपभ्रंश के बिना उसका काम ही नहीं चलता। शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों

की अन्तःप्रांतीय भाषा ही थी। और क्योंकि आजकल की ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि विभिन्न प्रकार के हिन्दी-रूपों का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है, हमें यह कहना होगा कि अब की तरह एक हजार बरस पहले हिन्दी ही अपने पूर्व रूप में अन्तःप्रादेशिक भाषा के रूप में अखिल उत्तर भारत भर में फैली थी और तमाम आर्यभाषी संसार में पढ़ी, पढ़ाई और लिखी जाती थी।"[१]

गियर्सन के मतानुसार पश्चिमी प्राकृत का प्रधानरूप शौरसेनी से अभिहित होता है, जो गंगा दोआब में प्रचलित थी। पूर्वी प्राकृत की प्रमुख भाषा मागधी थी। यह वर्तमान दक्षिणी बिहार के मगध प्रदेश की भाषा थी। इन दोनों के मध्य एक प्रकार का तटस्थ क्षेत्र था, जहां की भाषा को अर्धमागधी कहते थे। इसमें दोनों ही भाषाओं के लक्षण विद्यमान थे। यह अर्धमागधी ही आधुनिक पूर्वी हिन्दी की जननी है, जबकि शौरसेनी से पश्चिमी हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ है। मागधी और शौरसेनी प्राकृत समस्त देश में समझी और बोली जाती थीं और इन्हींकी उत्तराधिकारिणी आधुनिक हिन्दी है[२]

आगे चलकर डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश, जिसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी है, प्रायः समस्त देश में समझी जाती थी और उसीकी ही व्यापकता हिन्दी को मिली। आधुनिक काल के सम्बन्ध में हिन्दी की स्थिति की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यों ईस्वी १८५७ में बंगाल में केशवचन्द्र सेन ने अपने समाचारपत्र में

---

[१] 'विशाल भारत'—मार्च १९५०—पृष्ठ-१८२-३

[२] "In the early centuries after the Christian era, two main languages, or Prakrits were spoken in the Jamuna and Ganga valleys. These were, Sauraseni spoken in the west, its headquarters being the upper doab, and Magadhi spoken in the east, with its headquarters in the country south of the present city of Patna. Between these two there was debatable ground, roughly corresponding to the present province of Oudh, in which a mixed language known as Ardha-Magadhi, or Half-Magadhi, was spoken, partaking partly of the character of Sauraseni, and partly that of Magadhi. We have seen that all the languages of the eastern group are descended from Magadhi, and we shall see that the group of closely connected languages of which Western Hindi may be taken as the type, is directly descended from Sauraseni. It now remains to state that this mixed language, or Ardha-Magadhi, was the parent of Modern Eastern Hindi."

(G. A. Grierson—'Linguistic Survey of India.' Vol. VI page 2-3.)

हिन्दी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा बनाने के योग्य है, इस विषय पर निबन्ध लिखा। १८८२ में राजनारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुकर्जी ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बांधने के लिए हिन्दी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालत की। सन् १९०५ से जब बंगाल में बंग-भंग के बाद स्वदेशी आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता-संग्राम की नींव डाली गई, उस समय कालीप्रसन्न काव्य-विशारद जैसे बंगाली नेताओं ने हिन्दी के पक्ष में प्रयत्न किया, जिससे कि हिन्दी के सहारे जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आकांक्षा फैल जाय।"[1]

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी के मत का प्रमुख आधार भाषा-विज्ञान है। हिन्दी-साहित्य, उसकी उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत का विशेष महत्व है। उन्होंने भी लोकभाषाओं के चलन और बौद्धमत के उदय के पारस्परिक सम्बन्ध को इसी प्रकार आंका है। प्राचीनकाल में प्राकृतों और बौद्ध-साहित्य की चर्चा करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

"इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिये कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय, सन् ईस्वी के आरम्भ से ही लोकमत को प्रधानता स्वीकार करता गया। यहांतक कि अन्त में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया।... हजार वर्ष पहले से ये (सम्प्रदाय) ज्ञानियों और पंडितों के ऊंचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठा-भूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसीकी स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी-साहित्य है।[2]

उपर्युक्त उद्धरण इसलिए दिये गए हैं कि यह बात असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाय कि हिन्दी और अन्य भाषाओं में विशेष अन्तर क्या है तथा हमारे नेताओं ने इसे ही प्रचार का माध्यम क्यों बनाया। संभव है, इस विस्तार से सदा ही हिन्दी को लाभ न पहुंचा हो, किन्तु किसी भी रूप में राष्ट्रीय चेतना का आह्वान करनेवाले जननायकों ने इस तथ्य की कभी अवहेलना नहीं की। सच तो यह है कि जन-आन्दोलनों की कसौटी पर हिन्दी कई बार कसी गई और सदा खरी उतरी। इसी धारणा को लेकर महत्वाकांक्षी नेताओं ने हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा के रूप में अपनाने की उदारता तथा व्यवहारशीलता दिखाई, और स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात संविधान में उसे सार्वदेशीय कार्यों के लिए राजभाषा के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने हिन्दी का पक्ष ही नहीं लिया, बल्कि बहुतेरों ने स्वयं हिन्दी सीखी, अपने

---

[1] 'विशाल भारत'—मार्च, १९५०—पृष्ठ १८५

[2] हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ ८

सार्वजनिक जीवन में उसका उपयोग किया और यथासंभव उसके क्षेत्र को विस्तृत किया तथा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। इन साधनों के रूप में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नेताओं का यह योग-दान, जिसे विशुद्ध साहित्यिक विचार ने ही अनुप्राणित नहीं किया और जिसकी प्रेरणा का आधार जन-जागरण और आन्दोलन-विशेष को सफल बनाने की इच्छा और प्रयास था, हिन्दी के सर्वतोमुखी विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संक्षेप में, हिन्दी एक भाषा है और उसका साहित्य किसी भी अन्य भाषा के साहित्य जैसा है, किन्तु इसका इतिहास एक राष्ट्र की बहुमुखी आशाओं, अभिलाषाओं और महत्वाकांक्षाओं के उतार-चढ़ाव की कहानी है। अर्थात् हिन्दी का एक सार्व-जनिक पक्ष है, जो उसके साहित्यिक पक्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि यह शोध-प्रबन्ध इस दिशा में कुछ भी प्रकाश डाल सके और हिन्दी के सार्वजनिक पक्ष तथा उसमें नेताओं के योगदान का मूल्यांकन कर सके तो यह प्रयास मैं सफल समझूंगी।

हमारा अध्ययन इस बात की ओर निश्चित संकेत करता है कि संपूर्ण साहित्य एक अखंड शाश्वत प्रेरणा की व्यक्त चेष्टा है, अतः साहित्य के विभिन्न अंगों पर परस्पर व्यवहार-विनिमय का आरोप एक स्वभावगत अधिकार है और किसी भी लेखक, कवि, नाटककार, उपन्यासकार व आलोचक की तरह जननायक का व्यक्तित्व भी उस साहित्य के रूप से उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार मोती से उसकी चमक, जल से उसकी तरलता तथा शब्द से उसका अर्थ।

प्रभाव की जांच में बहिर्साक्ष्य से भी कहीं अधिक सशक्त स्थान अन्तःसाक्ष्य का है। इसके लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि नेताओं के दोनों प्रकार के साहित्य की पर्याप्त खोज हो। भारतीय साहित्य, विशेषकर हिन्दी-साहित्य में, इस दिशा में अभी इसका अत्यधिक अभाव है। अधिक उन्नतिशील पाश्चात्य देशों में तो नेताओं के परिचय में उनके जीवन को प्रभावित करनेवाले और उनके जीवन से प्रभावित होनेवाले क्षेत्रों का उल्लेख कर दिया जाता है। उनके गृहस्थ की साधारण बातों के अतिरिक्त उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की बातें तक मिल जाती हैं। उदाहरण के लिए हम पाश्चात्य भाषाओं के विश्व-कोश देख सकते हैं।

मुझसे जहांतक बन पड़ा, मैंने साहित्य के साथ हमारे नेताओं का जो नाता रहा है और जिसका जितना संपर्क रहा, जो जितना सफल हुआ, जिसने उस क्षेत्र में चारों ओर जितना आलोक बिखेरा और उस प्रकाश में जो भी मैं देख सकी, मैंने उसे अपनाकर अभिव्यक्त करने का यत्न किया है। जहांतक हो सका मैंने

अपने भारतीय नेताओं के योगदान और प्रभाव की सफलता का चित्रण किया है। किन्तु कई ऐसे भी नेता-साहित्यकार हो सकते हैं, जिनका हिन्दी-क्षेत्र में मैं दर्शन न कर सकी होऊं, किन्तु जिनका योगदान अदृश्यरूप से मिला हो। शायद वे नेता साहित्य-क्षेत्र में असफलता की निराशा से अदृश्य रहे हों। उन्हें मैं कवयित्री इला विलकाक्स के शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित किये बिना नहीं रह सकती—

"कीर्ति के शिखर पर विराजमान विजयी वीरों का गुणगान तो बहुत हो चुका, उनकी स्मृति में अनेक गीतों की रचना हो चुकी है। आज मैं उन निराश कवियों के गीत गाऊंगी, जो अपने लक्ष्य पर पहुंचने में असफल रहे। आज मैं उस धनुर्धारी की स्मृति में चार आंसू बहाऊंगी, जो इस समय अंधकार में खड़ा हुआ इस बात का अनुभव कर रहा है कि उसका अंतिम और सर्वोत्तम तीर भी निशाने पर नहीं पहुंच सका।"

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के बारे में कुछ शब्द लिखना भी अनुचित न होगा। वास्तव में यह संक्षिप्त संदर्भ पाठक के लिए सहायक ही होना चाहिए। मैंने संबद्ध अवधि के जन-आन्दोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताकर सामाजिक चेतना और राष्ट्र के नेताओं की हिन्दी के प्रति रुचि में संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। तत्कालीन परिस्थितियों से एक चेतना का उदय हुआ और उस चेतना से सामूहिक अभिलाषाओं तथा आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के उद्देश्य से जन-आन्दोलन के माध्यम द्वारा जो सामाजिक अथवा राजनीतिक गतिविधि उभरी, उसी प्रक्रिया का एक अंग हिन्दी का विकास तथा उसके साहित्य का उन्नयन है। हमारे नेताओं ने इस अवसर को अपने उद्यम और साहित्य-प्रेम द्वारा साहित्य-सेवा का साधन बनाया। इस प्रकार उनके योगदान से राष्ट्र और हिन्दी दोनों की सेवा हो सकी।

सर्वप्रथम मैंने बंगाल की उन विशेष गतिविधियों को लिया है, जिनका प्रभाव उस समय समस्त पूर्वी और उत्तर भारत के सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर पड़ा और जिन्होंने जीवन के इन दोनों क्षेत्रों में नवीन कल्पनाओं, नवीन सुधारों और नवीन तत्त्वों की स्थापना की। राजा राममोहनराय और ब्रह्मसमाज की विचारधारा ने भारत के शिक्षित वर्ग को प्रभावित किया और इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र आरंभ हुआ।[1] तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द तथा आर्य-

---

[1] इस शोध-प्रबन्ध की अवधि १८५७ से १६५७ है, जबकि राजा राममोहन राय का देहावसान १८३३ में हुआ। यदि इस शोध-प्रबन्ध में उनकी जीवन-घटनाओं के संदर्भ देने पड़े हैं तो यह केवल इसलिए कि उनका जीवन और उससे भी कहीं अधिक बढ़कर उनके द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज, इस शोध-प्रबन्ध के लिए उचित पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करते हैं।

समाज और अन्य सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के उदय की चर्चा की गई है। अन्त में राष्ट्रीय चेतना, गांधीयुग के अभ्युदय और स्वाधीनता-संग्राम-सम्बन्धी सभी पक्षों को लेकर यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि किस प्रकार हिन्दी की उन्नति हमारे राजनीतिक कार्यक्रम का एक अविभाज्य अंग बन गई और किस प्रकार हिन्दी को हमारे राष्ट्रीय नेताओं, समाज-सुधारकों, पत्रकारों और सामान्य लेखकों द्वारा व्यापक बल प्राप्त हुआ। इस आन्दोलन का सबसे महत्व-पूर्ण फल अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी का सुव्यवस्थित और सुविचारित प्रचार है, जिसका सबसे अधिक श्रेय महात्मा गांधी और उनके साथियों को है। जैसा मैंने निष्कर्ष में कहा है, संयोगवश हमारे नेता और साहित्यकार दोनों सुमन और सुरभि की तरह एक दूसरे में व्याप्त-से हो गये। इसका सफल वरदान हिन्दी को मिला, जिससे युग-युग तक हिन्दी हमारे नेताओं की ऋणी बनी रहेगी।

स्थूल रूप से सौ वर्ष की अवधि को मैंने तीन भागों में बांटा है। यह काल-विभाजन इस प्रकार है। पहला काल उन्नीसवीं शती के मध्य से सन् १९०० तक का है। इसे हम प्रारम्भकाल कह सकते हैं। इसके पश्चात् विकास-काल आता है, जो १९०० से १९४७ तक है। तीसरा काल १९४८ से आज तक का है, जिसे मैंने उत्कर्षकाल माना है। जिन धारणाओं और मान्यताओं को लेकर इस शोध-प्रबन्ध की रचना की गई और इस अवधि के अध्ययन के फलस्वरूप जिन परिणामों पर हम पहुंचे हैं, उन सबके प्रतिपादन में इस काल-विभाजन द्वारा हमें सहायता मिलती है। इसके साथ ही जहां एक ओर जननायकों के योग-दान के मूल्यांकन में सुविधा होती है, वहां हिन्दी भाषा के प्रसार और साहित्य के क्रमिक विकास के संबंध में कुछ नवीन तथ्य हमारे सामने आते हैं। यद्यपि किसी-न-किसी रूप में साहित्य के विकास के आरंभकाल से ही नेताओं का उससे संबंध रहा है और इसे स्वीकार भी किया गया है, तथापि इस सीमित परन्तु विशद अध्ययन से साहित्य पर जननायकों के प्रभाव और स्वयं जननेताओं के कार्य तथा जनजीवन की गतिविधि पर विशेष प्रकाश पड़ता है। सूक्ष्म अध्ययन के परिणामस्वरूप कुछ ऐसे तत्व सामने आते हैं, जो हिन्दी-साहित्य की उन्नति और तत्कालीन जन-आन्दोलनों की वास्तविक पृष्ठभूमि पर कुछ नवीन प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ प्रारंभ-काल में हिन्दी की वही स्थिति थी, जो उस समय के जननायकों और जन-जीवन की थी अर्थात् जिस प्रकार हिन्दी किसी प्रदेश-विशेष से न बंधकर और परंपरा-गत विचारधारा से कुछ उभरकर नई परिस्थितियों का सामना करने के लिए एक नये ढांचे में ढलने जा रही थी, ठीक उसी प्रकार तत्कालीन नेता नव-परि-स्थितियों से प्रभावित होकर उन परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप

समाज-सुधार और देश-कल्याण का मार्ग ढूंढ़ रहे थे। यह वह समय था जब राष्ट्रीय विचारधारा का रूप निर्धारित नहीं हुआ था। केवल दो ही बातें स्पष्ट थीं—प्रथम, तत्कालीन स्थिति के प्रति असंतोष और विदेशी सत्ता के प्रति विरोध की भावना का उदय; दूसरे, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के तत्त्वों को शिक्षित समाज द्वारा ग्रहण करने की उत्सुकता। इन परिस्थितियों का जो प्रभाव नेतागण पर पड़ा, वही जनजीवन और तत्पश्चात् हिन्दी भाषा और साहित्य की गति पर पड़ा। इस प्रकार हिन्दी ने भारतीय नेताओं द्वारा संचालित नव-आन्दोलनों की चेतना पाकर अतीत के गौरव और वर्तमान नव-जागरण के सहारे नव-परिवर्तनशील निर्माण-युग में पदार्पण किया। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन पर बल दिया, किन्तु दोनों के विचारों की आधार-शिला भारत की प्राचीन और वैदिककालीन परंपराएं थीं। इसके अनुरूप ही हिन्दी, जो नवीन परिस्थितियों का वाहन बनने को तत्पर थी, प्राचीन भाषाओं की भित्ति पर ही खड़ी थी।

विकासकाल की विशेषताएं इससे भी अधिक उंघड़ी हुई दिखाई देती हैं। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियां अपना मार्ग ढूंढ़ चुकी थीं और परिस्थितियों के इस स्वरूप-निर्धारण की प्रतिक्रिया नेताओं और हिन्दी दोनों पर हुई। धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलन एक दूसरे से अलग हो चुके थे और राष्ट्रीय चेतना प्रबल आन्दोलनों को जन्म दे चुकी थी। उधर हिन्दी परीक्षणों और प्रयोगों की स्थिति से निकलकर शिक्षा तथा राजनीति की दृष्टि से प्रौढ़ हो चुकी थी। उसमें आधुनिक साहित्य की रचना तो आरंभ हो चुकी थी, किन्तु अधिकांश रूप से हिन्दी आन्दोलनों के माध्यम के रूप में भी पूरी तरह परखी जा चुकी थी। इस काल की प्रमुख विशेषता गांधीयुग का प्रादुर्भाव है, जिसका प्रभाव राष्ट्र के जन-जीवन पर उतना ही पड़ा, जितना हिन्दी के उन्नयन पर। उत्कर्ष-काल में उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं को हिन्दी भाषा व साहित्य में पूर्णरूप से मुखरित और फलीभूत हुआ देखते हैं। स्वातंत्र्य-संग्राम की समाप्ति और स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ-साथ भारतीय नेताओं द्वारा हिन्दी को सर्वसम्मति से संविधान में राष्ट्रभाषा का पद-दान उसके राज्याभिषेक के समान है। यह उत्कर्ष संभव ही इस कारण हुआ कि हिन्दी हमारे नेतागण तथा जन-जीवन के बीच संबंध स्थापित करनेवाली मजबूत कड़ी बनी रही। इस युग में साहित्य के सभी विभाग उन्नत हुए और उन्हें नवविचार तथा नव-प्रेरणा मिली।

इन तीनों कालों से संबंधित नेताओं के योगदान का उल्लेख इस शोध-प्रबन्ध में किया गया है। यथास्थान नेताओं के व्यक्तित्व, कर्तृत्व, भाषा-शैली

इत्यादि की समीक्षा मैंने की है, और इस तरह हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में उनका योगदान स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस युग के साहित्य का अध्ययन करने से इन नेताओं के प्रभाव का भान हमें सहज ही हो जाता है। अपने शोध-प्रबन्ध में इसी तथ्य को मैंने यथासंभव प्रमाणित किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय में

प्रस्तुत प्रबन्ध डा. इन्द्रनाथ मदान के निरीक्षण में लिखा गया है। विषय की स्वीकृति से लेकर प्रबन्ध की परिसमाप्ति तक मेरे शोध का सम्पूर्ण इतिहास उनके तथा डा. नगेन्द्र के सफल निदर्शन का परिणाम और फल है। इसके लिए मैं उन दोनों की अत्यन्त आभारी हूं। स्थानीय विद्वानों में डा. सुरेशचन्द्र गुप्त की जो सहायता और मार्गदर्शन मुझे मिला, वह मेरे लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ और उनके अनुभव से मुझे बड़ा लाभ मिला। अतः मैं उनकी अनुगृहीत हूं। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी तथा श्री मोटरू सत्यनारायण की सहायता से, उससे भी बढ़कर सदैव सहायता करने की उनकी तत्परता से, मैं लाभान्वित तो हुई ही, मुझे प्रोत्साहन भी मिला। अनुपलब्ध पुस्तकों और सामग्री द्वारा उन्होंने इस प्रबन्ध के लेखन-कार्य में स्वेच्छा से सहयोग दिया। उनकी अपनी संचित सामग्री में से अनेक अनुपलब्ध पुस्तकों की जीर्ण-शीर्ण प्रतियां उन्हींके प्रयास से मुझे मिल सकीं। मैं श्री मार्तण्ड उपाध्याय की भी आभारी हूं, जिनके सौजन्य से जवाहरलालजी के हस्तलिखित मौलिक पत्र मुझे देखने को और उद्धरणों के रूप में प्रस्तुत करने को मिल सके।

स्थानीय पुस्तकालयों के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय, पटना, थियोसॉफिकल सोसायटी लायब्रेरी, अड्यार-मद्रास, राष्ट्रभाषा प्रचार सभा पुस्तकालय, त्यागरायनगर-मद्रास, से भी मुझे इस शोध-प्रबन्ध के लिए बहुमूल्य सामग्री, विशेषतः पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें, तथा अप्राप्य पुस्तकें प्राप्त हुईं, जिसके लिए मैं इन सभी पुस्तकालयों के अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करना चाहूंगी। इस सामग्री के आधार पर भारतीय नेताओं के परिवर्तनशील विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने में निस्सन्देह मुझे बड़ी सहायता मिली।

उन आदरणीय नेताओं के प्रति धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं, जिनकी प्रेरणा से मेरे लिए यह कठिन कार्य भी मनोविनोद का साधन बन गया और खोज भी कला की अभिव्यक्ति के समान मेरे लिए "स्वान्तःसुखाय" बन गई। इस कार्य की सफलता का श्रेय उन्हीं नेताओं को है। पूज्य राजेन्द्रबाबू और जवा-

हरलालजी के प्रति अभार-प्रदर्शन के लिए मेरी लेखनी कुछ लिखते हुए झिझकती है। उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस शोध-प्रबंध का लेखन-कार्य मेरे लिए सरल कर दिया। कई घटनाओं तथा तथ्यों का समाधान मैं उनसे प्रत्यक्ष मिलकर ही कर सकी। काकासाहेब कालेलकर ने भी आधुनिक काल के जन-आन्दोलनों के संबंध में मेरी जानकारी में वृद्धि की और अध्ययन-संबंधी बहुमूल्य सुझाव भी दिये। इस शोध-प्रबन्ध के लिए इन सबके सुझाव पथ के आलोक की तरह मेरे मार्गदर्शक बने।

नेता जन-जन के श्रद्धास्पद होते हैं, इसी श्रद्धा के कारण मेरे आलोचनात्मक तथ्य-निरूपण में भी कुछ त्रुटियां रह सकती हैं, इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं। केवल इतना ही निवेदन में अपनी ओर से करना चाहती हूं कि भारतीय नेताओं के प्रति मेरी यह श्रद्धांजलि है, और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कदाचित् उसका विस्तार मात्र। मैंने यथासाध्य भारतीय नेताओं के हिन्दी भाषा और साहित्य-संबंधी विचारों और रचनाओं का अनुशीलन कर उनके योगदान और प्रभाव का मूल्यांकन करने का यत्न किया है। यदि कुछ कमियां इसमें असावधानीवश अथवा अल्पमति के कारण रह गई, तो उनके लिए भी मैं क्षमा चाहती हूं।

—ज्ञानवती दरबार

भारतीय-नेताओं

की

हिन्दी-सेवा

अध्याय : १

साहित्य, जन-आन्दोलन और नेता

भाषा और साहित्य का आधार जनजीवन

जिस प्रकार किसी भी सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक विकास का जन-जागरण से संबंध रहता है, उसी प्रकार विचारधारा को भी भाषा और साहित्य की प्रगति और लोकप्रियता के लिए जन-आन्दोलन के सहारे की आवश्यकता होती है। विचार-विशेष में संक्रमण की क्षमता अवश्य होनी चाहिए, तभी वह जनसाधारण अथवा समाज के किसी वर्ग में स्थान प्राप्त कर सकेगा। भाषा और साहित्य विचारों की परिधि से बाहर नहीं हैं, अतः इनके क्रमिक विकास तथा प्रचार के लिए जन-आन्दोलन सहज-स्वाभाविक साधन हैं। यही कारण है कि विचारकों ने साहित्य और जन-जीवन में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है और उसे श्रेयस्कर भी माना है।

साहित्य की परिभाषा और सुन्दर साहित्य की परख पर ध्यान दिया जाय तो भी यह बात स्पष्ट होगी। मानव-जीवन, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा समष्टिगत, उसके किसी भी अंग की भावात्मक अभिव्यक्ति सहज ही साहित्य का रूप ग्रहण कर लेती है। वस्तुगत रूप से उसका विषय मानव और मानवोपयोगी प्रवृत्ति अथवा गुण होना चाहिए तथा आत्मगत रूप से उसका वर्णन अथवा उसकी अभिव्यक्ति की शैली भावात्मक होनी चाहिए। सुंदर-से-सुंदर कही गई बात भी यदि मानव और मानवीय जगत् से सर्वथा असंबद्ध है तो उसका समावेश साहित्य में नहीं हो सकता है। इसी प्रकार मानव से निकटतम संबंध रखनेवाला कोई भी विचार नीरस और भावहीन ढंग से व्यक्त किया जाय तो उसे भी साहित्य की परिधि से बाहर रखना होगा। साहित्य की यह विशेषता अच्छे-बुरे साहित्य की परख और एतद्-हेतु मान-निर्धारण में भी सहायक होती है। जब किसी कृति को हमने साहित्य की संज्ञा दे दी, तो प्रश्न यह रहता है कि साहित्य की दृष्टि से उसे किस कोटि में रखा जाय। इसी बात को लेकर साहित्यिक मान अथवा स्तर की उत्पत्ति हुई और इसीके संदर्भ से यह समझा जा सकता है कि अमुक कृति साहित्यिक दृष्टि से उत्तम है और अमुक हेय। हम देखते हैं कि कुछ साहित्यिक कृतियां कुछ समय में ही काल कवलित हो जाती हैं, तो कतिपय साहित्यामृत में अवगाहन कर अमर बन जाती हैं। इन प्रत्यक्ष उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो तत्त्व साहित्य को अमरत्व प्रदान करते हैं और जिनका अभाव उसे

गंवा देती है और एक बेजान बनावटी चीज बन जाती है। और जैसा कि उसे होना चाहिए, वह जीवन, शक्ति और हर्ष की वस्तु नहीं रहती।"

आगे चलकर इसी लेख में भाषा और साहित्य का आधार आम जनता है, इस विचार को अभिव्यक्त करते हुए वह लिखते हैं—"भाषा को अगर आम जनता के दिलों पर असर डालना है तो उसे जनता की समस्याओं की, उसके दुःखों की और उसकी आशाओं और आकांक्षाओं की चर्चा करनी होगी। उसे सारी जनता के, न कि चोटी के एक छोटे-से समूह के, जीवन का प्रतिनिधि और आइना बनना होगा। तभी उसकी जड़ें जमीन में जमेंगी और वहां से उसे पोषण मिलेगा।"[1]

इसी प्रश्न पर राजेन्द्रबाबू ने कई बार बहुत-कुछ कहा और लिखा है, जो सभी इस विचार के अनुकूल है। कोकोनाडा में १९२३ में आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गए अपने भाषण में उन्होंने कहा था—"समस्त संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों और जातियों के इतिहास को देखने से मालूम हो जाता है कि राष्ट्रीयता का भाषा और साहित्य के साथ बहुत ही घनिष्ट और गहरा संबंध है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि राष्ट्रीयता और जातीयता के अंगों में सबसे अधिक आवश्यक अंग एकता है और वह एकता किसी विषय-विशेष में नहीं। वह एकता जितनी व्यापक होगी उतनी ही राष्ट्रीयता में स्थिरता होगी और वह शक्तिशाली होगी। भावों की एकता, अन्य सब प्रकार की एकताओं का मूल है और यह भावों की एकता तभी हो सकती है जब वे विभिन्न व्यक्ति, जिनके द्वारा राष्ट्रीयता का निर्माण होता है, अपने भावों को एक दूसरे पर व्यक्त कर सकें।" इसी तथ्य को भारतीय भाषाओं के उदाहरण द्वारा पुष्ट करते हुए वह आगे कहते हैं—"भारतवर्ष की प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य भी यही बताता है कि जहां और जिस प्रांत में जिस भाषा के बोलनेवालों के बीच राष्ट्रीय भाव जागृत हुआ है, उसी भाषा का आधुनिक साहित्य भी उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर हुआ है। बंगला, मराठी और गुजराती साहित्य इस बात के प्रमाण हैं और इधर थोड़े काल से हिन्दी-साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि भी यही बताती है कि साहित्योन्नति और राष्ट्रीयता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।"[2]

साहित्य, जन-जीवन और नेता के पारस्परिक संबंध और प्रभाव की व्याख्या करते हुए कुशल विचारक और चिन्तक विनोबा भावे ने अपने विचार इस प्रकार

१ 'राष्ट्रभाषा का सवाल' (अंग्रेजी से अनूदित)—पृष्ठ ५ व १७

२ 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृ० ५

व्यक्त किये हैं—"राष्ट्र के साथ-साथ साहित्य भी उन्नति या अवनति करता है। उसी प्रकार साहित्य जीवन को भी उन्नत या अवनत कर सकता है। जीवन और साहित्य को उन्नत करनेवाले दो प्रकार के उदाहरण हम लोगों ने देखे हैं। पहले प्रकार का उदाहरण गांधीजी का है। गांधीजी वैसे कोई साहित्यिक नहीं माने जाते थे, फिर भी उनके प्रभाव के कारण हिन्दुस्तान की हर भाषा का साहित्य उन्नत हुआ है। . . . दूसरे प्रकार का उदाहरण है रवीन्द्रनाथ ठाकुर का। उनकी सद्भावना और विश्ववृत्ति के कारण समाज ऊंचा चढ़ा है। कवि जब महात्मा होते हैं, तब उनका असर जीवन पर पड़ता है।"[1]

संत विनोबा के विचारों के अनुसार ही मैं यह कहूं तो उपयुक्त ही होगा कि यदि नेता जीवन-निष्ठ होंगे तो उनके शब्द स्वयं प्रेरणा देंगे। उनके मुख से प्रेरित शब्द गंगोत्री की रचना करेंगे, जहां से विचारों की गंगा बहेगी, जिससे साहित्य और जन-जीवन इन दोनों को पोषण प्राप्त होगा। वस्तुतः जन-जीवन और जन-भाषा का आदान-प्रदान ही साहित्य का मंगल सोपान है, जिसके द्वारा भाषा और साहित्य निरन्तर ऊंचे चढ़ते चले आते हैं और जिससे जन-जन को अटूट जीवन प्राप्त होता है।

इसी मंतव्य को न्यूनाधिक इन्हीं शब्दों में बनारसीदास चतुर्वेदी और संपूर्णानन्द ने प्रतिपादित किया है। बनारसीदास चतुर्वेदी जन-जीवन को साहित्य का आधार तथा स्रोत ही नहीं मानते, बल्कि उसे समस्त साहित्यिक गति-विधि का कारण समझते हैं। संपूर्णानन्द भी इन्हीं विचारों का अनुमोदन करते हैं और भाषा तथा साहित्य को जन-जीवन की सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं तथा जन-जीवन के विकास के लिए साहित्य के विकास को सर्वप्रथम स्थान देते हैं।[2]

जन-आन्दोलन का साहित्य पर प्रभाव

अतः साहित्य और जनजागरण में जो सम्बन्ध है, वह तो स्पष्ट ही है। उसे स्वत.सिद्ध मानकर हमें यह देखना है कि विगत सौ वर्षों में (सन् १८५७ से १९५७ तक) हिन्दी-भाषा और साहित्य ने जो कल्पनातीत प्रगति की है, उसपर देश में होनेवाले आन्दोलनों, विशेषकर सामाजिक एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों और उनके नायकों के कार्यकलापों का कहांतक और किस प्रकार प्रभाव पड़ा है? भारत के

---

[1] 'साहित्यिकों से'—पृष्ठ १-२

[2] देखिये—

(१) बनारसीदास चतुर्वेदी—'साहित्य और जीवन'—पृष्ठ ३०-३१

(२) संपूर्णानन्द—'भाषा की शक्ति'—पृष्ठ ३४-३६ तथा ४७-४८

राष्ट्रीय नेताओं ने हिन्दी के विकास और साहित्य की अभिवृद्धि में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कहांतक और किस प्रकार योगदान किया है, यही इस प्रबन्ध का विषय है।

सच्चा साहित्य सार्वजनिक जीवन के लिए दर्पण के समान है, जिसमें जन-साधारण की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियां और दैनिक जीवन की प्रवृत्तियां प्रतिविम्बित होती हैं। कोई भी सार्वजनिक आन्दोलन तबतक सच्चा आन्दोलन नहीं कहला सकता, जबतक कि उसकी छाप समकालीन साहित्य पर न पड़ी हो और इसी प्रकार वही साहित्य जनता का प्रतिनिधि-स्वरूप माना जायगा, जिसमें जनगण की महत्वाकांक्षाओं, उनकी मांगों और उन्हें प्राप्त करने के लिए उनके सामूहिक प्रयत्नों का केवल उल्लेख ही न हो, वरन् वे उस साहित्य के कलेवर का एक अंग बन गये हों। इसी तथ्य में साहित्य की उत्पत्ति और जनता की अभिव्यक्ति का रहस्य निहित है। साथ ही, यह ऐसा तथ्य है, जिसका साक्षी समस्त मानव-इतिहास है। सभी देशों और युगों में साहित्य अथवा साहित्यिक परंपरा ने जन-आन्दोलनों को युद्ध में रणभेरी के समान प्रेरणा दी है। साहित्यिक विचारधारा से ऐसे आन्दोलनों को एक सूत्र में बांधने, उन्हें जनसाधारण के उपयुक्त स्तर पर रखने और उनका ठीक-ठीक निर्देशन करने में अमूल्य सहायता मिली।

जनता के आन्दोलनों और संघर्षों से संसार भर के साहित्य पनपे हैं और उन्हें अभिवृद्धि के अवसर मिले हैं। कौन कह सकता है कि अंग्रेजी साहित्य आज इतना उन्नत होता, यदि जनाधिकार की प्राप्ति के लिए, राष्ट्र के औद्योगीकरण के लिए और एक महान् साम्राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा को साकार करने के लिए वहां के जनसाधारण ने देशव्यापी आन्दोलन न किये होते। यह सत्य है कि फ्रेंच भाषा पहले ही से उत्कृष्ट थी, किन्तु यह भी निश्चित है कि यदि फ्रांस में जनक्रान्ति न हुई होती तो उस भाषा में न वह लोच संभव था और न उसके साहित्य का इतना विकास होता।

अपने ही देश को लीजिये। गौतम बुद्ध और महावीर के समय प्राकृत भाषाओं तथा बोलियों के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि देश के कुछ भागों में उनका अस्तित्व था। बौद्ध धर्म के प्रचार और जैन-विचारधारा के विस्तार ने इन जनबोलियों को मानो पंख प्रदान कर दिये। संस्कृत की विशाल प्रचीर को लांघकर प्राकृत और पाली, जैन तथा बौद्ध भिक्षुओं के उत्साह के सहारे, देश भर में फैल गईं; यहांतक कि बुद्ध के पांच सौ वर्ष बाद पाली समस्त उत्तर, मध्य, पूर्वी और दक्षिण भारत में फैल गई और प्राकृत समस्त पश्चिम

भारत की भाषा बन गई। दक्षिण भारत से प्राप्त उस काल का बौद्ध तथा जैन-साहित्य इन्हीं भाषाओं में मिलता है।[1] कुछ शताब्दियों बाद वैदिक विचारधारा ने पुन: जोर पकड़ा और बौद्धमत का पतन आरंभ हुआ। उस देशव्यापी आंदोलन का माध्यम उच्चस्तर पर संस्कृत थी, किन्तु विरोधी का खण्डन करने के लिए उसीके भाषारूपी अस्त्रों का उपयोग शंकराचार्य ने किया। फलस्वरूप प्राकृत अथवा स्थानीय भाषाओं का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। यही वह युग था, जिसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की नींव रखी गई। इस आन्दोलन और इसके बाद मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप भक्ति-आंदोलन के कारण ही आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म और लालन-पालन हुआ। इन्हींके बल पर इनके साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। इन्हीं आधुनिक भारतीय (इंडोआर्यन) भाषाओं में हिन्दी भी सम्मिलित है।

जन-आन्दोलन और हिन्दी

प्रथम जन-आन्दोलन, जिससे हिन्दी की नींव पड़ी और जिससे परोक्ष रूप से इसका व्यापक प्रचार हुआ, वह धार्मिक आन्दोलन था। इस आन्दोलन का सूत्रपात आठवीं शताब्दी में उत्तर भारत में हुआ और इसकी परिणति बारहवीं शताब्दी में भक्तिमार्ग के प्रारम्भ में हुई। इसे राहुलजी ने 'सिद्ध-सामन्त-संत-काल' की संज्ञा दी है, जिसे साहित्य के इतिहासकारों ने प्राय: स्वीकार कर लिया है।[2] बारहवीं शताब्दी में दक्षिण में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का विस्तार हुआ और कालान्तर में वह उत्तर

---

[1] देखिये—

(अ) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य की भूमिका'—पृष्ठ १८ से २९ व १८८ से २२४

(आ) डा० धीरेन्द्र वर्मा—'हिन्दी भाषा का इतिहास'—पृष्ठ ४६ से ५१

(इ) डा० श्यामसुन्दरदास—'भाषा-विज्ञान'—पृष्ठ ७८-७९ तथा २०५ से २०८

[2] देखिये—

(अ) राहुल सांकृत्यायन—'बुद्धचर्या'—पृष्ठ १०

(आ) डा० धीरेन्द्र वर्मा—'हिन्दी भाषा का इतिहास'—पृष्ठ ७८

(इ) "महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने बताया है कि यह परंपरा पिछली शताब्दियों और महज्ञानियों से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी"—शमशेरसिंह नरूला—'हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास'—पृष्ठ ६९

के काशी, मथुरा आदि नगरों तक पहुंचा। रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में रामानन्द पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि भक्तिमार्ग का प्रचार संस्कृत के अतिरिक्त स्थानीय भाषा में भी होना आवश्यक है। यद्यपि वह स्वयं दक्षिणी थे, किन्तु उनकी प्रेरणा से धार्मिक प्रचार के लिए हिन्दी का प्रयोग होने लगा[1]। इस प्रवृत्ति को दो और बातों से बल मिला—हिन्दुओं में मुसलमान-विरोधी भावना और दूसरे मुसलमान सूफी कवियों का उदय, जिन्होंने हिन्दी को अपनाया। भारत में इस्लाम के विस्तार के कारण हिन्दुओं में आतंक फैलना और उनका आशंकित होना स्वाभाविक था। प्रतिरोध करने के अन्य उपायों के अभाव में अन्तर्मुखी होना और भक्ति-भाव तथा ईश्वरोपासना का आश्रय लेकर अपने-आपको स्थिर तथा दृढ़ करने का यत्न करना भी उतना ही स्वाभाविक था।[2] यही कारण है कि दक्षिण से आई हुई भक्ति की लहर को उत्तर में और धार्मिक स्थानों में विशेष करके अनुकूल प्रतिक्रिया मिल सकी। रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति तथा इनसे संबधित धार्मिक आन्दोलनों ने सहज ही गहरी जड़ें पकड़ लीं। यदि मुलसमानो के राज्य की स्थापना के कारण हिदुओं में भय की भावना उत्पन्न न हुई होती तो यह भक्ति-धारा उत्तर में इतना वेग न पकड़ पाती। सगुण और निर्गुण उपासना की यह लहर इस्लाम के बढ़ते हुए झंझावात के विरुद्ध एक कवच के समान थी। इस कारण हिन्दू-समाज को धर्म-निष्ठ होने की प्रबल प्रेरणा मिली। उधर, विरोधी कारणों से, इस्लाम को भारत में लोकप्रिय बनाने के हेतु सूफी कवि दोआब में बोली जानेवाली भाषा अवधी की ओर झुके। उन्होंने अपनी रचनाओं में जहां सुंदर काव्य-तत्त्व दिया, वहां मुसलमान सुल्तानों और हजरत मोहम्मद तथा इस्लाम के दूसरे नेताओं का स्तुतिगान भी किया[3]। परिस्थितियोंवश ही यह काव्य-धारा भी बही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी अपने विस्तार तथा निर्माण के लिए पहले दो-तीन सौ वर्षों तक बराबर जन-आन्दोलनों का सहारा लेकर आगे बढ़ी। भक्ति-मार्ग की विभिन्न शाखाओं के सन्तों तथा कवियों की कृतियों ने हिन्दी को कलेवर ही नहीं दिया, अपितु भाषा तथा साहित्य का मार्ग-दर्शन भी किया। कबीर, तुलसी, सूर और मीरा हिन्दी को अमर कर गये। रीतिकाल में साहित्य के कुछ अंग, विशेषकर शृंगार, पुष्ट अवश्य हुए, किन्तु राष्ट्रीय उन्नति का दूसरा अवसर १९वीं शती में आया।

---

[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य की भूमिका'—पृष्ठ ४५-४७
[2] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी-साहित्य'—पृष्ठ १४
[3] ब्रजरत्नदास—'खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ ४८

उन्नीसवीं शती के आंदोलन और हिन्दी

उन्नीसवीं शती में भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन परिस्थितियों की पुनरावृत्ति हुई, जो उत्तर भारत में इस्लाम के उदय के साथ घटी थीं। वातावरण में अस्थिरता और अनिश्चितता का समावेश हुआ, क्योंकि मुसलमान बादशाहों की जड़ें उखड़ चुकी थीं और एक अन्य विदेशी सत्ता भारत में पांव जमाने के लिए यत्नशील थी। ऐसी परिस्थिति में समाज का शिक्षित वर्ग निजी हित और भारत के कल्याण के स्वप्न देखने लगा। इस प्रवृत्ति को स्वयं विदेशी सत्ता द्वारा प्रसारित पाश्चात्य विचारधारा से पर्याप्त बल मिला। इस राजनीतिक पृष्ठभूमि में भाषा-सम्बन्धी समस्या ने भी योगदान दिया। संस्कृत शताब्दियों से अतीत की भाषा बन चुकी थी और अब चिरस्थापित फारसी भी पदच्युत होने जा रही थी। यह आधुनिक भाषाओं का युग था और किसी प्रकार से भी इन भाषाओं को पदासीन करने में विदेशी शासक और भारत के नेतागण एकमत थे। भारतीय नेताओं ने इस तथ्य को भली-भांति हृदयंगम कर लिया कि अपने विचारों के प्रचार और जनता में जागृति के लिए भारतीय भाषाओं की शरण लेना आवश्यक है। कलकत्ता से दिल्ली तक अधिकांश सार्वजनिक नेता इस बात पर सहमत थे कि वह भाषा जिसे सभी समझ सकें, हिन्दी ही हो सकती है। इस विचार का सूत्रपात सबसे पहले राजा राममोहनराय से हुआ और उनके बाद अन्य ब्रह्मसमाजी नेताओं ने भी इस मत का अनुसरण किया। स्वामी दयानन्द और उनके साथी भी हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए तथा उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी का पक्ष लिया। यहांतक कि हिन्दी के पठन-पाठन को उन्होंने आर्यसमाज के मूल नियमों में सम्मिलित किया। इन दोनों आन्दोलनों से प्रभावित सभी लोग हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। सौभाग्य से इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ, जिनके निजी प्रयत्नों से हिन्दी का प्रचुर विकास हुआ और उसकी ओर नेतागण अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे। इन प्रवृत्तियों ने हिन्दी को राष्ट्रीय जागरण का अग्रदूत बना दिया और ये प्रवृत्तियां जन-आन्दोलन तथा देशव्यापी चेतना के कारण और अधिक बलवती हुईं। फलतः बीसवीं शती के नेतागण हिन्दी के समर्थक ही नहीं, साहित्य-निर्माता भी बन गये। इन नेताओं के कारण राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं और साहित्यिक तथा भारतीय जन-जीवन और साहित्य में निकटतर सम्बन्ध स्थापित हुआ और एक विशेष समन्वय का उदभव हुआ। हम इन नेताओं को उस वर्ग में मान सकते हैं, जो नव-शिक्षा से प्रकाश ग्रहण करके भी भारत के प्राचीन इतिहास, उसके सांस्कृतिक गौरव और उन्नत साहित्य से प्रभावित थे और भारत के जन-जीवन को उसकी प्राचीन परंपरा से विच्छिन्न करने के पक्ष में नहीं थे। इसी कारण उनके भाव और विचार

जन-जीवन तथा साहित्य के बीच की उज्ज्वल कड़ी बन गये और १९वीं-२०वीं शती के प्रायः सभी साहित्यकार सुधारवादी बने, जिन्होंने सक्रिय रूप से सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आन्दोलनों में भाग लिया और तत्कालीन साहित्य को एक नया मोड़ दिया। इसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि इस काल के अधिकांश समाज-सुधारक व नेतागण अच्छे साहित्यकार बने या उन्होंने भाषा तथा साहित्य को काफी प्रभावित किया। इन्हीं नेताओं के कारण हिन्दी-साहित्य को राष्ट्रीय भावना की देन मिली। डा० रघुवंश लिखते हैं—"बीसवीं शताब्दी के आरंभ होने के साथ ही आधुनिक साहित्य ने एक नया मोड़ लिया। प्रारंभिक काल (१९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) जन-जागरण का समय था, पर उस समय तक जनता के सामने राष्ट्रीय भावना स्पष्ट नहीं हो सकी थी। परन्तु इस काल तक राष्ट्रीय भावना और आदर्श की रूपरेखा साफ प्रकट होने लगी थी। शिक्षित मध्यम-वर्ग का यह साहित्य है तथा इस वर्ग के सामने स्वामी दयानन्द ने धार्मिक दृष्टि से, स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से और बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक दृष्टि से भारतीय गौरव की स्थापना की थी।... पहले सामाजिक सुधार-आन्दोलनों को अधिक महत्व मिलता था, पर अब उन सबको राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के अंग के रूप में ग्रहण किया गया। इस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी का महत्त्व अधिक बढ़ता गया।"[1]

अंग्रेजी राज्य के विस्तार का प्रभाव

यह बात तो स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार भाषा और साहित्य पर सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक विचार तथा राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार सामयिक विचारों तथा परम्परागत विश्वासों का भी। प्रत्येक युग में पुराने विश्वास नवीन चिन्तन, नये संपर्क और नव-प्रभावों के कारण कुछ-न-कुछ बदलते रहते हैं और इस परिवर्तन की झलक तत्कालीन साहित्य में अवश्य दिखाई देती है। हमारे सामने यह प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है कि "अंग्रेजी राज्य की स्थापना और विस्तार के साथ सम्बन्ध होने और नवीन वैज्ञानिक साधनों के सहारे तथा उनके फलस्वरूप समस्त देश के एक सूत्र में बंध जाने के कारण हिन्दी नित्य नई शक्ति संचित कर साहित्य के क्षेत्र में ही एकाधिपत्य स्थापित करने में नहीं वरन हिन्दी-प्रदेश से बाहर फैलकर राष्ट्रीय रूप ग्रहण करने में सफल हो सकी है।"[2]

हिंदी को राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हो सका, इसका श्रेय बहुत अंश में हमारे नेताओं

[1] 'आलोचना', अक्तूबर, १९५२ में प्रकाशित लेख 'आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध' —पृष्ठ ६४-६५

[2] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—पृष्ठ २६

को ही है। राष्ट्रीय भावना से पूरित हमारे नेता हिन्दी की ओर आकर्षित तो हुए ही, किन्तु उन्होंने भाषा को भी राष्ट्रीय उन्नति के मूल में देखने का प्रयास किया। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन के आदर्शों, राष्ट्रीय भावनाओं और देशोन्नति की आकांक्षाओं को जन-जीवन तक पहुंचाने के लिए हिन्दी को अपनाया। इन नेताओं की वाणी जनता-जनार्दन के लिए राष्ट्र-वाणी बन गई। हिन्दी को राष्ट्र-वाणी का पद मिला और साहित्य उससे मुखरित हो उठा। कृति नेता के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, किन्तु उसका आकर्षण उसके समन्वय में निखरता है। हमारे नेताओं की वाणी और कृति में व्यक्तित्व और राष्ट्रीय भावना का अनूठा समन्वय है। निस्संदेह नेताओं के व्यक्तित्व मे जिस उज्जवलता, चरित्र मे जिस निष्कलंकता, बुद्धि मे जिस दृढ़ता तथा जीवन में जिस आदर्श-वादिता तथा उत्सर्ग की कल्पना की जाती है, उसका अस्तित्व हम भारतीय नेताओं में भी पाते है। फलतः नेताओं की भाषा अलंकार-रहित होने पर भी सुन्दर है और इसलिए उसमें जो आकर्षण है, जो स्पन्दन है, भावुकता के उद्बोधन की जो शक्ति है, अनुभूति को जगाने और अनुभव को जुटाने की जो प्रेरणा है, राष्ट्र-भावना की जो गूंज है, सत्य की जिज्ञासा जागृत करने का जो सन्देश है, उसने सदा जन-जीवन और साहित्य को प्रभावित किया है। भारतीय नेताओं ने देश के जन-मानस को आन्दोलित किया है और इसीलिए उनकी भाषा हृदय के अन्तरतम प्रदेश का स्पर्श करने में समर्थ हुई है और साहित्य के विकास में सहायक बनी है।

नेताओं का दायित्व और साहित्य पर प्रभाव

अन्याय का प्रतिरोध करते हुए नव-विचारों और कल्पनाओं को प्रस्तुत करने, जीवन-सागर में उठनेवाली तरंगों और तूफानों का प्रतिनिधित्व करने तथा जीवन और साहित्य का निर्माण और सर्जन करने में हमारे अनेक नेता अपनी सानी नहीं रखते। यही कारण है कि आज जन-जीवन मे उनका असाधारण स्थान है और मानव-समाज पर उनका अभूतपूर्व प्रभाव है। फलतः युगीन साहित्य पर उनकी विचारधारा के प्रभाव को स्पष्टरूप से लक्षित किया जा सकता है। भारत के जन-मानस को भारती ही विशेष रूप से अनुप्राणित कर सकती है, अतः अधिकांश नेताओं को जन-मानस तक पहुचने के लिए इसीकी वन्दना करनी पड़ी है। नव-रचना में कुशल शिल्पी की भांति उन्हें जन जीवन और साहित्य को सावधानी के साथ गढ़ना है, साथ ही राष्ट्रभाषा के कार्य को पूर्ण करने की क्षमता का संपादन करना है। आज के स्वाधीन भारत की कालात्मा की पुकार यही है कि जनभाषा हिन्दी के विकास की ओर उचित ध्यान दिया जाय। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के

उच्च और आदरणीय स्थान पर विराजमान है, जिसका श्रेय देश के नेताओं को ही है। उन्होंने इसी भाषा के द्वारा भारत के कण-कण में सजीवता और स्पन्दन, नवस्फूर्ति और जागरण, सक्रियता और गतिशीलता का मंत्र फूंका है। गतिशील भाषा से साहित्य को समृद्धि में सुकरता रहती है। यही कारण है कि नेताओं की स्वतन्त्र रचनाएं तो वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती ही है, उनके अधिकांश भाषण भी साहित्य में अनुपेक्षणीय हैं।

नेताओं के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने जीवन में आदर्शों के साथ-साथ दो अन्य बातों का भी ध्यान रखें। ये हैं वाणी और लेखनी। नेता यदि अच्छा वक्ता हो तो जनसाधारण को अपनी ओर आकर्षित करता है, उनका आह्वान करता है और तब अपने विचारों का प्रभाव उनमें उत्पन्न कर देता है। भारतीय नेता इस कला में सदा प्रवीण रहे हैं। किन्तु वाणी के साथ यदि लेखनी भी सबल हो, तो, दो हाथों से काम करना जैसे आसान हो जाता है, वाणी और लेखनी का योग स्वयं शक्तियों को जुटा देता है। वस्तुतः वाणी यदि भाषा का अधिक विस्तार कर सकती है तो लेखनी साहित्य को समृद्ध बना सकती है। वाणी और लेखनी के द्वारा नेताओं ने जन-चेतना को जगाया है, जनहित की रक्षा की है, जनाकांक्षा और जनाधिकार का प्रतिनिधित्व किया है और इस प्रकार लोक-सेवा के व्रत को भी निभाया है। चित्रकार अपनी भावना, कल्पना और अनुभूति को साकार करने के लिए तूलिका का आश्रय ग्रहण करता है। वह दर्शकों को अपनी अनुभूतियां और अन्तर्लोक का अनुभव कराने में जितना ही समर्थ होता है, उतना ही सफल माना जाता है। नेता भी वाणी तथा लेखनी से वही कार्य करता है, जो चित्रकार अपनी तूलिका से। कर्म-साधना के समय वह अपनी पृथक सत्ता को विस्मृत कर देता है और जनता के सुख-दुःखों के साथ एकात्म भाव स्थापित कर लेता है। व्यक्तिगत लाभालाभ की भावना से वह पहले ही मुक्त होता है और अपने जीवन को देश की वास्तविक स्थिति तथा आदर्श की विराट सीमा में लय कर देता है। इस अवस्था में उसके हृदय में अनुभूतियां जिस भावावेश की सृष्टि करती हैं और जिन कल्पनाओं तथा विचारों को जन्म देती हैं, उन्हे वह लेखनी के द्वारा मूर्तरूप प्रदान करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि नेता की सफलता इसमें है कि जो वह लिखे जनता का हृदय उसीका अनुभव करने लगे। जन-सेवा के क्षेत्र में नेता के लिए यह सब आवश्यक है और इसका उज्ज्वल उदाहरण गांधीजी का व्यक्तित्व है। उनकी वाणी और लेखनी ने जन-हृदय में उन्हीं भावों और अनुभूतियों को जन्म दिया, जिनका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। राजेन्द्रबाबू और जवाहरलालजी भी अनुभूति की अभिव्यक्ति में पटु हैं। विनोबा की वाणी में भी यह तत्व निहित है।

इन सबके विचारों और अनुभूतियों का हिन्दी-प्रेमियों ने मूल या अनुवाद के रूप में संग्रह कर लिया है, जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य सम्पन्न हुए हैं। इनका जीवन स्वयं आदर्श है और इनके विचार साहित्य-रचना के प्रेरक हैं। इस युग में हिन्दी के विकास में इनका बहुत योग रहा है, अतः हम इन्हें इस क्षेत्र की वंदनीय विभूतियां मानते हैं। इनके जीवन का उद्देश्य देश का पथ-प्रदर्शन करना, जनता-जनार्दन की सेवा करना और उस अलौकिक आत्मानन्द की अनुभूति करना है, जो स्वाभिव्यक्ति में प्राप्त होता है। कोई भी नेता जीवन के इस प्रयोजन को अपने दृष्टिपथ से ओझल नहीं होने देता। संप्रति भारतीय नेताओं में इसी प्रवृत्ति का उदय हुआ है।

भारतीय नेताओं पर देश की एकता को बनाये रखने की जैसी जिम्मेदारी है, साहित्य की समरसता के लिए भी उनका सहयोग वैसा ही आवश्यक है। भारतवासी आज यही आशा लगाये हुए हैं कि उनके नेताओं की वाणी और लेखनी से वह सामर्थ्य पैदा हो, जो राजनीति की दरारों, जातिगत स्वार्थों की विघटनकारी प्रवृत्तियों और राष्ट्रीयता के नाम पर पतनोन्मुख प्रादेशिकता की गन्दगी को दूर हटा सके। कभी-कभी जीवन की विफलताओं और विचारों की अराजकता के कारण जन-समाज अपना ही सर्वनाश करने के लिए तत्पर हो उठता है। तब ऊंचा साहित्य उसको हाथ पकड़कर सही रास्ते पर लाता है। मार्गदर्शक का यह कार्य वे नेता ही कर सकते हैं, जिनकी वाणी में प्रभाव है और लेखनी में ओज।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाषा और जन-आन्दोलन में निकट का सम्बन्ध है। आन्दोलन का आधार लोगों की भावनाएं तथा महत्वाकांक्षाएं होती हैं, जो स्वभावतः अभिव्यक्ति ढूंढ़ती हैं। ऐसी अभिव्यक्ति के कई माध्यम हो सकते हैं, किन्तु भाषा उनमें प्रमुख है। भाषा का सहारा लेकर आन्दोलन आगे बढ़ता है और उसका मार्ग प्रशस्त होता है। ठीक उसी प्रकार जन-आन्दोलन भाषा के लिए वाहन का काम करता है और उसके विकास तथा अभिवृद्धि में सहायक होता है। आन्दोलन की बदलती हुई परिस्थितियां नये-नये शब्दों और मुहावरों के रूप में भाषा का अंग बनकर सामने आती हैं। जननायक की समृद्ध कल्पना आन्दोलन और भाषा, दोनों को अभिनव रूप प्रदान करती है तथा साहित्य स्वाभाविक रूप से उन्नत होता है। इस प्रकार जननायक, जो आन्दोलन का नेता होता है, भाषा और साहित्य को सहज ही गति प्रदान करता है तथा उनके विकास में योगदान देता है। जनजीवन और साहित्य को भिन्न नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार जन-आन्दोलन और नेता को विलग करना कठिन है। इसलिए यह मान लेना होगा कि साहित्य, जन-आन्दोलन और नेता तीनों के संगम से प्रगति की त्रिवेणी सहज ही प्रवाहित होती रहती है।

अध्याय : २

जनजागरण की पृष्ठभूमि और हिन्दी

सामाजिक चेतना और पुरातन विश्वास

जन-जागरण का सांस्कृतिक अथवा सामाजिक चेतना से विशेष सम्बन्ध है। विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन समाज के समुदाय-विशेष को उद्वेलित कर अधिकांश लोगों को अछूता रख सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि कोई राजनीतिक आन्दोलन भी समाज के सभी वर्गों को प्रेरित करे। किन्तु ऐसे सामजिक आन्दोलन की कल्पना कठिन है, जिससे समस्त समाज आन्दोलित न हो उठा हो। ऐसे आन्दोलन का प्रमुख लक्षण जनता का पथ-प्रदर्शन होता है। गहरी निराशा में डूबा हुआ समाज अपने प्राचीन गौरव की स्मृति में एक सम्बल और आशा की किरण ढूंढ़ता है और ऐसा मार्ग प्रशस्त करनेवाले जननायक का सहज अनुसरण करता है। इस प्रकार के जागरण के धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक परिणाम तो होते ही हैं, इसके फलस्वरूप तत्कालीन भाषा तथा साहित्य को भी यथेष्ट बल मिलता है, क्योंकि नेता के सन्देश के प्रसार का प्रमुख माध्यम भाषा ही हो सकती है। आरम्भ में भाषा ऐसी सामाजिक चेतना का साधन होती है, किन्तु समय पाकर जब आन्दोलन सांस्कृतिक अभ्युदय के स्तर पर पहुंच जाता है तो साहित्य-सृजन साधन के साथ-साथ साध्य भी बन जाता है। सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना लानेवाली क्रांतियों द्वारा राष्ट्रों में आमूल परिवर्तन कैसे होते हैं, इसका इतिहास साक्षी है। उन्नीसवीं शती में हमारे देश ने ऐसे ही क्रांतिकारी जागरण के दर्शन किये, जिसके फलस्वरूप जनता में चेतना फैली और लोग पुरानी विचारधारा की परिधि से निकलकर नवीन विचारों को ग्रहण करने लगे। इस प्रक्रिया से हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास में बहुत सहायता मिली।

जिन कारणों से इस नवीन चेतना का स्रोत प्रवाहित हुआ, वे भी प्रत्यक्ष थे। पाश्चात्य विचारधारा से सम्पर्क उनमें सर्वप्रथम था। यूरोपीय और भारतीय सभ्यताओं के सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप इस चेतना का जन्म हुआ, जिसने हमारे विचारों, विभिन्न दृष्टिकोणों और भाषाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में, "अंग्रेज जिस सभ्यता को लेकर भारतवर्ष आये थे, उसमें गति एवं शक्ति थी। भारतीय सभ्यता शताब्दियों के बोझ से स्थिर और शिथिल हो चुकी थी। ऐसी दशा में भारतीय सभ्यता का

इन सबके विचारों और अनुभूतियों का हिन्दी-प्रेमियों ने मूल या अनुवाद के रूप में संग्रह कर लिया है, जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य सम्पन्न हुए हैं। इनका जीवन स्वयं आदर्श है और इनके विचार साहित्य-रचना के प्रेरक हैं। इस युग में हिन्दी के विकास में इनका बहुत योग रहा है, अतः हम इन्हें इस क्षेत्र की वंदनीय विभूतियां मानते हैं। इनके जीवन का उद्देश्य देश का पथ-प्रदर्शन करना, जनता-जनार्दन की सेवा करना और उस अलौकिक आत्मानन्द की अनुभूति करना है, जो स्वाभिव्यक्ति में प्राप्त होता है। कोई भी नेता जीवन के इस प्रयोजन को अपने दृष्टिपथ से ओझल नहीं होने देता। संप्रति भारतीय नेताओं में इसी प्रवृत्ति का उदय हुआ है।

भारतीय नेताओं पर देश की एकता को बनाये रखने की जैसी जिम्मेदारी है, साहित्य की समरसता के लिए भी उनका सहयोग वैसा ही आवश्यक है। भारत-वासी आज यही आशा लगाये हुए हैं कि उनके नेताओं की वाणी और लेखनी से वह सामर्थ्य पैदा हो, जो राजनीति की दरारों, जातिगत स्वार्थों की विघटनकारी प्रवृत्तियों और राष्ट्रीयता के नाम पर पतनोन्मुख प्रादेशिकता की गन्दगी को दूर हटा सके। कभी-कभी जीवन की विफलताओं और विचारों की अराजकता के कारण जन-समाज अपना ही सर्वनाश करने के लिए तत्पर हो उठता है। तब ऊंचा साहित्य उसको हाथ पकड़कर सही रास्ते पर लाता है। मार्गदर्शक का यह कार्य ये नेता ही कर सकते हैं, जिनकी वाणी में प्रभाव है और लेखनी में ओज।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाषा और जन-आन्दोलन में निकट का सम्बन्ध है। आन्दोलन का आधार लोगों की भावनाएं तथा महत्त्वाकांक्षाएं होती हैं, जो स्वभावतः अभिव्यक्ति ढूंढ़ती हैं। ऐसी अभिव्यक्ति के कई माध्यम हो सकते हैं, किन्तु भाषा उनमें प्रमुख है। भाषा का सहारा लेकर आन्दोलन आगे बढ़ता है और उसका मार्ग प्रशस्त होता है। ठीक उसी प्रकार जन-आन्दोलन भाषा के लिए वाहन का काम करता है और उसके विकास तथा अभिवृद्धि में सहायक होता है। आन्दोलन की बदलती हुई परिस्थितियां नये-नये शब्दों और मुहावरों के रूप में भाषा का अंग बनकर सामने आती हैं। जननायक की समृद्ध कल्पना आन्दोलन और भाषा, दोनों को अभिनव रूप प्रदान करती है तथा साहित्य स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रकार जननायक, जो आन्दोलन का नेता होता है, भाषा और साहित्य को सहज ही गति प्रदान करता है तथा उनके विकास में योगदान देता है। जनजीवन और साहित्य को भिन्न नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार जन-आन्दोलन और नेता को विलग करना कठिन है। इसलिए यह मान लेना होगा कि साहित्य, जन-आन्दोलन और नेता तीनों के संगम से प्रगति की त्रिवेणी सहज ही प्रवाहित होती रहती है।

अध्याय : २

जनजागरण की पृष्ठभूमि और हिन्दी

सामाजिक चेतना और पुरातन विश्वास

जन-जागरण का सांस्कृतिक अथवा सामाजिक चेतना से विशेष सम्बन्ध है। विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन समाज के समुदाय-विशेष को उद्वेलित कर अधिकांश लोगों को अछूता रख सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि कोई राजनीतिक आन्दोलन भी समाज के सभी वर्गों को प्रेरित करे। किन्तु ऐसे सामजिक आन्दोलन की कल्पना कठिन है, जिससे समस्त समाज आन्दोलित न हो उठा हो। ऐसे आन्दोलन का प्रमुख लक्षण जनता का पथ-प्रदर्शन होता है। गहरी निराशा में डूबा हुआ समाज अपने प्राचीन गौरव की स्मृति में एक सम्बल और आशा की किरण ढूंढ़ता है और ऐसा मार्ग प्रशस्त करनेवाले जननायक का सहज अनुसरण करता है। इस प्रकार के जागरण के धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक परिणाम तो होते ही हैं, इसके फलस्वरूप तत्कालीन भाषा तथा साहित्य को भी यथेष्ट बल मिलता है, क्योंकि नेता के सन्देश के प्रसार का प्रमुख माध्यम भाषा ही हो सकती है। आरम्भ में भाषा ऐसी सामाजिक चेतना का साधन होती है, किन्तु समय पाकर जब आन्दोलन सांस्कृतिक अभ्युदय के स्तर पर पहुंच जाता है तो साहित्य-सृजन साधन के साथ-साथ साध्य भी बन जाता है। सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना लानेवाली क्रांतियों द्वारा राष्ट्रों में आमूल परिवर्तन कैसे होते हैं, इसका इतिहास साक्षी है। उन्नीसवीं शती में हमारे देश ने ऐसे ही क्रांतिकारी जागरण के दर्शन किये, जिसके फलस्वरूप जनता में चेतना फैली और लोग पुरानी विचारधारा की परिधि से निकलकर नवीन विचारों को ग्रहण करने लगे। इस प्रक्रिया से हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास में बहुत सहायता मिली।

जिन कारणों से इस नवीन चेतना का स्रोत प्रवाहित हुआ, वे भी प्रत्यक्ष थे। पाश्चात्य विचारधारा से सम्पर्क उनमें सर्वप्रथम था। यूरोपीय और भारतीय सभ्यताओं के सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप इस चेतना का जन्म हुआ, जिसने हमारे विचारों, विभिन्न दृष्टिकोणों और भाषाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में, "अंग्रेज जिस सभ्यता को लेकर भारतवर्ष आये थे, उसमें गति एवं शक्ति थी। भारतीय सभ्यता शताब्दियों के बोझ से स्थिर और शिथिल हो चुकी थी। ऐसी दशा में भारतीय सभ्यता का

का श्रीगणेश हुआ। इस शिक्षा का प्रभाव सबसे पहले बंगाल के संभ्रान्त हिन्दू-परिवारों पर पड़ा।

विदेशियों का संस्कृत-प्रेम

पाश्चात्य विचारों के संपर्क का परिणाम यह हुआ कि शिक्षित वर्ग भारत की विस्मृतप्रायः संस्कृति तथा साहित्य को फिर से जानने के लिए लालायित हो उठा। यह आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी शिक्षा का फल समाज में भारतीय विचारधारा, विशेषकर संस्कृत-साहित्य और उपनिषदों की लोकप्रियता के रूप में प्रकट हुआ। डा० श्यामसुन्दरदास की इन पंक्तियों से इस बात को पुष्टि मिलती है—

"अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में यूरोपवालों में संस्कृत के पठन-पाठन की अभिरुचि उत्पन्न हुई। पहले-पहल सन् १७६७ ई० में कूरदो नामक फ्रांसीसी पादरी ने अपने देश की एक साहित्यिक संस्था का ध्यान संस्कृत और लेटिन की परस्पर समानता की ओर आकर्षित किया था। पर उक्त संस्था ने उस समय इस प्रश्न को अधिक महत्त्वपूर्ण न समझकर इधर ध्यान नहीं दिया। कूरदो का लेख चालीस वर्ष तक अप्रकाशित पड़ा रहा। सन् १७८५ में चार्ल्स विल्किंस ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का और सन् १७८७ में 'हितोपदेश' का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। सर विलियम जान्स ने सन् १७९६ के लगभग संस्कृत का अध्ययन किया। उन्होंने लिखा था कि 'संस्कृत भाषा ग्रीक भाषा से अधिक पूर्ण और लेटिन से अधिक सम्पन्न तथा दोनों भाषाओं से अधिक परिमार्जित है।' .... उन्होंने सन् १८०४ में 'शाकुन्तल', 'मनुस्मृति' और 'ऋतुसंहार' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। तदुपरान्त हेनरी टामस, कोलब्रुक, विल्सन, बर्नफ, आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया और उसके अनेक ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। अलेक्जेंडर हैमिल्टन नामक एक अंगरेज सैनिक ने भारत में रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। जब इंग्लैण्ड और फ्रांस में युद्ध हुआ, तब यह इंग्लैण्ड जाते समय फ्रांस में रोक लिये गए और कुछ दिनों पेरिस में कैद रखे गए। इस दशा में ही उन्होंने कई फ्रांसीसी विद्वानों तथा जर्मन कवि श्लेगेल को संस्कृत पढ़ाई थी। श्लेगेल ने 'भारतवासियों की भाषा और बुद्धि' नामक एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें संस्कृत का अच्छा परिचय दिया गया था और भारतीयों की बहुत प्रशंसा की गई थी। इस ग्रंथ के कारण अनेक दूसरे जर्मन विद्वानों में भी संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठा हुई।"[1]

---

[1] 'भाषा-विज्ञान'—पृष्ठ १५-१६

इस प्रकार साहित्य और शिक्षित समाज में नव-परिवर्तन और नव-विचारों के सूत्रपात के कारणों में एक बात यह भी थी कि तभी भारतीय शिक्षितों और विद्वानों को विदित हो सका कि विदेशी हमारे प्राचीन धार्मिक तथा सांस्कृतिक साहित्य में बहुत दिलचस्पी ले रहे हैं और अपनी-अपनी भाषाओं में उनके अनुवाद कर रहे हैं। इसके परिणाम-स्वरूप बंगाल के ऊपरी स्तर में चेतना की लहर दौड़ गई। भारतीय और पाश्चात्य विचार-धाराओं के सम्मिश्रण ने राजा राममोहन राय, माइकेल मधुसूदन दत्त, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द जैसी महान् आत्माओं को जन्म दिया। बंगला-साहित्य में एक क्रांति आ गई। उसी समय फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन कर हमारी महानता से हमें ही परिचित कराया। मैक्समूलर और उनके साथियों, व्हिटले, पाल-ग्रगमैन, डेलबुक आदि के प्रयत्नों के फलस्वरूप हमारी सांस्कृतिक बपौती विस्मृति के गर्त से उभरी और हम भारतवासियों को भी उसके दर्शन हुए। अनेक अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद बंगला में छपने लगे और परिणामस्वरूप अंग्रेजी साहित्य का सीधा प्रभाव तेजी से बंगला साहित्यकारों और उनके साहित्य पर पड़ने लगा। इन अनुवाद करनेवालों में माइकेल मधुसूदन दत्त प्रमुख थे। पाश्चात्य साहित्य का इनपर इतना प्रभाव पड़ा कि अंग्रेजी नाटकों और उपन्यासों को बंगला में अनूदित करने के अतिरिक्त वह अंग्रेजी में कविता और नाटक लिखने लग गये।

अध्याय : ३

धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन और उनके नेता

अब हम क्रमशः ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन, देवसमाज, सनातनधर्म सभा, थियोसाफिकल सोसाइटी और राधास्वामी मत के आन्दोलनों पर दृष्टिपात करेंगे। आर्यसमाज पृथक प्रकरण का विषय है। शेष आन्दोलनों की ही हम यहां चर्चा करते हैं।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म-समाज

आधुनिक भारत में नवचेतना के तत्व को सबसे पहले राजा राममोहन राय (सन् १७७४ से १८३३) ने ग्रहण किया। उन्होंने जनता को उपनिषदों की महानता का संदेश सुनाया। जिस समय हिन्दू अपने-आपको सब प्रकार से दीन-हीन समझने लग गये थे, उस समय उन्होंने यह घोषणा की थी कि हम उपनिषदों की विपुल ज्ञान-राशि के स्वामी हैं, अतः हमें लघुता की भावना न रखकर आत्मविश्वास-पूर्वक रहना चाहिए। निस्सन्देह राजा-साहब आधुनिक भारत के जन्मदाता थे। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों के अतिरिक्त राजनैतिक जागृति में भी विलक्षण योग दिया। उन्होंने भारत ही में नहीं, इंग्लैण्ड में भी भारतीय शासन-प्रणाली में सुधार के लिए आन्दोलन किया था। वह पहले भारतवासी थे, जिन्हें ब्रिटिश पार्लमेंट की एक कमेटी के सामने गवाही देने का अवसर प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा स्थापित 'ब्रह्म-समाज' ने और पीछे सर्वश्री देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित 'आदि ब्रह्म-समाज' और 'नवीन ब्रह्म-समाज' ने और बम्बई प्रान्त के 'प्रार्थना-समाज' ने निराश और दुःखी लोगों को आशामय भविष्य की सूचना दी।

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७४ में बंगाल के एक संभ्रान्त कुल में हुआ था। उन्होंने अंग्रेजी में उच्च शिक्षा के साथ ही संस्कृत, बंगला, फारसी और हिन्दी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आरम्भ से ही उनका

झुकाव प्राचीन भारतीय संस्कृति और वेदों तथा उपनिषदों में सम्पादित दर्शन की ओर था। इसके साथ ही राजा राममोहन राय का दृष्टिकोण पश्चिम के बुद्धिवाद तथा आधुनिक विचारधारा से भी प्रभावित था। उनके व्यक्तित्व में पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताएं समानरूप से समा गई थीं। उनकी आधुनिकता ने उन्हें रूढ़िवाद, निरर्थक धर्मान्धता और कर्मकाण्ड से ऊपर उठने की प्रेरणा दी और समयानुकूल पाश्चात्य विचारों का स्वागत करने को विवश किया। उधर उनके भारतीय संस्कारों ने उन्हें अपने देश की संस्कृति पर गर्व करने के लिए प्रेरित किया। भारतवासियों में जो हीनभावना और पराजयमूलक मनोवृत्ति आ गई थी, राममोहन राय के विचार उसे दूर करने में सहायक हुए। उन्हीके व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान की शिक्षा का प्रचार होने लगा था। कम्पनी-सरकार अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली अपनाने में इसलिए डरती थी कि भारतीय जनता कहीं उसे अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा पर आघात न समझ बैठे। अंग्रेजों के इस भ्रम का निवारण कर और अपने देशवासियों में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का प्रचार कर राजा राममोहन राय ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त किया।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में गत सौ वर्षों में जितने भी प्रतिवेदन प्रकाशित हुए हैं, उन सबमें राममोहन राय को अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष के समर्थकों में प्रथम स्थान दिया गया है। इस प्रश्न को लेकर जब भारी विवाद खड़ा हो गया था, उस समय राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी के पठन-पाठन और आधुनिक शिक्षा के अपनाये जाने पर अत्यधिक बल दिया था। उन्हीं युक्तियों के आधार पर सन् १८३५ में लार्ड मैकाले ने अपना प्रसिद्ध 'नोट' लिखा, जो तत्कालीन भारतीय शिक्षा-नीति की आधार-शिला बना। सबसे अंतिम सरकारी रिपोर्ट (Report of the official Language Commission, 1956) में भी इसका उल्लेख किया गया है और अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार का श्रेय राजा राममोहन राय को दिया गया है।[१]

---

१. Report of the Official Language Commission, 1956 says—

"During the years following the renewal of the Company's charter in 1813 there took place one of the first great debates relating to educational policy in India. The two points of view which contested for recognition in this debate were ; one, which came to be known as the Orientalist school, and the other the Anglicist school. In a very general way, it may be stated that the Orientalist school wanted to encourage the cultivation of the classical knowledge and literatures of India, whereas the Anglicist or modern school wanted to inculcate knowledge of modern sciences through the English language. Raja Ram Mohan Roy was a very strong advocate of the latter school, of which the foremost official sponsor was of course Macaulay. Following the famous minute recorded by Macaulay in this connection, a resolution was pas-

नवीन विचारों और परंपराओं के समन्वयकर्त्ता

समाज के पुनर्गठन और आधुनिक विचारों के प्रचारार्थ राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ ई० में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। उनके समकालीन प्रमुख व्यक्तियों में से कई एक ने इस संस्था के उद्देश्यों का समर्थन किया और इसके प्रचार में योग दिया। उनमें प्रसिद्ध ठाकुर-परिवार—द्वारिकानाथ, महर्षि देवेन्द्रनाथ, प्रसन्नकुमार आदि और केशवचन्द्र सेन तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी शामिल थे। बाद में स्वामी विवेकानन्द भी कुछ समय तक इस समाज के सदस्य रहे। इसका उद्देश्य हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में सुधार करना और पूजा-पाठ आदि को आडम्बर

---

sed by the Governor General Lord William Bentink in 1835 laying down that all the funds at the disposal of Government would thenceforth be spent in imparting to Indians a knowledge of English literature and science. This and the subsequent statement of policy known as Wood's Despatch of 1854 laid the foundation of the educational system of the country for several decades thereafter.

"We are not concerned with the history of education in India directly in the present context. It is, however, necessary to record, particularly in view of the fact that in course of time this aspect of the matter came to be lost sight of for several decades following, that Sir Charles Wood's Despatch of 1854, which has been described as the Magna Carta of English education in India, embodies a clear recognition of the importance of the indigenous languages of the country in its educational system. The Despatch, while it enunciated the aim of education as 'the diffusion of the improved arts, science, philospohy and literature of Europe ; in short, of European knowledge', laid down that the study of the spoken language of India was to be encouraged and that both the English language and the spoken languages of India were to be regarded as the media for the diffusion of European knowledge. It goes on to say 'It is neither our aim nor desire to substitute the English language for the vernacular dialects of the country. We have always been most sensible of the importance and the use of the languages which alone are understood by the great mass of the population. These languages, and not English, have been put by us in place of Persian in the administration of justice and in the intercourse between the officers of Government and the people. It is indispensable, therefore, that in any general system of education the study of them should be assiduously attended to. And any acquaintance with improved European knowledge which is to be communicated to the great mass of the people whose circumstances prevent them from acquiring a high order of education, and who may not be expected to overcome the difficulties of a foreign language, can only be conveyed to them through one or other of these vernacular languages'. Page 24, 25.

(a) See—Selections from Macaulay's 'Prose and Poetry' Page 719

(b) See—Miscellaneous writings and speeches of Lord Macaulay. Page 272.

से ऊपर उठाकर सादा और सुग्राह्य बनाना था। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने इसके बारे में कहा था—

"राममोहन राय ही को भारतवर्ष के आधुनिक युग के उद्घाटन का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब हमारा देश अपने प्राणतत्व का संस्पर्श खोकर केवल परिस्थिति की गुलामी करता हुआ अज्ञान के भारी बोझ के नीचे दबकर छटपटा रहा था। उन दिनों क्या सामाजिक रीति-रिवाजों में, क्या राजनीति में और क्या धर्म तथा कला के क्षेत्र में हम एक ऐसी उतार की मंजिल पर आ पहुंचे थे, जहां एक जर्जरीभूत परम्परा के वशीभूत हो हम अपनी सारी सृजनात्मक प्रवृत्तियां गंवाकर मानवधर्म से किनारा कसने लगे थे। पतन के उस अंधकारमय घटाटोप में ऋषियों की-सी पुनीत दिव्य दृष्टि और दुर्द्धर्ष आत्मतेज से युक्त एक ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में इस देश के ऐतिहासिक गगन में राममोहन राय का उदय हुआ, जिसकी आभा से यह भूमि फिर से प्रदीप्त हो उठी।... वही इस शताब्दी का हमारा सबसे महान मार्गशोधक था। उसने पग-पग पर हमारी उन्नति में बाधा डालनेवाले रोड़ों को राह से अलग हटाकर हमें विश्व-सहयोग और निखिल मानवता के युग में लाकर खड़ा किया।... उसे ही भारत के अन्तराल की उस सर्वोपरि पुकार को, जोकि सबके हृदय में निवास करनेवाले और एक ही कल्याणसूत्र में सबको ग्रंथिबद्ध करनेवाले परमात्मा की भक्ति-उपासना के क्षेत्र में सभी मनुष्यों की समानता-विषयक इस देश की चिर अमर भावना में निहित है, इस प्रकार सशक्त रूप से फिर से प्रतिष्ठापित करने का श्रेय दिया जाना चाहिए।"[1]

एकेश्वरवाद में उनका विश्वास था और वह मूर्ति-पूजा, गुरु-परम्परा, अवतारवाद आदि का खंडन करते थे। सम्भवतः इन्हीं विचारों का कुछ समय बाद स्वामी दयानन्द पर भी प्रभाव पड़ा।

इस आन्दोलन ने शीघ्र ही बंगाल के समस्त शिक्षित हिन्दू-समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। बंगाल से बाहर भी इन विचारों को सामयिक समझकर शिक्षित जनता ग्रहण करने लगी। बिहार, उत्तर प्रदेश और बम्बई के अतिरिक्त पंजाब में समाज का प्रभाव इतना बढ़ गया कि उसे आश्चर्यजनक ही कहा जा सकता है। अनेक शिक्षित हिन्दू और सिक्ख इसकी ओर आकर्षित हुए। अमृतसर जिले के अग्रगण्य जमींदार सरदार दयालसिंह मजीठिया ब्रह्म-समाज से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी जायदाद का एक बड़ा हिस्सा इसके नाम पर दान

[1] राममोहन राय शताब्दी-समारोह के अवसर पर कलकत्ता में १८ फरवरी, १९३३ को सभापति-पद से रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा दिये गए भाषण से।
—कृष्णवल्लभ द्विवेदी—'भारत-निर्माता'—पृष्ठ २०

दे दिया। उसी दान से एक कालेज और एक बड़ा सार्वजनिक पुस्तकालय खोला गया और अंग्रेजी दैनिक 'ट्रिब्यून' लाहौर से प्रकाशित होने लगा। राजा राममोहन राय के सुधारवाद की पंजाब के प्रमुख नगरों में काफी हलचल रही।

राजा राममोहन राय और हिन्दी

राजासाहब हिन्दी के भी पक्षपाती थे और मानते थे कि हिन्दी में अखिल भारतीय भाषा बनने की क्षमता है। उन्होंने कलकत्ता से सन् १८२६ ई० में 'बंगदूत' नामक एक पत्र निकाला, जो चार भाषाओं में छपता था—हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला और फारसी।[१] राममोहन राय स्वयं हिन्दी लिखते थे और दूसरों को भी प्रोत्साहित करते थे। उनकी हिन्दी का नमूना देखिये—

"जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं अर्थात् अब्राह्मण हैं। यह प्रमाण धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्यम् शास्त्रीजी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है 'वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने सकता नहीं और जिसने वेद का अध्ययन किया है उस ही का केवल ब्रह्म-विद्या में अधिकार है. . . यह जानके हम सब उत्तर देते हैं।"[२]

राजा राममोहन राय कट्टर पुरातनपंथियों से बराबर वाद-विवाद करते रहते थे। धार्मिक विषयों पर उन्होंने ब्राह्मणों से कई बार शास्त्रार्थ किये। इनके विज्ञापन तथा प्रकीर्णक वह सदा हिन्दी में भी छपवाते थे। इससे हिन्दी गद्य के विकास में काफी सहायता मिली और परोक्ष रूप से हिन्दी-भाषी क्षेत्रों, और आर्यसमाज के नेताओं तथा अनुयायियों को प्रोत्साहन मिला। कालान्तर में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की जो परम्परा चली और जिससे गद्य के विकास में सबसे अधिक सहायता मिली, उसे कलकत्ता से निकलनेवाले 'उदन्त मार्तण्ड' (सन् १८२४) और 'बंगदूत' (सन १८२६) से पर्याप्त बल मिला।

साहित्य और शिक्षित समाज में परिवर्तनवाद के सूत्रपात का प्रमुख कारण यही था। यह १९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था, किन्तु बंगाल में जब विचारों की ऐसी उथल-पुथल मची हुई थी तब देश के अन्य भागों में विचार-सरिता प्रायः यथापूर्व बह रही थी। बंगला-साहित्य में नवीन संदर्भ इतने स्पष्ट थे कि शिक्षित समुदाय इसकी ओर विशेष आकृष्ट होने लगा। उन्मुक्त विचारों, रूढ़ियों के त्याग और पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने दूर-दूर तक शिक्षित समाज को प्रभावित किया।

---

[१] के. नटराजन—'हिस्ट्री ऑव इण्डियन जर्नलिज्म'—पृष्ठ २६

[२] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेख 'राजा राममोहन राय की हिन्दी' से उद्धृत।

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में बंगला-ग्रंथों के अनुवाद होने लगे और इस प्रकार बंगला से होकर आये हुए पाश्चात्य विचारों को ग्रहण किया जाने लगा।

तत्कालीन आंदोलनों पर राजा राममोहन राय का प्रभाव

हम देख चुके हैं कि ब्रह्म-समाज की स्थापना द्वारा राजा राममोहन राय ने नवीन विचारधारा को किस प्रकार साकार रूप दिया। ब्रह्म-समाज में प्राचीन वैदिक धर्म के सभी तत्वों को स्थान दिया गया, किन्तु निरर्थक रीति-रिवाज, रूढ़िवाद और पाखंड को धर्म से अलग रखा गया। भारत के धर्मनिष्ठ समाज पर इन विचारों का अच्छा प्रभाव पड़ा और जागरण की प्रवृत्तियों को ब्रह्म-समाज की स्थापना से यथेष्ट बल मिला। आगे चलकर आर्यसमाज के संस्थापकों तथा अनुयायियों को इस विचारधारा से बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वामी दयानन्द की कोई भी जीवनी कदाचित् ऐसी नही, जिसमें परोक्षरूप से उन्हें राममोहन राय का अनुयायी या उत्तराधिकारी न माना गया हो। स्वयं स्वामीजी ने सन् १८७२ में कलकत्ता पहुंचते ही सबसे पहले ब्रह्म-समाज के नेताओं से भेंट की। उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि राममोहन राय के धार्मिक विचारों से वह प्रभावित हुए हैं। एकेश्वरवाद, समाज-सुधार, बहुदेवोपासना का विरोध, पुरानी निरर्थक रूढ़ियो का खण्डन आदि बातें इन दोनों नेताओं की शिक्षा के प्रमुख लक्षण थे। आर्यसमाज की स्थापना (सन् १८७५ ई०) से पहले स्वामीजी और केशवचन्द्र सेन में सहयोगात्मक पत्र-व्यवहार भी रहा। 'भारत-निर्माता' पुस्तक में स्वामी दयानन्द पर अपने निबन्ध में पं० कृष्णवल्लभ द्विवेदी लिखते हैं—"राममोहन राय की तरह ऋषि दयानन्द ने भी सार्वजनिक क्षेत्र में आते ही अपने देश की प्राचीन ज्ञान-निधि की ओर जनसाधारण का ध्यान खींचने और उसका यथार्थ तत्त्व संसार को समझाने का महत्व और मूल्य परखा. . . . राममोहन राय की भांति दयानन्द भी मूलतः एक धर्म-संस्कारक ही थे, परन्तु उनका व्यापक प्रभाव धर्म के साथ-साथ हमारे राष्ट्र के अन्य अंगों पर भी पड़े बिना न रह सका।"[१] इस जागरण-आन्दोलन में इन दोनो समाज-सुधारक धार्मिक संस्थाओं का योगदान महत्वपूर्ण है। उधर सन् १७९८ में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद से हिन्दी और उर्दू के रूप में हिन्दुस्तानी भाषा धीरे-धीरे आगे बढ़ी और इसमें लिखित गद्य साहित्यिक रूप धारण करने लगा। सरकारी सहायता तथा संरक्षण में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इसके बाद बंगाल से बाहर अन्य केन्द्रों, विशेषकर काशी में, हिन्दी-लेखन और प्रकाशन का कार्य विस्तार से आरंभ हुआ।

---

[१] 'भारत-निर्माता'—पृष्ठ २६,२६

ईसाईमत का प्रचार और हिन्दी

दक्षिण और पूर्वी भारत में अंग्रेजों के पांव जम जाने के कारण १८वीं शताब्दी में ही देश के उन भागों में ईसाई मत का व्यापक प्रचार होने लगा। ईसाई मत के प्रचार के लिए बाइबल और अन्य धार्मिक ग्रंथों को हिन्दी में रूपान्तरित किया गया। इन प्रवृत्तियों का केन्द्र सिरामपुर था। यहीं हिन्दी-ग्रन्थों के लिए पहले-पहल मुद्रणालय की स्थापना हुई। १८वीं शताब्दी के मध्य तक इन दोनों प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हिन्दी-गद्य काफी परिमार्जित हो चला था और छोटे-बड़े सैकड़ों हिन्दी-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी में भारतेन्दुकाल का आरंभ इसी समय हुआ और इस युग को जिन प्रवृत्तियों से बल मिला, वे वही थीं, जो विगत अर्द्ध-शताब्दी में बंगला-साहित्य तथा समाज को बढ़ावा दे चुकी थी।

ईसाई मत के खुल्लमखुल्ला प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दुओं में एक नये जागरण का अभ्युदय हुआ। हमने पहले ही उल्लेख कर दिया है कि सौभाग्य से विदेशी लोगों में कुछ ऐसे विद्वान् भी थे, जिन्हें संस्कृत-भाषा और वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति के अध्ययन में विशेष रुचि थी। हमारे देश की संस्कृति और भाषा ने विदेशियों को पर्याप्त प्रभावित किया। इसका बहुत-कुछ श्रेय इस जन-जागरण के हमारे नेताओं को ही है। उनके संपर्क से विदेशी विद्वानों ने भारत को जानने का यत्न किया और उसके साथ उन्होंने उसकी आत्मा साहित्य को भी जाना। यहां इसके एक-दो उदाहरण उपयुक्त होंगे। उत्तरी भाषाओं के तारतम्य-बोधक व्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध विद्वान जॉन बीम्स, जो हिन्दी को ही एक तरह से उत्तरी भाषाओं की जननी मानते हैं, लिखते हैं—

"भारत में आर्य भाषाओं के बीच, विशेषकर तीन प्रधान भाषाओं अर्थात् हिन्दी, मराठी और बंगला के बीच एक प्रकार की आपसी स्पर्धा है। प्रत्येक भाषा अपनेको दूसरी भाषाओं से श्रेष्ठतर मानती है। मेरे बंगाली और मराठी मित्र हिन्दी को प्रथम स्थान देने के मेरे निश्चय से सहमत न होंगे, जबतक कि वे मेरी युक्तियों को न सुन लें और संभव है, कारण जान लेने के बाद भी सहमत न हों।"[१]

---

१. There exists in India a sort of rivalry between the Aryan languages, or rather between the three principal ones—Hindi, Marathi and Bengali—each considering itself superior to others, and my Bengali and Marathi friends will probably not agree with me in giving the palm to Hindi until they read my reasons for doing so and perhaps not even then.—John Beams—

'A comparative Grammer of Modern Aryan languages' page-31,33.

इन सब बातों के फलस्वरूप भारतीय अपनी प्राचीन परम्परा और सांस्कृतिक निधि की ओर आकृष्ट हुए। यही आगामी धार्मिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि बनी। ज्यों-ज्यों नवीन विचारधारा और ईसाई मत का प्रचार बढ़ा, त्यों-त्यों ये स्थानीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ते गए। प्रचार के जिन साधनों को अंग्रेजों और ईसाई पादरियों ने स्वार्थसिद्धि के लिए उन्नत किया, वे सब स्थानीय धार्मिक आन्दोलनों को व्यापक बनाने के भी साधन बन गये। उदाहरणार्थ अंग्रेजी शिक्षा से लोगों में जागृति आई और भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी-गद्य के विकास को, ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के आन्दोलनों से प्रोत्साहन तथा दृढ़ आधार मिला।

नवीनचन्द्र राय और हिन्दी

राजा राममोहन राय का ब्रह्म-समाज बंगाल की सीमा से बाहर अगर कहीं पनपा तो वह केवल पंजाब में ही। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के विचारों और आर्यसमाज के उद्देश्यों को जैसी उर्वरा भूमि पंजाब में मिली, ऐसी और कहीं नही मिली। संयोग से समाज-सुधार के इन प्रयत्नों का सम्बन्ध हिन्दी के विकास और प्रचार से जुड़ चुका था। इसलिए पंजाब में ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज की प्रगति का एक पहलू हिन्दी-आन्दोलन ही है। १९वीं शती में, १८५७ की जनक्रान्ति के बाद, पंजाब में बोल-चाल की भाषा पंजाबी थी। कुछ स्कूलों में और दैनिक काम-काज के क्षेत्र में गुरुमुखी लिपि में पंजाबी का प्रयोग प्रचलित था। किन्तु सबसे अधिक चलन उर्दू का था, जो अधिकांश स्कूलों, सभी सरकारी दफ्तरों और कचहरियों की भाषा थी। उस समय हिन्दी कम-से-कम पंजाब में अतीत की भाषा से बढ़कर और कुछ नहीं थी। आर्यसमाज और ब्रह्म-समाज के आन्दोलनों के साथ जो जागरण की लहर आई, उसके कारण हिन्दी फिर जी उठी और धीरे-धीरे उसने पंजाबी और उर्दू के साथ मिलकर आगे बढ़ना आरंभ किया।

पंजाब में इस युग के सर्वप्रथम हिन्दी-नेता नवीनचन्द्र राय थे। उनपर राजा राममोहन राय का बहुत प्रभाव था और वह ब्रह्मसमाज के सच्चे अनुयायी थे। उन्होंने पंजाब में समाज-सुधार के पक्ष का समर्थन किया और इस आन्दोलन का माध्यम था हिन्दी। अपनी विचारधारा को प्रसारित करने और उसके लिए लोगों का समर्थन प्राप्त करने के लिए नवीनचन्द्र ने लाहौर से दो पत्रिकाएं चलाईं, जिनमें १८६८ में स्थापित 'ज्ञान प्रदायिनी' सर्वप्रथम थी। प्रायः इन सभी पत्रिकाओं

नवीनचन्द्र राय

का संपादन नवीनचन्द्र स्वयं करते थे। इन पत्रिकाओं में वह ब्रह्म-समाज के सिद्धान्तों का प्रचार और समाज-सुधार की आवश्यकता पर बल दिया करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ छोटी-बड़ी पुस्तिकाएं हिन्दी के पक्ष के स्पष्टीकरण और इसके आलोचकों की दलीलें काटने के उद्देश्य से लिखीं। पंजाब के सार्वजनिक क्षेत्र में, विशेषकर शिक्षित समाज में, नवीनचन्द्र राय का बहुत आदर था। इसलिए हिन्दी-प्रचार के कार्य में विकट परिस्थितियों के बावजूद उन्हें आशातीत सफलता मिली।

यह स्पष्ट है कि यद्यपि नवीनचन्द्र राय ने कई हिन्दी-पत्रिकाएं निकालीं और बहुत-से हिन्दी-ग्रन्थों की रचना भी की, फिर भी उनका वास्तविक क्षेत्र, प्रचार अधिक और साहित्य-सृजन कम था। महिलाओं के लिए उन्होंने हिन्दी की पत्रिका 'सुगृहिणी' निकाली, जिसका सम्पादन उनकी सुपुत्री हेमन्तकुमारी देवी करती थीं।

प्रार्थना-समाज

ब्रह्मसमाज के अतिरिक्त और भी जो धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन उन्नीसवीं शती में चले और जिनके कारण हिन्दी को प्रोत्साहन मिला, इनमें 'प्रार्थना-समाज' भी शामिल है, जिसका बम्बई में काफी जोर रहा। इसके अग्रगण्य नेताओं में महादेव गोविन्द रानडे थे। प्रार्थना-समाज का जन्म पश्चिमी भारत में उन्हीं उद्देश्यों को लेकर हुआ, जिनके कारण कलकत्ता में ब्रह्म-समाज का जन्म हुआ था। एकेश्वरवाद का प्रचार और धर्म को कर्मकाण्ड तथा रीति-रिवाज की शृंखला से मुक्त कराने की दृष्टि से ही इस संस्था की बम्बई में स्थापना हुई थी। थियोसोफिकल सोसाइटी की विचारधारा का भी प्रभाव इसपर स्पष्ट दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जो समाज-सुधार-सम्बंधी आन्दोलन आरम्भ हो रहे थे, उन्हींके फलस्वरूप प्रार्थना-समाज का भी प्रादुर्भाव हुआ। 'प्रार्थना-समाज' के नामकरण से पूर्व 'परमहंस मंडली' के नाम से कुछ व्यक्ति अप्रकट रीति से धर्म, समाज और जाति-सम्बन्धी सुधार का कार्य करते थे। इनका विशेष कार्य उस समय जांत-पांत के नियम तोड़ने का था। किन्तु ब्रह्म-समाज, रामकृष्ण-मिशन इत्यादि के प्रभाव और सामाजिक व धार्मिक चेतना के साथ महादेव गोविन्द रानडे तथा भंडारकर जैसे व्यक्तियों ने खुली रीति से कार्य करने का निश्चय

महादेव गोविन्द रानडे

किया। शुभकार्य में किसी भी प्रकार का छिपाव क्यों, इसी विचार से यह 'परमहंस मंडली' 'प्रार्थना समाज' के रूप में प्रकट हुई। इसीलिए सन् १८६७ में समाज की स्थापना एक प्रकार से औपचारिक थी, क्योंकि इससे कई वर्ष पहले ब्रह्म-समाज की विचारधारा के परिणामस्वरूप बम्बई के शिक्षित वर्ग के नेतागण राममोहन राय के सुधार-सम्बन्धी सिद्धांतों पर विचार करने के लिए प्रायः एकत्र हुआ करते थे। इन साप्ताहिक सम्मेलनों में महादेव गोविन्द रानडे, नारायण चन्दावरकर, आर. जी. भंडारकर आदि की विशेष रुचि थी।

सन् १८६४ में केशवचन्द्र सेन देशभर का भ्रमण करते हुए बम्बई पहुंचे और वहां कुछ महीने रहे। उनके व्यक्तित्व और भाषणों का बम्बई के शिक्षित वर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा और पहले ही से विद्यमान प्रवृत्तियों को अब निश्चित मार्ग मिल गया। तभी नवोदित आन्दोलन का नाम 'प्रार्थना-समाज' रखा गया। श्री डी. एन. बैनर्जी के शब्दों में—"वास्तव में प्रार्थना-समाज पर केशवचन्द्र सेन के धर्मगुरुत्व की छाप लगी है, क्योंकि उन्होंने ही विचारशील लोगों का ध्यान धर्म को उदार बनाने और उन लोगों में सुधार के लिए उत्साह भरने की आवश्यकता पर जोर दिया, जो अंध रीतिरिवाज, जात-पांत और पंडों-पुरोहितों में विश्वास रखते थे।"[१]

केशवचन्द्र सेन

बम्बई के शिक्षित वर्ग की प्रार्थना-समाज के कार्यक्रम में बहुत रुचि हो चली थी। इस कार्यक्रम के अंग थे एकेश्वरवाद के आधार पर धार्मिकता, पाखंड और निरर्थक रूढ़ियों का खंडन, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, आधुनिक शिक्षा का प्रसार और जनता में राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त करना। इन्ही उद्देश्यों को लेकर बम्बई पहुंचने से पहले केशवचन्द्र सेन ने मद्रास में भी एक संस्था की स्थापना की थी, जिसका नाम 'वैदिक समाज' था। साधारणतः प्रार्थना-समाज और वैदिक

---

१ "The Prarthana Samaj is really the seal of Keshab's apostolate, for it was he who drew the attention of thoughtful men to the great need for liberalising religion and for infusing new fervour and reforming zeal into the minds of those accustomed to cast-ridden, dogma-ridden, priest-ridden Hinduism."

—'India's Nation Builders.'—Page 58.

समाज ब्रह्म-समाज के सिद्धान्तों का ही अनुसरण करते थे, किन्तु इन दोनों संस्थाओं का प्रभाव बम्बई, पूना और मद्रास के उच्च शिक्षित वर्ग तक ही विशेषरूप से सीमित रहा। नियामक रूप से हिन्दी भाषा के विकास में इनका विशेष योग नहीं रहा है। साप्ताहिक प्रवचनों इत्यादि में हिन्दी का प्रयोग यदा-कदा होता रहा है। हां, रानडे जैसे नेता के द्वारा हिन्दी-साहित्य को विचारों की चेतना अवश्य मिली।

थियोसोफिकल सोसाइटी

एक और धार्मिक संस्था का उसी समय जन्म हुआ और उसका भारत की तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। वह थी थियोसोफिकल सोसाइटी, जिसकी स्थापना सन् १८७५ में मदाम ब्लावत्स्की और आल्कोट के प्रयत्नों से अमरीका में हुई थी, किन्तु जिसका केन्द्रीय कार्यालय तीन वर्ष बाद ही भारतवर्ष में खुल गया। इस आन्दोलन का देश में होनेवाले अन्य धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों पर गहरा प्रभाव पड़ा, इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ विस्तार से कहना आवश्यक है।

मदाम ब्लावत्स्की

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य और उत्तरार्द्ध में जो धार्मिक अभ्युदय हमारे देश में हुआ, उसकी स्वतंत्र और समानान्तर गूंज थियोसोफिकल सोसाइटी के रूप में अमरीका में हुई। अनेक कारणों से, जिनमें प्रमुख अमरीकी गृहयुद्ध था, कुछ विचारवान और आस्थावान लोगों का ध्यान मानवता के आधारभूत गुणों, अर्थात् स्नेह, उदारता और विश्वबन्धुत्व की ओर गया। यह विचार ही १७ नवम्बर, १८७५ में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना में परिणत हुआ। इसके प्रवर्तक थे—कर्नल हेनरी स्टील आल्कोट तथा मदाम ब्लावत्स्की। सोसाइटी की स्थापना के समय और उससे पूर्व ये दोनों भारतीय दर्शन और विचारधारा तथा उस समय के धार्मिक आन्दोलनों से प्रभावित हुए थे। उनका यह विश्वास था कि भारतीय इतिहास और दर्शन विश्वबन्धुत्व की परम्परा के अनुकूल है। वे थियोसोफिकल सोसाइटी के कार्यालय को जनवरी १८७९ में ही भारत में ले आये।[१] दस वर्ष तक इसका कार्यालय बम्बई में रहा और तत्पश्चात् सन् १८८८ में सोसाइटी का प्रधान अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय अड्यार (मद्रास) में तथा राष्ट्रीय कार्यालय बनारस में स्थाना-

[१] इन्द्र विद्यावाचस्पति—'आर्यसमाज का इतिहास' पृष्ठ—१२०

न्तरित हुआ।[1] सोसाइटी के प्रवर्तकों का पत्र-व्यवहार न्यूयार्क में ही स्वामी दयानन्द से आरंभ हो चुका था। वास्तव में उन्होंने स्वामीजी के प्रति ऐसा आदर प्रकट किया और अपने पत्र में स्पष्ट शब्दों में उन्हें आध्यात्मिक गुरु स्वीकार किया, जिसे पढ़कर आज भी भारतीयों को गौरव का अनुभव होगा। सन् १८७८ के जनवरी मास में स्वामी दयानन्द के नाम हैनरी आल्कोट ने इस आशय का एक पत्र लिखा था।[2] स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति ऐसा आदरभाव रखने के कारण ही सोसाइटी ने भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा के रूप में खोलना स्वीकार किया। सोसाइटी ने न्यूयार्क में ही आल्कोट की अध्यक्षता में सर्वसम्मति से यह भी निश्चय किया कि इस सोसाइटी का नाम 'थियोसोफिकल सोसाइटी ऑव दि आर्यसमाज ऑव इंडिया' रख दिया जाय। इसकी सूचना पत्र द्वारा स्वामी दयानन्द को भेजी गई।[3]

---

[1] 'दि हैण्डबुक ऑव दि थियोसोफिकल सोसाइटी ऑव इण्डिया'—पृष्ठ १०,५२

[2] अंग्रेजी का मूल पत्र इस प्रकार है—

"To the most honourable Pandit Dayanand Saraswati, India.

"Venerated Teacher, a number of Americans and other students who earnestly seek after spiritual knowledge, place themselves at your feet and pray you to enlighten them. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influential organs and persons whose worldly interests of private prejudices were linked with the established order.

"We have been called atheists, infidels and pagans.

"We need the assistance not only of the young and enthusiastic, but also wise and venerated. For this reason we come to your feet as children to a parent and say look at us, our teacher, teach us what we aught to do. Give us your counsel, your aid.

"See that we approach you not in pride but humility, that we are preperced to receive your counsel and do our duty as it may be shown to us.

(Sd.) Henry Olcott,
President of the Theosophical Society.

—'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ ११६

[3] 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ ११६ में इस प्रस्ताव का उल्लेख इस प्रकार है—
२२ मई सन् १८७८ के पत्र में थियोसोफिकल सोसाइटी के रिकार्डिंग सेक्रेटरी अगस्ट गुस्टम लिखते हैं—

"आर्यसमाज के मुखिया के नाम,

"आपको आदरपूर्वक सूचना दी जाती है कि २२ मई, १८७८ को न्यूयार्क में थियोसोफिकल सोसाइटी की कौन्सिल का जो अधिवेशन प्रेजीडेण्ट की अध्यक्षता में हुआ था, उसमें वाइस प्रेजीडेण्ट ए० विल्डर के प्रस्ताव और कारस्पाडिंग सेक्रेटरी एच०पी० ब्लावत्स्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि सोसाइटी मिल जाने के

सोसाइटी के सिद्धांत और आदर्श

अपने सिद्धान्तों और आदर्शों के कारण थियोसोफिकल सोसाइटी सहज ही उस समय के धार्मिक आन्दोलन के प्रवाह में मिल गई। सोसाइटी का दृष्टिकोण, कार्यप्रणाली और उद्देश्य ऐसे थे, जिनका आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज और ब्रह्म-समाज के उद्देश्यों, सिद्धान्तों और कार्य-प्रणाली से बहुत-कुछ साम्य था। धार्मिक चेतना और आध्यात्मिक अभ्युदय के वातावरण में सोसाइटी ने भारतीय संस्कृति के विस्तार में योग दिया।

थियोसोफिकल सोसाइटी के सिद्धान्तों तथा विश्वासों के दो पक्ष हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। जहांतक व्यक्ति का प्रश्न है, उनका विश्वास सर्वव्यापक ईश्वर में, मानव-आत्मा और मानव-जीवन की आधारभूत आध्यात्मिकता में है। सामाजिक दृष्टि से ये समस्त मानव-समाज को एक कुटुम्ब के समान मानते हैं, ऐसा कुटुम्ब, जिसका प्रत्येक सदस्य सामान्य नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक आस्थाओं से बंधा है। इसलिए यह सोसाइटी जाति-पांति के भेदभाव, रूढ़िगत सामाजिक बन्धनों तथा धर्म के बाह्य आडम्बरों और सभी प्रकार की कुरीतियों का खंडन करती है। आस्था, सत्कर्म और मानव-जाति में पारस्परिक भ्रातृभाव ही सोसाइटी के उच्चतम आदर्श हैं। इन्हीं आदर्शों को मदाम ब्लावत्स्की ने इन शब्दों में रक्खा है—

१. जाति, धर्म, वर्ण और स्त्री-पुरुष के भेदभाव-रहित मानव-समाज के हित में विश्वबन्धुत्व के प्रचारार्थ केन्द्र का निर्माण करना।

२. धर्म, दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना।

३. मानव की अविकसित शक्तियों तथा प्रकृति के अव्यक्त नियमों की खोज करना।[1]

थियोसोफिकल सोसाइटी ने अपने कार्यक्रम के अनुसार तथा अपने उद्देश्यों

प्रस्ताव को स्वीकार करती है और यह भी स्वीकार करती है कि इस सोसाइटी का नाम 'दी थियोसोफिकल सोसाइटी ऑव दी आर्यसमाज ऑव इण्डिया' रख दिया जाय।

"निश्चय हुआ कि 'थियोसोफिकल सोसाइटी अपने और यूरोप तथा अमरीका में विद्यमान अपनी शाखाओं के लिए आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथप्रदर्शक अंगीकार करे।"

[1] Its three objects are—

1. To form a nucleus of the universal brotherhood of humanity, without distinction of race, creed, sex, caste or colour.
2. To encourage the study of comparative Religion, Philosophy and Science.
3. To investigate unexplained laws of Nature and powers latent in man.

—'The Hand Book of the Theosophical Society in India'—Page 3.

की प्राप्ति के लिए जो कुछ भी किया, उससे शिक्षा और समाज-सुधार के क्षेत्रों में भारत को विशेष लाभ पहुंचा। सौभाग्य से सोसाइटी को प्रतिभा-सम्पन्न पदाधिकारी प्राप्त हुए। इनमें श्रीमती एनी बेसेन्ट और श्री जार्ज अरुन्डेल के नाम उल्लेखनीय हैं। विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र में इन दोनों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। सोसाइटी का राष्ट्रीय प्रधान कार्यालय बनारस में था। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने सन् १८९८ में काशी में सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की, जिसमें धार्मिक शिक्षण पर विशेष बल दिया जाता था। इसके पश्चात सेंट्रल हिन्दू कालिज और हिन्दू बालिका विद्यालय की स्थापना हुई। बीस वर्ष बाद यही संस्थाएं हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव के समान सिद्ध हुई। सोसाइटी ने कालान्तर में दक्षिण भारत में चार शिक्षण-संस्थाएं खोलीं, जिनमें से तीन महिलाओं की शिक्षा के लिए हैं। इनके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में प्रत्यक्ष रूप से सोसाइटी द्वारा अथवा इसके आदर्शों से प्रभावित होकर इसके अनुयायियों द्वारा कई और संस्थाओं का माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए जन्म हुआ। इन संस्थाओं में भारतीयता, भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषाओं पर समुचित बल दिये जाने के कारण सोसाइटी द्वारा हिन्दी की भी पर्याप्त सेवा हुई, जिसका अधिकतर श्रेय श्रीमती एनी बेसेन्ट को है। एनी बेसेन्ट की हिन्दी-सेवा का विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

भारत की थियोसोफिकल सोसाइटी का कार्यालय काशी में होने के कारण सोसाइटी ने आरम्भ से ही अपने शिक्षा और प्रकाशन के कार्यक्रम में हिन्दी को उचित स्थान दिया। ब्रह्मविद्या और इसके प्रचार से सम्बन्धित साहित्य अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ। विशेषकर स्वाधीनता के पश्चात् सोसाइटी का प्रकाशन-विभाग इस दिशा में अधिक जागरूक रहा है। इसके द्वारा हिन्दी की अधिकाधिक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।[1] सोसाइटी की संस्थाएं पहले

---

[1] सोसाइटी के हिन्दी-प्रकाशनों की सूची इस प्रकार है—
१. थियोसोफी परिचय, २. स्वर्ग-लोक, ३. थियोसोफी मार्ग-दर्शक, ४. मरण और मरण-पश्चात्, ५. मनुष्य के कोष, ६. साधन चतुष्टय, ७. थियोसोफी (ब्रह्मज्ञान) की प्रथम पुस्तक, ८. आन्तर जीवन, ९. जीवन्मुक्त और मुक्तिमार्ग, १०. चक्रकुण्डलिनी और शास्त्रोक्त अनुभव, ११. भारत समाजीय नित्य पूजा-विधान (श्लोक-विधि तथा हिन्दी-टीका), १२. सार-शब्द, १३. कर्म, १४. कृष्णजी की आकलैण्ट टाक, १५. पुनर्जन्म, १६. धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता, १७. लड़कियों को क्या पढ़ाना चाहिए?, १८. बड़ों के प्रति बच्चों का सन्देश, १९. सत्संगति, २०. इस्लाम धर्म की खूबियां, २१. परलोक की कहानियां, २२. धर्म ज्योति, २३. सुख की अचूक कुंजी, २४. ब्रह्मविद्या की प्रथम पुस्तक, २५. नित्य के जीवन में ब्रह्मविद्या, २६. थियोसोफिस्टों का विश्वास, २७. ब्रह्मविद्या, २८. संकल्प शक्ति, उसका संयम और विकास, २९. कर्म-व्यवस्था, ३०. मनुष्य के सात तत्त्व

से ही हिन्दी-प्रचार में सक्रिय योग देती आई है। इसके अतिरिक्त थियोसोफिकल सोसाइटी ने गत सत्तर वर्षों से धार्मिक समन्वय और विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहन देने की दिशा में बहुत-कुछ किया है, जिसकी सराहना स्वयं महात्मा गांधी, डा० राधाकृष्णन् तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने की है। यद्यपि सोसाइटी का राजनीति से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं, फिर भी इसके पदाधिकारियों ने हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों में पूर्ण योग दिया है। श्रीमती एनी बेसेन्ट होमरूल-आन्दोलन की प्रवर्तक कही जा सकती हैं, जिसे उन्होंने सन् १९१६ में चलाया और आगामी वर्ष सन् १९१७ में वह राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गईं। उस समय गांधीजी ने उनके सम्बन्ध में कहा था—"स्वराज्य शब्द को उन्होंने घर-घर पहुंचा दिया[१]।" इन सब कारणों से थियोसोफिकल सोसाइटी और इसके कार्य को आधुनिक काल की उन संस्थाओं में गिना जाता है, जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में सुधार के लिए आन्दोलन किये। इस प्रकरण को डा० सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा व्यक्त किये गए मत से समाप्त करना उचित होगा। सन १९४० में उन्होंने कहा था—

"ऐसे समय में जब राजनीतिक असफलताओं के कारण सभी ओर अन्धकार छा गया था और भारत के लोग अपनी संस्कृति के मूल तत्वों में संदेह करने लगे थे, थियोसोफिकल आन्दोलन ने उन मूल तत्वों में लोगों की आस्था पुनः दृढ़ करके राष्ट्र की महान सेवा की।"[२]

इस प्रकार थियोसोफिकल सोसाइटी ने धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना की दीप-शिखा जलाई, जो आज तक प्रज्वलित है।

भारत-समाज

यह आर्यसमाज की सार्वदेशिक सभा के समान ही थियोसोफिकल सोसाइटी की एक शाखा या अंग है। थियोसोफिकल सोसाइटी ने सन् १९२० में इसकी स्थापना की थी। उस समय से ही यह समाज सोसाइटी का एक अंग बनकर उसके सामाजिक सुधार के उद्देश्य को आगे बढ़ा रहा है। इसका प्रमुख उद्देश्य हिन्दुओं के रीति-रिवाजों और धार्मिक संस्कारों के साथ-साथ हिन्दू-समाज के कर्मकाण्ड में सुधार (युक्तिसंगत) करना है, जिससे हिन्दू-समाज से कुरीतियों और पाखण्ड का उन्मूलन हो।

---

१ "She made Swaraj a household word in India."
—"The Hand Book of the Theosophical Society in India."—Page 45.

२ 'दि हैंडबुक ऑव दि थियोसोफिकल सोसाइटी इन इण्डिया'—पृष्ठ ४५.

इन सभी संस्थाओं ने धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप देश में जागरण की लहर दौड़ गई। धार्मिक जागृति के साथ-साथ इन आन्दोलनों के कारण सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट हुई। संक्षेप में, इस युग के धार्मिक जागरण में नवचेतना के सभी लक्षण विद्यमान थे। अपने शिशुकाल और फिर प्रौढ़ावस्था में हिन्दी को इस जागरण का वाहन बनने का सुयोग मिला।

रामकृष्ण-मिशन और स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण परमहंस के देहावसान के पश्चात् उनकी शिक्षा तथा सिद्धान्तों

के प्रचार के लिए स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९७ में रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य निःस्वार्थभावी समाज-सेवक और रामकृष्ण परमहंस के आदर्शों का देश-विदेश में प्रसार करनेवाले प्रचारक तैयार करना था।[1]

रामकृष्ण परमहंस

स्वामी विवेकानंद

स्वामी विवेकानन्द ब्रह्मसमाज के नेताओं से पर्याप्त प्रभावित हुए थे और बाल्यावस्था में उनके संस्कार जिन विचारों से बने थे, उनमें ब्रह्म-समाज के सिद्धान्त और राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि के उपदेशों का विशेष स्थान है।[2] स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने भारत के लोगों को और अपनी विदेश-यात्राओं में विदेशियों को बताया कि वेदान्त-धर्म केवल हिन्दुओं

१ Swami Nikhilanand—'Vivekanand'—P. 126.

२ Swami Nikhilanand—'Vivekanand'—P. 8-9

के लिए ही नहीं, मनुष्य-मात्र के कल्याण के निमित्त है। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ की अमरीका और अन्य देशों की यात्राओं ने भारत की परम्परागत विचारधारा का नाम विश्व में ऊंचा किया। पाश्चात्य देशों में, जो भौतिक दृष्टि से हमसे बहुत आगे बढ़े थे और भारत को दासता की बेड़ी में जकड़े हुए थे, इन दोनों स्वामियों के उपदेशों और उनके ओजस्वी विचारों का आश्चर्यजनक स्वागत हुआ। लंदन के 'इंडियन मिरर' के संवाददाता ने सन् १८९६ में लिखा था—"स्वामीजी ने अंग्रेजीभाषी जनता के हृदय में भारतवर्ष के प्रति जिस प्रेम व सहानुभूति को जाग्रत किया, वह अवश्य ही भारतवर्ष की उन्नति की सहायक शक्तियों में शीर्ष स्थान प्राप्त करेगी।"[१] लाखों अमरीकियों को पहली बार हमारी सांस्कृतिक महानता का आभास हुआ। इस सुखद प्रतिक्रिया पर स्वभावतः भारत के लोगों को गर्व हुआ और एक बार तो वे अपनी दासता को भूलकर अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के प्रकाश में स्वयं आलोकित हो उठे। विदेशों में उनके व्याख्यानों और परमहंस के विचारों के प्रति जो सुखद प्रतिक्रिया हुई तो स्वामी विवेकानन्द ने इस कार्य को जारी रखने और इस विचारधारा का अधिक-से-अधिक व्यापक प्रचार करने के महत्व का अनुभव किया। उन्होंने देखा कि यह शुभ कार्य तभी आगे बढ़ सकता है जब ऐसे लोगों की टोली तैयार की जाय, जो इस कार्य के लिए जीवनोत्सर्ग कर दें। ऐसे निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता तैयार करने के उद्देश्य से ही स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की।

गत शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल से जो भी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक आन्दोलन आरंभ हुए, उनमें सबसे अधिक सफल हम रामकृष्ण-मिशन को कह सकते हैं। तत्कालीन परिस्थितियों और जनता पर प्रभाव यद्यपि ब्रह्मसमाज का भी कम नहीं पड़ा, किन्तु वह प्रभाव न तो इतना व्यापक हो सका और न ही इतना स्थायी। रामकृष्ण-मिशन आज भी वैसी ही जीवित संस्था है, जैसी अर्द्ध-शताब्दी पूर्व थी। यदि कोई अंतर है तो इतना कि पहले की अपेक्षा इस समय मिशन का कार्य-क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत और इसकी गतिविधि से लाभान्वित होनेवाली संख्या पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है। भारतीय इतिहास का विद्यार्थी यदि इस सफलता का कारण खोजने का प्रयास करे तो संभवतः उसके अंकुर उसे स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व, उनकी दूरदर्शिता और व्यवहार-बुद्धि में मिलेंगे।

रामकृष्ण-मिशन का प्रमुख उद्देश्य मानव-सेवा के द्वारा आध्यात्म का प्रचार था। मानव-जीवन का धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पक्ष प्रचार की वस्तु है, किन्तु जनसेवा व्यावहारिक उपकरणों द्वारा ही हो सकती है। इसलिए मिशन ने

१. सत्येन्द्र मजूमदार—'विवेकानन्द-चरित'—पृष्ठ २०२

आरंभ से ही इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए साधन जुटाये। रामकृष्ण-मिशन ऐसे लोगों का संगठन बन गया, जिन्होंने परमहंस की विचारधारा के प्रचारार्थ और मानव-समाज की सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। मिशन की शाखाएं भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में खुल गई और आज भी काश्मीर से लेकर मद्रास तक और आसाम, बंगाल से लेकर गुजरात तक हैं। मिशन द्वारा औषधालय, वाचनालय, शिक्षण-संस्थाएं और उपदेशादि के लिए मंदिरों की स्थापना की गई है। दिसम्बर १९५८ में मिशन के ८८ केन्द्र भारत में, ११ पूर्वी पाकिस्तान में, १० अमरीका में, २ बर्मा में और एक-एक सिलोन, सिंगापुर, फीजी, मोरिशस, स्विट्जरलैण्ड, इंग्लैंड और अर्जेन्टाइना में कार्य कर रहे थे। मिशन द्वारा २६६ शिक्षण-संस्थाएं, १३ बड़े अस्पताल और ६५ छोटे अस्पताल, १० प्रकाशन-केन्द्र तथा अनेक वाचनालय तथा सांस्कृतिक केन्द्रों का संचालन हो रहा है।[1]

रामकृष्ण-मिशन के प्रचार का प्रमुख साधन उसके प्रकाशन हैं। धार्मिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर विभिन्न भाषाओं में, जिनमें हिन्दी भी सम्मिलित है, अनेक प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। पुस्तकों के अतिरिक्त, अंग्रेजी, हिन्दी और बंगला में पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रामकृष्ण-मिशन के जनसेवा-सम्बन्धी कार्यक्रम में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिए मिशन के प्रकाशन-विभाग द्वारा इनकी पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित किये गए हैं। उनके उपदेशों, लेखों तथा भाषणों के संग्रह भी हिन्दी में उपलब्ध हैं। हिन्दी-साहित्य को इससे बहुत लाभ मिला है। भारत के ऐसे महान् नेताओं के विचारों का प्रभाव जनमानस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति ने भारत मां की भक्ति से विह्वल होकर, कन्याकुमारी के चरणों की रजकणों में लोटकर, अपने भावाश्रुओं से उसके चरण पखारे और अहर्निश चरणों में लहराते सागर की लहर की तरह भारत मा के लिए जिसके हृदय में भाव-लहरियां विलोड़ित हों, ऐसे महान देशभक्त के भाव और विचारों से हिन्दी-जगत् अनजान रहता, यदि उनका हिन्दी भाषा में अनुवाद न होता। मातृभूमि के प्रति स्वामी विवेकानन्द के ऐसे ही विचारों को देखिये। उनमें कितनी मार्मिकता है, यह उनके शब्दों से ज्ञात होगा। पाश्चात्य देशों के भ्रमण से लौटने पर स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९७ में दक्षिण भारत स्थित रामनद में भाषण करते हुए निम्न उद्गार व्यक्त किये थे—

[1]. Annual Report of the Ramkrishna Mission of 1959.

"सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महादुःख का प्रायः अन्त ही ज्ञात होता है। महानिद्रा में निद्रित शव मानों जागृत हो रहा है। जो अन्धे हैं, वे देख नहीं सकते और जो पागल हैं, वे समझ नहीं सकते कि हमारी मातृभूमि अपनी गंभीर निद्रा से अब जाग रही है। अब कोई उसकी उन्नति को रोक नहीं सकता। अब यह फिर सो नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति इस समय इसे दबा नहीं सकती। . . . यह देखिये भारतमाता धीरे-धीरे आंखें खोल रही है। कुछ देर सोई थी। उठिये, उन्हें जगाइये और पूर्वापेक्षा महागौरव-मंडित करके भक्तिभाव से उन्हें अपने अनन्त सिंहासन पर प्रतिष्ठित कीजिये।"[१]

स्त्री-शिक्षा के विषय में स्वामी विवेकानन्द के विचार बड़े स्पष्ट थे और वह स्त्री-शिक्षा को देशोन्नति का आधार मानते थे। उन्होंने लिखा है—

"सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित सम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है। जो देश और राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाये हैं और न भविष्य में ही कभी बड़े होंगे।"[२]

आर्य-सभ्यता के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने कितना अच्छा उदाहरण देकर उसका रूप समझाया है। उन्होंने लिखा है—

"आर्य-सभ्यतारूपी वस्त्र के विशाल नदी-नद, उष्ण-प्रधान समतल क्षेत्र तन्तु हैं। नाना प्रकार के आर्यप्रधान सुसभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य मनुष्य इस वस्त्र के कपास हैं, और इसका ताना है वर्णाश्रमाचार। इसका बाना है प्राकृतिक द्वन्द्व और संघर्ष-निवारण।"[३]

इस प्रकार इन अनूदित रचनाओं एवं स्वामी विवेकानन्द के वचनामृत का लाभ हिन्दी को मिल सका है, यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। हिन्दी-साहित्य निःसन्देह इससे समृद्ध हुआ है। रामकृष्ण-मिशन की हिन्दी को यह बड़ी ऊंची देन है। इसका प्रमाण उसके हिन्दी-प्रकाशन हैं।[४]

---

१. 'स्वाधीन भारत ! जय हो !'—पृष्ठ १०३
२. 'शिक्षा'—पृष्ठ ४३
३. 'प्राच्य और पाश्चात्य'—पृष्ठ १०३
४. मिशन से प्रकाशित हिन्दी-पुस्तकों की सूची—
१-२. श्री रामकृष्णलीलामृत (दो भाग), ३-४-५. श्री रामकृष्णवचनामृत (तीन भाग) ६. मां शारदा, ७. विवेकानन्द-चरित, ८. साधु नागमहाशय, ९-१०. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानंद, ११. परमार्थ-प्रसंग

राधास्वामी संप्रदाय

भारत में संत-परंपरा मध्ययुग से बराबर चली आ रही है। कबीर, दादू-दयाल, गुरु नानक आदि संतों के उपदेश के फलस्वरूप जो जागृति समाज में हुई थी, कालान्तर में वह एक संप्रदाय के रूप में फूट निकली। आधुनिक काल के आरंभ में अंग्रेजी सत्ता के इस देश में स्थापित होने के समय संत-परंपरा की ओर जनता प्रायः उदासीन थी और यह परंपरा शिथिल हो चुकी थी। किन्तु जैसे ही परिस्थितियां अनुकूल हुईं, अर्थात् देश में शान्ति स्थापित हुई, संत-परंपरा फिर से संगठित रूप में सामने आई। यद्यपि धार्मिक स्थानों में, मठों में और साधुओं के अखाड़ों में साधु-संन्यासी लोग बराबर जुटे रहते थे, तथापि संत-परंपरा की

एक महत्वपूर्ण शाखा का उदय १९वीं शताब्दी के अंत में आगरा में हुआ। संतों की वाणी के आधार पर एक ऐसे नवीन संप्रदाय का उदय हुआ, जिसमें लौकिक जीवन और साधु-जीवन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इस संप्रदाय का नाम 'राधास्वामी सत्संग' रक्खा गया। इन लोगों का विश्वास था कि किसी संत अथवा महात्मा को गुरु के रूप में धारण किये विना जनसाधारण धर्म की ओर प्रवृत्त नही हो सकते। इसलिए उन्होंने गुरु-परंपरा को स्वीकार किया। इसके साथ ही उनकी यह धारणा भी थी कि संतों के बताये मार्ग पर चलने के लिए ऐह्कि जीवन से मुंह मोड़ना अथवा संन्यास लेना आवश्यक नही है। धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड में भी इन लोगों का विश्वास नहीं था। उन्होंने धर्म को सरल और सुगम बनाकर उसे व्यावहारिक रूप दिया। शब्द का महत्व और गुरु के रूप में मुक्ति के एकमात्र साधन पर बल भी उसी प्रथा की याद दिलाता है। स्वभावतः मध्ययुगीन सन्त ही आज भी सत्संगियों की प्रेरणा के मूलाधार हैं, यद्यपि इस वाणी को वे आधुनिक गुरु के माध्यम तथा पथप्रदर्शन से ग्रहण करते हैं।

शिवदयाल साहब

इस संप्रदाय के प्रथम गुरु शिवदयाल साहब (स्वामीजी महाराज) का जन्म सन् १८१८ में आगरा में हुआ। ये धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और इनके उपदेशों तथा इनकी पुस्तक, 'सार-वचन' ने बहुत लोगों को आकर्षित किया। दूसरे गुरु राय सालिगराम की ख्याति सबसे अधिक है, क्योंकि राधा-स्वामी बाग अथवा आज का दयालबाग अधिकतर इन्हीके आयोजन और परिश्रम का फल है। सालिगराम द्वारा निर्धारित नीति और कार्यक्रम के अनुसार चलते हुए साहबजी महाराज (वंशीधर) ने दयालबाग को और भी उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया। जैसा हमने कहा राधास्वामी-मत का संन्यास में अथवा गृहस्थ-जीवन के परित्याग में विश्वास नहीं है। साधारण गृहस्थ का भार वहन करते हुए भी कोई व्यक्ति गुरु की कृपा से राधास्वामी-सत्संग के नियमों के पालन से शुद्ध धार्मिक जीवन ही व्यतीत नही कर सकता, बल्कि मोक्ष की आकांक्षा भी कर सकता है। राधास्वामी-मत का आधार केवल आस्था और दृढ़ विश्वास है। इसके पीछे कोई क्लिष्ट दर्शन अथवा तार्किक सिद्धान्तवाद नही है। वैष्णव

मतावलंबियों की आस्था और भक्तिभाव ही अधिकतर राधास्वामी-मत के धार्मिक दृष्टिकोण का आधार है।

सालिगराम द्वारा रचित 'राधास्वामी-मत-प्रकाश' इन लोगों का मूल धर्म-ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सालिगराम ने कई और पुस्तकें भी हिन्दी और उर्दू में लिखीं। 'राधास्वामी-मत-प्रकाश' में भक्ति और नाम की महिमा का वर्णन सन्तों की वाणी के आधार पर किया है और उनमें से अधिकांश के पदों को ही उद्धृत किया है। सबसे अधिक प्रभाव इस मत पर कबीर का पड़ा है, जिसका प्रमाण यह है कि कबीर के पद और कवित्त इस धर्मग्रन्थ में किसी अन्य सन्त की रचना की अपेक्षा कहीं अधिक मिलते हैं।

राधास्वामी-मत सभी प्रचलित धर्मों तथा मतमतान्तरों को आदर की दृष्टि से देखता है, यद्यपि निजी मत को उन सबसे सर्वश्रेष्ठ मानता है।[१] उनकी धारणा है कि मोक्ष का सर्वसुलभ और सर्वोत्तम साधन राधास्वामी दयाल की सेवा और उनकी भक्ति-आराधना है। इस मत के प्रचार तथा विस्तार का एक परिणाम यह हुआ है कि लोगों में धार्मिक सहिष्णुता तथा कट्टरपन्थी विचारों के प्रति विरोध की भावना जागृत हो सकी। भक्ति तथा धर्म के पथ का अनुसरण लोग प्रायः तपश्चर्या और कठोर जीवन-यापन समझा करते थे, किन्तु इन लोगों ने उसे सहज, स्वाभाविक और सरल बताकर जनसाधारण के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया।

राधास्वामी-संप्रदाय ने धर्म-प्रचार और दैनिक जीवन के पूजापाठ के लिए अपने ही ग्रन्थों का प्रकाशन कराया। ये ग्रन्थ प्रायः सभी प्रमुख संतों की वाणी से संकलित गीत-संग्रह थे। संतवाणी-साहित्य हिन्दी की बहुमूल्य निधि है। समाज के धार्मिक नेताओं में सन्तों की सदा ही गणना रही है और उन्हें मान्यता भी मिली है। उनकी वाणी के प्रचार से हिन्दी के उत्थान में बहुत सहायता मिली। कुछ ही वर्षों में राधास्वामी-सत्संग के अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ गई और सम्प्रदाय की शाखाएं उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में स्थापित हो गईं। किसी हद तक इस प्रक्रिया का आधार पारस्परिक मतभेद भी थे। किन्हीं कारणों से गुरु का पद भी कई आचार्यों ने ग्रहण किया और सभीने पृथक्-पृथक् सत्संग संगठित किये। इनमें सर्वप्रमुख संप्रदाय व्यास (पंजाब), प्रयाग और जोधपुर में स्थापित हुए। ये सभी राधास्वामी-सत्संग के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सभी शाखाओं ने सन्तों की वाणी के प्रचार द्वारा समाज-सुधार और हिन्दी के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया। हिन्दी-

१. फरकुहर—'मॉडर्न रिलीजियस मूवमेंटस इन इंडिया'—पृ० १७१

सेवा की दिशा में इस संप्रदाय के सर्वोत्तम उदाहरण पुरुषोत्तमदास टंडन हैं, जो इस संप्रदाय के अनुयायी हैं। उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि हिन्दी-सेवा के संस्कार उन्हें राधास्वामी-संप्रदाय से मिले।

सनातनधर्म सभा उसके नेता

बंगाल और बम्बई में और वहां से देश के अन्य भागों में जितने भी धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन फैले, किसी-न-किसी रूप में उन सबने परम्परागत हिन्दू धर्म की कुछ मान्यताओं की टीका तथा आलोचना की और हिन्दू धर्म को समयानुकूल बनाने के उद्देश्य से प्राचीन मान्यताओं में संशोधन करने पर बल दिया। सभी सुधारवादी सम्प्रदायों का अभिप्राय रूढ़िवाद को समाप्त कर समाज के धार्मिक जीवन को सहल और युक्तिसंगत बनाना था। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने स्पष्ट शब्दों में बहुदेव-पूजन का विरोध किया और मूर्ति-पूजा को भी उपनिषदों और वेदों की शिक्षा के विपरीत घोषित किया। जहां ब्रह्म-समाज का विरोध अधिकतर बौद्धिक स्तर पर रहा, वहां आर्यसमाज ने प्राचीन रीति-रिवाज का खुल्लम-खुल्ला खंडन करना अपना सर्वप्रथम उद्देश्य समझा। उधर इन अग्रणी संस्थाओं से संबंधित अन्य धार्मिक सम्प्रदायों ने भी इसी खंडन की परिपाटी का अनुसरण किया। बम्बई के प्रार्थना-समाज आदि ने पुरानी रीतियों तथा प्रचलित प्रथाओं का विरोध कर अपने-अपने ढंग से सुधारवाद के पक्ष को प्रतिपादित किया।

इस विरोध और आलोचना के वातावरण में यदि कुछ लोगों ने इन सुधारवादी आन्दोलनों को हिन्दू धर्म पर आक्षेप समझा हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। यह ठीक है कि सामाजिक और धार्मिक सुधार शिक्षितवर्ग की दृष्टि में अपेक्षित और वांछनीय थे, किन्तु यह भी गलत नहीं कि सभी सुधारवादी आन्दोलन किसी-न-किसी रूप में हिन्दू धर्म के आलोचक तथा विरोधी थे।[१] इसी कारण उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक में कुछ लोगों ने हिन्दू जनमत को इन सुधारवादी मतों का विरोध करने के लिए संगठित करने का यत्न किया। ये लोग परम्परागत सनातन हिन्दू धर्म तथा उसकी मान्यताओं के संरक्षक के रूप में मंच पर आये। इस प्रकार पंजाब में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसके नेता दीनदयालु शर्मा थे। इन्हें पंडित, पुरोहितों, धनाढ्यों और सामन्तों तथा जनता के कुछ भाग को अपने साथ लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इन्होंने सन् १८९५ में हरिद्वार और दिल्ली में सनातन धर्म सभा की स्थापना की।[२] इस आन्दोलन का तीसरा

१. फर्कुहर—'मॉडर्न रिलीजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया'—पृष्ठ ३१६
२. फर्कुहर—'मॉडर्न रिलीजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया'—पृष्ठ ३१६-१७

दीनदयालु शर्मा

केन्द्र मथुरा बना, जहां अगले वर्ष (सन् १८९६) में स्वामी ज्ञानानन्द ने इसी उद्देश्य के लिए 'निगमागम मण्डल' की स्थापना की।[१] किन्तु इस आन्दोलन ने व्यवस्थित संगठन का रूप सन् १९०० में ही धारण किया। इस वर्ष दिल्ली में दरभंगा के महाराजा की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ और सनातन धर्म सभा की नींव डाली गई। अन्य सभी संस्थाएं इस सभा में मिल गईं। इसी समय पं. मदनमोहन मालवीय इस आन्दोलन के प्रमुख नेता बन गये और सन् १९०५ में सनातन धर्म-सभा का प्रधान कार्यालय बनारस में खोल दिया गया। सभाके उद्देश्यों में कुछ इस प्रकार थे:—

१. सनातन धर्म के अनुसार हिन्दू धर्म के शिक्षण को प्रोत्साहन देना और वेद, स्मृति, पुराण और अन्य हिन्दू-शास्त्रों को शिक्षा में स्थान देकर हिन्दू-समाज में यथोचित सुधार करने का प्रयत्न करना।
२. संस्कृत और हिन्दी-साहित्य को प्रोत्साहित करना और उनके सभी भागों को समृद्ध करना।
३. देश के विभिन्न भागों में सनातन-धर्म-सभा की शाखाएं स्थापित करना।
४. हिन्दू स्कूल, कॉलिज और वाचनालय खोलना और सभा के नियमों के अनुसार प्रकाशन-संस्थाएं स्थापित करना।

स्वभावतः इस आन्दोलन का पहला परिणाम शिक्षा और हिन्दी-प्रचार के क्षेत्र में हुआ। पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश और अन्य प्रान्तों में शिक्षण-संस्थाओं का खुलना आरम्भ हुआ, जिनमें हिन्दी को ऊंचा स्थान दिया गया। दूसरे, हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं निकलनी आरम्भ हुईं। मथुरा के भारत धर्म महामंडल ने सन् १९०२ में 'महामंडल' मैगजीन और 'विद्यारत्नाकर' नाम की पत्रिकाएं निकालीं। दिल्ली और काशी से सनातन धर्म की पत्रिकाओं का निकलना आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन का लोगों की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर कुछ भी प्रभाव पड़ा हो, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ ही वर्षों में सनातन

१. सनातनधर्म रक्षिणी सभा की स्थापना कलकत्ता में सन १८७३ में हो चुकी थी।

धर्म सभाओं का संगठन देशव्यापी हो गया। सन् १९१५ तक सभा की देशभर में ६०० शाखाएं और विभिन्न प्रकार की ४०० संस्थाएं खुल चुकी थीं। सभा ने लाहौर, मथुरा, बनारस और कलकत्ता से विभिन्न भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी में प्रचार-साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था की। सनातन धर्म सभा का संगठन भूतपूर्व रियासतों में बहुत जोरों से फैला, क्योंकि सभी हिन्दू रजवाड़े सभा और सनातन धर्म के समर्थक थे। धर्म-शिक्षा पर प्रकाशित सभा की पुस्तकें स्कूलों और पाठशालाओं में व्यापक रूप से व्यवहृत होने लगीं।

सनातन धर्म सभा के साथ ही कुछ अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उदय हुआ, जो धार्मिक कम और सामाजिक अधिक थीं, जैसे, महावीर-दल, सेवा-समिति, गोरक्षणी-सभाएं, विधवा-सहायक समितियां इत्यादि। अपनी उपयोगिता और जनसेवा के कारण ये संस्थाएं पर्याप्त लोकप्रिय हुईं और इनका व्यापक प्रचार हुआ। प्रायः इन सभी संस्थाओं के कार्य और प्रचार का माध्यम हिन्दी भाषा थी। इन सभी के मुखपत्र भी हिन्दी में ही निकलते थे, जिनमें से कुछ अभी भी विद्यमान हैं।

अपने देशव्यापी विस्तार, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और बहुमुखी सार्वजनिक तथा साहित्यिक गतिविधि के अनुरूप ही सनातनधर्म सभा का हिन्दी के उन्नयन में योगदान रहा है।

श्रद्धाराम फिल्लौरी

फिल्लौर-निवासी श्रद्धाराम पंजाबी थे, किन्तु हिन्दी-साहित्य को उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। जीवन में पदार्पण करते ही वह भारतेन्दु-साहित्य और उनके समकालीन लेखकों की रचनाओं से प्रभावित हुए। तभी से उन्होंने निश्चय किया कि वह धर्म और साहित्य दोनों की सेवा करेंगे। इस प्रण को उन्होंने जीतेजी सुचारु रूप से निभाया। वह जब कभी कथा कहते, अन्तिम वाक्य हिन्दी के पक्ष में बोलते और जब कभी हिन्दी के समर्थन में कुछ कहते तो अपने कथन की पुष्टि धर्म के नाम पर करते। उन्होंने कथावाचन, भाषण और लेखन द्वारा परम्परागत

श्रद्धाराम फिल्लौरी

हिन्दूधर्म के पक्ष का समर्थन ऐसे समय किया जब सनातन धर्म-सभा की नीव भी नहीं पड़ी थी। वह कट्टर हिन्दू थे और हिन्दी भाषा के समर्थ सेवक।

जालन्धर के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानों ने कपूरथला-नरेश रणधीरसिंह को ईसाई मत की ओर झुका दिया था। पं. श्रद्धाराम तुरंत वहां पहुंचे और उन्होंने प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म के स्वरूप का ऐसा सुन्दर निरूपण किया कि महाराज की जितनी शंकाएं थीं, वे दूर हो गईं। समूचे पंजाब में घूमकर पं. श्रद्धाराम उपदेश और व्याख्यान देते और रामायण, महाभारत आदि की कथाएं सुनाते। उनकी कथाओं ने दूर-दूर के लोगों को अपनी ओर खींचा। उनकी वाणी में रस था और उनकी भाषा बड़ी ओजपूर्ण होती थी। स्थान-स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएं स्थापित कीं और उपदेशकों का एक दल तैयार किया। उनके उपदेशों का संग्रह 'सत्यामृतप्रवाह' बहुत प्रसिद्ध हुआ। भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से भी इसका पर्याप्त महत्व है।

सन् १८६७ में उनकी 'आत्म-चिकित्सा' नाम की पुस्तक निकली, जो अध्यात्म-संबंधी ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'तत्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश-संग्रह' (व्याख्यानों का संग्रह) तथा 'शतोपदेश' (दोहे) इत्यादि धर्म-संबंधी पुस्तकें लिखीं, जिनका बहुत प्रचार हुआ। किन्तु श्रद्धाराम की सबसे रोचक रचना उनका उपन्यास 'भाग्यवती' है। श्रद्धाराम ने अपनी जीवनी भी लिखी, जो चौदहसौ पृष्ठों की थी। उनके साधन सीमित थे। इसलिए वह इसके प्रकाशन की व्यवस्था न कर सके। अपनी जीवनी की अप्रकाशित पांडुलिपि छोड़कर ही श्रद्धाराम चल बसे। उनके देहावसान के बाद इन चौदह सौ पन्नों की बहुत खोज हुई, पर दुर्भाग्यवश वे प्राप्त न हो सके।[1]

श्रद्धाराम की भाषा ओजपूर्ण है। उसके कई गुण ऐसे है, जो साधारणतः उस समय के अन्य लेखकों की भाषा में नहीं मिलते। यद्यपि कहीं-कहीं पंजाबी का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है, तो भी उनकी शैली ने उस समय परिमार्जन और प्रवाहशीलता का नमूना प्रस्तुत किया। 'सत्यामृतप्रवाह' में वह लिखते हैं—

"यह भी ईश्वरकृत नहीं, किन्तु समुद्र और अन्य नदी-नालों का जल सूर्य की किरण द्वारा उदान वायु के वेग से ऊपर खेंचा जाता है और सूर्य की ताप से पिघलता-पिघलता अति सूक्ष्म होके आकाश में मेघाकार दिखाई देता है। जब उसको ऊपर शीतल वायु मिले तो घृत की नाई जम के भारी हो जाता और अपान वायु के वेग से नीचे गिरने लगता है। यदि ऊपर शीतल वायु बहुत लगे तो अत्यंत गरिष्ट होके ओले बरसने लगते हैं।"[2]

---

[1] हरिऔध—'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास'—पृष्ठ ६७८

[2] हरिऔध—'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास'—पृष्ठ ६७८

यदि नवीनचन्द्र राय के प्रयत्नों के फलस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में हिन्दी का कुछ चलन हुआ, तो श्रद्धाराम के घोर परिश्रम और निजी रचनाओं का परिणाम यह हुआ कि पंजाब के हिन्दू समाज के धार्मिक जीवन की एकमात्र भाषा हिन्दी बन गई।

गोस्वामी गणेशदत्त

श्रद्धाराम फिल्लौरी के अतिरिक्त हिन्दी-सेवा के क्षेत्र में गोस्वामी गणेशदत्त का नाम भी स्मरणीय है।

सनातन धर्म-सभा के साथ गोस्वामी गणेशदत्त का संबंध उसके जन्मकाल से ही जुड़ा है। गोस्वामीजी महामना मदनमोहन मालवीय के शिष्य थे और सन् १९२३ में जब सनातनधर्म प्रतिनिधि-सभा की स्थापना हुई, उस समय सक्रिय रूप से उन्होंने अपने गुरु का साथ दिया तथा आजन्म उनके कार्य को निभाया और निरन्तर उसकी उत्तरोत्तर उन्नति की। सन् १९२२ से ही उन्होंने हिन्दी की सेवा का कार्य आरंभ कर दिया था। अतः सनातनधर्म प्रतिनिधि-सभा के स्थापित हो जाने के बाद उनका प्रमुख कार्य हिन्दी-क्षेत्र ही था। लायलपुर में सर्वप्रथम गोस्वामी गणेशदत्त ने एक 'हिन्दी रात्रि पाठशाला' की स्थापना की, जहां प्रौढ़-शिक्षा का प्रबन्ध था। इस पाठशाला को उन्होंने अथक परिश्रम करके बढ़ाया। यदि छोटे कार्यों में भी कर्म की साधना तथा कार्य को पूरा करने की उत्कट लगन हो तो उस कार्य की सफलता निश्चित है। गोस्वामीजी का जीवन इस साधना और लगन का मूर्त उदाहरण था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि उन्होंने प्रारंभ में इस हिन्दी-पाठशाला के लिए एक-एक पैसा करके चन्दा इकट्ठा किया था। नियमानुसार वह प्रति मंगलवार को हर दुकान पर जाते और सबसे एक-एक पैसा लेते। इस तपस्या के फलस्वरूप इस छोटी-सी पाठशाला का विकास हुआ और उसकी शाखाएं भी प्रस्फुटित हुईं। उन्होंने ही 'सनातनधर्म स्कूल' तथा 'सनातनधर्म कालिज' का रूप लिया। यहां का कार्य स्थिर करके गोस्वामीजी ने लाहौर में हिन्दी का कार्य आरंभ किया और वहां भी कन्या-पाठशाला खोली। कालान्तर में गोस्वामी-

गोस्वामी गणेशदत्त

जी ने हिन्दी-शिक्षा के लिए करीब दोसौ संस्थाओं की स्थापना स्थान-स्थान पर की और इस प्रकार पंजाब में हिन्दी का विस्तार हुआ। हिन्दी को और व्यापक बनाने के लिए उन्होंने लाहौर से सन् १९४० में 'विश्वबन्धु' नामक दैनिक हिन्दी पत्र निकालना आरम्भ किया। विभाजन के बाद भी उन्होंने इस कार्य में शिथिलता न आने दी और सन् १९४७ में इसका पुनः नामकरण करके दिल्ली से 'अमर भारत' निकालने लगे। अभी तक पंजाब उनका कार्य-क्षेत्र रहा था, अब दिल्ली और उत्तर प्रदेश में भी सक्रिय रूप से वह कार्य में लग गये।

उत्तर प्रदेश में हरिद्वार को उन्होंने अपनी गतिविधि का केन्द्र बनाया और वहां सप्तऋषि आश्रम तथा संस्कृत विद्यालय की स्थापना की, जिनका उद्घाटन हमारे राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री ने किया। संस्कृत के साथ-साथ वहां हिन्दी को भी स्थान प्राप्त है।

गोस्वामी गणेशदत्त एक श्रद्धावान व्यक्ति तथा कर्मठ कार्यकर्ता थे। आजीवन उन्होंने भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए सतत प्रयत्न किया तथा शिक्षा के माध्यम के लिए सदा हिन्दी को ही अपनाया। पंजाब में सभी सनातनधर्म स्कूल तथा कालिजों की स्थापना के पीछे मालवीयजी के बाद गोस्वामी गणेशदत्त की ही प्रेरणा थी। यद्यपि पुस्तकों के रूप में उन्होंने कोई रचना नहीं की, तथापि निरन्तर कार्यरत रहकर पूरे उत्साह से उन्होंने हिन्दी की सेवा की। अपने त्याग और कर्मठ जीवन के कारण उन्होंने समाज में अपने लिए ऊंचा स्थान बना लिया था। उनके हिन्दी-प्रेम तथा उनके अनवरत सेवा के कारण उन्हें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जयपुर के अध्यक्ष-पद का सम्मान भी मिला। पंजाब हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के तो वह कई वर्ष तक सभापति रहे। अतः उनकी हिन्दी-सेवा का उल्लेख किये बिना सनातनधर्म सभा की सेवा का इतिहास अपूरा रह जाता है। मालवीयजी के बाद सक्रिय रूप से इस सभा के कार्य को गोस्वामी गणेशदत्त ने ही संभाला और गुरु-शिष्य की परंपरा को निभाकर धर्म, संस्कृति तथा शिक्षा के प्रचार में पूर्ण योग दिया।

सत्यानन्द अग्निहोत्री

देवसमाज

देव-समाज को आरम्भ में ब्रह्म-समाज की ही एक शाखा माना जाता था। इसका कारण यह था कि देव-समाज के प्रवर्तक सत्यानन्द अग्निहोत्री स्वयं

ब्रह्मसमाजी थे और लाहौर के ब्रह्मसमाज के उद्‌भट कार्यकर्ता थे, किन्तु कुछ वर्षों बाद ही (सन् १८८७ में) उन्होंने ब्रह्मसमाज छोड़कर नये मार्ग का अनुसरण किया और एक नवीन सम्प्रदाय की नीव डाली। इस सम्प्रदाय का नाम उन्होंने 'देव-समाज' रक्खा। अग्निहोत्रीजी ने 'देव-शास्त्र' नामक ग्रन्थ में ब्रह्मसमाज के साथ मतभेद और उसके कारण पर प्रकाश डाला है। इनका भी दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण व्यक्ति हैं। "मैं पाप से ऊपर हूं और मैं समाज और राष्ट्रों के अभ्युत्थान का एकमात्र साधन और आशा हूं।"[१] इस प्रकार अपने अनुयायियों के सम्मुख उन्होंने अपने-आपको ही आदर्श और सर्वोच्च आत्मा के रूप में रक्खा। उनके अनुयायी उन्हें सत्यदेव और श्रीदेव गुरुभगवान कहने लगे। उनके मतानुसार विश्व में केवल दो वस्तुएं हैं, पदार्थ और शक्ति, जो अनादि और अनश्वर है। मानव स्वयं अपना रचयिता है और उसमें आत्मिक विकास की क्षमता है। आत्मा के जीवन को उन्होंने स्वीकार किया है, किन्तु आवागमन के सिद्धान्त में उनका विश्वास नहीं।"[२] इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह चार्वाक के नास्तिकवाद की याद दिलाता है। देव-समाज का किसी स्रष्टा अथवा ईश्वर में विश्वास नहीं। तब मूर्तिपूजा के लिए इसमें स्थान कहां हो सकता है। प्रार्थना के स्थान पर वे 'साधना' श्रेष्ठतर समझते हैं और इस ध्यान अथवा चिन्तन' का केन्द्रबिन्दु स्वयं श्री अग्निहोत्री (देवगुरु भगवान) है। नैतिकता और आत्मिक जीवन ही उनके लिए सबसे बड़ा तत्व है। इन सभी सिद्धान्तों और विश्वासों का प्रतिपादन अग्निहोत्रीजी ने 'देवशास्त्र' और 'देवधर्म' नामक ग्रन्थों में किया है। दोनों ही ग्रन्थ मूलरूप से हिन्दी में लिखे गए थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी में कई पुस्तिकाएं अपने मत के प्रतिपादन और विरोधियों को उत्तर देने के उद्देश्य से लिखी।

देव-समाज का सदस्य बनने के लिए दस-सूत्री शपथ लेना आवयक था। यह शपथ बहुत-कुछ बुद्ध के अष्टवर्गी मार्ग से मिलती है और यह चोरी न करने, किसीको धोखा न देने, सदाचारी रहने, जीवहत्या न करने, मादक द्रव्यों का प्रयोग न करने का व्रत है।

पंजाब और सिंध में देव-समाज ने इस शती के प्रथम दशक में जड़ें जमा ली थीं और पर्याप्त संख्या में लोग इस मत के अनुयायी हो गये थे। हमारे लिए सबसे रोचक तथा महत्वपूर्ण देव-समाज का शिक्षा-संबंधी कार्यक्रम है। आरम्भ से ही देव-समाज ने स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया और हिन्दी के पठन-पाठन

[१] 'धर्मजीवन' (जीवन प्रेस, लाहौर)—१८९२.

[२] फर्कुहर 'मॉडर्न रिलीजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया'—पृष्ठ १७६

को शिक्षा का आवश्यक अंग माना। लाहौर, फिरोजपुर, मोगा और अम्बाला में समाज ने स्कूल और कालिज खोले, जो बहुत सफल समझे गए। इसके अतिरिक्त देव-समाज ने कुछ विधवा सहायक सदन, निरामिष-भोजी संघ (Vegetarian league) और मद्य-निषेध-संघ (Temperance league) भी स्थापित किये और औद्योगिक प्रदर्शनियां संगठित करने की परिपाटी चलाई। सभा ने अनेक पत्रिकाएं निकालीं, जिनमें अधिकांश हिन्दी में थीं। इनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं—'सेवक', 'विज्ञान-मूलक धर्म', 'सिंध उपकारक', 'देवधर्म', इत्यादि।

उत्तर भारत में, विशेषकर पंजाब में, जो हिन्दी-आन्दोलन आर्यसमाज के प्रयत्नों से हुआ, उसमें परोक्षरूप से देव-समाज के कार्यकर्त्ताओं द्वारा पर्याप्त सहायता मिली, यह स्वीकार करना होगा।

उपर्युक्त धार्मिक संस्थाओं के हिंदी-कार्य का सर्वेक्षण

इन संस्थाओं के कार्यकलाप तथा प्रमुख नेताओं द्वारा हिन्दी-सेवा का विवरण हमने दिया है। यहां यह बताना आवश्यक है कि इन धार्मिक संस्थाओं के दैनिक कार्यों और प्रचारात्मक आन्दोलनों का माध्यम अधिकतर हिन्दी ही थी। इनका निजी साहित्य और प्रचार के लिए प्रणीत पत्र-पत्रिकाएं तो हिन्दी में प्रकाशित होती ही थीं, इन संस्थाओं के साप्ताहिक अधिवेशन और वार्षिक समारोहों में भी हिन्दी का ही प्रयोग होता था। मुद्रण की सुलभता और जनसाधारण के उत्साह ने शीघ्र ही इन प्रचारात्मक आन्दोलनों को चलाने के लिए जनभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार किया। इस प्रकार कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन के आरंभ होने से पहले ही हिन्दी उत्तर, मध्य और पूर्वी भारत में नवचेतना का माध्यम ही नहीं, वरन् उसका प्रतीक भी बन चुकी थी। उस युग की वास्तविक स्थिति पर डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस प्रकार प्रकाश डाला है—

"सच बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी-पूर्वार्द्ध में यूरोपीय सभ्यता के संस्पर्श से एक नवीन भावना और चेतना के प्रादुर्भाव का श्रीगणेश हुआ, जिसका स्पष्ट प्रकटीकरण आगे चलकर भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की रचनाओं में हुआ। दार्शनिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में तो नहीं, किन्तु ज्ञान-विज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में पूर्व पश्चिम से पिछड़ा हुआ था। अंग्रेजों के सम्पर्क से यह ऐतिहासिक क्रम पूर्ण हुआ और इस व्यावहारिकता के जन्म के साथ-साथ गद्य भी अपनी प्राथमिक अवस्था से निकलकर विकास-नियम के अनुसार नये-नये मार्ग खोजने लगा। कविताकामिनी इस नये बोझ को सम्हालने में असमर्थ थी। फिर भी ज्यों-ज्यों प्रेस, रेल, तार, आदि का प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित

नवीन व्यावहारिकता प्राप्त करने में अधिकाधिक सुविधा होती गई। साथ ही अन्तर्प्रान्तीय साहचर्य बढ़ा, एक प्रान्त का प्रभाव दूसरे प्रान्त पर पड़ना शुरू हुआ। लोग एक जगह इकट्ठे होकर वैज्ञानिक और तार्किक प्रणाली से विविध विषयों पर वाद-विवाद करने लगे। अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन भी आरंभ हो गया और हिन्दी प्रदेश को, बोधवृत्ति के साथ तार्किकता और बुद्धितत्व का सामंजस्य-क्रम उपस्थित होने के फलस्वरूप, खड़ी बोली गद्य की उन्नति का भी स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। इस नवयुग के आघात से देश शताब्दियों के अलसाये बदन को झाड़-पोंछकर खड़े होने की चेष्टा करने लगा। गद्य ने नवयुग के नवजीवन का भार ग्रहण किया और उसकी चेतना एवं आकांक्षाओं का प्रतीक बना।"[१]

कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य, विशेषकर गद्य के विकास की आदर्श परिस्थितियां हमें इस प्रारंभकाल में मिलती हैं। इन परिस्थितियों में वे प्रवृत्तियां भी विद्यमान हैं, जो भावनाओं को वेग और विचारों को बल देती हैं और दैनिक जीवन की वे विवशताएं भी कम नहीं, जो मूक रहने से ऊबकर अभिव्यक्ति की मांग करती हैं। अर्थात् आदर्श और यथार्थ दोनों ने मिलकर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न की, जिसमें हिन्दी-गद्य का निर्माण तथा विकास स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य हो गया। कोई कमी रह भी गई हो तो उसे तत्कालीन धार्मिक चेतना ने पूरा कर दिया।

डा० उदयभानु सिंह के शब्दों में धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दी को इस प्रकार प्रभावित किया—

"उन्नीसवीं शती के आरम्भ में ही पश्चिमी सभ्यता और धर्म का आघात पाकर देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई। हिन्दुओं को अपने धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए ईसाइयों ने हिन्दूधर्म की सती-सरीखी क्रूर और भयंकर प्रथाओं पर बुरी तरह आक्षेप किया था। राजा राममोहन राय आदि नव-शिक्षित हिन्दुओं ने स्वयं इन कुप्रथाओं का विरोध किया। इसी समाज-सुधार के उद्देश्य से उन्होंने (सन् १८०१ ई०) 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। तत्पश्चात् 'आर्यसमाज' (सन् १८७५ ई०), 'थियोसोफिकल सोसाइटी' (सन् १८७५ में न्यूयार्क तथा १८७९ ई० में भारत में), 'रामकृष्ण-मिशन' आदि धार्मिक संस्थाओं की स्थापना हुई।

"दयानन्द सरस्वती ने (सन् १८२४-८३ ई०) वैदिक धर्म का प्रचार किया, आर्यसमाज की शाखाओं, गुरुकुलों और गोरक्षिणी सभाओं की स्थापना की, विधवा-विवाह-निषेध, बाल-विवाह, ब्राह्मण धर्मों, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि

[१] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१९००)—पृष्ठ ४६

का घोर विरोध किया। उन्होंने पाश्चात्य विचारधारा की भित्ति पर स्थापित ब्रह्म-समाज, अनेकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा, बहुविवाह आदि के विरुद्ध संग्राम किया। आर्य-समाज के सिद्धान्त का आधार विशुद्ध भारतीय था। इसने ब्रह्म-समाज के पाश्चात्य प्रभाव को रोकते हुए देश का ध्यान प्राचीन भारतीय सभ्यता की ओर खींचा। विवेकानन्द ने शिकागो में भारत की आध्यात्मिकता का प्रचार किया। 'थियोसोफिकल सोसाइटी' ने "वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश सुनाते हुए भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की तथा उसका प्रचार किया। रामकृष्ण-मिशन ने आरंभ में आध्यात्मिक और फिर आगे चलकर लोक-सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में स्थापित धार्मिक संस्थाओं ने पश्चिमी भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म और शिक्षा तथा अपनी निर्बलताओं से उत्पन्न बुराइयों को दबाने का उद्योग किया।"

"इन धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दी-साहित्य को प्रभावित ही नहीं किया, बल्कि हिन्दी-गद्य की नींव डाली, भाषा को परिमार्जित किया और हिन्दी की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। दयानन्द सरस्वती, भीमसेन शर्मा आदि ने हिन्दी में अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं और अनेक के हिन्दी-भाष्य प्रकाशित किये। आर्य-समाजियों के विरोधियों (श्रद्धाराम फिल्लौरी, अम्बिकादत्त व्यास आदि सनातन-धर्मियों) ने भी बवण्डर उठाया। धार्मिक घात-प्रतिघात में खण्डन-मण्डन के लिए हिन्दी में अनेक पुस्तकों की रचना हुई। दयानन्द-लिखित 'सत्यार्थप्रकाश', 'वेदांग-प्रकाश', 'संस्कारविधि', आदि, श्रद्धाराम फिल्लौरी-लिखित 'सत्यामृतप्रवाह', 'भाग्यवती' आदि, अम्बिकादत्त व्यास-लिखित 'अवतार-मीमांसा', 'मूर्ति-पूजा', 'दयानन्द-पांडित्य-खंडन' आदि कृतियां इसी धार्मिक संघर्ष की उपज हैं। इन रचनाओं की भाषा व्याकरण-विरुद्ध और पंडिताऊ होने पर भी तर्क और ओज से विशिष्ट है।"[1]

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म-समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण-मिशन, राधास्वामी संप्रदाय, सनातनधर्म सभा और देव-समाज इत्यादि संस्थाओं ने किस प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य को गतिमय बनाया। इसी समय आर्यसमाज के प्रचार तथा वैदिक साहित्य के प्रणयन ने इस क्रम को और आगे बढ़ाया।

०

[1] 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग'—पृष्ठ ६, ७

अध्याय : ४

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज

जिन सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा हिन्दी को प्रोत्साहन मिला तथा जिन प्रवृत्तियों का इस दिशा में योगदान रहा है, उनमें आर्यसमाज का स्थान सर्वोपरि है। यही कारण है कि हिन्दी भाषा अथवा साहित्य का इतिहास लिखनेवाले सभी विद्वानों ने हिन्दी-गद्य के निर्माण में आर्यसमाज के योग को विशेष महत्वपूर्ण माना है। मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' में, रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में, पद्मसिंह शर्मा ने स्फुट निबन्धों में और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित अनेक साहित्यिक विवरणों में आर्यसमाज के धार्मिक और सुधारक आन्दोलन को गद्य के निर्माण और प्रसार के लिए अत्यधिक श्रेय दिया गया है।[1] इसलिए यह उचित होगा कि हम इस आन्दोलन की रूपरेखा और स्वरूप का पृथक् और सविस्तर विवेचन करें।

स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द का जन्म सन् १८२४ ई० में गुजरात (काठियावाड़) में हुआ था। कुल की परंपरा और विद्वान् पिता के आग्रह से उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा संस्कृत में हुई। बाद में उन्होंने वैदिक साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया और प्रचलित हिन्दूधर्म तथा सच्चे वैदिक धर्म के बीच जो खाई पैदा हो गई थी, उसे पाटने का दृढ़ संकल्प किया। इस प्रकार हिन्दू-समाज में प्रचलित रीति-रिवाज और कर्मकाण्ड में सुधार करना उनके जीवन का प्रथम उद्देश्य बन गया।

ब्रह्म-समाज से प्रभावित

स्वामी दयानन्द के मन में समाज-सुधार के लिए अदम्य उत्साह था, इसलिए उन्होंने देश की सभी सुधारवादी संस्थाओं से संपर्क स्थापित किया, जिनमें सर्वप्रथम

---

[1] (क) मिश्रबन्धु विनोद'—पृष्ठ २४०

(ख) 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ ४४५

बंगाल का ब्रह्मसमाज था।[1] ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन तथा अन्य बंगाली समाज-सुधारकों से प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत सम्पर्क का स्वामीजी की कार्यप्रणाली और स्वयं उनकी दिनचर्या पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, इसे आर्यसमाज के नेताओं ने स्वीकार किया है। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने ग्रंथ 'आर्यसमाज का इतिहास' में इसका विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि स्वामीजी कलकत्ता के सुधारवादियों, विशेषकर ब्रह्मसमाज के नेताओं, की ओर सहज ही आकृष्ट हुए और उन्होंने कलकत्ता जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय किया, यद्यपि उनसे पत्र-व्यवहार वह पहले भी करते रहते थे। उत्तर प्रदेश और बिहार का दौरा करने के पश्चात सन् १८७२ में स्वामीजी को यह अवसर मिला और वह बिहार से कलकत्ता के लिए रवाना हुए। इसके फलस्वरूप जो सम्पर्क और विचार-विनिमय हुआ, उसको आंकते हुए इन्द्रजी ने लिखा है:—

"यह मानने में कोई संकोच का कारण नहीं है कि बाबू केशवचन्द्र सेन और ब्रह्मसमाज के कार्य का कलकत्ता में अनुशीलन स्वामीजी के कार्यक्रम पर कम प्रभाव उत्पन्न करनेवाला नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि स्वामीजी ने सर्व-साधारण में आर्य-भाषा में व्याख्यान देना बाबू केशवचन्द्र सेन के कहने पर ही प्रारंभ किया था। इससे पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। अबतक प्रायः स्वामीजी कौपीन मात्र रखते थे, व्याख्यान के समय भी यही वेश रहता था। बाबू केशवचन्द्र सेन के कथन पर स्वामीजी ने वस्त्र धारण करना स्वीकार कर लिया। इन दो बातों के अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्व की बात नहीं है कि आर्यसमाज-रूपी संगठन स्थापित करने का विचार स्वामीजी के हृदय में कलकत्ता जाने के पीछे ही उत्पन्न हुआ। इससे पूर्व किसी संगठन की स्थापना का विचार उद्बुद्ध हुआ प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों और संगठनों की स्थापना की अपूर्णता को देखकर स्वामीजी के हृदय पर एक अन्य वैदिक समाज स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।"[2]

इस बात से यह स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द व्यावहारिक पुरुष थे, अतः देश की सार्वजनिक गतिविधि से हिलमिलकर आर्यसमाज का प्रचार करना

(इ) 'पद्म-पराग'—पृष्ठ १०-११ तथा ७५-७६
(ई) 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ १८-१९

[1] (अ) इन्द्र विद्यावाचस्पति-'आर्यसमाज का इतिहास'-पृष्ठ ८० से ८५
(आ) फर्कुहर-'मॉडर्न रिलीजियस मूवमेंट्स इन इंडिया'—पृष्ठ १०१
(इ) पी. के. सेन-'केशवचंद्र सेन' (अंग्रेजी)-पृष्ठ २११

[2] इन्द्र विद्यावाचस्पति-'आर्यसमाज का इतिहास'-पृष्ठ ८२

चाहते थे। इसके लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार किया और अनुभव किया कि मत-प्रचार के लिए ऐसी भाषा का आश्रय लिया जाना चाहिए, जिससे उत्तर, पश्चिम और पूर्व सभी जगह काम चलाया जा सके। वह भाषा हिन्दी थी। स्वामी दयानन्द ने इस तथ्य को समझकर स्वयं हिन्दी सीखी और यह घोषणा की कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना आवश्यक है और हिन्दी ही 'आर्यभाषा' अर्थात् समस्त देश की भाषा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि आर्यसमाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो और हिन्दी ही इसके प्रचार का प्रमुख माध्यम हो। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और वह अंग्रेजी नहीं के बराबर जानते थे। हिन्दी के बल पर ही वह विभिन्न प्रान्तों की यात्रा कर सके और बड़ी सभाओं में भाषण दे सके। जैसे-जैसे आर्यसमाज जोर पकड़ता गया, वैसे-वैसे सभी प्रमुख नगरों में इसकी शाखाएं खुलने लगीं और हिन्दी-प्रचार का कार्य भी आगे बढ़ा। स्वामीजी और उनके अनुयायियों में उत्साह था। ग्रन्थों की रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने कई मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाएं भी निकालनी आरंभ की और अनेक प्रचलित पत्रिकाओं में लेख इत्यादि भी हिन्दी में ही लिखे, जिससे समाज को उनके विचार मिले और हिन्दी को तो लाभ हुआ ही।

स्वामीजी तथा उनके अनुयायियों के ग्रंथ

स्वामी दयानन्द के सार्वजनिक जीवन की अवधि लगभग बीस वर्ष की रही थी। इस समय में उन्होंने धर्म-प्रचार और आर्यसमाज के विस्तार के हेतु जो साहित्य स्वयं निर्माण किया और जो निजी प्रेरणा से अपने साथियों द्वारा लेखबद्ध कराया, वह हिन्दी के विकास की दृष्टि से विपुल होने के अतिरिक्त महत्वपूर्ण भी है। इस काल की उनकी अपनी छोटी-बड़ी रचनाएं[1] इतना अधिक है कि उन्हें देखकर

[1] स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित पुस्तकें—

१. अनुभ्रमोच्छेदन, २. अष्टाध्यायी भाष्य, ३. आत्मचरित, ४. आर्याभिविनय, ५. आर्योद्देश्य रत्नमाला, ६. कुरान-हिन्दी, ७. गोकरुणानिधि, ८. गौतम-अहल्या की कथा, ९. जालन्धर की बहस, १०. पंचमहायज्ञ-विधि (संध्या भाष्य), ११. अव्ययार्थ, १२. पोरचीला, १३. प्रतिमा-पूजन-विचार, १४. प्रश्नोत्तर हलधर, १५. प्रश्नोत्तर उदयपुर १६. भ्रमोच्छेदन १७. मेला चांदपुर, १८. ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका, १९. ऋग्वेद भाष्य, २०. यजुर्वेद भाष्य, २१. वेद-विरुद्ध मत-खण्डन, २२. वेदान्तिध्वान्त-निवारण, २३. व्यवहारभानु, २४. शिक्षापत्री ध्वान्त-निवारण,

आश्चर्य होता है। उन्हींकी रचनाओं तथा शिक्षा से प्रेरणा ले, स्वामीजी के अनुयायियों ने भी साहित्य-निर्माण में हाथ बंटाया। स्वामी नित्यानन्द ने 'पुरुषार्थ प्रकाश' लिखा, जो आर्यसमाज में बहुत लोकप्रिय हुआ। स्वामी दयानन्द के मुख्य शिष्य पं० भीमसेन शर्मा ने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद किया और वैदिक सिद्धान्तों के समर्थन में कई पुस्तकें लिखीं। अनूदित ग्रन्थों में, मनुस्मृति, उपनिषत्, भगवद्गीता आदि सम्मिलित हैं। अपने लेखों के प्रचारार्थ उन्होंने सन् १८९० के लगभग इटावा से मासिक 'आर्य सिद्धान्त' का प्रकाशन आरम्भ किया। इन्हीं दिनों तुलसीराम स्वामी ने मेरठ से 'वेद प्रकाश' मासिक निकाला। तुलसीरामजी संस्कृत के विद्वान थे और उन्होने कई अनुवादों के अतिरिक्त 'सामवेद-भाष्य', 'भास्कर-प्रकाश', 'मीमांसा, 'न्याय और वैशेषिक-भाष्य' आदि ग्रंथ भी लिखे। इसी परम्परा के अन्तर्गत पं० आर्यमुनि आते हैं, जिन्होंने दर्शनों के अतिरिक्त उपनिषदों के भी भाष्य प्रकाशित करायें। अपनी विद्वत्ता और साहित्य-सेवा के कारण इन्हें सरकार द्वारा महामहोपाध्याय की उपाधि से भी विभूषित किया गया। मेरठ-निवासी पं० गंगाप्रसाद ने भी, जो टेहरी-गढ़वाल में मुख्य न्यायाधीश थे, कई प्रमाणिक ग्रन्थ लिखे। इनमें 'धर्म का आदि स्रोत' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। 'जाति-प्रथा' नामक आपके दूसरे ग्रन्थ को भी पर्याप्त ख्याति मिली।

आर्यसमाज के प्रभाव के कारण पंजाब में भी हिन्दी-साहित्य-निर्माण का कार्य स्वामी दयानन्द के देहावसान के पश्चात ही आरम्भ हो गया था। सन् १८८९ में स्वामी श्रद्धानन्द (श्री मुंशीराम) ने जालंधर से 'सद्धर्म प्रचारक' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया।[१] गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करके और प्राचीन शिक्षा-प्रणाली की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करके उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की, जिसकी विस्तृत चर्चा अन्यत्र की जायगी। स्वामी श्रद्धानन्द ने जो ग्रन्थ लिखे, उनमें ये प्रमुख हैं—'कल्याण मार्ग का पथिक', 'सुबह उम्मीद', 'श्रीमद्भगवद्गीता' (सटीक)।

पं० राजाराम शास्त्री ने 'आर्य-ग्रन्थावली' के नाम से एक पुस्तकमाला

---

२५. संस्कार-विधि, २६. संस्कृत वाक्य प्रबोध, २७. सत्यार्थप्रकाश, २८. सत्यासत्य-विवेक, २९. वर्णोच्चारण शिक्षा, ३०. संधि-विषय, ३१. नामिक, ३२. कारिकातिक, ३३. पारिभाषिक, ३४. सौवर, ३५. उणादि कोष, ३६. निघण्टु. ३७. पाणिनि के ग्रंथ अष्टाध्यायी, धातु-पाठगण, उणादि गण, शिक्षा और प्रतिपादिक गण ३८. आलंकारिक-कथा

[१] स्वामी श्रद्धानन्द—'कल्याण मार्ग का पथिक'—पृष्ठ १५६, १७२

आरम्भ की, जिसमें गीता, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थ अनुवादसहित छपते थे। आत्माराम अमृतसरी ने 'संस्कार-चंद्रिका' लिखी, जो बहुत प्रसिद्ध हुई।

आर्य-समाज की तत्कालीन प्रमुख पत्रिकाएं

इसी काल में आर्यसमाज के नेताओं ने कई पाक्षिक अथवा मासिक पत्रिकाएं निकालीं, जिनका उद्देश्य धर्म-प्रचार और विरोधियों की आलोचना का उत्तर देना था। इनमें से उल्लेखनीय ये हैं—

१. 'भारत सुदशा प्रवर्तक', मासिक–संपादक स्वामी दयानन्द, फर्रुखाबाद, १८७८

२. 'आर्यसमाचार'–साप्ताहिक–सं० कल्याणराय, मेरठ, १८७८[1]

३. 'वैदिक मैगजीन', मासिक–सं० गुरुदत्त, लाहौर, १८८१

४. 'धर्मोपदेश'–मासिक–सं० लेखराम, लाहौर, १८८२

५. 'आर्यप्रकाश'–मासिक, बम्बई, १८८६ (बम्बई आर्य-प्रतिनिधि-सभा का मुखपत्र)

६. 'आर्यपत्रिका' (अंग्रेजी)–साप्ताहिक–सं० रलाराम, लाहौर, १८९०

७. 'आर्यमार्तण्ड'–मासिक, अजमेर, १८९४ (राजस्थान आर्य-प्रतिनिधि-सभा का मुखपत्र)

८. 'आर्यपत्र'–मासिक–सं० पूरणमल, बरेली, १८९५

९. 'आर्यमित्र'–मासिक, मुरादाबाद तथा आगरा, १८९८

हिन्दुओं में समाजसुधार का काम ब्रह्मसमाज की स्थापना से आरंभ हुआ था, किन्तु इस संस्था के द्वारा जो सामाजिक क्रांति हुई, उसका प्रभाव जनसाधारण के व्यावहारिक जीवन की अपेक्षा अधिकतर शिक्षित समुदाय पर ही पड़ा। आर्य-समाज के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात बहुत स्पष्ट है और समझी जा सकती है कि ब्रह्मसमाज की सारी कार्यवाही अंग्रेजी में होती थी और उसका बौद्धिक स्तर बहुत ऊंचा था, इसलिए ब्रह्मसमाज का प्रचार बहुत अधिक व्यापक नहीं हो सका, जबकि आर्यसमाज का सारा कार्य सब प्रांतों में हिन्दी में ही होता था तथा स्वा० दयानन्द ने सारे कार्य जनसाधारण के लिए आरंभ किये। अतः सहज ही उसे व्यापक रूप मिल गया। व्यापक प्रचार के कारण उनका कार्य स्थायी भी बन सका। इसका श्रेय स्वामीजी द्वारा अपनाई गई भाषा को ही देना होगा।

---

[1] पत्रकारिता के प्रारम्भकाल में सब सामयिक पत्रों पर सम्पादक का नाम लिखने की परिपाटी नहीं थी। इसके आवरण-पृष्ठ पर श्री कल्याणरायजी का नाम अंकित है।

इससे स्वामी दयानन्द की व्यावहारिक सूझ-बूझ का दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त उनके नेतृत्व में आर्यसमाज ने व्यावहारिक दृष्टि से लोगों का पथप्रदर्शन किया। उनकी दिनचर्या क्या हो, जाति और देश के प्रति वे अपने कर्त्तव्य का कैसे पालन करें, क्षुद्रता के वातावरण से ऊपर उठकर लोग वैदिक धर्म अथवा सार्वभौम धार्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण कैसे करें, इन सब बातों के सम्बन्ध में उनकी शिक्षा सर्वथा स्पष्ट थी। यद्यपि स्वामी दयानन्द का प्रमुख उद्देश्य समाज-सुधार और वैदिक धर्म की रक्षा करना था, किन्तु उनके प्रयत्नों द्वारा हिन्दी भाषा को जो बल मिला, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रान्तीयता, जातिभेद और अन्य सभी सीमाओं को लांघकर जहां-जहां आर्यसमाज की स्थापना हुई, वहीं हिन्दी-प्रेम भी पहुंचा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण पंजाब है। आर्यसमाज के आन्दोलन से पहले हिन्दी का प्रचार तो क्या, वहां हिन्दी की चर्चा तक नही थी। जैसे ही पंजाब आर्यसमाज के प्रभाव में आया, अन्य जातियों के विरोध और सरकार की उपेक्षा के बावजूद भी हिन्दी का पौधा वहां जड़ पकड़ने लगा और बढ़ते-बढ़ते उसने वृक्ष का रूप धारण कर लिया।[१] यदि १९वीं शती के सभी प्रांतों के प्रमुख हिन्दी-सेवियों की सूची बनाई जाय, तो उनमें से बहुतेरे ऐसे मिलेंगे जिनके मन में समाज-सुधार की लगन थी, और जिनमें अधिकांश आर्यसमाज के आन्दोलन से प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हुए थे और वे इस समय के सामाजिक नेता भी थे।

स्वामी दयानंद द्वारा लिखित ग्रंथों की भाषा

आर्यसमाज की स्थापना के कुछ समय बाद स्वामी दयानन्द ने हिन्दी में लिखना भी आरंभ किया और जो ग्रन्थ उन्होंने पहले संस्कृत में लिखे थे, उनका हिन्दी में अनुवाद कराया। इनमें प्रमुख 'वेदभाष्य' और 'संस्कार-विधि' हैं। पं० चन्द्रकान्त वेदवाचस्पति लिखते हैं—"ऋषि के भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में उपलब्ध होते हैं। संस्कृत भाष्य में पहले पदार्थ फिर अन्वय तथा भावार्थ दिये गए हैं। स्थान-स्थान पर निरुक्त, व्याकरण, ब्राह्मण-ग्रन्थ, मैत्रायणी आदि उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि आप्त ग्रन्थों के प्रमाणों से भाष्य अलंकृत है।... हिन्दी भाष्य में मंत्रार्थ, भावार्थ दण्डान्वय सहित दिये गए हैं। इन भाष्यों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि भाषा भाष्य संस्कृत के मुकाबले में कहीं असमीचीन है।"[२] स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में यह उक्ति ठीक मालूम होती है

---

१ 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ ३०४

२ 'नारायण-अभिनन्दन-ग्रंथ' के 'ऋषि दयानन्द और वेदभाष्य शैली' लेख से—पृष्ठ १००

क्योंकि उन्होंने पहले संस्कृत का ही गंभीर अध्ययन किया था और गुरु विरजानन्द के पास रहकर भी व्याकरणसहित संस्कृत का पूर्ण अध्ययन किया था।

अपने भाष्य के विषय में ऋषि दयानन्द ने लिखा है, "भाष्य में ज्ञान, कर्म, उपासना काण्ड का विचार नहीं किया जायगा, क्योंकि दर्शन, उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका विवेचन किया गया है। अतः भाष्य में केवल अर्थ ही दिये जायंगे।"[१]

१. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—स्वामी दयानन्द के वैदिक ग्रन्थों में 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' सबसे उत्तम मानी जाती है। इससे ऋषि दयानन्द की असाधारण योग्यता व मौलिकता का परिचय मिलता है। इनकी शैली का मर्म इस ग्रन्थ की पंक्ति-पंक्ति में प्रतिभासित होता है। प्रो० मैक्समूलर ने इसके विषय में इस प्रकार लिखा है—"हम संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय को, जिसका प्रारंभ ऋग्वेद के साथ तथा जिसकी परिसमाप्ति दयानंद की ऋग्वेद की भूमिका के साथ होती है, दो कालों में विभक्त कर सकते हैं। उनकी (दयानंद की) 'ऋग्वेद भूमिका' हर तरह से रोचक है।"[२]

ऋषि दयानन्द के भाष्यों में यौगिक शैली की प्रधानता है। एक प्रकार से उनकी भाष्य-शैली की तुलना निरुक्तकार यास्क से की जाती है। सभी भाष्यकारों ने इसकी सराहना की है। हिन्दी भाषा में इन भाष्यों के अनुवाद हो चुके हैं। अतः हिन्दी भाषा को स्वामी दयानन्द से वैदिक साहित्य की जो बहुमूल्य निधि मिली है, उससे हिन्दी-साहित्य में अभिवृद्धि हुई है।

२. संस्कार-विधि—स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं के सोलह वैदिक संस्कारों की परिपूर्ण व्याख्या की है। उनकी भाषा से यह स्पष्ट होता है कि लेखक अहिन्दी भाषा-भाषी है, संस्कृत का विद्वान् है और बोलचाल की हिन्दी से उसका विशेष परिचय नहीं है। इसलिए उनकी भाषा में कुछ त्रुटियां हैं, किन्तु इसकी बिल्कुल

---

[१] 'नारायण अभिनन्दन ग्रंथ' के 'ऋषि दयानन्द और वेदभाष्य शैली' लेख से —पृष्ठ १०१

[२] We may divide the whole of Sanskrit literature beginning with the Rigveda, and ending with Dayanand's introduction to his edition of Rigveda, his by no means uninteresting Rigveda Bhoomika, in two great periods.

—'नारायण अभिनंदन ग्रंथ', के 'ऋषि दयानन्द और वेद-भाष्य शैली' लेख में मैक्समूलर के 'India, what can it teach us', (Lecture III.)—पृष्ठ १०१ से उद्धृत

चिन्ता न करते हुए स्वामीजी सदा हिन्दी को अपनाते रहे, यहांतक कि अपनी प्रमुख रचना और आर्यसमाज के आधारभूत ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना मूल रूप से उन्होंने हिन्दी में आरंभ की।

३. सत्यार्थप्रकाश—'सत्यार्थप्रकाश' स्वामी दयानन्द का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कोई भी ऐसा विषय नहीं, जिसपर उन्होंने इसमें प्रकाश न डाला हो। इसका सर्वाधिक महत्त्व इसलिए है कि यह मूल हिन्दी में ही लिखा गया है। 'सत्यार्थप्रकाश' और 'वेदभाष्य' के प्रभाव के सम्बन्ध में स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है—"प्रातःकाल डेढ़ घंटे तक 'सत्यार्थप्रकाश' और 'वेदभाष्य' का स्वाध्याय होता। यही कारण था कि जब संवत् १९४२ (सन् १८८५) के पश्चात् पहली बार लाला लाजपतराय ने मेरा व्याख्यान फिरोजपुर आर्यसमाज के जलसे पर सुना तो पूछा था—'यह इतनी उन्नति संस्कृत में कब की?' "[१]

'संस्कृत' का तात्पर्य यहां संस्कृत-प्रधान हिन्दी से ही है, न कि संस्कृत भाषा से। 'सत्यार्थप्रकाश' की लोकप्रियता इससे भी ज्ञात होती है कि पं० गुरुदत्त ने अनेक बार इसका पारायण किया। उनकी जीवनी में लाहौर आर्यसमाज के तत्कालीन उपाध्यक्ष श्री जीवनदास लिखते हैं—"उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' का पारायण कम-से-कम अठारह बार किया और यह घोषणा की कि जब भी उन्होंने इसे पढ़ा, उन्हें मानसिक तथा आध्यात्मिक खाद्य के रूप में कुछ-न-कुछ नूतन चीज उसमें मिली। उनका कथन था कि ग्रंथ गूढ़ सत्यों से परिपूर्ण है।"[२]

'सत्यार्थप्रकाश' की भाषा की एक-दो बानगिया यहां दे देना समीचीन होगा। इससे उनकी भाषा-शैली का ज्ञान हो जायगा। स्त्रियों की शिक्षा के विषय में स्वामीजी ने लिखा है—

"स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए। क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें? (उत्तर), अवश्य, देखो श्रौत सूत्रादि में—'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मंत्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़के

[१] 'कल्याणमार्ग का पथिक'—पृष्ठ१७४

[२] "He read Satyarth Prakash no less than eighteen times and declared that every time he read it, he found something new and fresh in the way of mental and spiritual food. The book, he said, was full of recondite truths.

—The works of Late Pandit Guru Datta, with A Biographica Sketch' Page 23.

पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। . . . इसलिए जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सके तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के अधीन रहना, इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।"[1]

स्वामीजी की इस भाषा में जहां संस्कृत शब्द जैसे "राजकार्य न्यायाधीशत्वादि" हैं, वहां वाक्य-रचना पर गुजराती भाषा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। जैसे "जो वेदादि. . . . कैसे कर सके"—इस वाक्य को यदि गुजराती में लिखा जाय तो उसकी वाक्य-रचना का ठीक वही रूप होता है, जो इस वाक्य का है—उदाहरणार्थ देखिये, हिन्दी में है—

"जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वर-सहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके ?"

गुजराती में यह वाक्य इस प्रकार होगा—

"जो वेदादि शास्त्रोने न मणी होय तो यज्ञमां स्वर-सहित मंत्रोनुं उच्चारण अने संस्कृत भाषण केम करी शके ?"

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं स्वामीजी की भाषा में व्रजभाषा का पुट भी मिलता है। इसका कारण शिक्षण के लिए उनका मथुरा-निवास ही हो सकता है।[2] व्रज भाषा से प्रभावित 'सत्यार्थप्रकाश' की भाषा का उदाहरण लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस प्रकार दिया है—

"पुरुषों का और कन्याओं का ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या जब पूर्ण हो जाय तब जो देश का राजा होय और जितने विद्वान् लोग वे सब उनकी परीक्षा यथावत करें जिस पुरुष या कन्या में श्रेष्ठ गुण, जितेन्द्रियता, सत्यवचन, निराभिमान, उत्तम बुद्धि, पूर्ण विद्या, मधुर वाणी, कृतज्ञता, विद्या और गुण के प्रकाश में अत्यन्त प्रीति जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, कृतघ्नता, छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेषादिक दोष न होवें, पूर्ण कृपा से सब लोगों का कल्याण चाहें, उसको ब्राह्मण का अधिकार देवें और यथोक्त पूर्वोक्त गुण जिसमें होय परन्तु विद्या कुछ न्यून होय शूरवीरता, बल और पराक्रम ये तीन गुणवाला जो ब्राह्मण भया उससे अधिक हो उसको क्षत्रिय करें और जिसको थोड़ीसी विद्या होवे परन्तु व्यापारादिक व्यवहारों में नाना प्रकारों के शिल्पों में देशान्तर से पदार्थों को ले आने और ले जाने में चतुर

[1] 'सत्यार्थप्रकाश'—तृतीय समुल्लास—पृष्ठ ४५; (विक्रम संवत् २००३), वैदिक यंत्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित।

[2] 'त्रिलोकी एंड दयानन्द'—गंगाप्रसाद उपाध्याय-पृष्ठ ९-१०

होवे उसको वैश्य करना चाहिए और जो पढ़ने लगा जिसको शिक्षा भी भई परन्तु कुछ भी विद्या नहीं आई उसको शूद्र बनाना चाहिए इसी प्रकार कन्याओं की भी व्यवस्था करनी चाहिए ।[1]

इस प्रकार मातृभाषा गुजराती होने के कारण गुजराती, संस्कृत अध्ययन के कारण संस्कृत और मथुरा में दीर्घनिवास के कारण ब्रजभाषा इन तीनों भाषा-शैलियों का सम्मिश्रण स्वामी दयानन्द की भाषा में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने अपनी भाषा पर विशेष ध्यान न देकर आर्यभाषा के प्रचार के लिए हिन्दी भाषा की शिक्षा पर ही सदा बल दिया। अपने विचारों को जनजीवन में प्रसारित करने के लिए ही मुख्यरूप से उन्होंने हिन्दी को अपनाया।

भारतवर्ष एक धर्म-प्रधान देश है। जैसा मैं पहले अध्याय में लिख चुकी हूं, हमारे धर्मप्रवर्तकों ने ऐसी ही भाषा को अपनाया, जो सभी जगह आसानी से समझी जा सके। इसीलिए बुद्ध भगवान ने संस्कृत छोड़कर पाली ग्रहण की, महावीर ने अर्द्धमागधी अपनाई और वल्लभाचार्य आदि धार्मिक नेताओं के द्वारा अपनाई जाने पर ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ, जन-जाग्रति के आह्वान हेतु, हिन्दी को अपनाकर उसकी उन्नति के द्वार का उद्घाटन किया।

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द की हिन्दी-सेवा अद्वितीय है। स्वराज्य का मूलमंत्र स्वामीजीने देश को इन शब्दों में दिया—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।[2] हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा के भवन-निर्माण की नींव भी उन्होने रखी।

हिन्दी-आन्दोलन के लिए यह घटना एक ईश्वरीय देन थी। स्वामीजी का वेदों का अधिकृत ज्ञान, उनका प्रबल सुधारवाद, ओजस्वी व्यक्तित्व और हिन्दी को अपनाने में उनकी असाधारण उदारता, इन सब बातों के कारण हिन्दी को जो प्रोत्साहन मिला, शायद हिन्दी भाषा के इतिहास में किसी और घटना की उससे तुलना नही की जा सकती। हिन्दी भाषा को गति मिली, उसमें व्यापकता आई और सबसे बढ़कर उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई। विद्वत्समाज में धार्मिक अथवा सामाजिक विषयों को लेकर वादविवाद या शास्त्रार्थ संस्कृत में किये जाते थे, पर चूंकि स्वामीजी वैदिक धर्म का मण्डन, आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और

[1] यह उद्धरण वार्ष्णेयजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' (१८७४), १११६ में कालूराम शास्त्री द्वारा प्रकाशित १८७५ के संस्करण, पृष्ठ ८४ से लिया है।

[2] 'सत्यार्थप्रकाश'—अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १४१

दूसरे धर्मों का खण्डन हिन्दी में करते थे, इसलिए उनके आलोचकों को उत्तर भी हिन्दी में देना पड़ता था। काशी, मथुरा, प्रयाग, पटना, कलकत्ता जहां-जहां दयानन्द सरस्वती ने भाषण दिये और वाद-विवाद का सूत्रपात किया, उनका एकमात्र माध्यम हिन्दी होता था। किसी भी भाषा के लिए, जिसका गद्य निर्मित हो रहा हो, इससे बढ़कर लाभदायक बात और क्या हो सकती थी ? डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने हिन्दी के विकास में स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के योगदान का विवेचन करते हुए लिखा है—

"आर्यसमाज के तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन के प्रसार के निमित्त जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची, उससे हिन्दी गद्य को बड़ा प्रोत्साहन एवं बल मिला। इस धार्मिक आन्दोलन के कारण सारे उत्तरी भारत में हिन्दी का प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि आर्यसमाज के आदिगुरु स्वामी दयानन्द ने, स्वयं गुजराती होने पर भी, हिन्दी को ही सर्वत्र अपनाया। इस स्वीकृति का मुख्य कारण हिन्दी की व्यापकता थी। अस्तु, हिन्दी के प्रचार के अतिरिक्त जो प्रभाव गद्य-शैली पर पड़ा, वह अधिक विचारणीय है। व्याख्यान अथवा वाद-विवाद को प्रभावशाली बनाने के लिए एक ही बात को कई रूप से घुमा-फिराकर कहने की भी आवश्यकता होती है। सुननेवाले पर इस रीति के तर्कमयी भावाभिव्यंजना का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है।[1]

'सत्यार्थप्रकाश' के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने वैदिक साहित्य पर पांच ग्रन्थों की रचना की। ये ग्रन्थ या तो सूत्रों के अनुवाद हैं या टीकाएं हैं।[2] इस साहित्य के अतिरिक्त स्वामीजी ने समय-समय पर अनेक पुस्तिकाएं लिखीं।

स्वामीजी के पत्र-व्यवहार की भाषा

यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वामीजी का पत्र-व्यवहार भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है।[3] स्वामी दयानन्द धार्मिक आचार्य ही नहीं थे, सार्वजनिक नेता भी थे। प्रचारकार्य के लिए देशभ्रमण में उनका सैकड़ों व्यक्तियों से परिचय हुआ था और इस परिचय को बनाये रखने के लिए वह कुछ व्यक्तियों से नियमित पत्र-व्यवहार किया करते थे। उनके पत्र-व्यवहार की भाषा पहले संस्कृत और बाद में बराबर हिन्दी रहती थी। इस सम्बन्ध में 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन'

---

[1] 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास'—पृष्ठ ७८

[2] स्वामीजी के समस्त ग्रंथों की सूची पृष्ठ ८२–८३ पर दी गई है।

[3] स्वामी दयानन्द के अब तक लगभग ८४८ पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। 'दयानन्द का हिन्दी-प्रेम'—परिशिष्ट सं० ६, १९५५।

की भूमिका में लिखा है—

"ऋषि दयानन्द सरस्वती संस्कृत और आर्यभाषा के पंडित थे। गुजराती उनकी मातृभाषा थी। उर्दू और अंग्रेजी से वह सर्वथा अनभिज्ञ थे। पर मिलते हैं उनके पत्र इन पांच भाषाओं में ही। उनके संस्कृत पत्र और विज्ञापन प्रायः शुद्धरूप में हैं। संवत् १९२९ तक तो उनका सारा पत्र-व्यवहार और सम्भाषण निश्चित ही संस्कृत में था। तत्पश्चात संवत् १९३० में कलकत्ता से आकर उन्होंने आर्यभाषा में भी बोलना आरंभ कर दिया। आर्यभाषा के पत्र उस समय से आरंभ हो गये होंगे। जो लोग संस्कृत अथवा आर्यभाषा नहीं जानते थे, उनके पत्रों का उत्तर भी स्वामीजी आर्यभाषा में ही बोलते अथवा लिखवाते थे, फिर वह उर्दू अथवा अंग्रेजी में अनुवाद कराके भेजे जाते थे।"

मदाम ब्लावरसकी तक को उन्होंने हिन्दी में लिखा। मदाम ब्लावरसकी को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें, उसको नागरी कराकर हमारे पास भेजा करें।"[1] वैदिक संग्राहलय, अजमेर में स्वामीजी के अनेक हस्तलिखित पत्र सुरक्षित हैं। अब ये पत्र प्रकाशित हो चुके हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ कई-कई पृष्ठों के हैं। इन पत्रों से उनके हिन्दी-प्रेम और अपने सिद्धान्तों में आस्था का पूर्ण परिचय मिलता है। १३ जुलाई, १८७९ को श्री आल्कोट को लिखे एक पत्र[2] से ज्ञात होता है कि उन्होंने श्री आलकोट को भी हिन्दी सीखने की प्रेरणा दी। इसका प्रमाण इस एक वाक्य से मिलेगा—"मुझे सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना आरंभ कर दिया है।"[3] अपने इस अंग्रेजी पत्र के विषय में दयानन्दजी ने भी प्रकाश डाला है। 'वेदभाष्य' के मैनेजर के नाम ११ अक्तूबर, १८७९ को कानपुर से उन्होंने अपने पत्र में लिखा—"और अलकाटसाहब के पत्र आये। उसका उत्तर पीछे से तुमको 'नागरी' में भेजेंगे। उनकी नकल अंग्रेजी में करके दे देना तो हम सीधा भेज दिया करेंगे।"

---

[1] 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'–अंक २-३, संवत् २००६ पृष्ठ २२१

[2] इस पत्र पर स्वामीजी के हस्ताक्षर नहीं हैं। इसकी टिप्पणी में दिया गया है—"कटघर मुहल्ला, मुरादाबाद-निवासी ठाकुर शंकरसिंह उपनाम भूपजी श्री स्वामीजी के बड़े भक्त थे। श्री स्वामीजी के अनेक पत्रों का यह ही अंग्रेजी अनुवाद करते थे। यह पत्र भी उन्होंने ही अंग्रेजी में अनूदित करके दिया होगा। सौभाग्यवश अंग्रेजी प्रतिलिपि उनके घर सुरक्षित रही।"
—'ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन'–पृष्ठ १६२, १६३ तथा १६६ भी द्रष्टव्य

[3] "I am glad to hear, you have begun reading 'Nagri'.

वैदिक साहित्य को जनसाधारण में सुलभ बनाने की अभिलाषा से एक विज्ञापन में स्वामी दयानन्द ने लिखा है—

"वेद और प्राचीन आर्य-ग्रंथों के ज्ञान के बिना किसीको संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता, और इसके बिना मनुष्य-जन्म का साफल्य होना दुर्घट है। इसलिए जो सनातन प्रतिष्ठित पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उसमें अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत और आर्यभाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है।"[१]

ग्रामीणों की सुविधा के हेतु भी स्वामीजी को हिन्दी व देवनागरी के प्रयोग पर कितना ध्यान रहता था, वह उनके श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को ७ अक्तूबर, १८७८ के लिखे पत्र से ज्ञात होता है। उन्होंने लिखा है—

"अबकी बार भी 'वेदभाष्य' के लिफाफे के ऊपर देवनागरी नहीं लिखी गई। जो कहीं ग्राम में अंग्रेजी भाषा पढ़ा न होगा तो अंक वहां कैसे पहुंचते होंगे और ग्रामों में देवनागरी पढ़े बहुत होते हैं।... इसलिए अभी इसी पत्र के देखते ही देवनागरी जाननेवाला मुंशी रख लेवें नहीं तो किसी रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी वाले से नागरी में लिखाकर टपास लिया करें।"[२]

उनके इस पत्र में 'तपास' शब्द गुजराती है, जिसे हिन्दी में 'टपास' गलत लिखा है। इससे भी ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द के लिए भाषा से अधिक भाव तथा कार्य का मूल्य अधिक था। वह तो हिन्दी को देश-व्यापी बनाने का स्वप्न देखते थे। एक बार एक पंजाबी भक्त ने स्वामीजी के समस्त ग्रंथों का अनुवाद करने की अनुमति मांगी। उन्होंने अपना भाव इन शब्दों में व्यक्त किया—भाई, मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।"[३] इस स्वप्न का साकार दर्शन हम उनके इस शब्द-चित्र में करते हैं।

आर्यसमाज के कार्यों पर एक दृष्टि

स्वामी दयानन्द के देहान्त के कुछ वर्ष बाद ही उत्तर भारत में आर्यसमाज

[१] 'ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन'—पृष्ठ ६८
[२] 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन'—पृष्ठ १२२
[३] 'नारायण अभिनन्दन ग्रंथ'—पृष्ठ २५६

का आन्दोलन इतना व्यापक हो गया कि वह देहातों तक में जा फैला। हिन्दी पहले-पहल दूरस्थ क्षेत्रों में आर्यसमाज के प्रचारकों के प्रयत्न से ही पहुंच सकी। आर्यसमाज से सम्पर्क के कारण हजारों व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी, जिससे कि वे समाज के सदस्य बन सकें और उसके दैनिक और साप्ताहिक कार्यक्रम में भाग ले सकें। अनेक साधारण कस्बों में भी आर्यसमाज मंदिर बन गये। इन मंदिरों में साप्ताहिक सभाएं होती थीं और सारा कार्य हिन्दी में किया जाता था। सभी स्थानों में वार्षिक उत्सव होते थे, जिनके कारण प्रचार-कार्य को गति मिलती थी और जनता में जागृति पैदा होती थी। इस जागरण में प्राचीन वैदिक संस्कृति का स्थान था, धर्म और सभ्यता का प्रचार था, आचार और विचार की सात्विकता पर जोर था और इन सबके फलस्वरूप अपने देश और अपनी भाषा के गौरव की रक्षा हुई।

आर्यसमाज के कार्यक्रम में हिन्दू-संगठन एव शुद्धि के कारण भी आर्यसमाज के प्रचार-कार्य को बल मिला। ईसाई या मुसलमान बने हुए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू-समाज में प्रविष्ट करना आर्यसमाज ने अपना उद्देश्य बना लिया था। इससे हिन्दू-समाज में आर्यसमाज के कार्य के प्रति उत्साह का संचार हुआ और नवोत्साही समाज-सुधारक तथा शिक्षितवर्ग अधिकाधिक इसका समर्थन करने लगा। उदाहरणार्थ, आर्यसमाज ने बाल-विवाह का बड़ा विरोध किया और अजमेर के सामाजिक नेता, हरबिलास शारदा ने इस आशय का प्रस्ताव केन्द्रीय विधान-सभा में रखा, जो बाद में (१९२९) कानून बन गया।[1] केन्द्रीय अथवा प्रांतीय विधान-सभाओं में जब कभी समाज-सुधार-सम्बन्धी विधेयक प्रस्तुत हुए तो आर्यसमाज के नेताओं ने सदा उनका समर्थन किया।

बीसवीं शती के सामाजिक नेताओं ने हिन्दी को सबसे पहले शिक्षा के माध्यम के रूप में स्थान दिया और दिलाया। सरकारी स्कूलों पर ही निर्भर न रहकर आर्यसमाज ने पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान इत्यादि प्रदेशों में सैकड़ों शिक्षण-संस्थाएं स्थापित कीं, जिनके नाम 'आर्य समाज पाठशाला', 'आर्यकन्या विद्यालय', 'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल' या कालेज, आदि रखे गए। इन सभीमें हिन्दी पढ़ना अनिवार्य था।

शिक्षा के प्रश्न को लेकर आर्यसमाज में शताब्दी के आरम्भ में ही दो दल हो गये। एक दल गुरुकुल-प्रणाली का समर्थक था और दूसरा पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के स्कूलों में ही हिन्दी और समाज के कार्य को प्रोत्साहित देने के पक्ष में था। गुरुकुल-प्रणाली के समर्थकों के नेता श्री मुंशीराम थे, जो सन्यास लेने के बाद स्वामी

[1] The Child Marriage Restraint Act, 1929—Act No. XIX of 1929—The Unrepealed Central Acts—Vol. VIII, From 1924 to 1930.

श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने गुरुकुल-प्रणाली को क्रियात्मक रूप देने के लिए हरिद्वार के पास कांगड़ी में सन् १९०२ में एक गुरुकुल की स्थापना की। इसके बाद ही पंजाब, उत्तरप्रदेश और राजस्थान के विभिन्न शहरों में स्थानीय सामाजिक नेताओं द्वारा कई गुरुकुल खोल दिये गए, जिनमें से प्रमुख गुरुकुल कांगड़ी, महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल वृन्दावन, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ, कन्या महाविद्यालय जालंधर, देहरादून कन्या गुरुकुल, हाथरस तथा आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा है। इन गुरुकुलों में संस्कृत में वैदिक धर्म का अध्ययन और हिन्दी-शिक्षा अनिवार्य है।[1] गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली सफल रही हो अथवा असफल, किन्तु यह निर्विवाद है कि इसके कारण हिन्दी का प्रसार तेजी से हुआ।[2] संस्कृत और हिन्दी के सान्निध्य से वैदिक और पौराणिक साहित्य का हिन्दी में अनुवाद हुआ और स्नातकों के रूप में हिन्दी को अनेक साहित्यिक और उत्साही प्रचारक मिल गये। दूसरे दल के प्रमुख नेता लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, पं० गुरुदत्त, लाला लालचन्द आदि थे। डी. ए. वी. कालेज, लाहौर की स्थापना के पश्चात् ऐसी ही उच्च शिक्षा-संस्थाएं पंजाब के अन्य नगरों में तथा विभिन्न प्रांतों में स्थापित हुईं। आज भी शिक्षा, प्रशासन, पत्रकारिता आदि के क्षेत्रों में अनेक स्थानों पर इन कालेजों व गुरुकुलों के स्नातक हिन्दी की सेवा कर रहे हैं।[3]

सबसे अधिक सफलता आर्यसमाज को बालिकाओं की शिक्षा के क्षेत्र में मिली। कन्या गुरुकुलों और विद्यालयों में हिन्दी अनिवार्य विषय ही नहीं था, बल्कि वह शिक्षा का एकमात्र माध्यम बनाई गई। कन्याओं की हिन्दी-शिक्षा के कारण पंजाब जैसे प्रान्त का, जिसमें अधिकतर उर्दू का ही बोलबाला था, वातावरण धीरे-धीरे हिन्दी के अनुकूल होने लगा। सच तो यह है कि समस्त भारत में स्त्री-शिक्षा की पक्की नीव आर्यसमाज ने ही डाली।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म, समाज और शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का बड़ा प्रभाव था और इन तीनों ही क्षेत्रों में अपने कार्य की गतिविधि के लिए आर्यसमाज ने हिन्दी को ही अपनाया। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में–"आर्यसमाज ने भारतीय चिन्ता को झकझोर दिया था, पर प्राचीन आप्त वाक्य को मानने की प्रवृत्ति को उसने और भी अधिक प्रतिष्ठित किया। इसका परिणाम सभी

---

[1] लाजपतराय—'आर्यसमाज'—पृष्ठ २१०

[2] 'भारतीय शिक्षा' में डा० राजेन्द्रप्रसाद का 'गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली' लेख—पृष्ठ ६७ से ७५

[3] लाजपतराय—'आर्यसमाज'—पृष्ठ १६३

क्षेत्रों में देखा गया। साहित्य के क्षेत्र में भी इस समय तक प्रमाण-ग्रन्थों के आधार पर विवेचना करने की प्रथा चल पड़ी थी।"[1] हिन्दी-साहित्य के लिए आर्यसमाज की यह ठोस सेवा है। धर्म के समान ही समाज में भी आर्यसमाज ने आमूल परिवर्तन के लिए कठिन प्रयास किया और शिक्षा के क्षेत्र में संपूर्ण प्रणाली को ही प्राचीन विद्या तथा आर्यभाषा के दृढ़ आधार पर स्थित किया। इस प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास में आर्यसमाज का योगदान महत्वपूर्ण है।

[1] 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'—पृष्ठ १४३

अध्याय : ५

आर्यसमाज के अन्य प्रमुख नेता

स्वामी दयानन्द ने अपने संपूर्ण कार्य और प्रचार के लिए माध्यम के रूप में हिन्दी को अपनाया और ग्रन्थलेखन में भी संस्कृत के पश्चात् वह हिन्दी को ही महत्व देने लगे तथा दो-तीन ग्रन्थों के बाद उन्होंने सभी ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। आर्यसमाज के नियमों में से एक नियम आर्यभाषा का प्रयोग और प्रचार भी है। स्वामीजी के अनुयायियों ने तदनुसार ही सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक कार्य के साथ-साथ हिन्दी-सेवा को भी अपने जीवन का एक अंग माना। स्वामी दयानन्द के उदाहरण को सामने रखकर ही स्वामी नित्यानन्द, पं० भीमसेन शर्मा, पं० आर्यमुनि और पं० तुलसीराम शर्मा आदि ने अपने संपूर्ण ग्रंथ हिन्दी में लिखे।[1] सार्वजनिक शिक्षा में रुचि लेकर और पाठशालाओं तथा गुरुकुलों इत्यादि में हिन्दी को प्रमुख स्थान देकर स्वामी दयानन्द के शिष्यों ने हिन्दी की बड़ी सेवा की। इस सम्बन्ध में पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं —

"भारत में पहला शिक्षणालय, जिसमें राष्ट्रभाषा के माध्यम द्वारा संपूर्ण ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा का सफल परीक्षण किया गया, वह गुरुकुल कांगड़ी था, जिसके साथ समयान्तर में आर्यसमाजों द्वारा चलाये गए अन्य अनेक गुरुकुलों को शक्ति भी मिल गई। देश के सामने क्रिया द्वारा यह सचाई रखकर कि राष्ट्रभाषा में सभी आवश्यक विषयों की शिक्षा देना संभव है, गुरुकुलों, कन्या-शिक्षणालयों और आर्यसमाज की अन्य संस्थाओं द्वारा समकालीन राष्ट्र-भाषा-आन्दोलन के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया गया था।"[2]

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानंद की ही प्रेरणा से उनके अनुयायी अपने पारस्परिक पत्र-व्यवहार तथा लेखों और भाषणों में हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग पर ध्यान देने लगे। पंजाब जैसे उर्दू-भाषी प्रांत में भी उसके नेता लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, पं० गुरुदत्त और भाई परमानन्द ने भी हिन्दी सीखी और अन्यों को सिखाई। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि "पंजाब जैसे इस्लामिक संस्कृति से प्रभावित क्षेत्र में, जहाँ संध्या और हवन के

---

[1] 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ १०३

[2] 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ १०४

मंत्र भी आरंभ में आर्यजन उर्दू में ही लिखकर याद करते थे, वहां आज की नई पीढ़ी आर्य शिक्षण-संस्थाओं के इस हिन्दी-प्रधान वातावरण से उतनी ही उर्दू से दूर चली गई है। हिन्दी के समाचार-पत्र, जो दिल्ली से परे पंजाब में बहुत कम पढ़े जाते थे, आज घर-घर में पहुंचते हैं।... दक्षिण में भी आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात, जहां-जहां भी आर्यसमाज का संगठन था, वहां हिन्दी भी बराबर चलती रही। न केवल भारत में, अपितु अफ्रीका, मारीशस, स्याम, ब्रह्मा, मलाया तथा यूरोप के देशों में, जहां भी आर्यसमाज है, वहां हिन्दी में कार्य, हिन्दी में विद्यालय और प्रकाशन भी होते हैं।"[1]

डरबन (दक्षिण अफ्रीका) में आज 'दक्षिण हिन्दी विद्यालय' की संस्था दस-बारह वर्ष से बड़ा अच्छा कार्य कर रही है। फीजी में भी वहां के आर्यसमाज ने हिन्दी-कवि-सम्मेलन का आयोजन किया था, जिसके लिए हमारे राष्ट्रपति ने उन्हें अभिनन्दन दिया था। आर्यसमाज के कई आर्य-विद्वानों ने हिन्दी में सुन्दर साहित्य का सृजन किया है और इस प्रकार हिन्दी भाषा की प्रगति तथा हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है। कई विद्वानों को उनकी उच्चकोटि की रचना के लिए हिन्दी का सर्वोच्च 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्राप्त हुआ है। इनमें से कतिपय के नाम उल्लेखनीय हैं, यद्यपि उनकी हिन्दी-सेवा का वर्णन अन्यत्र भी दिया जायगा। इन विद्वानों के नाम हैं— पं० पद्मसिंह शर्मा (बिहारी सतसई की समालोचना), पं० जयचन्द्र विद्यालंकार (भारतीय इतिहास की रूपरेखा), डा० सत्यकेतु विद्यालंकार (मौर्य साम्राज्य का इतिहास), पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय (आस्तिकवाद), श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल (शिक्षा-मनोविज्ञान)। प्रो० सुधाकर को भी, जो आर्यसमाज की सार्वदेशिक सभा के प्रधानमंत्री रहे हैं, मनोविज्ञान नामक पुस्तक के लिए पुरस्कार प्राप्त हुआ है। पं० गंगाप्रसाद भी आर्यसमाज की प्रांतीय प्रतिनिधि सभा के प्रमुख पदों पर रहे हैं। इन्होंने और भी ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें 'धर्म का आदि स्रोत' बहुमूल्य है। हिन्दी-प्रचार व साहित्य के कार्य में हम आर्यपथिक पं० लेखराम, भीमसेन शर्मा और बाबू घासीराम, जिन्होंने स्वामीजी के अनन्य भक्त बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा बंगला में लिखित दयानन्द-चरित का अनुवाद किया है,[2] पं० भगवद्दत्त, जिन्होंने वर्षों तक आर्यसमाज-सम्बन्धी सामग्री,

---

[1] 'गंगाप्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशवीर शास्त्री के लेख—'हिन्दी और आर्यसमाज' —पृष्ठ २६३

[2] 'आर्यसमाज का इतिहास' —पृष्ठ ३१६

विशेषकर स्वामी दयानन्द के पत्रों का संग्रह करके प्रकाशित करवाया तथा स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, जिन्होंने न केवल आर्यसमाज-सम्बन्धी साहित्य की ही रचना की अपितु जीवनी, इतिहास तथा वैदिक साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ और उपन्यास भी लिखे, इन सबके नामों का उल्लेख भी आवश्यक है।

भीमसेन शर्मा

यद्यपि भीमसेन शर्मा की गणना हम आर्यसमाज के नेताओं में नहीं कर सकते, किन्तु स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य होने के कारण तथा उनके हिन्दी लेखनादि में अधिक-से-अधिक सहयोग देने के कारण भीमसेन का महत्व हमें स्वीकार करना होगा। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने इनके विषय में लिखा है—"भीमसेन शर्मा संस्कृत के विद्वान् और हिन्दी के सुलेखक थे। स्वामीजी के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद और संशोधन का कार्य करने के कारण वह लेखन-कार्य में काफी निपुण हो गये थे।"[1] इससे पूर्व उनकी भाषा बहुत परिमार्जित या सुगठित नहीं थी, इसका प्रमाण स्वामी दयानंद के उनके सम्बन्ध में पं० सुन्दरलाल को लिखे एक पत्र में मिलता है। उन्होंने लिखा है —"भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है, उसको शिक्षा कर देना कि भाषा बनाने में ढील न हुआ करे।"[2] इस प्रकार स्वामी दयानन्द के सतत सान्निध्य तथा संस्कृत के अध्ययन और हिन्दी-अनुवाद के कारण भीमसेन शर्मा की भाषा धीरे-धीरे परिष्कृत हुई, ऐसा जान पड़ता है। स्वामी दयानन्द के निर्वाण के पश्चात् भीमसेन शर्मा ने वैदिक सिद्धान्तों के समर्थन में कई ग्रन्थ लिखे।

भीमसेन शर्मा

जुलाई सन् १८८७ को जब आर्य-धर्म-सभा की स्थापना हुई तब भीमसेन शर्मा उसके मंत्री बनाये गए थे। सभा का उद्देश्य वैदिक धर्म पर किये गए आक्षेपों का खंडन और शंकाओं का समाधान करना था। इस कार्य के लिए सभा की ओर से 'आर्यसिद्धान्त' नाम का मासिक पत्र निकला और भीमसेन शर्मा उसके संपादक बने। उनके लेख भी इसमें प्रकाशित होते रहे।

---

[1] 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ २४२

[2] 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन'—पृष्ठ ३२४.

भीमसेन शर्मा अनथक प्रचारक थे और अपने प्रचार द्वारा इन्होंने हिन्दी की पर्याप्त सेवा की। जीवन के उत्तरकाल में भीमसेन शर्मा आर्यसमाज से पृथक हो गये और 'सनातन धर्म-सभा' में जा मिले। उस समय वह इटावा से निकलनेवाले 'ब्राह्मण सर्वस्व' के संपादक रहे। यह 'सनातन धर्म-सभा' का बड़ा प्रभावशाली पोषक पत्र था। इस घटना को लेकर श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं—

"आपने जो कार्य अपने प्रारंभिक जीवन में किया, वह मूल्यवान समझा जाता, यदि शर्माजी अपने जीवन के अंतिम भाग में अपने लिखे पर हड़ताल फेरने न लग जाते। पूर्व-जीवन में जिन सिद्धान्तों का मंडन किया था, अंतिम जीवन को उनके खंडन में व्यतीत किया। इससे कह सकते हैं कि उनके बनाये साहित्य का मूल्य अन्त में शून्य रह गया।"[1]

इन्द्रजी की ये पंक्तियां शर्माजी की दो विचारधाराओं का परिचय देती हैं, किन्तु उससे भीमसेन शर्मा की हिन्दी-सेवा का मूल्य कम नहीं होता। जीवन में विचार-परिवर्तन स्वाभाविक है, किन्तु उनके अनुसार रचित साहित्य, उस भाषा को स्थायी निधि बन जाता है, इसमें संदेह नहीं। आर्यसमाज में रहकर या सनातन-धर्म-सभा में प्रवेश करके भी भीमसेन शर्मा ने हिन्दी की जो भी सेवा की, वह स्मरणीय है।

भाई परमानन्द

भाई परमानन्द पंजाब के पुराने राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं में थे, जिन्हें सन् १९१४-१५ में हार्डिंग बम-कांड के सिलसिले में पहले आजीवन-कारावास का दण्ड मिला था और फिर मृत्युदण्ड, जो बाद में वापस ले लिया गया था। डी. ए. वी. कालेज में वह इतिहास के प्राध्यापक थे। आरंभ से ही हिन्दी और हिन्दू-संस्कृति के प्रति उनकी विशेष रुचि थी। उन्होंने राजनीति और इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे, जो हिन्दी और उर्दू दोनों में प्रकाशित हुए। उनकी सर्वप्रथम मौलिक पुस्तक 'पंजाब का इतिहास' है। उनके अन्य ग्रन्थों में 'बन्दा वैरागी', 'हिन्दू जाति का अतीत और वर्तमान' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। जीवन के अंतिम वर्षों में वह हिन्दू महासभा के

भाई परमानन्द

[1] 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ २४२

प्रमुख नेता हो गये और उस समय हिन्दी की सेवा उन्होंने और भी उत्साह से की।

आर्यसमाजी और हिन्दू महासभा के नेता होने के नाते हिन्दी की सेवा भाई परमानन्द की राजनीति का आवश्यक अंग थी। शिक्षा तथा सार्वजनिक कार्य के क्षेत्रों में हिन्दी को यथोचित स्थान दिलाना उनकी नीति रही। अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी की सेवा वह अधिक नहीं कर सके। भाई परमानन्द की मौलिक रचनाएं हिन्दी में न होने के कारण उनकी भाषा-शैली पर विचार नहीं किया जा सकता। किन्तु अनूदित रचनाओं से भी हिन्दी-पाठकों को हिन्दुत्व के गौरव का पाठ अवश्य मिलता है और उनके क्रांतिकारी जीवन से स्वदेश-प्रेम की भावना संचारित होती है।

महात्मा हंसराज

महात्मा हंसराज साधारण अर्थों में हिन्दी के लेखक नहीं थे, पर यदि हिन्दी-सेवा का व्रत लेना और निजी जीवन में इस व्रत को व्यावहारिक रूप से उतारना हिन्दी की सेवा माना जाय तो हिन्दी-सेवियों में महात्मा हंसराज को भी स्थान देना होगा। जीवनभर उनका कार्यक्षेत्र शिक्षा रहा और इस दीर्घ अवधि में उन्होंने सदा हिन्दी को अपने कार्यक्रम में उच्च स्थान दिया। जिन उद्देश्यों को सामने रखकर सन् १८८५ में डी. ए. वी. स्कूल और अगले वर्ष डी. ए. वी. कालेज की स्थापना हुई, उसमें हिन्दी-भाषा को प्रोत्साहन देना और हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने की प्रेरणा देना भी सम्मिलित थे। इन संस्थाओं के प्रमुख अधिकारी होने के नाते महात्मा हंसराज ने समाज के इस नियम का अक्षरशः पालन किया। उन्होंने स्वयं हिन्दी सीखी और दूसरों को सिखाने की लगन सदा उनमें रही। उन्होंने डी. ए. वी. कालेज, लाहौर के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य कर दिया। डी. ए. वी. स्कूल में, जो लाहौर का सबसे बड़ा स्कूल था, अनेक बाधाओं और सरकारी अड़चनों के रहते हुए भी महात्मा हंसराज के आग्रह पर हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। जब हंसराजजी का सम्बन्ध पंजाब विश्वविद्यालय से जुड़ा, तब भी इनके और लाला लाजपतराय के प्रयत्नों से पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान मिला। आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहित करने के सम्बन्ध में पंजाब

महात्मा हंसराज

विश्वविद्यालय ने जो नियम बनाये, जिनके अनुसार रत्न, भूषण, प्रभाकर इत्यादि परीक्षाओं की व्यवस्था की गई, उस नियम को सेनेट द्वारा स्वीकृत कराने में महात्मा हंसराज तथा लाला लाजपतराय का बड़ा हाथ था। इन परीक्षाओं के कारण प्रतिवर्ष हजारों लोग हिन्दी पढ़ने लगे। जब आर्य प्रतिनिधि-सभा तथा सार्वदेशिक सभा से महात्मा हंसराज का सम्बन्ध हुआ, तब उन्होंने कार्यालय का समस्त कार्य और पत्र-व्यवहार अनिवार्य रूप से हिन्दी में कर दिया। आर्यसमाज की पत्रिकाएं, 'आर्य गजेट', 'आर्य जगत्' इत्यादि, जो पहले उर्दू में निकलती थीं, उनका प्रकाशन हिन्दी में करा दिया।

डी. ए. वी. स्कूल और कालेज की स्थापना द्वारा कुछ वर्षों में ही पंजाब का वातावरण हिन्दीमय हो चला और इन दोनों संस्थाओं के पीछे सबसे बड़ी शक्ति महात्मा हंसराज का व्यक्तित्व और हिन्दी तथा प्राचीन हिन्दी-साहित्य के प्रति उनकी लगन थी। अपनी निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता के बल पर ही वह इन दोनों स्कूल व कालेज और आर्यसमाज द्वारा संचालित संस्थाओं में, प्रतिकूल वातावरण की चिन्ता न करके, हिन्दी का पौधा लगा सके। लाला लाजपतराय ने अपने लेखों और रचनाओं में इसे स्वीकार किया है और इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1] एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

"हंसराज के त्याग और बलिदान से ही सन् १८८५ और ८६ में क्रमशः डी. ए. वी. स्कूल व कालेज की स्थापना हो सकी। उनका व्यक्तित्व आधुनिक पंजाब के इतिहास में अद्वितीय है। गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक मुंशीराम ही ऐसे दूसरे व्यक्ति हैं, जिनका उल्लेख हंसराज के साथ किया जा सकता है। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के बाद इन दोनों सज्जनों के नाम ही ऐसे हैं, जिनके बिना आर्यसमाज की कल्पना करना असंभव है।"[2]

महात्मा हंसराज ने अपने जीवनकाल में अनेक व्यक्तियों तथा संस्थाओं को हिन्दी पढ़ने और पढ़ाने की ओर प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा की शक्ति का रहस्य उनकी व्यवहारशीलता थी। अपने विद्यार्थी-जीवन में वह उर्दू और फारसी ही पढ़े थे, किन्तु आर्यसाज में प्रवेश करते ही उन्होंने हिन्दी और संस्कृत का इतना अभ्यास किया कि समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में दिये गए उनके व्याख्यान किसी भी विद्वान के उद्गार कहे जा सकते हैं। महात्मा हंसराज के निजी उदाहरण और शिक्षा के क्षेत्र में उनके सफल संचालन ने हिन्दी-प्रसार में जो

---

[1] लाजपतराय—'आर्यसमाज'—पृष्ठ १८८

[2] लाजपतराय—'आर्यसमाज'—पृष्ठ १८७

सहायता दी, उसका कुछ अनुमान उन विद्यार्थियों की संख्या से लग सकता है, जो प्रतिवर्ष पंजाब और उत्तर प्रदेश की डी. ए. वी. शिक्षण-संस्थाओं से परीक्षा पास करके निकलते रहे हैं। तत्कालीन इन सभी संस्थाओं का संचालन डी. ए. वी. कार्यकारिणी-समिति द्वारा होता था और हंसराजजी इस समिति के प्रमुख परामर्शदाता और शिक्षा-विशेषज्ञ थे। इसी शताब्दी के द्वितीय दशक में उन्हींके आग्रह पर कानपुर और देहरादून में डी. ए. वी. स्कूल और कालेज खोले गए थे, जिनमें आज कई हजार विद्यार्थी पढ़ते हैं। इसलिए हिन्दी-भाषा की प्रगति के इतिहास में महात्मा हंसराज के योगदान और प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु उनके योगदान को हमें उनके प्रयत्नों से प्रणीत उन संस्थाओं द्वारा ही आंकना चाहिए, जो हिन्दी के विस्तार की प्रभावोत्पादक साधन रही है।

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय उन नेताओं में से थे, जिनका पंजाब में आर्यसमाज की नींव रखने और विशेषकर शिक्षा-प्रचार के कार्यक्रम का निर्माण करने से घनिष्ठ सम्बन्ध था। सार्वजनिक सेवा और राजनीति के क्षेत्र में उनका योगदान इतना अधिक है कि वह बीसवीं शती के सर्वप्रथम और सबसे अधिक प्रभावशाली पंजाबी नेता ही नहीं, समस्त भारत के मूर्द्धन्य राजनेताओं में माने जाते हैं। वह स्वामी दयानन्द के देहान्त से एक वर्ष पूर्व सन् १८८२ में आर्यसमाज में सम्मिलित हुए थे। दयानन्द-निर्वाण के अवसर पर लाहौर के आर्यसमाज की ओर से शोक प्रकट करने के लिए वह अजमेर गये थे। वहां जो सार्वजनिक सभा हुई, उसमें लाजपतराय बोले और ऐसा बोले कि जनता पर उनकी वक्तृत्व-शक्ति का प्रभाव उसी दिन से जम गया। उनके तथा अन्य लोगों के प्रयत्न से सन् १८८६ में लाहौर में स्वामीजी के स्मारक के रूप में दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना हुई, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उन्हीं दिनों पंजाब में हिन्दी-उर्दू का विवाद बहुत जोरों से चल रहा था। जिन नेताओं के प्रबल समर्थन द्वारा हिन्दी को बल मिला और इस भाषा का पौधा पंजाब के शिक्षा-विभाग तथा सार्वजनिक जीवन में लग सका, उनमें लाजपतराय प्रमुख थे।

लाला लाजपतराय

कर्मक्षेत्र में पदार्पण करते ही लाजपतराय की प्रतिभा और उनके अदम्य उत्साह ने उन्हें सार्वजनिक कार्यों की ओर आकर्षित कर दिया। हिसार में वकालत करते समय वह वहां की नगरपालिका के मंत्री और जिले के एकछत्र नेता बन गये थे। शिक्षा में उन्होंने विशेष रुचि ली और अनाथों के लिए एक उद्योगशाला स्थापित की। किन्तु लाजपतराय के विकासशील व्यक्तित्व के लिए हिसार काफी व्यापक कार्यक्षेत्र नहीं था। इसलिए मित्रों के निरन्तर आग्रह पर वह सन् १८९२ में लाहौर आ बसे। यहां वह डी. ए. वी. कालेज की प्रबन्ध-समिति के अवैतनिक मंत्री बने और कालेज में इतिहास के अध्यापक के रूप में काम करने लगे। उनके इस निस्स्वार्थ त्याग और अनथक सेवा की प्रशंसा सिडनी वेब जैसे विदेशी विद्वान ने भी की है।[1]

लाजपतराय पीड़ित जनता के कष्टों से किस प्रकार विह्वल हो उठते थे, इसका प्रमाण उनके द्वारा स्थापित कई अनाथालयों और उद्योग-केन्द्रों से मिलता है। सन् १८९६ में भयंकर अकाल तथा उसके बाद के दुष्कालों में भी उनकी सेवाएं इतनी अधिक थीं कि जनता द्वारा ही नहीं अंग्रेजी सरकार द्वारा भी उन्हें मान्यता मिली। इसी संबंध में वह राजस्थान, बिहार, उड़ीसा आदि में पीड़ितों की सहायता के लिए दौरा करते रहे। लाजपतराय की इस सहायता का उल्लेख सन् १९११ की उत्तर प्रदेश की सरकारी रिपोर्ट में इस प्रकार किया गया है—"आर्यसमाज के एक प्रसिद्ध नेता का एक प्रतिनिधि सन् १९०७-८ के अकाल के समय चारों तरफ सहायता के लिए धन बांटता हुआ आया और उस गांव में भी पहुंचा, जिसके निकट मैंने पड़ाव डाला था। उसके जाने के बाद, उसकी उदारता से लाभ उठानेवालों ने, सहायता लेने-न लेने के औचित्य का कुछ निश्चय न कर सकने के कारण, मेरे पास डेपुटेशन भेजा और पूछा कि सहायता लें या न लें। मैंने उनसे कह दिया कि जो मिले, ले लो।"[2] दलितों तथा अछूतों की स्थिति में सुधार करने

---

[1] Lajpat Rai—'The Aryasamaj'—(Preface by Sidney Webb) page—14.

[2] रामनाथ सुमन ने इसका विवरण देते हुए बर्नसाहब की उक्ति को इस प्रकार उद्धृत किया है—

"The emissary of a well-known Arya leader came round distributing relief during the famine of 1907-8 and visited a certain village near which I had encamped. After his visit, the recipients of his bounty being not quite sure whether they were doing right in accepting private charity when Government was looking after them, sent a deputation to ask me whether they might keep his gifts. I, of course, told them to take all they could get, and then their leader asked me who was the man (the Arya leader) who was distributing money in this wholesale way."

की तड़प तो उनमें अनोखी थी। सन् १९१३ में गुरुकुल कांगड़ी में प्रथम अखिल भारतीय अछूत-सम्मेलन के सभापति लालाजी ही थे। इन वर्गों की शिक्षा के लिए उन्होंने ४० हजार रुपये अपनी तरफ से दान दिये और कुमाऊं-नैनीताल आदि प्रदेशों में घूमकर स्वयं अछूतों की स्थिति की जांच की। आज तक उन स्थानों में उनके द्वारा स्थापित जनसेवक-समितियां अछूतोद्धार का कार्य कर रही हैं।

ज्योंही लाजपतराय राजनीतिक क्षेत्र में आये (सन् १८८८) और उनका कांग्रेस से संबंध हुआ, वह पंजाब के सर्वप्रमुख और देश के अग्रणी नेताओं में समझे जाने लगे। अपनी प्रतिभा और सेवा-भावना के बल पर उनकी गणना तिलक और विपिनचन्द्र पाल के साथ होने लगी तथा 'लाल-बाल-पाल' की त्रिमूर्ति का नाम सबकी जबान पर एक साथ रहने लगा। यदाकदा मतभेद होते हुए भी गांधीजी लालाजी का बहुत आदर करते थे और उनकी देशभक्ति तथा निर्भीकता की सदा प्रशंसा करते थे। गांधीजी ने १४ दिसम्बर, १९२४ के हिन्दी 'नवजीवन' में लिखा है—"लालाजी सदा शंकितचित्त रहते हैं और उन्हें मुसलमानों के उद्देश्य के बारे में बड़ी शंका रहती है। लेकिन वह मुसलमानों की दोस्ती सच्चे दिल से चाहते हैं। लालाजी के प्रति मेरा बड़ा आदरभाव है। मैं उन्हें बहादुर, आत्मत्यागी, उदार, सत्यनिष्ठ और ईश्वर से डरनेवाला मानता हूं। उनका स्वदेश-प्रेम बड़ा ही शुद्ध है। देश की जितनी और जैसी सेवा उन्होंने की है, उसमें उनकी बराबरी करनेवाले बहुत कम हैं।"[1]

संवेदनशील व्यक्ति होने के कारण, लाला लाजपतराय का मन सदा लेखन अथवा भाषण के माध्यम से अभिव्यक्ति की खोज में रहता था। अपने देश-निर्वासन के संबंध में लिखी अपनी पहली पुस्तक 'निर्वासन की कहानी' में उन्होंने उन सब कष्टों का जिक्र किया, जो उन्हें झेलने पड़े। किन्तु उन्होंने इसे एक सुअवसर मानकर इसका स्वागत ही किया। उन्होंने लिखा—

"... बाल्यावस्था से ही मुझे परमात्मा पर अटल विश्वास था। यही विश्वास इस समय भी मुझे बल दे रहा था। मुझे अपनी तात्कालिक अवस्था में संकटों को सहने की अधिक शक्ति प्राप्त हुई। मैंने अपने को इस आत्म-निरीक्षण में अत्यन्त दृढ़ पाया। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि वह मुझे इन कठिनाइयों को सहन करने का बल दे और मुझसे जान या अनजान में कोई ऐसा कार्य न होने दे, जिससे मातृभूमि की सेवा के मेरे उद्देश्य में किसी प्रकार की अड़चन या मेरा समाज किसी

[1]'मेरे समकालीन'—पृष्ठ ३१४

तरह अपमानित और लज्जित हो।"[१]

निर्वासन की अवधि समाप्त कर भारत लौटने के बाद लाजपतराय विदेश-यात्रा पर चले गए। जब सन् १९०९ में भारत वापस आये, उन्होंने पंजाब हिन्दू महासभा की स्थापना की। कुछ वर्ष बाद एक प्रतिनिधि-मंडल में शामिल होकर वह फिर इंग्लैंड गये। इस बीच में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और टोकियो से ही उन्हें भारत आने के बजाय इंग्लैंड लौट जाने पर बाध्य किया गया। वहां से वह अमरीका चले गए और सन् १९२० तक वहीं रहे। भारत के संबंध में वहां उन्होंने 'यंग इंडिया' (तरुण भारत) और 'पोलिटिकल फ्यूचर ऑव इंडिया' (भारत का राजनीतिक भविष्य) नामक पुस्तकें लिखीं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उन्होंने भारत-विषयक लेख भी लिखे। भारत लौटने पर लाजपतराय ने 'लोकसेवक मंडल' की स्थापना की और दैनिक 'वन्देमातरम्' (उर्दू) को जन्म दिया। फिर मालवीयजी के साथ मिलकर हिन्दू महासभा को संगठित किया, चित्तरंजन दास आदि से मिलकर स्वराज्य पार्टी को उभारा और विरोध होते हुए भी केन्द्रीय विधान-परिषद में प्रवेश किया। जीवन के अंतिम क्षण तक वह कर्मठ राष्ट्रसेवी बने रहे।

लाजपतराय प्रबल समाजसुधारक, जनसेवक, शिक्षा-विशेषज्ञ, हिन्दी-प्रेमी, सफल लेखक और शक्तिशाली वक्ता थे। सेवा का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा हो, जिसमें उन्होंने कुछ-न-कुछ काम न किया हो। लेखक की हैसियत से देखें तो उनकी रचनाओं में भाषा का वह प्रवाह, तथ्यों और घटनाओं का वह संकलन मिलता है, जो दूसरी जगह बहुत कम मिलेगा। मैजिनी, गैरीबाल्डी, शिवाजी, कृष्ण, दयानन्द आदि महान आत्माओं की उनके द्वारा लिखी गई जीवनियां इस बात का प्रमाण है। उनकी अंतिम पुस्तक मिस मेयो की पुस्तक 'मदर इंडिया' के जवाब में लिखी गई थी, जो 'दुखी भारत' के नाम से प्रकाशित हुई।

लाला लाजपतराय के संबंध में इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है—

"वाणी, स्वर, इन जन्मसिद्ध विभूतियों का लालाजी ने बहुत यत्नपूर्वक संस्कार किया था। व्याख्यान देने की कला का उन्होंने कलाकारों की भांति अभ्यास किया था। परिणाम यह था कि वह अपने समय में हिन्दुस्तानी के सर्वोत्कृष्ट वक्ता बन गये।"[२]

लाला लाजपतराय की वक्तृत्व-शक्ति का परिचय देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है—

"यह पहला अवसर था कि पंडित गुरुदत्त का स्थान लाहौर आर्यसमाज के

---

[१] रामनाथ सुमन—'हमारे राष्ट्रनिर्माता'—पृष्ठ २४१

[२] 'मैं इनका ऋणी हूं'—पृष्ठ २६

प्लैटफार्म पर लाला लाजपतराय ने लिया और उसे उन्होंने उस समय निभाया भी बड़ी उत्तमता से। उस समय उनका सिद्धान्त यह था कि 'यूरोप में केवल प्रकृति की उपासना में ही विद्वान लगे हुए हैं और आर्यावर्त में आत्मिक जगत की और ऋषियों के समय में पदार्थ विद्या और ब्रह्मविद्या का मिलाप ही उपनिषद् जैसे ग्रन्थों के निर्माण का कारण हुआ है। इसलिए जबतक आर्यावर्त की ब्रह्मविद्या को पदार्थ विद्या की कसौटी पर नहीं परखा जाता तबतक जीवन का वास्तविक उद्देश्य ज्ञात नहीं हो सकता। इस कसौटी पर ब्रह्मविद्या को परखनेवाला भी समय की आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुआ और हमें दिखला गया कि जीवन का परमोद्देश्य क्या है।' अन्त में दयानन्द कालिज के लिए अपील करते हुए श्री लाजपतराय ने कहा, 'प्राकृतिक धन को अमृत जीवन से बदलकर अपनी सन्तान के लिए एक स्मारक छोड़ जाओ।' "[1] उनकी भाषा से ज्ञात होता है कि लालाजी की उर्दू भाषा भी हिन्दी के कितने समीप थी। यूं लाला लाजपतराय हिन्दी के विशेष ज्ञाता नहीं थे और उन्होंने अपने सभी मूल ग्रन्थ अंग्रेजी अथवा उर्दू में ही लिखे, किन्तु अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने हिन्दी को सदा महत्व दिया। पंजाब में हिन्दी-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उनका जो सक्रिय योगदान रहा, वह आर्यसमाज को दृढ़ करने में, 'तिलक स्कूल ऑव पॉलिटिक्स' और राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना करने में (१९२१) और 'लोक-सेवक मंडल' नामक अखिल भारतीय संस्था को संगठित करने में है। आर्यसमाज की हिन्दी-समर्थक नीति और व्यावहारिक प्रचार-कार्य को लाजपतराय का समर्थन सदा प्राप्त रहा। 'तिलक स्कूल ऑव पॉलिटिक्स', 'राष्ट्रीय विद्यापीठ' में अंग्रेजी और उर्दू के साथ-साथ उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी का भी प्रयोग किया गया। 'लोक-सेवक-मंडल' के कार्यों में हिन्दी-प्रचार भी सम्मिलित है, जिसके प्रधान गत तीस वर्षों से टंडनजी हैं। मंडल की शाखाओं ने पंजाब, विहार और उत्तर प्रदेश में जो सार्वजनिक सेवाएं की हैं, हिन्दी-प्रचार उनका एक महत्वपूर्ण अंग है। मंडल के प्रकाशन-विभाग ने अधिकांश पुस्तकें हिन्दी में ही प्रकाशित की है और उनकी मासिक पत्रिका 'लोक-सेवक' अन्य भाषाओं अंग्रेजी, सिंधी, उर्दू इत्यादि के साथ हिन्दी में भी प्रकाशित होती हैं। लाला लाजपतराय की संपूर्ण अनूदित पुस्तकें 'लोक-सेवक-मंडल' द्वारा प्रकाशित की गई हैं।[2] इस प्रकार लाला

[1] 'कल्याणमार्ग का पथिक'—पृष्ठ १६१

[2] लाला लाजपतराय द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची—
1. Young India. 2. The United States of America. 3. England's Debt to India. 4. The Political Future of India. 5. The Problem of National Education in India. 6. Unhappy India. 7. The Arya Samaj. 8. The Evolution of Japan.

लाजपतराय ने प्रत्यक्ष रूप से न सही, रचनात्मक कार्यों द्वारा हिन्दी की सेवा की है। उनकी मौलिक रचनाएं हिन्दी में न होने के कारण उनकी भाषा-शैली का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है; किन्तु राष्ट्र के चोटी के नेता होने के कारण उनके विचारों का व्यापक प्रभाव और हिन्दी के प्रति सहानुभूति की नीति के कारण, हिन्दी-प्रसार का पर्यवेक्षण अधूरा रह जाता है।

स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी दयानन्द के देहावसान के पश्चात् पंजाब के प्रमुख आर्य-नेताओं में स्वामी श्रद्धानन्द (जिनका पहला नाम मुंशीराम था) थे। पंजाब और दिल्ली में उन्होंने शिक्षा, हिन्दी-प्रचार आदि की दिशा में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया।

स्वामी श्रद्धानंद

गुरुकुल-प्रणाली के समर्थक

लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल और कालेज की स्थापना के समय आर्यसमाजियों का एक दल ऐसा था, जो शिक्षा-समिति द्वारा घोषित उद्देश्यों को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। उन्हें विशेष आपत्ति अंग्रेजी के पठन-पाठन और पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के अनुसरण पर थी। इन लोगों का केन्द्र जालन्धर था। इस आन्दोलन के नेता देवराज और स्वामी श्रद्धानन्द थे। देवराज का भक्ति-भाव, धर्म-प्रेम और दृढ़ विश्वास और स्वामी श्रद्धानन्द का प्रचंड साहस, धार्मिक उन्मेष तथा कट्टरता, महिलाओं की शिक्षा तथा गुरुकुलों की स्थापना के लिए वरदान स्वरूप बने। जालन्धर में सन् १८८६ में देवराजजी के प्रयत्न से प्रथम कन्या पाठशाला स्थापित हुई, जो बाद में सुविख्यात कन्या-महाविद्यालय के रूप में विकसित हुई। श्रद्धानन्दजी की १९ अक्तूबर, १८८८ की डायरी में ऐसी पाठशाला के संबंध में इस प्रकार लिखा है—

"कचहरी से लौटकर जब अन्दर गया तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीखकर आई थी, सुनाने लगी 'इक बार ईसा, ईसा, बोल, तेरा क्या लगेगा मोल'; 'ईसा मेरा नाम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण-कन्हैया', इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ, तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखाई जाती है। निश्चय किया कि

अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिए।"[1] सन् १८९१ में विधिवत् कन्या पाठशाला का उद्घाटन हुआ। सन् १९१६ में पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर माइकल ओड्वायर ने 'सम्मति-पुस्तक' में लिखा था कि "जालन्धर कोई ऐतिहासिक स्थान नहीं है, लेकिन कन्या महाविद्यालय ने इसे देशभर में मशहूर कर दिया।"[2]

इस विचारधारा के कारण पंजाब आर्यसमाज में मतभेद हो गया, जिसके कारण शिक्षा का कार्यक्रम दो धाराओं में प्रवाहित होने लगा। जालन्धर आर्य-समाज के उग्रदलीय नेता गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के समर्थक थे। वे ऋषि दयानन्द के नाम पर पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को मिला देने के पक्ष में नहीं थे। शिक्षा और धार्मिक प्रचार के कार्यक्रम को लेकर आर्यसमाज स्पष्ट रूप से अब दो दलों में विभक्त हो चुका था—कालेज-दल, जो पाश्चात्यप्रणाली के पक्ष में था और महात्मा-दल जो गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का समर्थक था। सन् १८९८ में लाहौर में आर्यप्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में स्वामी श्रद्धानन्द का यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि बालकों की शिक्षा के लिए 'सत्यार्थप्रकाश' में निर्देशित आदर्शानुसार गुरुकुल खोला जाय।

आरंभ से ही स्वामी श्रद्धानन्द की प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। पहले कानपुर, काशी आदि नगरों में रह चुकने के कारण उनका झुकाव मंदिरों और सनातन रीति से पूजा-उपासना की ओर था, किन्तु पुजारी लोगों के पाखण्ड के कारण वह मंदिरों से विमुख हो गये थे। स्वामी दयानन्द से मिलने के बाद उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया कि धर्म का सच्चा मार्ग वही है, जिसका प्रतिपादन स्वामीजी ने किया। इस निश्चय को उन्होंने जीवनभर शिथिल नहीं होने दिया और यथासंभव आर्यसमाज की उन्नति और समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए प्रयत्न किया।

जालन्धर में वकालत करते समय ही स्वामी श्रद्धानन्द ने 'सद्धर्म-प्रचारक' नाम की पत्रिका पहले उर्दू में प्रकाशित करनी आरंभ कर दी थी। इस पत्रिका का जन्म कैसे हुआ इस विषय में उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा है—

"जालन्धर आर्यसमाज के तीसरे वार्षिकोत्सव से पहले ही समाज के बढ़ते काम को देखकर अपना एक प्रेस खोलकर समाचारपत्र चलाने का विचार हो था। ... १४ फरवरी सन् १८८९ को हिस्सेदारों की एक बैठक हुई। निश्चय यह हुआ कि प्रेस का नाम 'सद्धर्मप्रचारक' रखा जाय। ... कचहरी में प्रकाशन-

---

[1] 'कल्याणमार्ग का पथिक'—पृष्ठ १५८

[2] 'आर्यसमाज का इतिहास'—पृष्ठ २२६

पत्र (डिक्लेरेशन) देने का काम मेरे सुपुर्द हुआ, इसलिए मैं ही मैनेजर नियत हुआ।"[1]

उस समय वह अपना सारा अवकाश विभिन्न नगरों में आर्यसमाज की शाखाएं खोलने और विशेषकर जालन्धर और लाहौर के मुख्य कार्यालयों का निरीक्षण और विकास करने में लगाया करते थे। शिक्षा में विशेष रुचि होने के कारण श्रद्धानन्दजी का झुकाव इस ओर अधिक था, किन्तु वह प्राचीन अथवा गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के पक्ष में थे। 'सद्धर्म-प्रचारक' में वह अपने इन विचारों को निरन्तर व्यक्त करते रहते थे। जो लोग आधुनिक शिक्षा-प्रसार के लिए अंग्रेजी और आधुनिक ज्ञान को आवश्यक समझकर स्कूल और कालेज खोलने के पक्ष में थे, उन्हें स्वभावतः श्रद्धानन्द के विचार रुचिकर नहीं लगते थे। एक बार लाहौर में आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव के अवसर पर गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के संदर्भ में 'सद्धर्म प्रचारक' में व्यक्त श्रद्धानन्द के विचारों की हँसी उड़ाई गई। वहां कहा गया कि स्वामीजी एक अव्यावहारिक आदर्श के पीछे पड़े हैं। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस आलोचना के उत्तर में और कुछ न कहकर यह दृढ़ निश्चय किया कि वह शीघ्र-से-शीघ्र गुरुकुल की स्थापना करके ही दूसरा काम करेंगे। उनके दृढ़ संकल्प और आत्मबल का ही यह परिणाम था कि उन्हें हरिद्वार के निकट कांगड़ी नाम का ग्राम दान में मिल गया और अंततोगत्वा वह तीस हजार रुपये से भी कहीं अधिक धन जुटा सके। फलस्वरूप १९०२ में उन्होंने गुरुकुल की स्थापना कर दी।

गुरुकुल कांगड़ी का हिन्दी के विस्तार में योग

गुरुकुल के पाठ्यक्रम में हिन्दी को सर्वप्रथम स्थान दिया गया। इसे आचार्य नरेन्द्रदेव ने राष्ट्रीय शिक्षा का पहला प्रयोग माना है।[2] गुरुकुल के मूल सिद्धान्तों में प्रमुख सिद्धान्त 'शिक्षा में राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय शिक्षा की मुख्यता है।'[3] गुरुकुल कांगड़ी का हिन्दी-भाषा के विस्तार में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यहां विविध विषय, यहांतक कि आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायन-शास्त्र, इत्यादि के साथ-साथ इतिहास, गणित आदि सब विषय हिन्दी के माध्यम से सिखाये जाते हैं। इससे इन विषयों की पुस्तकों का निर्माण भी हिन्दी में होना स्वाभाविक है। परिणामस्वरूप आज हमें सभी विषयों पर हिन्दी

---

[1] 'कल्याणमार्ग का पथिक'—पृष्ठ १७२

[2] 'गुरुकुल पत्रिका स्वर्णजयंति विशेषांक'—कार्तिक, संवत् २००६, पृष्ठ ४७

[3] 'गुरुकुल पत्रिका स्वर्णजयंति विशेषांक' में पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का लेख—'गुरुकुल के मूल सिद्धान्त'—पृष्ठ ७८

में उत्कृष्ट ग्रंथ देखने को मिलते हैं। यहां से दीक्षा पाये हुए स्नातकों द्वारा भी हिन्दी-भाषा का प्रसार हुआ है। इसका श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को ही है।

पत्र-पत्रिकाएं तथा रचनाएं

स्वामी श्रद्धानन्द उर्दू पढ़े थे और इस भाषा के प्रभावशाली लेखक थे। किन्तु जैसे ही उन्होंने धार्मिक तथा सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण किया, उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया और उर्दू का उपयोग केवल वकालत के काम तक ही सीमित रक्खा। 'सद्धर्म-प्रचारक' उर्दू से हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। वह अपने साप्ताहिक आर्यसमाजी उपदेश तथा शिक्षा और राजनीति-संबंधी लेख भी हिन्दी में लिखने लगे। जो ओज तथा प्रभाव लोग उनके उर्दू के भाषणों और लेखों में देखने के आदी हो चुके थे, उसीके दर्शन वे उनके हिन्दी-भाषणों और लेखों में करने लगे। सन् १९०७ में राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने 'सद्धर्म-प्रचारक' में अधिकार और कर्तव्य की व्याख्या इस प्रकार की थी। उनकी भाषा का एक उदाहरण देखिये—

"आज तुम्हारी अपनी इंद्रियां तुम्हारे अपने वश में नहीं। जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? अधिकार! अधिकार!! अधिकार!!! हां! तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी? क्या तुमने कर्तव्य कभी नहीं सुना? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो? मातृभूमि में अधिकार का क्या काम? यहां धर्म ही आश्रय दे सकता है। अधिकार शब्द से सकामता की गन्ध आती है। विषय-वासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस अधिकार की वासना को अपने हृदय से नोचकर फेंक दो। निष्काम भाव से धर्म का सेवन करो।"[1]

ऐसे ही एक दूसरे लेख में उन्होंने लिखा था—

"यदि अग्नि और खड्ग की धार पर चलनेवाले दस पागल आर्य भी निकल आवें तो राजा और प्रजा दोनों को होश में ला सकते हैं . . . भगवान्! आर्यसमाजियों की आंखें जाने कब खुलेंगी।"[2]

'सद्धर्म-प्रचारक' में लेख लिखते हुए स्वामी श्रद्धानन्द अक्सर नरम दलवालों के लिए 'निरार्यों', गरमदलवालों को 'गुप्तार्यों' और सरकार के लिए 'गोराशाही' शब्दों का प्रयोग किया करते थे।

उनके हृदय में स्वराज्य की भावना को स्वामी दयानन्द के इन शब्दों—

---

[1] '[illegible] का इतिहास'—पृष्ठ १०६
[2] '[illegible] का इतिहास'—पृष्ठ १०६

'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है"—ने दृढ़ बना दिया था। उन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं इस मनःस्थिति में था जब मैंने दसवीं बार ऋषि दयानन्द का 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ा और आर्यसमाज के प्रवर्तक के निम्न उपदेश की सच्चाई को हृदयंगम किया।"[१]

इसी भावना को 'सद्धर्मप्रचारक' के एक लेख में उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"पोलिटिकल जगत् में ऐसे ही अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा और क्या उसके पीछे चलनेवाले पांच पुरुष भी निकलेंगे? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य-प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो।" उनकी भाषा में एक प्रकार की ललकार है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि हिन्दी में 'पोलिटिकल' जैसे अंग्रेजी शब्दों का उपयोग करने में वह संकोच नहीं करते थे और 'अग्रणी' जैसे संस्कृत शब्द का भी समावेश उनकी भाषा में है। उन्होंने हिन्दी भाषा जनता के लिए सीखी, और जन-मानस तक पहुंचने के लिए स्वतंत्रतापूर्वक उसका प्रयोग किया। पहले श्रद्धानन्दजी पंजाबी में बोला करते थे, जिसका प्रमाण उनकी जीवनी से मिलता है। उन्होंने लिखा है—

"जब पहले दिन कथक्कड़ बनकर म आसन पर बैठा और कथा शुरू की तो केवल २०, २५ आर्य भाई ही मेरे सामने बैठे हुए थे। . . . जब मैंने ऊंचे स्वर से वेदमन्त्रों को पढ़कर उनकी व्याख्या पंजाबी बोली में आरंभ की तो शनैः-शनैः गुड़गुड़ी हाथ में लिये बहुत-से लाला लोग मेरे समीप आ बैठे। दूसरे दिन उपस्थिति सौ के लगभग थी और चार दिनों के पीछे ढाई सौ तक पहुंच गई। लोग बड़ी श्रद्धा से हमारी धर्म-कथा सुनने लगे।" उनकी भाषा सत्यार्थप्रकाश इत्यादि के अध्ययन के फलस्वरूप किस प्रकार सुधरती गई, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। संस्कृत के अध्ययन और अंग्रेजी के ज्ञान के साथ-साथ पंजाबी मातृभाषा होने के कारण उनकी भाषा में इन तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हमें दिखाई देगा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण उनकी जीवनी है, जिसे मूल रूप में उन्होंने हिन्दी में लिखा। श्रद्धानन्दजी के संरक्षण में 'विजय' नामक हिन्दी दैनिक निकला, जिसके संपादक उनके सुपुत्र इन्द्रजी थे।[२] भाषा और साहित्य के क्षेत्र में किसी नेता का योगदान

---

१ "It was in this frame of mind that I read for the tenth time Rishi Dayanand's Satyarth Prakash and imbibed the true significance of the following precept of the Founder of the Aryasamaj."
—'Inside Congress'—Page 29.

२ Inside Congress—Page 46.

केवल उसकी साहित्यिक रचनाओं द्वारा ही नहीं होता, बल्कि औरों के लिए एक आदर्श स्थापित करके और स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत करके नेता जनता को अधिक अनुप्राणित कर सकता है। यही कार्य स्वामी श्रद्धानन्द ने किया। आर्य-समाज के प्रचार और गुरुकुल-शिक्षा-आन्दोलन के सफल नेतृत्व द्वारा उन्होंने हिन्दी को अपूर्व प्रोत्साहन दिया।

राजनीति में प्रवेश और हिंदी-सेवा

कांग्रेस-आन्दोलन आरम्भ होते ही इस शताब्दी के दूसरे दशक में स्वामी श्रद्धानन्द इस राजनैतिक आन्दोलन में भी उसी उत्साह और निर्भीकता से मैदान में आये। सन् १८८८ में पहले-पहल उनका राष्ट्रीय कांग्रेस से संबंध हुआ।[1] उनका प्रधान कार्यालय सन् १९१८ में दिल्ली आ गया था। शीघ्र ही वह पंजाब और दिल्ली के प्रमुख राजनेताओं में गिने जाने लगे। प्रथम सत्याग्रह-आन्दोलन में उन्होंने जिस निर्भीकता से दिल्ली की जनता का नेतृत्व किया, उससे उनकी ख्याति और भी बढ़ गई। स्वामी श्रद्धानन्द ने सत्याग्रह को 'धर्मयुद्ध' का नाम दिया। सत्याग्रह में सम्मिलित होने की प्रमुख प्रेरणा उन्हें गांधीजी से मिली। पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं—"यद्यपि दोनों महात्माओं (गांधीजी व श्रद्धानन्दजी) की यह समीपता अनौपचारिक थी तो भी उससे यह अवश्य स्पष्ट होता था कि दोनों के जीवन-सम्बन्धी आदर्शों में बहुत समानता है। दोनों का परस्पर बन्धुत्व एकदम स्थूल रूप में प्रकट हो गया। फलतः बंबई में गांधीजी के सत्याग्रह की घोषणा करने का समाचार पढ़ते ही स्वामीजी ने उन्हें इस आशय का तार दे दिया कि—'मैंने अभी-अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने से मैं बहुत प्रसन्न हूं।' ... इसका परिणाम यह हुआ कि अगले एक मास में अनेक नर-नारियों ने सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।"[2] इसीके फलस्वरूप सन् १९१९ में वह अमृतसर कांग्रेस-अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष चुने गए। इस पद से उन्होंने जो भाषण दिया, वह हिन्दी में था। अखिल भारतीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में तब अंग्रेजी का ही प्रयोग होता था। उस काल में कांग्रेस के मंच से हिन्दी का यह पहला ऐतिहासिक भाषण था। अतः हिन्दी की दिशा में श्रद्धानन्दजी का यह एक प्रकार से क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप देने के लिए उन्होंने यह प्रथम प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने इस भाषण में अछूत कहलाये जानेवाले भारतवासियों की चर्चा करते हुए

[1] 'कल्याणमार्ग का पथिक'—पृष्ठ १५२।

[2] 'आर्यसमाज का इतिहास' (द्वितीय भाग)—पृष्ठ ११०

कहा था—

"वे भारत में ब्रिटिश गवर्नमेंट रूपी जहाज के लंगर हैं। इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिये और सोचिये कि किस प्रकार आपके साढ़े छः करोड़ भाई आपके जिगर के टुकड़े, जिन्हें आपने काटकर फेंक दिया है, किस प्रकार भारतमाता के साढ़े छः करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेंट रूपी जहाज के लंगर बन सकते हैं। मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूंगा। इस पवित्र जातीय मंदिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि आज से वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे, बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं। उनकी पुत्रियां और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे। उनके गृहस्थ नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे। हमारे स्वतंत्रता-प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे-से-कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे। हे देवियो और सज्जन पुरुषो! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"[1] तत्कालीन परिस्थितियों में, जिनका रूप अंग्रेजी भाषा की प्रधानता के कारण आज भी बहुत नहीं बदला है, हिन्दी का यह भाषण, भाषा की दृष्टि से तो नहीं, स्वामीजी के क्रान्तिकारी साहस की दृष्टि से युगांतरकारी महत्व रखता है।

एक प्रकार से उन्होंने गांधीजी का भी ध्यान अपने हिन्दी-प्रेम तथा राष्ट्र-भाषा के महत्व की ओर दिलाया और गाधीजी के अंग्रेजी पत्र का उत्तर हिन्दी में दिया, जिसके फलस्वरूप गांधीजी ने उनके साथ के पत्र-व्यवहार, वार्तालाप इत्यादि में सदा हिन्दी का ही प्रयोग किया। उदाहरण के लिए—स्वामी श्रद्धानन्द को गांधीजी ने २१ अक्तूबर, १९१४ को फिनिक्स से एक पत्र अंग्रेजी में लिखा था।[2] स्वामीजी को लिखा यह उनका अंग्रेजी में पहला व आखिरी पत्र था,

---

[1] 'श्रद्धानन्द दर्शन'—पृष्ठ २२

[2] गांधीजी का मूल पत्र इस प्रकार है—

Phoenix, Natal
21st Oct., 1914.

Dear Mahatmaji,

Mr. Andrews has familiarised your name and your work to me, I feel that I am writing to no stranger. I hope, therefore, that you will pardon me addressing you by the title which both Mr. Andrews and I have used in discussing you and your work. Mr. Andrews told also how you, Gurudeva and Mr. Rudra had influenced him. He described to me the work your pupils did for the passive resisters and gave such word pictures of the life at Gurukula that as I am writing this I seem to be transported to the Gurukula. Indeed, he has made me impatient to visit the three places described by

क्योंकि स्वामी श्रद्धानन्द ने उन्हें उत्तर में लिखा था कि "उस व्यक्ति को, जो हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना चाहता है, अपने देशवासियों से अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करने का कोई अधिकार नहीं है।"

स्वामी श्रद्धानंद ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—"यह प्रथम पत्र था, जो मुझे महात्मा से—बाद में अप्रैल १९१५ में जब वह गुरुकुल गये तबसे मैंने उन्हें यह पदवी दे दी थी— मिला, और मुझे अंग्रेजी में लिखा यह उनका अंतिम पत्र था। कारण यह था कि उस व्यक्ति को, जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहता है, अपने देशवासियों से अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करने का कोई अधिकार नहीं है।"[१]

गांधीजी ने भी उनके हिन्दी-प्रेम की सराहना की है। एक प्रकार से हिन्दी ने उनके स्नेह-संबंध को भी अधिक गहरा बना दिया। गांधीजी लिखते हैं—"स्वामीजी से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब वह महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे, वह परिचय भी पत्रों से हुआ। उस समय वह गुरुकुल कांगड़ी के प्रधान थे, जो कि उनका सबसे पहला और बड़ा शिक्षा-क्षेत्र का काम है। वह सिर्फ पश्चिमी शिक्षा-पद्धति से ही सन्तुष्ट न थे। लड़कों में वह वेद-शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे और वह पढ़ाते थे हिन्दी के जरिए, अंग्रेजी के नहीं। . . . इस विषय में स्वामीजी ने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिन्दी में था। उन्होंने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर लिखा था। इसने मुझे महात्मा मुंशीराम का प्रिय बना दिया। इससे पहले हम दोनों कभी मिले नहीं थे।"[२]

आगे जाकर कांग्रेस से अलग होने पर भी श्रद्धानन्दजी और गांधीजी का प्रेम-भाव सदा एक-सा बना रहा। श्रद्धानन्दजी विचारों के मतभेद के कारण ही कांग्रेस से अलग हुए।

Mr. Andrews and to pay my respects to the three good sons of India who are at the head of those institutions.

I remain
Yours
Mohandas K. Gandhi.

[१] "This letter was the first that I received from the Mahatma as I dubbed him afterwards when he went to the Gurukula in April 1915, and it was the last that he addressed to me in English. The reason was that one who wanted to make Hindi the Rastrabhasa (National language) had no right to correspond with his countrymen in foreign language."

—'Inside Congress'—Page 48-49

[२] 'हिंदी नवजीवन'—६ जनवरी, १९२७

रौलेट एक्ट के विरोध के समय, खिलाफत-आन्दोलन को लेकर कांग्रेस और आर्यसमाज में कुछ मतभेद और वैमनस्य-सा हो गया। उस परिस्थिति में स्वामीजी ने स्वतंत्र रूप से सामाजिक, विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम-एकता, स्वदेशी और राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार एवं राष्ट्रीय शिक्षा के विकास के लिए कार्य करने का निश्चय किया और सन् १९२१ में कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया।

इसका वर्णन स्वामी श्रद्धानन्द ने इस प्रकार किया है—

"इन कानूनों को तुड़वाने के लिए मैं व्यक्तिगत आत्मिक साधना का मार्ग ग्रहण करूंगा। लेकिन धर्म-प्रचार के अपने कार्य के साथ-साथ निम्नलिखित विधायक कार्यक्रमों के लिए मैं अपनी सेवाएं अपने देशवासियों को देने के लिए सदैव प्रस्तुत रहूंगा।—

१. भारतीय एकता, जिसके लिए हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाइयों आदि को एक समान मंच पर लाना तथा उनके मतभेदों को सम्मिलित पंचायतों द्वारा दूर करना।

२. स्वदेशी वस्तुओं को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दुस्तानी को बतौर राष्ट्रभाषा के चालू करना।

४. वर्तमान सरकारी विश्वविद्यालय-प्रणाली से सर्वथा मुक्त शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली का विकास करना।"[1]

इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द सिद्धान्त के पक्के थे। समाज और राष्ट्र की सेवा के साथ उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा भी निर्भय होकर दृढ़ता से की। यदि इस विचार के उद्भव में स्वामी दयानन्द थे तो इसको क्रियात्मक रूप देने का श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को ही दिया जा सकता है। उनकी मृत्यु के अवसर पर गांधीजी ने कहा था—"स्वामीजी सुधारक थे। वह कर्मवीर थे, वचनवीर नहीं।

---

[1] "I also go on with personal spiritual sadhana for getting repeal of those laws. But beside my work of preaching Dharma, my services will always be at the disposal of my countrymen in the following constructive work:

1. Indian Unity, bringing Hindus, Mohammedans, Sikhs, Christians etc. on a common platform and the adjustment of their differences by United Panchayats.
2. Popularizing the use of Swadeshi made things.
3. The introduction of Hindustani as a national language.
4. The development of a national system of education independent of the present Government University system."

—'*Inside Congress*'—Page 97.

जिनमें उनका विश्वास था, उनका वह पालन करते थे। उन विश्वासों के लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े। वह वीरता के अवतार थे। भय के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया। वह योद्धा थे और योद्धा शय्या पर मरना नहीं चाहता। वह तो युद्ध-भूमि का मरण चाहता है।....इसलिए गीता की भाषा में वह योद्धा धन्य है, जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।"[१]

स्वामी श्रद्धानन्द के साथी अन्य आर्यसमाजी कार्यकर्त्ता

श्रद्धानन्द के नेतृत्व में गुरुकुल द्वारा जो सबसे विलक्षण बात हुई, वह यह थी कि अध्यापक और छात्रों के रूप में वहां हिन्दी के भावी प्रतिभाशाली साहित्यिक आ जुटे। वातावरण की अनुकूलता और कुलपति द्वारा प्रोत्साहन को ही इस बात का श्रेय दिया जा सकता है। इन साहित्यकारों में से अधिकांश समाजसेवी और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे, जिनमें पद्मसिंह शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, जयचन्द्र विद्यालंकार, सुधाकर, दर्शनानन्द, रुद्रदत्त शर्मा इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने जीवन भर प्रचार तथा अपनी लेखनी द्वारा हिन्दी की सेवा की। इनमें से हम प्रमुख व्यक्तियों तथा उनके कार्यों का उल्लेख करेंगे।

पद्मसिंह शर्मा

पद्मसिंह शर्मा

हिन्दी और अन्य भाषाओं में पद्मसिंह शर्मा की आरंभ से ही आसक्ति थी और साहित्य के प्रति नैसर्गिक अनुराग। यह प्रतिभा गुरुकुल में अध्यापक होने के कारण और स्वामी श्रद्धानन्द से निकट का सम्पर्क होने से पूर्ण रूप से विकसित हुई। गुरुकुल में रहते समय ही यह लेखन और पत्रकारिता की ओर आकृष्ट हुए। सबसे पहले उन्होंने 'सद्धर्म-प्रचारक' के सम्पादन में सहायता करना आरम्भ किया और फिर स्वतंत्र रूप से उसके सम्पादक हो गये। 'सद्धर्म-प्रचारक' के अतिरिक्त उन्होंने गुरुकुल से कई और पत्रिकाएं निकालनी आरंभ कर दी थीं। पद्मसिंह शर्मा, रुद्रदत्त शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि व्यक्तियों की लेखन और पत्रकारिता में दीक्षा इन्हीं पत्रिकाओं से हुई। पद्मसिंह शर्मा ने सबसे पहले 'परोपकारी' का

[१] 'मेरे समकालीन'—पृष्ठ ५७०

संपादन हाथ में लिया। इसके बाद उन्होंने 'अनाथरक्षक' निकाला। किन्तु उनकी प्रतिभा सबसे अधिक 'भारतोदय' के संपादन में चमकी। संपादन के साथ-साथ वह अध्यापन का कार्य भी करते थे।

पद्मसिंह शर्मा उर्दू, फारसी और हिन्दी के प्रकांड पंडित थे। वास्तव में अपने पांडित्य और विनोदप्रियता की दृष्टि से उनकी गणना बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण आदि के साथ होनी चाहिए। पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने उनकी भाषा को 'टकसाली' कहा था। उनके गद्य में गति है, ओज है और विशेष प्रकार का मनोरंजन है, जो हमें अंग्रेजी निबन्धकारों की भाषा में मिलता है। पद्मसिंह करीब ग्यारह वर्ष गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक रहे। उन्होंने हिन्दी में बहुत मनोरंजक ढंग से अनेक साहित्यिक और सामाजिक निबन्ध लिखे हैं। उनकी कृतियों में सबसे प्रसिद्ध 'पद्म-पराग' और 'बिहारी-सतसई' हैं। 'पद्म-पराग' उनके सर्वोत्तम निबन्धों का संग्रह है। भाषा को परिमार्जित करने और उसे कोमल भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त करने का वाहन बनाने की दिशा में पद्मसिंह शर्मा का योगदान विशेष महत्त्व रखता है। वह अपने विवादों और साहित्यिक दंगलों के लिए प्रसिद्ध थे। विभिन्न हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके लेख आज भी साहित्य की बहुमूल्य निधि माने जाते हैं।

पद्मसिंह राष्ट्रीय विचारों के थे और अध्यापन करते हुए भी सदा कांग्रेस के कार्यकर्त्ता रहे। उनके विचारों में उग्रता और शैली में निराली मौलिकता है। उनकी शैली में शोखी और अलंकरण है। विचारों में तार्किक की-सी विवाद-प्रियता छाई है। उनकी किसी आलोचनात्मक रचना से यदि चार पंक्तियां भी निकालकर अलग कर ली जायं, तो भी उनकी विशिष्टता अपने जनक का नाम सहज ही घोषित कर देंगी। "उनकी बनावट, उछलकूद, लपकझपक में भी कारीगरी छिपी रहती है। इस प्रकार की उनकी यह शैली अपने ढंग की निराली है। उर्दू-हिन्दी का इतना रुचिकर और अभिन्न संमिश्रण पहले नहीं दिखाई पड़ा था।"[१]

पद्मसिंह शर्मा की भाषा केवल मौखिक विवेचन की वस्तु नहीं है। स्वयं उनकी कृतियों तथा लेखों से उद्धरण पढ़े बिना कोई उनकी शैली की 'दाद' नहीं दे सकता। उनकी शैली के कुछ नमूने देखिये—

"बात बहुत साफ और सीधी है, पर तो भी चमत्कार से खाली नहीं। इसका

---

[१] 'हिंदी की गद्य-शैली का विकास'—पृष्ठ १६५

बांकापन चित्त में चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है।" . . .

"पर बिहारीलालजी तो एक ही 'काइयां' ठहरे। यह कब चूकनेवाले हैं, पहलू बदलकर मजमून को साफ ले ही तो उड़े।

'अजौं न आए सहज रंग, विरह दूबरे गात'

"वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफाई खेली है। काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है?"[१]

यह है 'बिहारी सतसई' की समालोचना।

एक और नमूना देखिये—

"हमारे हिन्दी के नवीन कवियों की मति-गति बिल्कुल निराली है। कविता की गाड़ी के धुरे और पहिये भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े के पीछे की ओर भारतीय टट्टू जोतकर गंतव्य पथ पर पहुंचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उनके कोसने में भी अपना गौरव समझा जाता है। प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर रहा, जानबूझकर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एकदम अराजकता की घोषणा की जा रही है। यह उन्नति का नहीं मनोमूर्खता का लक्षण है। सुधार उसी ढंग से होना चाहिए, जिसका निर्देशन महाकवि हाली ने किया है और जिसके अनुसार उर्दू के नवीन कवियों ने अपनी कविता को सामयिकता के मनोहर सांचे में ढालकर सफलता प्राप्त की है।"[२]

भाषा चुस्त है और खरी बात कहने में लेखक को संकोच नहीं। इस शैली को आज की राजनीतिक आलोचना और पत्रकारी टिप्पणी की भाषा की जननी समझना चाहिए। इसमें लोच है, हल्का व्यंग और पाठक के लिए पूर्ण आकर्षण है। इसलिए पद्मसिंह शर्मा को सफल आलोचक और प्रतिभाशाली निबन्धकार मानने में किसीको आपत्ति नहीं हो सकती।

पद्मसिंह शर्मा के लेखों ने हिन्दी-पत्रकारिता को एक नई शैली प्रदान की। अपनी चुस्त भाषा और हास्यरस में पगी शैली के लिए वह शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गये। वादविवाद और टीका-टिप्पणी में उन्हें विशेष रस आता था, किन्तु उनकी आलोचना में एक तीखापन था और उनके कटाक्षों से प्रायः लोग तिलमिला उठते थे। विभिन्न पत्रिकाओं में लिखे उनके अग्रलेखों का संग्रह हिन्दी-पत्रकारिता की अमूल्य पूंजी है।

---

[१] पद्मसिंह शर्मा—'बिहारी की सतसई'—पृष्ठ ४०

[२] 'पद्म-पराग' (प्रथम भाग)—पृष्ठ २४१-२

पद्मसिंह शर्मा की शैली की सुन्दर झलक हमें उनके पत्रों से मिलती है। उनकी शैली की एक विशेषता वैयक्तिकता भी है और पत्रों के लिए इस प्रकार की लेखन-शैली उपयुक्त ही नहीं वरन् कहीं-कहीं श्रेयस्कर भी प्रतीत होती है। बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम उनका यह पत्र देखिये—

"प्रिय चतुर्वेदीजी, नमस्कार।

आप ऊपर-ही-ऊपर उड़ गये। यहां आपके इन्तजार में लोग 'यासक-सज्जा' बने राह देखते रहे। मामूली आदमी ही नहीं, साक्षात् परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी सत्यदेवजी एक कविता के स्वयंवृत्त स्वामी यानी कवि ! उत्सुक रहे। रात में रास्ता पूछते-पूछते यहां पहुंचे। जब बेचारों को मालूम हुआ कि आप नहीं आये तो बस "ख़ूं टपक पड़ा निगाह-ए इन्तजार से।"

अपने इस अत्याचार पर विचार तो कीजिये। उनकी बेबसी का यह सब किसपर पड़ेगा ?

ख़ैर क्या किया जाय। पर इस वादाख़िलाफी की उम्मीद न थी। इस साल सम्मेलन का सभापति कौन होगा ? आप 'सभापति-मेकर' हैं। क्या इरादा है ? हक़ तो यह है कि हक़ वाजपेयीजी का है। कुछ उद्योग कीजिये। समय थोड़ा है। 'सुधा' में एक नोट निकला है, पढ़ा होगा ? 'रत्नाकर'जी पर जो लेख आपने लिखा था, उसपर किसी काशीवासी ने कुछ ऊलजलूल 'भारत' में लिखा था, यह भी देखा होगा ?

भवदीय,

पद्मसिंह शर्मा"[1]

अब देखिये एक और पत्र, जो उन्होंने हरिशंकर शर्मा को इन्दौर से लिखा, जहां पद्मसिंहजी 'वीणा' का सम्पादन करते थे—

"प्रियवर हरिशंकरजी, नमस्ते।

कार्ड मिला। इससे पहला कार्ड नहीं मिला, न जाने कहां बहककर चला गया। आगरे की गरमी का अनुमान तो मैं यहीं से कर रहा हूं। सचमुच ये दिन आपपर बड़े संकट के हैं। अकेले पड़े गरमी में भुन रहे हैं। 'आजकल आगरे में आग बरसत है' का पाठ कर रहे हैं। वर्षा के स्वागत में कविता लिखिये। वर्षा की आराधना कीजिये तो शायद देव का दिल-पसीज जाय। यहां तो वर्षा शुरू हो गई है। दो-एक बार बूंदा-बांदी हो गई है। अब मेह में आग लगने ही वाली है, बादल मंडरा रहे हैं, बरसात की

[1] 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'—सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी—पृष्ठ १०४

बहार है, ठंडी बयार बह रही है, आप भी हवा खा जाइये।

आपके सहवासी 'पुरुफेसरान्' साहबान कबतक वहीं रहेंगे। आप यह नियम क्यों नहीं बना देते कि हर साल छुट्टियों में बारी-बारी से एक-एक प्रोफेसर पड़ोसी आपके पास रहा करें। सारे-के-सारे एक साथ भाग जाते हैं। यह तो बेशक आपके साथ इन्तहायी ज़ुल्म है। इसके खिलाफ सदाए एहतजाज् बुलन्द कीजिये।

जब से इंदौर आया हूं 'आर्यमित्र' नहीं देखा। यहां के पुस्तकालय में और 'वीणा' के परिवर्तन में भी नहीं आता। मैंने 'वीणा' वालों से कह दिया है, 'वीणा' पहुंचेगी, 'आर्यमित्र' पिछले चार अंकों समेत मुझे लौटती डाक से भेजिये, बल्कि परिवर्तन में आनेवाले उर्दू अखबारों के पिछले महीने के जितने अंक रद्दी में आसानी से मिल जायं वे भी भेज दीजिये, तो अच्छा हो। यहां सिवाय 'स्वाधीन भारत' और 'भारत' के कोई अखबार ही देखने को नहीं मिला, तरस गये। 'आर्यमित्र' 'वीणा' के परिवर्तन में जारी करा दीजिये। 'समिति का वाचनालय' यहां काम की चीज है। अखबार पढ़ने बहुत आ जाते हैं। 'वीणा' के परिवर्तन में आनेवाले पत्रों से वाचनालय का काम चलता है।

हम शायद हफ्ते के अन्त तक इन्दौर छोड़ के जहां जायंगे, जब जायंगे, सूचना देंगे। तुम इस बीच कहीं दूर पर जाओ तो लिखना। तुम्हारी अनुपस्थिति में आगरा न उतरेंगे।

भवदीय,

पद्मसिंह शर्मा"[1]

जहां इस प्रकार की वैयक्तिकता पत्रों को चार चांद लगा देती है, वहां यह भी मानना होगा कि वर्णन और वस्तुस्थिति के निरूपण के वह उपयुक्त नहीं है। अन्य गुणों के होते हुए यह दोष शर्माजी की शैली में अवश्य है।

पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी-गद्य को स्फूर्ति और गति प्रदान की। वाद-विवाद, चरित्रचित्रण और साहित्यिक आलोचना को उनकी शैली ने अधिक रुचिकर और सुग्राह्य बना दिया। हिन्दी-गद्य के विकास में इसका पर्याप्त महत्व है, क्योंकि इसीसे भाषा को ओज और सूक्ष्माभिव्यक्ति मिल सकती है। इसीलिए पद्मसिंह शर्मा के योगदान के संबंध में कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक समझा गया।

इन्द्र विद्यावाचस्पति

आर्यसमाज के नेताओं में इन्द्र विद्यावाचस्पति का योगदान हिन्दी-

[1] 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'—सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी—पृष्ठ ४८-४९

साहित्य की अभिवृद्धि में सबसे अधिक है। गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त करते समय ही अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द के साथ 'सद्धर्म-प्रचारक' का संपादन करने का सुअवसर इन्हें प्राप्त हुआ। तभी से वह हिन्दी-पत्रकारिता की ओर प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी पत्रों और लेखन द्वारा हिन्दी-सेवा का व्रत स्नातक बनते ही लिया। जिस समय 'सद्धर्म-प्रचारक' का कार्यालय कांगड़ी से दिल्ली में स्थानांतरित हुआ (१९१२), उस समय से 'सद्धर्म-प्रचारक' का कार्य वह स्वतंत्र रूप से करने लगे। किन्तु इन्द्रजी की प्रतिभा केवल एक धार्मिक पत्रिका के संपादन तक ही सीमित नहीं रह सकती थी। पत्रकारिता में उनकी विशेष रुचि थी ही। उन्होंने 'विजय' नामक समाचार-पत्र का भी सपादन आरंभ किया। 'विजय' दिल्ली का प्रथम हिन्दी-समाचार पत्र था। इसके कुछ समय पश्चात् 'वीर अर्जुन' का प्रकाशन आरंभ हुआ, जिसके सम्पादक भी इन्द्रजी थे। हिन्दी-पत्रकारिता में 'वीर अर्जुन' का स्थान बहुत ऊंचा है। इसका श्रेय इन्द्रजी की लेखन-शैली को ही है। पच्चीस वर्ष तक इस पत्र का संपादन करने के पश्चात् इन्द्रजी ने 'जनसत्ता' के संपादन का कार्यभार संभाला। इस प्रकार इन्द्रजी का साहित्यिक जीवन पत्रकारिता से आरंभ हुआ।

इंद्र विद्यावाचस्पति

एक कुशल पत्रकार होने के साथ-साथ इन्द्रजी एक विचारक और इतिहास के गंभीर विद्यार्थी भी थे। उन्होंने इतिहास पर जो ग्रन्थ लिखे, उनकी गणना इस विषय पर हिन्दी में लिखे गए प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में होती है। 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त', 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' और 'मराठों का इतिहास' उनमें विख्यात हैं। इन्द्रजी की अन्य पुस्तकों में 'आर्य-समाज का इतिहास', 'उपनिषदों की भूमिका', 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा', 'सम्राट् रघु', 'मेरे पिता', 'स्वराज्य और चरित्र-निर्माण', 'जीवन-ज्योति', 'मैं इनका ऋणी हूं', 'महर्षि दयानन्द', 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति' और 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' हैं। ये सभी ग्रन्थ विचारपूर्ण हैं और इनकी भाषा प्रांजल है। ऐतिहासिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विषयों के अतिरिक्त इन्द्रजी ने कई उपन्यास भी लिखे हैं। इनके आरंभ के उपन्यासों की पृष्ठभूमि ऐति-

हासिक रहती थी, जैसे 'शाहआलम की आंखें।' किन्तु सामाजिक पृष्ठभूमि को लेकर भी इन्होंने उपन्यासों की रचना की है, जैसे 'सरला की भाभी', 'जमींदार', और 'अपराधी कौन ?'

इन पुस्तकों की भाषा, उनका विषय चाहे जो हो, आकर्षक और हृदयग्राही है, क्योंकि उसमें प्रवाह है। सांस्कृतिक विषयों पर लिखते हुए इंद्रजी विचार-जगत् में विचरते हैं और आत्मगत भावों का वर्णन करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते। भारत की सांस्कृतिक एकता का परिचय देते हुए इन्द्रजी ने लिखा है—

"इस देश की मौलिक एकता का सबसे पुष्ट प्रमाण यही है कि चक्रवर्ती राजा आये और चले गए, युगों-पर-युग बीत गये, परन्तु भारत की एकता नष्ट न हुई। वह आज भी अक्षुण्ण है। नाम बदल गये, परन्तु नामी एक ही रहा। स्पष्ट है कि भारत की इस एकता का आधार न कोई भाषा थी और न एक राज्य था। भाषाएं भी अनेक थीं, और राज्य भी अनेक थे। एकता का आधार थी एक संस्कृति।... भारतीय संस्कृति के इतिहास की यह विशेषता है कि उसका प्रवाह कहीं टूटा नहीं। जैसे कोई बड़ी नदी अनेक छोटी नदियों और नालों के पानी को अपने में समेटती हुई बहती चली जाती है, वैसे ही भारतीय संस्कृति की धारा निरन्तर चलती गई है।"[१]

भारतीय संस्कृति की विशेषता को भी उन्होंने बहुत ही सुन्दर रीति से बताया है। उन्होंने लिखा है—

"जिस प्रकार विभिन्न जातियों का मिश्रण भारतीय विशेषता है, इसी प्रकार भारत की भाषाओं का मिश्रण भी उसकी अपनी ही वस्तु है।... भारत में भाषाएं अनेक हैं और भिन्न श्रेणियों से सम्बन्ध रखती हैं, परन्तु प्रायः सभी प्रान्तों में वे एक-दूसरे से मिल गई हैं। हम उन्हें परस्पर बड़े गहरे सूत्र से बंधा हुआ पायेंगे और सबसे प्रबल सूत्र, जो सोने की शृंखला की तरह उन्हें परस्पर जोड़ रहा है, वह संस्कृत भाषा का सूत्र है। संस्कृत भाषा ने काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत की सब श्रेणियों को एक प्रबल सांस्कृतिक माला में पिरो रखा है।[२]

इन्द्रजी की मधुर वर्णन-शैली का एक उदाहरण और देखिये। अमरावती शैली की मूर्तियों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"संपूर्ण कला भक्ति-भाव की परिचायिका है। महात्मा बुद्धदेव के चरण-चिह्नों के समक्ष नत उपासिकाओं का दृश्य बहुत ही मनोहारी है। इन मूर्तियों में हास्य-

---

[१] 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह'—पृष्ठ ५

[२] 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह'—पृष्ठ ११

रस भी दिखाई देता है ।"[1]

विशुद्ध ऐतिहासिक विषय पर लिखते हुए उनका ध्यान विषयवस्तु पर उतना ही रहता है, जितना अभिव्यक्ति पर। अंग्रेजी राज्य और मुगलकालीन भारत पर इनके ग्रन्थ विश्लेषणात्मक हैं और इन दोनों सत्ताओं के क्षय के कारणों का मूल्यांकन करते हुए लेखक ने अत्युक्ति अथवा आत्मगत भाव मात्र से ही काम नहीं लिया है। वास्तव में इनकी भाषा ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करने के उपयुक्त है। संस्मरण और रेखाचित्र लिखने में भी इन्द्रजी की लेखनी को स्मृतियों की प्रेरणा मिली है। भावना मधुर और प्रांजल भाषा में प्रवाहित हुई है। 'जीवन-ज्योति' तथा 'मैं इनका ऋणी हूं'—इन रेखा-चित्रों की भाषा के उदाहरण से इनकी भाषा-शैली पर पूरा प्रकाश पड़ता है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के जीवन की झलक इन्द्रजी ने कितने मोहक शब्दों में प्रस्तुत की है। इसे पढ़ते ही झांसी की रानी की जीवन-ज्योति हमारे सामने प्रकाशित हो उठती है। इन्द्रजी हमारी कल्पना को जगाते हुए लिखते हैं—

"आप कल्पना कीजिये कि सारा आकाश काले-काले बादलों से आच्छन्न हो, ऊंचे पर्वत की चोटी पर घना अन्धकार छाया हुआ हो, उस समय बादलों में एक बिजली चमके और अन्तरिक्ष को प्रकाशयुक्त करती हुई पर्वत की चोटी को टक्कर मारकर गिरा दे और इस प्रकार अपने बल और तेज का स्थायी स्मारक बनाकर क्षणभर में लुप्त हो जाय। जैसा यह दृश्य होगा, वैसा ही दृश्य जब हम झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का जीवन-वृत्तान्त पढ़ते हैं, तब आंखों के सामने घूम जाता है।"[2]

इस भाषा की विवेचना करने की यहां आवश्यकता नहीं जान पड़ती। शब्दों का प्रभाव स्वयं बोल रहा है।

इन्द्रजी के चरित्र-चित्रण की भाषा का यह दूसरा उदाहरण है, जिसमें उन्होंने अपने परममित्र देवदास गांधी के संस्मरण को इस प्रकार आरंभ किया है—

"जनश्रुति प्रसिद्ध है कि प्रकृति मनुष्यों के निर्माण में दो पीढ़ियों में अपना हिसाब पूरा कर लेती है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक और वक्ता लार्ड मेकाले के पिता के बारे में कहा गया है कि यह बहुत कम बोलते थे, यहांतक कि उनके बोलने की औसत घंटे में चार वाक्यों की होती थी और लार्ड मेकाले? वह तो पहले दर्जे के वावदूक थे। उन्हें चाय-गोष्ठी का तानाशाह कहा जाता था। पिता और पुत्र में

[1] 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह'—पृष्ठ २५६

[2] 'जीवन-ज्योति'—पृष्ठ ११५

थोड़ी-बहुत समानता तो रहती है, परन्तु अधिकतर विषमताएं ही पाई जाती हैं। अपवाद हो सकता है, परन्तु सामान्य नियम यह है कि पिता और पुत्र का 'टाइप' एक होते हुए भी रूप बदल जाता है। श्री देवदास गांधी इस नियम के अपवाद नहीं थे। वह सामान्य नियम के दृष्टांत थे।"[1]

कथा-साहित्य की दिशा में जो प्रयोग इन्द्रजी ने किये, वे लोकप्रिय भले ही हुए हों, पर पूर्ण सफल नहीं कहे जा सकते। इन्द्रजी कल्पनाशील हैं और भाषा पर भी उनका पूरा अधिकार है, किन्तु उनके उपन्यासों के कथानक कहीं-कहीं शिथिल हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की घटनाएं इस प्रकार छायी हुई हैं कि वे कल्पना को स्थान देने में संकोच करती हैं। पाठक को उपन्यास पढ़ने में आनन्द आता है, किन्तु उसे ऐसा आभास होता है मानो वह कल्पना की सूक्ष्मता के स्थान पर इतिहास का रोचक वर्णन पढ़ रहा हो। 'शाह आलम की आंखें' में इतिहास ने कल्पना को गौण बना दिया है। जिसने अंग्रेजी उपन्यासकार थैकरे की रचनाओं को पढ़ा हो, उसे यह दोष और भी अधिक खटकेगा। इतिहास और कल्पना में जो समन्वय थैकरे ने स्थापित किया है, उसका इन्द्रजी की रचनाओं में हमें अभाव मिलता है। वास्तविकता यह है कि इन्द्रजी के विचारों और उनकी लेखन-शैली पर पत्रकारिता, इतिहास और चालू विषयों का अत्यधिक प्रभाव है। वस्तुस्थिति का निरूपण ही उनकी रचनाओं का आदर्श रहा है। इसलिए कल्पना-जगत में प्रवेश करके इन्द्रजी वहां अजनबी रहे।

इन्द्रजी के जीवन के प्रायः चालीस वर्ष धार्मिक हलचलों और राजनैतिक आन्दोलनों में बीते। इस सरगरमी के बीच उनकी लेखनी को अनुकूल वातावरण मिला और उन्होंने पत्रकार तथा लेखक के रूप में हिन्दी-संसार में प्रवेश किया। अपने सार्वजनिक जीवन में साहित्य-सृजन के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी-प्रचार के कार्य में प्रत्यक्ष रूप से कार्य किया। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा उसके प्रांतीय सम्मेलनों से उनका निकट का सम्बन्ध रहा, किन्तु इन्द्रजी की सबसे बड़ी सेवा उनके द्वारा गुरुकुल कांगड़ी का संचालन तथा पथ-प्रदर्शन था। इन्हीं के कुलपति-कार्यकाल में गुरुकुल महाविद्यालय से विश्व-विद्यालय में परिणत हुआ, उसका शिक्षाक्रम सर्वांगीण हुआ, जिसके फलस्वरूप गुरुकुल की उपाधियों को केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों द्वारा मान्यता मिली। अनेक दिशाओं में आधुनिकीकरण और व्यापक परिवर्तन के बावजूद हिन्दी का स्थान गुरुकुल में वही रहा जो उसकी स्थापना के समय था। तकनीकी विषयों का शिक्षण भी आज गुरुकुल में हिन्दी के

---

[1] 'मैं इनका ऋणी हूँ'—पृष्ठ ११७

माध्यम से हो रहा है। इसका अधिकांश श्रेय इन्द्रजी को ही है और कदाचित् उन संस्कारों को है, जो उन्हें अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द से विरासत में मिले थे। अपने पिता के पद-चिह्नों पर चलकर इन्द्रजी ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अथक कार्य करके हिन्दी की अमूल्य सेवा की।

जयचंद्र विद्यालंकार

जयचन्द्र विद्यालंकार की ख्याति अधिकतर इतिहासकार के रूप में है। उनकी 'भारतीय इतिहास की भूमिका' इतिहास के क्षेत्र में मौलिक रचना है। यह मूल रूप से हिन्दी में लिखी गई थी और बाद में अंग्रेजी और दूसरी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। काशी विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक रहने के बाद इन्होंने विहार विद्यापीठ में काम किया। राष्ट्रीय और हिन्दी-आन्दोलन में यह सदा भाग लेते रहे। सन् १९५४ में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति बने।

जयचंद्र विद्यालंकार

जयचन्द्रजी की शैली गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण है। उसमें स्वभावतः खोज और अनुसंधान का पुट भी स्पष्ट दिखाई देता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी यह लिखकर कि— *"हमारे आलोच्य काल में जयचन्द्र विद्यालंकार ने मौलिक अनुसंधान किये"*[1] इस बात को पुष्ट किया है। इतिहास के विशेषज्ञ होने के अतिरिक्त, वह भाषाविज्ञान के भी पंडित हैं। उनकी शैली में तत्सम और तद्भव शब्दों का मेल बहुत सुन्दर ढंग से होता है। सम्मेलन के सभापति के पद से अपने अभिभाषण में उन्होंने कहा था—

"शुद्ध विज्ञान पर लिखना भी भारतीय परिस्थिति और इतिहास से बचकर नहीं हो सकता। विज्ञान और दर्शन का विचार-क्षेत्र प्रायः एक ही है। दोनों में अंतर यह है कि विज्ञान में केवल परखे सिद्धान्तों का समावेश होता है, वहां दर्शन में तर्कना-मूलक विचार भी रहता है।"[2]

[1] 'हिंदी साहित्य की भूमिका'—पृष्ठ १६७

[2] 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—संवत् २००७—पृष्ठ २१८

जयचन्द्रजी ने अन्य ग्रन्थ भी हिन्दी में लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—'भारत भूमि और उसके निवासी,' 'भारतीय इतिहास के भौगोलिक आधार', 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' और 'इतिहास-प्रवेश'। इन ग्रन्थों की, विशेषकर 'इतिहास-प्रवेश' की समालोचना करते हुए डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लिखा है—

"यह भारतीय इतिहास पर सुन्दर, सुयोजित और सुलिखित ग्रन्थ है।...इस तरह की कृतियां हिन्दी को विज्ञान और संस्कृति की भाषा के रूप में स्थापित करने में सहायता दे रही हैं।"[१]

इसमें संदेह नहीं कि जयचन्द्र विद्यालंकार की इन रचनाओं से हिन्दी भाषा को पर्याप्त यश मिला है।

---

[१] "This is a remarkably well-planned and well-written book on Indian History. Works like the present one are really helping to establish Hindi as a speech of science and culture."

—'Calcutta Review,' Feb., 1941.

अध्याय : ६

कुछ समाज-सुधारक साहित्यकार

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक गद्य-काल का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से होता है। संक्षेप में घटनाक्रम इस प्रकार था। अंग्रेजों ने यहां अपने पांव जमाते ही भारतीयों को शिक्षा देने का कार्यक्रम निर्धारित किया। इससे पहले शिक्षा का अर्थ था संस्कृत अथवा अरबी या फारसी पढ़ना। नये शासकों ने उपयुक्त हिन्दुस्तानी भाषा पर परीक्षण करने का फैसला किया। इस काम के लिए भारतीयों की शिक्षा और अंग्रेजी कर्मचारियों को भी हिन्दुस्तानी भाषाएं पढ़ाना अभीष्ट था। इसी उद्देश्य से सन् १७९८ में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। हिन्दी और उर्दू में पाठ्य-पुस्तकों का नितान्त अभाव था, क्योंकि दोनों भाषाओं में अभी तक गद्य का विकास नहीं हो पाया था। अधिकारियों ने गद्य के ग्रन्थ लिखने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्तियां कीं। इनमें सर्वप्रथम लल्लूलाल, मुंशी सदासुख-लाल, सदल मिश्र और इंशाअल्ला खां आदि थे। इन्होंने जो ग्रन्थ लिखे, उनका महत्व केवल इतना ही है कि उनसे गद्य की परंपरा आगे बढ़ी। जैसी भाषा इन लोगों ने लिखी उसका प्रयोग कथा-वार्ताओं में ही हो सकता था, वह भी उन्हीं दिनों, आजकल नहीं। उस समय भाषा का जो रूप प्रयोजनीय था, उसका निर्माण नहीं हुआ।

इसके बाद पचास वर्ष तक हिन्दी-गद्य-लेखन का काम ईसाई पादरियों तक ही सीमित रहा। उस समय का कोई ग्रन्थ हमें ऐसा नहीं मिलता, जिसे हम साहित्य का अंग कह सकें। गद्य की परंपरा ने वास्तव में सन् १८५० के बाद ज़ोर पकड़ा। तभी भारत में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जागरण का उदय हुआ, विशेषकर उत्तरप्रदेश में हिन्दी को शिक्षाक्रम में स्थान दिये जाने के कारण ग्रन्थों की रचना आरंभ हुई। सन् १८५७ के आन्दोलन से जनजागरण को प्रोत्साहन मिला और क्रांति की चिनगारी ने साहित्य-जगत में एक चेतना जगा दी। इस काल के प्रमुख लेखकों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी, और समर्थकों में ब्रह्मसमाजी नेता थे।

गद्य-युग के आविर्भाव के कारण

यह स्पष्ट हो चुका है कि गद्य-युग का आविर्भाव अठारहवीं शती के आरंभ से हुआ और गद्य की परम्परा उस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुष्ट हुई। इस घटना के

प्रमुख कारण ये थे—

१. बंगला-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव के कारण उस भाषा का गद्य प्रांजल हो चला था। नवीन बंगला साहित्य का हिन्दी भाषा-भाषियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। अनेक बंगला ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद हुआ और वास्तव में वे अनुवाद ही हिन्दी के प्रथम गद्य-ग्रन्थों में शामिल हैं। काशी ही इस नई चेतना का केन्द्र थी। वहां आकर बंगाली सदा से बसते रहते थे और उनके इस निकटतम संपर्क ने हिन्दी-भाषियों को बंगला सीखने तथा उसके साहित्य का अनुवाद करने को प्रेरित किया। स्वयं राममोहन राय लगभग दस वर्ष तक यहां रहे थे। तदुपरान्त अंग्रेजी भाषा और तत्सम्बन्धी विचारधारा स्वयं उत्तर प्रदेश की ओर भी बढ़ रही थी, जिसके कारण गद्य की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को गति मिली।

२. धीरे-धीरे जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार होने लगा था। नये स्कूल खोले जा रहे थे, जिनमें अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी भी पढ़ाई जाने लगी थी। पाठ्य पुस्तकों की भाषा, चाहे वह कैसी ही टूटी-फूटी अथवा अपरिमार्जित क्यों न हो, हिन्दी-गद्य का ही रूप थी। इससे गद्य लिखने और पढ़ने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

३. हिन्दी गद्य के विकास में सिरामपुर के ईसाई पादरियों का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है। ईसाई मत के प्रचारार्थ उन्होंने बाइबल और अन्य धार्मिक ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित कराये। उन्होंने जो काम किया उसके द्वारा हिन्दी-गद्य ही उन्नत नहीं हुआ, बल्कि हिन्दी-मुद्रण को भी प्रोत्साहन मिला।[१]

४. नवीन धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं के कार्यप्रसार और उसमें सार्वजनिक उत्साह के कारण हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना हुई। पहली हिन्दी पत्रिका सन् १८२४ में कलकत्ता से प्रकाशित हुई। इसका नाम 'उदन्त-मार्तण्ड' था। 'बंगदूत' (१८२६) हिन्दी का दूसरा पत्र था। तदनन्तर अनेक पत्रिकाओं का जन्म हुआ।[२]

कलाकार और विचारक भारतेन्दु

भारतेन्दु-युग का साहित्य जनवादी साहित्य है, क्योंकि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से सन्तुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। भारतेन्दु स्वदेशी-आन्दोलन के ही अग्रदूत नहीं थे, वह समाज-सुधारकों में भी प्रमुख थे। स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, विदेश-यात्रा आदि के वह समर्थक थे। इससे भी बढ़कर महत्व की

---

[१] जे० नटराजन—'हिस्ट्री ऑव इंडियन जर्नलिज्म'—पृष्ठ २१

[२] 'हिस्ट्री ऑव इंडियन जर्नलिज्म'—पृष्ठ ४८-६१

बात यह थी कि महाजनों के पुराने पेशे सूदखोरी की उन्होंने बड़ी आलोचना की थी। उन्होंने लिखा था, "सर्वदा से अच्छे लोग ब्याज खाना और चूड़ी पहिरना एक-सा समझते हैं, पर अबके आलसियों को इसीका अवलम्ब है, न हाथ हिलाना पड़े न पैर, बैठे-बैठे भुगतान कर लिया।"[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु-युग के एक ओर मध्यकालीन दरबारी संस्कृति थी, तो दूसरी ओर आम जनता में एक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिए वातावरण तैयार करने की आवश्यकता और प्रवृत्ति थी। पूर्ववर्ती और तात्कालिक परिस्थितियों के मध्य खाई अधिक चौड़ी होती जा रही थी। नये विचारों के साथ जनसाधारण और विशेषकर शिक्षितवर्ग का दृष्टिकोण भी बदल रहा था। विचारक तथा लेखक लोग कुछ पुराने संस्कारों को दूर करने और नवीन विचारों को समाज में स्थान दिलाने का प्रयत्न करना अपना कर्तव्य समझते थे। इन लेखकों के सर्वप्रथम नेता तथा पथप्रदर्शक भारतेन्दु ही थे। भारतीय महिलाओं के बारे में उन्होंने 'भारतेन्दु-नाटकावली' में इस प्रकार लिखा था—

"आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। लेकिन मुझको आज और दुःख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूं। जब मुझे रमणी लोग भेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर-से-उधर फर-फर कल की पुतली की भांति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसीको न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूं कि इन गौरांगी युवती-समूह की भांति हमारी कुल-लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किंतु और बातों में जिस भांति अंगरेजी

[1] 'कविवचन सुधा', २२ दिसम्बर, १८७२

स्त्रियां सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज संभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भांति हमारी गृह-देवियां भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है।"[१]

भारतेन्दु की हिन्दी-सेवा और उनकी विलक्षण रचनाओं के सम्बन्ध में यहां अधिक लिखना अनावश्यक है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वह आधुनिक युग के प्रथम हिन्दी साहित्यिक थे, जिनकी निजी कृतियों और प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य की सभी विधाएं मुखरित हो उठीं। वह पत्रकार, नाटककार, कवि, आलोचक, निबन्धकार सभी कुछ थे। उन्हींकी रचनाओं और विचारों के फलस्वरूप साहित्य में नवयुग का उदय हुआ और हिन्दी साहित्य-सृजन के मार्ग को अपना सकी। भारतेन्दु का साहित्यिक योगदान सर्वविदित है और इस शोध-प्रबन्ध से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध यद्यपि कम है, तथापि उसका कुछ उल्लेख हिन्दी की प्रगति और साहित्य के विकास के निरूपण में अनिवार्य है। अतः संक्षेप में उसके सम्बन्ध में कुछ शब्द कह दिये गए हैं।

जैसा मैंने अभी कहा भारतेन्दु लेखक और उच्च कोटि के साहित्यकार ही नहीं थे, वह सच्चे अर्थों में समाज और हिन्दी के नेता भी थे। उन्होंने स्वयं लिखा और अनेक लेखकों को प्रेरणा दी, प्रश्रय दिया और व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रोत्साहित किया। भारतेन्दु के समकालीन अधिकांश साहित्यकारों की गणना नेता अथवा सुधारकों की कोटि में की जा सकती है। इस कारण भारतेन्दु के समकालीन गिने-चुने व्यक्तियों की जीवनी और उनकी हिन्दी-साहित्य-सेवा का उल्लेख यहां कर देना आवश्यक है, अन्यथा हिन्दी-भाषा और साहित्य के उत्थान के इस काल का एक अंग अधूरा-सा रह जायगा। भारतेन्दु के समकालीनों तथा अनुयायियों के कार्य और साहित्य-सेवा के सिंहावलोकन के बिना हिन्दी की आगामी प्रगति तथा विस्तार का इतिहास अधूरा रहेगा। इसलिए यहां हिन्दी के इन आदिकालीन गद्यकारों की संक्षेप में चर्चा की जायगी।

भारतेंदु के समकालीन साहित्यकार

अपनी उदारता और हिन्दी-प्रेम के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सभी समकालीन लेखकों और साहित्य-प्रेमियों के संरक्षक कहलाये। अपनी साहित्यिक सूझ-बूझ से भारतेन्दु ने उनका पथ-प्रदर्शन किया और धन से भी उनकी सहायता की।

[१] 'भारतेन्दु-नाटकावली'—पृष्ठ ५११

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट के साहित्यानुराग और विद्वत्ता का उस समय सभी लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। वह इलाहाबाद के कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। उन्नत विचारों के होने के कारण समाज-सुधार में इनकी विशेष दिलचस्पी थी। अपने 'बालविवाह नाटक' में इन्होंने बालविवाह की कटु आलोचना की है, और धर्म के नाम पर आडम्बर का परित्याग करने की जनसाधारण को चेतावनी दी है। भारतेन्दु की कविताओं और गद्य को पढ़कर भट्टजी उनकी ओर बहुत खिंचे और दोनों व्यक्तियों के बीच हिन्दी-स्नेह ने एक स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर दिया। कहा जाता है कि उस समय (१८६५ से १८८०) हिन्दी की शायद ही कोई पत्रिका ऐसी हो, जिसके लिए बालकृष्ण भट्ट लेख न लिखते हों। सन् १८८७ में जब 'हिन्दी प्रदीप' साप्ताहिक की प्रयाग में स्थापना हुई तो वह उसके प्रथम संपादक नियुक्त किये गए। उच्चकोटि के निबन्धकार और आलोचक होने के अतिरिक्त वह अपने नाटकों के कारण भी कम प्रसिद्ध नहीं हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं—रेल का विकट खेल' 'बालविवाह नाटक', 'कालीराज की सभा' और 'चन्द्रसेन नाटक'। उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रसिद्ध बंगला नाटकों—'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' का अनुवाद भी हिन्दी में किया।

बालकृष्ण भट्ट

प्रतापनारायण मिश्र

भारतेन्दु के साथियों में उनसे सबसे अधिक मिलता-जुलता, उन्हींकी विचारधारा और दृष्टिकोण रखनेवाला और उन्हीं जैसा साहित्य-प्रेमी और विचारक यदि कोई व्यक्ति था तो वह प्रतापनारायण मिश्र थे। भारतेन्दु की तरह ही प्रतापनारायण हँसमुख थे। गंभीर-से-गंभीर विषयों को हास्य से सराबोर कर देने में वह अत्यन्त पटु थे आलोचना में वह निर्भीक और निष्पक्ष थे और सभी प्रकार के मानवोचित गुणों से सम्पन्न।

प्रतापनारायण मिश्र का जन्म एक गरीब ब्राह्मण-कुल में सन् १८५६ में

हुआ। उनके पिता संकटदीन ज्योतिषी थे और वह अपने पुत्र को भी ज्योतिष सिखाना चाहते थे। प्रतापनारायण ने कुछ दिन यह काम किया, किन्तु दूसरे लोगों का अतीत और भविष्य जानने के लिए दुनिया भर का हिसाब-किताब करने से वह ऊब गये। उन्होंने ज्योतिष पढ़ने से इन्कार कर दिया। तब पिता ने उन्हें अंग्रेजी स्कूल में दाखिल कराया। स्कूल में, पढ़ाई को छोड़कर, हर चीज में उनकी दिलचस्पी थी।

प्रतापनारायण मिश्र

वास्तव में प्रतापनारायण मिश्र का क्षेत्र हिन्दी था, जिसका चलन उन दिनों अच्छा-खासा हो चला था। भारतेन्दु की 'कवि-वचन-सुधा' पढ़कर उन्हें प्रेरणा मिली और वह हिन्दी-कविता की ओर आकृष्ट हुए। ज्योंही भारतेन्दु से व्यक्तिगत परिचय हुआ, दोनों एक दूसरे से लिपट गये। उन दिनों की प्रथा के अनुसार मिश्रजी ने उर्दू, फारसी का ज्ञान भी अच्छा प्राप्त कर लिया। इस पृष्ठभूमि के साथ उन्होंने मंजी हुई हिन्दी लिखनी आरंभ की। उनका एक-एक शब्द हास्यरस में पगा था। जो कुछ भी वह 'ब्राह्मण' में लिखते, लोग उसे बेहद चाव से पढ़ते और महीना भर कानपुर में उन्ही विषयों और प्रतापनारायण की भाषा की चर्चा रहती।

भारतेन्दु का अनुकरण करते हुए प्रतापनारायण ने भी कानपुर में एक नाटक-मंडली की स्थापना की, जिसने कई धार्मिक और सामाजिक नाटकों का अभिनय किया। उस समय सबसे बड़ी कठिनाई अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को जुटाना था, किन्तु प्रतापनारायण के मार्ग में यह कठिनाई कभी नहीं आई। बच्चे से बूढ़े तक और नायिका तक के सभी पार्ट वह स्वयं खेलने को तैयार रहते थे। साहित्य के क्षेत्र में उनकी जो लोकप्रियता हुई, प्रतापनारायण की नाटकीय प्रतिमा ने उसमें चार चांद लगा दिये। कुछ वर्षों में ही वह सारे कानपुर के 'दादा' बन गये। उनके शौक अनेक थे, किन्तु सबसे बड़ा शौक पोशाक बदलने का था। कानपुर की गलियों में कभी वह नवाब के लिबास में निकलते और कभी रुद्राक्ष की माला पहने साधु-संन्यासियों की तरह चिमटा बजाते दिखाई देते। प्रायः वह मलमल का कुर्ता पहने, इत्र लगाये और जुल्फों को सजाये गंगातट पर वायुसेवन करते थे। ऐसा था उनका व्यक्तित्व।

यद्यपि प्रतापनारायण मिश्र कोई संपूर्ण कृति नहीं छोड़ गये, किन्तु उनके

फुटकर लेखों और संपादकीय लेखों के संग्रह हिन्दी भाषा और साहित्य की अमूल्य निधि हैं। हिन्दी के लिए उनके निजी प्रयत्न और उसके समर्थन में जोरदार दलील, इन दोनों से हिन्दी भाषा को बहुत सहारा और अन्त में मान्यता मिली।

राधाचरण गोस्वामी

आरंभ से ही राधाचरण गोस्वामी यह धारणा लेकर चले कि हिन्दी गद्य और पद्य दोनों के क्षेत्र में भारतेन्दु की कृतियों ने आदर्श स्थापित कर दिया है। भारतेन्दु द्वारा संपादित 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के अंकों से गोस्वामीजी बहुत ही प्रभावित हुए। भारतेन्दु के प्रति श्रद्धा और हिन्दी के प्रति अपने अनुराग का परिचय देने के लिए उन्होंने हिन्दी-प्रचारार्थ 'भारतेन्दु' पत्रिका मथुरा से निकाली। कवियों के प्रोत्साहन और पथप्रदर्शन के लिए, भारतेन्दु की तरह, उन्होंने भी 'कविकुल कौमुदी' संस्था की स्थापना की।

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी राधारमणी सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी उदार और समाज-सुधारक विचारों के थे और हिन्दू समाज में जात-पांत के विरोधी भारतेन्दु की समाज-सुधारक नीति के कारण ही गोस्वामीजी का झुकाव उनकी ओर हुआ था। उनके उत्साह और हिन्दी-प्रेम से पं. मदनमोहन मालवीय बहुत प्रभावित हुए। अपने जीवन का अंतिम भाग गोस्वामीजी ने मालवीयजी के नेतृत्व में हिन्दी-प्रचार के अर्पण कर दिया।

गोस्वामीजी कलम के धनी थे। फुटकर लेखों के अतिरिक्त उन्होंने छः सुन्दर नाटक लिखे, जिनमें 'सती चन्द्रावली' और 'अमरसिंह राठौर' ऐतिहासिक नाटक हैं। इसमें तत्कालीन उदयपुर के गौरव और साधारण परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। गोस्वामीजी के दूसरे नाटक थे—'सुदामा-नाटक' और 'तन मन धन श्री गोसाइंजी के अर्पण'। उन्होंने बंगला से तीन नाटकों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

१९वीं शती के अन्तिम दशकों से लेकर २०वीं शती के पच्चीस वर्ष तक गोस्वामीजी ने हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा और भी कोई ऐसी संस्था नहीं थी, जिससे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध न रहा हो। एक बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के यह अध्यक्ष भी चुने गए थे।

अम्बिकादत्त व्यास

हिन्दी की मशाल हाथ में लेकर आगे बढ़नेवालों में अम्बिकादत्त व्यास का नाम भी आदर से लिया जाता है। विशुद्ध प्रतिभा और प्रकाण्ड पांडित्य की दृष्टि से अपने समकालीन साहित्यकारों में वह अद्वितीय थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने ब्रजभाषा में कविता करनी आरंभ की। उनकी कविता इतनी उच्चकोटि की थी कि भारतेन्दु उससे आकर्षित हुए और 'कवि-वचन-सुधा' में उन्होंने व्यासजी की कविताओं की समालोचना की। भारतेन्दु के आग्रह पर व्यासजी को, जब वह केवल बारह वर्ष के थे, 'सुकवि' की उपाधि दी गई। शीघ्र ही वह अपनी वाक्पटुता और संस्कृत की विद्वत्ता के लिए समस्त उत्तर भारत में प्रसिद्ध हो गये। उनके भाषण सुनने के लिए लोग दूर-दूर से आने लगे। 'पीयूष प्रवाह' और 'वैष्णव पत्रिका' नामक दो मासिक उन्होंने निकाले और स्वयं ही उनका संपादन किया। ब्रजभाषा में व्यासजी ने बहुत-कुछ लिखा है। उनकी रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'ललिता-नाटिका' और 'गोसंकट' नाटक हैं। पहली रचना में कृष्ण-जीवन का वर्णन है और दूसरी रचना में, जो उन्होंने भारतेन्दु के आग्रह से लिखी थी, यह सुझाया गया है कि भारत में गोवध के विरुद्ध हिन्दू-समाज में जो असंतोष है, उसे कैसे दूर किया जाय। एक विलक्षण साहित्यिक और उत्साही समाज-सुधारक और साहित्यिक कार्यकर्त्ता के रूप में अम्बिकादत्त व्यास का स्थान काफी ऊंचा है।

अम्बिकादत्त व्यास

बद्रीनारायण चौधरी

मिर्जापुर-निवासी बद्रीनारायण चौधरी, कला और साहित्य दोनों के माने हुए पारखी थे और भारतेन्दु के निकटतम मित्रों में से थे। उनका जन्म एक सम्पन्न जमींदार घराने में हुआ था और उनमें धनी लोगों के सभी गुण थे। उन गुणों में विशेष उल्लेखनीय उनकी नफासत और परिमार्जित शैली थी। वास्तव में सबसे पहले उनकी ख्याति का कारण उनकी भाषण-शैली थी और बाद में

बद्रीनारायण चौधरी

इसीके कारण उन्हें लिखने की प्रेरणा मिली। उन्हें सादगी पसन्द नहीं थी। इसलिए उनकी शैली में भी भारीपन है। इस दोष की क्षतिपूर्ति उनके साधारण हास्य और व्यंग्य से हो जाती है। उनका गद्य हँसी के मारे लोगों को लोट-पोट कर देता था।

बद्रीनारायण चौधरी ने बहुत-सी फुटकर कविताएं लिखी हैं और कुछ नाटक भी। इनमें प्रमुख हैं—'भारत सौभाग्य' और 'अखण्ड कादम्बिनी'। ये कृतियां तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, पर वास्तव में बद्रीनारायण ने हिन्दी की सेवा अनथक प्रचारक और साहित्य-सेवी के रूप में अधिक की।

श्रीनिवासदास आदि अन्य साहित्यकार

इन साहित्यिकों के अतिरिक्त भारतेन्दु के अनुयायियों में कई अन्य लेखकों तथा हिन्दी-सेवियों की भी गणना होती है, जिनके प्रयास से साहित्य की अभिवृद्धि हुई और हिन्दी-प्रसार का मार्ग प्रशस्त हुआ। उनमें दिल्ली-निवासी श्रीनिवासदास का नाम प्रथम है। भारतेन्दु की रचनाओं से प्रभावित होकर श्रीनिवासदास हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए और नाटकों में विशेष रुचि लेने लगे। इन्होंने 'प्रह्लाद-चरित्र', 'रणधीर' और 'प्रेम मोहिनी', 'तत्व संवर्ण नाटक' और 'संयोगिता स्वयंवर' नाम के नाटक लिखे। किन्तु सबसे अधिक सफल इनका 'परीक्षा गुरु' उपन्यास रहा, जो उस समय हिन्दी-पाठकों के लिए एक नई वस्तु थी। उपन्यास का विषय समाज-सुधार-सम्बन्धी है। दिल्ली-निवासी होने के कारण इनकी भाषा में खड़ी बोली के ठेठ रूप के दर्शन होते हैं।

'श्यामा स्वप्न' के लेखक, जगमोहनसिंह भी इसी श्रेणी में आते हैं। इस नाटक की नवीनता यह है कि इसमें ग्रामीण-जीवन की गरिमा और नदी-नालों तथा पर्वतों की सुषमा को चित्रित किया गया है। केशव भट्ट ने इसी समय 'शमशाद', 'सौसन' और 'सज्जाद संबुल' नामक नाटक लिखे। इन्होंने बिहार में हिन्दी-प्रचार का कार्य सफलतापूर्वक किया। एक और सज्जन, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है, मोहनलाल विष्णुलाल पाड्या थे। यद्यपि वह गुजराती थे, तथापि काशी-

वास के समय भारतेन्दु के संपर्क में आने के कारण हिन्दी की ओर खिंच गये। अपने जीवनकाल में इन्होंने बारह ग्रन्थ लिखे। प्रायः सभीकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। इन ग्रन्थों में सर्वप्रमुख 'रासो संरक्षा' है, जिसमें चंदवरदाई और पृथ्वीराज रासो का विस्तार से वर्णन है। इन्हीं व्यक्तियों में हम तोताराम हरिहर द्विवेदी, सीताराम, राजा रामपालसिंह, काशीनाथ खत्री और कार्तिकप्रसाद खत्री को भी गिन सकते हैं। इन सभीपर भारतेन्दु के व्यक्तित्व तथा उनकी रचनाओं का प्रभाव पड़ा था और सभीने हिन्दी में एक या अधिक ग्रन्थ लिखे। तोताराम अनथक हिन्दी-प्रचारक होने के अतिरिक्त भाषा-संवर्द्धिनी सभा के संस्थापक भी थे। इन्होंने कई मौलिक ग्रंथों का लेखन और कई ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद हाथ में लिया, किन्तु कुछ समाप्त न हो सकने के कारण और कुछ प्रेस में ही पड़े रह जाने के कारण प्रकाशित नहीं हो पाया। लेखक के रूप में इनकी ख्याति फिर भी बनी रही और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इन्हें अपना सभापति चुनकर तो इस तथ्य की और भी पुष्टि कर दी। हरिहर द्विवेदी ने ज्योतिष-शास्त्र पर हिन्दी में ग्रन्थ लिखा, जो एक नई परिपाटी का द्योतक था, किन्तु इसका साहित्यिक महत्व अधिक न था। सीताराम अपने हिन्दी-अनुवादों के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने उत्तरराम-चरित, मृच्छकटिक, मालविकाग्निमित्र, हितोपदेश और प्रजाकर्त्तव्य का हिन्दी-अनुवाद किया, जो इतना सुन्दर बन पड़ा कि आज भी प्रामाणिक माना जाता है। इसी प्रणाली का अनुसरण करते हुए इनके पश्चात गदाधरसिंह ने 'कादम्बरी' और बंगला से 'दुर्गेशनन्दिनी' के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराये। राजा रामपालसिंह ने सन् १८८३ में लंदन से 'हिन्दुस्तान' नामक एक हिन्दी पत्रिका निकाली। भारत लौटते ही इन्होंने इसे दैनिक रूप दे दिया और उसका नाम रखा 'हिन्दुस्तान'। इसके सम्पादकों में मदन-मोहन मालवीय, बालमुकुंद गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'प्रकाश' साप्ताहिक और 'प्रेमविलासिनी' मासिक निकाला। हिन्दी भाषा का प्रथम शब्दकोश तैयार करने का श्रेय भी इन्हींको है।

ऊपर कुछ प्रमुख साहित्य-प्रेमियों का परिचय दिया गया है, जिनके अध्यवसाय तथा तत्परता के फलस्वरूप हिन्दी-गद्य-साहित्य अपने ऊषा-काल में समृद्ध हो सका। ये सब समाज-सुधारक और संभवतः और भी बहुत-से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रेरणा ले साहित्य के मार्ग पर आगे बढ़े। सभीमें हिन्दी के लिए लगन थी। सभी हिन्दू-समाज में सुधार के समर्थक थे और सबने पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध अपने-अपने तरीके से आवाज उठाई और कार्य किया।

बीसवीं शती में और आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य की जो उन्नति और बहुमुखी विकास हुआ है, इन सेवाभावी समाज-सुधारक नेताओं को हमें उस विकास

की नीव डालनेवालों में समझना चाहिए। हिन्दी-साहित्य और भाषा के विकास में इन सभीका योगदान बहुमूल्य है और भावी साहित्य पर उनका प्रभाव स्पष्ट है। निस्सन्देह इन सबने हिन्दी-साहित्य की सेवा की है, किन्तु यहां हमारे लिए इनके कार्य और समाज-सेवा का साहित्य-सेवा से भी अधिक महत्त्व है। हिन्दी-साहित्य-जगत में इनका पहला स्थान समाज-सुधारक के रूप में है और समाज-सुधार के कार्य की प्रगति के साथ-साथ हिन्दी-भाषा का विकास भी हुआ, यह हमें स्वीकार करना होगा। इसलिए निजी अधिकार और क्षेत्र में ये लोग नेता भी कहे जा सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के विकास में इनके ऐतिहासिक महत्व को यदि हम छोड़ दें तो हिन्दी-विकास-दर्शन में कुछ कमी रह जायगी। अतः इन सभीका थोड़े-बहुत अंश में जो योग हिन्दी को मिला है, उसका परिचय उनके कार्य-कलापों द्वारा देकर ही मैंने संतोष किया है। वास्तव में इस युग का सामाजिक दृष्टिकोण, समाज-सुधार का कार्य और तत्कालीन समाज को ऊंचा उठानेवाली प्रवृत्तियां ही एक प्रकार से प्रेमचन्द-साहित्य का आधार हैं। अतः इस युग की एक मजबूत कड़ी को यथास्थान जोड़ने से ही आगामी *राष्ट्रीय चेतना के युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार मिल सकता है, अन्यथा* इन सबकी चर्चा हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विषय है, जिसका विवेचन अनेक ग्रन्थों में हो चुका है।

अध्याय : ७

राजनीतिक चेतना

जो जन-आन्दोलन धार्मिक जागरण और समाज-सेवा की भावना के रूप में आरम्भ हुए, उन्हींके फलस्वरूप धीरे-धीरे शिक्षित समाज में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। लोग अपने देश की पराधीन स्थिति समझने लगे और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राष्ट्रोन्नति की बात करने लगे। देश पर अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य हो चुका था और सन् १८५७ का संघर्ष भी शासकों द्वारा दबा दिया गया था। अब यह स्पष्ट हो गया था कि भारत की स्थिति इंग्लैण्ड के उपनिवेश से बढ़कर और कुछ नहीं। उस समय के कुछ साहित्यिकों ने निर्भीकता से इन भावनाओं को व्यक्त किया और शासकों पर भी छींटे कसे। हमने इससे पूर्व के प्रकरण में कहा है कि भारतेन्दु की विचारधारा और रचनाओं में राष्ट्रीय तत्व स्पष्ट दिखाई देता है। उनके समकालीन नेताओं में ऐसे बहुत-से थे, जो समाजसुधार के समर्थक और पुराने रूढ़िवाद के घोर विरोधी थे, किन्तु राष्ट्र की स्वाधीनता की कल्पना का उदय अभी नहीं हुआ था। सन् १८५७ की जनक्रांति के समय लोग विदेशी सत्ता से देश की मुक्ति के स्वप्न अवश्य देखने लगे थे, किन्तु साधारणतः लेखकवर्ग ने अभी राष्ट्रवादी विचारों को अपने लेखन का विषय नहीं बनाया था। इस दिशा में भारतेन्दु अग्रिम पंक्ति के लोगों में थे, जिन्होंने सुधार के अर्थ को व्यापक बनाकर उसमें देश की स्वाधीनता को भी समाविष्ट कर लिया था। समाज-सुधार-सम्बन्धी विचार लोगों को आन्दोलित कर चुके थे। परिवर्तन और सुधार के पक्ष में नेता भाषण ही नहीं देते थे, उनके लेखों के प्रकाशन के लिए पत्र-पत्रिकाएं भी देश के विभिन्न भागों में प्रकाशित होने लगी थीं। सन् १८५७ की जन-क्रान्ति के दमनचक्र के बाद समस्त देश में यह धारणा स्थिर हो चुकी थी कि पराधीनता का चक्र अब कुछ समय तक अवश्य चलेगा। इसलिए जो शक्तियां पहले समाज-सुधार और सांस्कृतिक विषयों को उभारती थीं, वे ही अब देश की स्थिति की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट करने लगीं। चेतना की परिधि धीरे-धीरे विस्तृत होने लगी और उसमें सामाजिक हित के साथ-साथ राष्ट्रीयता का भी समावेश होने लगा।

राष्ट्रीय कांग्रेस से पूर्व की कुछ प्रमुख संस्थाएं

यह चेतना के जाग्रत होने का समय था। कोई राष्ट्रीय संस्था ऐसी नहीं थी, जो जनमत को शासकों तक पहुंचा सके। सरकारी धरातल पर सुधार की जो

बात होती थी, वह प्रशासनिक संशोधनों के अन्तर्गत ही रहती थी। इस अवसर पर जन-जागरण को सबसे अधिक सहायता कुछ स्थानीय संगठनों अथवा समितियों से मिली। बंगाल, मद्रास, बम्बई और देश के अन्य भागों में कुछ संस्थाओं का गठन हुआ, जो दबी जुबान से राष्ट्रीय हितों की चर्चा करने लगीं। इन संस्थाओं का जन्म चाहे किसी भी उद्देश्य से हुआ हो, राष्ट्रीय चेतना में इन सभीका योगदान है। इस काल को (सन् १८५७ से १९००, *जिसे हमने प्रारंभिक माना है*) सबसे बड़ी घटना समाज-सुधार के लिए प्रत्यक्ष आन्दोलन और इन संस्थाओं द्वारा राष्ट्रीय चेतना का बीजारोपण है। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में जे. नटराजन ने इन संस्थाओं की पूर्ण सूची दी है और इनमें महत्व को आंकते हुए लिखा है कि इन संस्थाओं ने ही सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इन्हीं-के कारण सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने उत्तर और पश्चिमी भारत का सन् १८७८-७९ में विस्तृत दौरा किया और छः वर्ष बाद एक अखिल भारतीय संस्था के लिए भूमि तैयार की।[१] संक्षेप में इन संस्थाओं का परिचय इस प्रकार है।

१. ब्रिटिश इंडियन ऐसोसियेशन—यह संस्था बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जमींदारों का संगठन था, जिसकी स्थापना सन् १८५१ में हुई। संस्था का 'हिन्दू पेट्रियट' नामक पत्र भी था, जिसके रामगोपाल घोष और राजेन्द्रलाल मित्र जैसे प्रसिद्ध विद्वान संपादक रह चुके थे। जमीदारों की संस्था होने के कारण यह ऐसो-सिएशन निजी हितों पर ही अधिक विचार करती थी और जब कभी सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय महत्व के विषय इसके सामने आते थे, तो स्वभावतः उसका विवेचन नरम भाषा में होता था। फिर भी इस संगठन द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय और विभिन्न समस्याओं को जनता के सामने रखने का यदा-कदा अवसर मिलता था। किन्तु साधारण लोग एक और संस्था की आवश्यकता महसूस करने लगे, जो उन्हीं समस्याओं का अधिक साहस के साथ विवेचन कर सके।

२. यह संस्था थी, बंगाल नेशनल लीग। इसकी स्थापना 'अमृतबाजार पत्रिका' के तत्कालीन सम्पादक, शिशिरकुमार घोष ने सन् १८७० में की। छः वर्ष बाद इसी संस्था का स्थान 'इंडियन एसोसिएशन' ने ले लिया। यह संस्था अधिक सक्रिय और सतर्क थी। इसके सदस्यों की संख्या बराबर बढ़ती गई। राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीयता-सम्बन्धी प्रश्नों पर यह अधिक साहस के साथ अपने विचार व्यक्त करने के लिए कुछ ही वर्षों में प्रसिद्ध हो गई। इसके प्रमुख कार्यकर्ता सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और आनन्दमोहन बोस थे।

३. बम्बई एसोसिएशन (१८८०)—बम्बई की यह संस्था बंगाल की

[१] 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन जर्नलिज्म'—भाग २,—पृष्ठ ८६

इंडियन एसोसिएशन के ठीक अनुरूप थी। इसके संस्थापक थे दादाभाई नौरोजी और मंगलदास नाथुभाई। ये लोग भी स्पष्ट वाद-विवाद और राष्ट्रीयता की ओर झुकाव के लिए विख्यात थे। इस संस्था के विचारणीय विषयों में प्रायः भारतीय जनता की कठिनाइयों और सरकार की दमन-नीति का समावेश रहता था।

४. मद्रास नेटिव एसोसिएशन (१८८१) और पूना की सार्वजनिक सभा, जिसका नाम बाद में महाजन सभा कर दिया गया था, की स्थापना भी सन् १८८१ में ही हुई। इन दोनों संस्थाओं के नियम, उपनियम तथा कार्यप्रणाली प्रायः बंगाल तथा बम्बई की संस्थाओं के सदृश ही थे।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय जो लोकचेतना देशभर में उद्भासित हुई थी और जिसकी चर्चा लंदन तक के समाचार-पत्रों में भी होती थी, वह इन्हीं संस्थाओं के कार्य का फल थी। इन सब संस्थाओं की कार्यप्रणाली में बहुत-कुछ साम्य था। सभीके सदस्यों में प्रदेश-विशेष के उच्चतम शिक्षित, विशेषकर पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित वर्ग के नेता, सम्मिलित थे, जिनकी समाज में ही नहीं अपितु अंग्रेज अधिकारियों में भी प्रतिष्ठा थी। प्रत्येक संस्था का कम-से-कम एक मुखपत्र था, जिससे उन्हें प्रचार-कार्य में विशेष सहायता मिलती थी। सभी संस्थाएं अपने वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर विवरण प्रकाशित करती थीं, जिनमें वर्षभर की गतिविधि का उल्लेख रहता था। सभीका उद्देश्य लोकमत को जागृत करना था और राष्ट्र की आवश्यक समस्याओं में जन-साधारण की रुचि उत्पन्न करना था। बंगाल के नेताओं ने इस नवचेतना को जगाने में सर्वप्रथम भाग लिया। इन नेताओं में विपिनचन्द्र पाल और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे महान जननायक सम्मिलित थे। ब्रह्म-समाज की स्थापना से जो जागृति पूर्वी भाग में उत्पन्न हुई, उन्नीसवीं शती की समाप्ति तक और बंग-भंग के आन्दोलन के समय वह चरम सीमा पर पहुंच गई। इस घटना के दो सुपरिणाम हुए—एक तो बंगाल का विभाजन देशव्यापी प्रश्न बन गया और दूसरे, समस्त देश का वातावरण राजनीतिमय हो गया। भारत के आधुनिक इतिहास के विद्यार्थी इस बात से सहमत हैं कि इस आन्दोलन ने देश में आधुनिक राजनीति की नींव डाली और भारतीय जनता को अंग्रेजी सरकार के विरोध का प्रथम पाठ पढ़ाया।

क्रांतिकारी विचार-धारा

इस आन्दोलन का एक और परिणाम यह हुआ कि वातावरण के राजनीतिमय होने के साथ-साथ उसमें कुछ उग्रता आ गई। कम-से-कम बंगाल के बारे में यह कहा जा सकता है कि वहां के एक शिक्षित वर्ग में क्रांतिकारी विचारधारा ने जन्म लिया। इसका सर्वप्रथम स्वरूप सन् १९०६ में अनुशीलन-समितियों की स्थापना

था। बंगाल में स्थान-स्थान पर ऐसी समितियां संगठित की गईं। यद्यपि बाह्यरूप से इनका उद्देश्य धार्मिक तथा सांस्कृतिक था, किन्तु वास्तव में स्वाधीनता-प्राप्ति इनका लक्ष्य था। एक वर्ष बाद ही इस संस्था की शाखाएं असम, बिहार, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और पूना तक फैल गईं। इस प्रकार देशभर में क्रांतिकारी भावना व्याप्त हो गई। खुले आम विप्लव की बात होने लगी और अरविन्द घोष जैसे नेताओं का सम्बन्ध इस आन्दोलन से जुड़ गया। संस्था के मुखपत्र 'युगान्तर' (१२ अगस्त, १९०७) में इस प्रकार लिखा गया—"यदि विप्लववादी देशी सिपाहियों में गुप्तरीति से स्वतंत्रता का मंत्र फूंक दें तो बड़ा काम हो सकता है। शासकों से खुल्लमखुल्ला युद्ध करने का समय आ जाने पर यही नहीं कि इतने सैनिक सहायता के लिए मिल जायंगे वरन् वे अस्त्र-शस्त्र भी हाथ लग जा सकते हैं, जिनसे शासकों ने उन्हें सुसज्जित किया है। इसके अतिरिक्त यदि अंग्रेजों के दिल पर पूरी तरह दहशत जमा दी जाय, तो उनका सारा जोश और हिम्मत ठंडी पड़ जायगी।" कुछ ही दिनों में सरकारी आदेश से पत्र बन्द कर दिया गया, किन्तु इस-के बन्द हो जाने पर भी विप्लव के बोये गए बीज नष्ट नहीं हो सके और इस राज-नीतिक चेतना ने इन्हें अंकुरित किया तथा प्रस्फुटित होकर ये सब दिशाओं में फैल गये। इसके फलस्वरूप पंजाब में गदर पार्टी और उत्तर प्रदेश में मातृदेवी जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ और लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द आदि पर अभियोग चलाये गए। उधर महाराष्ट्र में तिलक की उग्र राजनीति का स्फुरण हुआ। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना की यह विचारधारा बंगाल में ही सीमित नहीं रही, किन्तु क्रांतिपूर्ण जोश के वेग से अन्य प्रदेशों में भी पहुंची तथा उन सब प्रदेशों की भाषाओं को उसने नये विचार प्रदान किये। हिन्दी लेखक तथा कवि सहज ही इस विचारधारा से प्रभावित हुए और उन्होंने इस राष्ट्रीय चेतना को अपनी भावाभि-व्यक्ति का विषय बना लिया। उस समय के क्रांतिकारी शहीद गेंदालाल दीक्षित ने 'शिवाजी-समिति' की स्थापना प्रयाग में की। वह हर समय यह गाया करते थे—

"यदि देशहित मरना पड़े मुझको सहस्रों बार भी
तो भी न मैं इस कष्ट को ध्यान में लाऊं कभी।"

उनकी संस्था का नारा था—'भाइयो आगे बढ़ो, फोर्ट विलियम छीन लो।'[1] इन्हीं दिनों नवजात राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर मैथिलीशरण गुप्त ने भी निम्न पंक्तियां लिखी थीं—

"दीन हैं हम किन्तु रखते मान हैं
भव्य भारतवर्ष की संतान हैं

[1] भगवानदास केला—'भारतीय स्वाधीनता आंदोलन'—पृष्ठ ७४

न्याय से अधिकार अपना चाहते
कब किसीसे मांगते हम दान हैं।"[१]

स्वाधीनता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने यह कविता सन् १९१२ में लिखी थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नव-चेतना ने हिन्दी को अनुप्राणित किया और हिन्दी-साहित्य में राजनीतिक विचारधारा ने प्रवेश किया।

विप्लववादी विचारधारा के अतिरिक्त इसी समय कांग्रेस में नरमदलीय विचारधारा का जन्म हुआ। वास्तव में उस समय कांग्रेस पर नरमदल का ही अधिकार था और उसके अग्रणी नेताओं में गोखले, रानाडे, श्रीनिवास शास्त्री, सी. वाई. चिन्तामणि, मोतीलाल नेहरू तथा मदनमोहन मालवीय थे। विप्लवकारी आन्दोलन तत्कालीन कांग्रेस के लिए एक नई वस्तु थी, फिर भी कांग्रेस इस आन्दोलन के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। कांग्रेस बंग-भंग का विरोध उस समय पूरे जोर से कर रही थी। अन्ततोगत्वा बंगाल का पुनः एकीकरण हुआ। उसके तीन वर्ष बाद महासमर आरंभ हो गया और आगामी तीन-चार वर्षों तक राष्ट्रीय आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के कारण धीमी गति से चलता रहा।

गांधीजी का राजनीति में प्रवेश और असहयोग-आंदोलन

इस बीच में महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत आ गये थे और उन्होंने देश की राजनीति में भाग लेना आरंभ कर दिया था। युद्ध की समाप्ति के बाद जो घटनाएं घटी, उनके कारण कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम में परिवर्तन हुआ और कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में आ गया। जलियांवाला बाग का हत्याकांड और असहयोग-आन्दोलन ने स्थिति एकदम बदल डाली। वातावरण में राजनीति पहले से ही व्याप्त थी, अब क्षोभ की ज्वाला भड़क उठी। यह स्वातंत्र्य-संग्राम का आरम्भ था। गांधीजी के नेतृत्व में अब कांग्रेस ने अंग्रेजी सत्ता से अहिंसात्मक युद्ध की रणभेरी बजा दी। समस्त देश असहयोग-आन्दोलन के लिए तैयार हो गया और राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस देश-व्यापी आन्दोलन का संचालन आरम्भ किया। यह आन्दोलन स्वाधीनता के लिए संघर्ष था। भारत की दूसरी भाषाओं की तरह इस आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दी भी लोकप्रिय हुई और इसके कलेवर में बहुत वृद्धि हुई। गांधीजी के नेतृत्व और उनकी धारणाओं के कारण हिन्दी को अब अखिल भारतीय भाषा के रूप में देखा जाने लगा। गांधीजी ने आधुनिक आवश्यकता के आधार पर और नवीनतम युक्तियों के बलपर हिन्दी पठन-पाठन और हिन्दी-शिक्षा को राष्ट्र-निर्माण के कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बना दिया। अहिन्दी प्रांतों में

[१] श्री मैथिलीशरण गुप्त के सौजन्य से

हिन्दी का प्रचार और राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत रचनाओं का निर्माण होने लगा। इस प्रकार गांधीजी ने स्वामी दयानन्द के स्वप्न को साकार किया।

"आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास का इतिहास स्वतंत्रता-आंदोलन के पटल पर लिखा गया है। विदेशी सरकार और देश की जनता के विद्रोह की पूरी अनुभूति और उसका विकास हिन्दी-साहित्य की विभिन्न धाराओं में विकसित हुआ है, हिन्दी गद्य का विकास सरकारी सहयोग के फलस्वरूप नहीं हुआ।"[१] यज्ञदत्त शर्मा का यह कथन सत्य है और गत सौ वर्ष के घटनाक्रम पर पूरा उतरता है। हिन्दी की यह विशेषता रही है कि देश के जनसाधारण की भाषा के रूप में इसे सभीने स्वीकार किया। यह सब होते हुए भी हिन्दी भाषा का विस्तार इस कारण भले ही हुआ हो, किन्तु इसके साहित्य के निर्माण का आधार असंदिग्धरूप से वे जन-आन्दोलन थे, जिन्हें कोई दल विशेष नहीं अपितु जनता और उसकी उद्वेलित भावनाएं स्वयंमेव आगे ढकेलती हैं। वह सचेत साहित्यकारों की जागरूक रचनाओं से विकसित हुआ है। यही तत्व भारत की अन्य भाषाओं और साहित्य के विकास में भी सहायक हुए।

असमी, उड़िया, बंगला, तमिल, तेलुगू इत्यादि सभी भाषाओं का साहित्य इस बात का प्रमाण है कि इन भाषाओं का विकास राष्ट्रीय आन्दोलन के निनाद से ध्वनित हुआ है और राष्ट्रीय नेताओं के पद-चिह्नों पर चला है। वर्तमान समय में साहित्य अकादमी जैसी संस्थाओं द्वारा विविध भाषाओं के साहित्य का जो सर्वेक्षण हुआ है, वह भी इस विचार को पुष्ट करता है। असमिया साहित्य के संबंध में बिरंचिकुमार बरुआ लिखते हैं—"राष्ट्रीय चेतना ने, जो आधुनिक असमिया साहित्य के अभ्युदय का स्रोत मानी जाती है, आधुनिक लेखकों को बहुमुखी अभिव्यक्ति प्रदान की और सभी दिशाओं में साहित्य की धारा प्रवाहित हो उठी।"[२]

यही स्थिति हम उड़िया भाषा के साहित्य में पाते हैं। उड़िया-साहित्य का दिग्दर्शन कराते हुए चिच्छन्द चरण पट्टनायक ने इस आन्दोलन के प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है—"सन् १९२१ के प्रारंभ में इंडियन नेशनल कांग्रेस ने महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक

---

१ यज्ञदत्त शर्मा 'हिन्दी का विकास'—पृष्ठ १

२ "The national consciousness which has been said to be the source of the renaissance of modern Assamese literature found in the hands of these writers, and others who moved within their orbit, a many-sided expression."

—'Contemporary Indian Literature'—Page 3.

असहयोग मन्त्र से दीप्त होकर सारे भारत में जातीयता की जो आग जलाई थी, उससे उत्कल बरी नहीं रह सका था। इसी अभिनव मन्त्र में दीक्षित होकर श्री बांछानिधि महान्ति और श्री वीर किशोरदास आदि कई कवियों ने सरल-तरल भाषा तथा सुमधुर संगीतात्मक कविताओं के द्वारा जिस नूतन अग्निमयी उत्तेजना का प्रवाह इस देश में प्रवाहित किया था, वह आज भी लोकचित्त में अंकित है। गोपबन्धु चौधरी के अथक परिश्रम से 'उत्कल सम्मिलनी' सामयिक रूप से कांग्रेस के साथ मिल गई थी। फलतः उत्कल का जातीय भाव महाभारतीय भाव में बदल गया। सन् १९२१ के पहले और बाद की ओड़िया जातीय कविताओं के निरीक्षण से मालूम पड़ता है कि उनमें क्रमशः उत्कल और फिर भारत को मुख्य स्थान दिया गया है। भारत को विदेशी शासकों की लौह शृंखला से मुक्त कराने और स्वाधीन भारत की प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए इस अहिंसा-आन्दोलन ने साहित्य-निर्माण की दिशा में भी जिस आश्चर्यजनक उन्मादना की सृष्टि की थी, उसके सर्वश्रेष्ठ प्रतीक उत्कल के सत्यवादी बकुलवनविद्यालय के अधिनायक सर्वस्व-त्यागी गोपबन्धु दास हैं। इसके पहले गोपबन्धु ने यथाअवसर अपनी विभिन्न चिन्ताओं के आश्रय से कई छोटी-छोटी कविताओं की रचना की थी, जिनमें उत्कल के अधःपतन तथा निपीड़ित जनता के प्रति गंभीर सहानुभूति का स्पष्ट चित्रण हुआ था। सन् १९२३-२४ में जब वह विहार के हजारीबाग जेल में कारादण्ड भोग रहे थे, उसी समय उन्होंने 'काराकविता', 'बन्दीर आत्मकथा', 'धर्मपद', 'गोमहात्म्य' और 'ब्रह्मतत्व' आदि पुस्तकों की रचना की थी। उन पुस्तकों में उनके कविमानस के अनिन्द्य चित्र दिखाई पड़ते हैं। उग्र जातीय भाव, अत्याचारी विदेशी शासक के कुशासन के प्रति कठोर विद्रूप, देश के अधःपतन के प्रति गंभीर सहानुभूति, देश और जातिकी कल्याण-कामनामें आत्मोसर्गकी मनोवृत्ति—ये सभी उन रचनाओं में अपने प्रकाश से उद्दीप्त हो उठे हैं। 'धर्मपद' गोपबन्धु के कवि-मानस की एक अमर सन्तान है। इसकी निर्जीव कहानी प्रतिभा के स्पर्श से एक नये आलोक में उद्भासित हो उठी है। ओड़िया लोगों के मन की जड़ता दूर करना, कूपमण्डूकपना छोड़ समूचे भारत तथा विश्व के प्रति इनकी दृष्टि को विकसित करना, ओड़ियाओं

गोपबन्धु चौधरी

के हृदय में प्रलय की ज्वाला प्रज्वलित करना और उन्हें नये जीवन से भर देना ही गोपबन्धु के जीवन का उद्देश्य था। अनुमान है कि उन्हींके हाथों 'समाज' पत्रिका के द्वारा ओड़िया गद्य अपनी स्वाभाविक अवस्था की ओर पुनः लौट आया।"[१]

बंगला भाषा के साहित्य पर इस राष्ट्रीय चेतना का जो प्रभाव पड़ा, वह सर्वविदित है। उसका पर्याप्त उल्लेख इस प्रबन्ध में इतस्ततः हो चुका है। मराठी और गुजराती साहित्य पर आधुनिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया रानडे, तिलक, और महात्मा गांधी के जीवन तथा रचनाओं से ही स्पष्ट है, जो इन परिस्थितियों को जन्म देनेवालों में अग्रणी रहे हैं।

दक्षिण की दो भाषाओं के साहित्य-सरोवर में इस देशभक्ति की भावना और गांधीजी के आह्वान ने कैसी लहरें पैदा कीं, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण भी हमें देखने को मिलता है। तमिलनाद के सुविख्यात लेखक मीनाक्षी सुन्दरन् लिखते हैं कि "प्रह्लाद और सन्त अप्पर की निर्भयता की ओर दक्षिण की जनता का सदा आकर्षण रहा है। इसलिए यदि महात्मा गांधी के अहिंसात्मक युद्ध ने भी उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया और उनमें प्रेरणा भर दी तो इसमें आश्चर्य ही क्या।... उन लोगों के लिए देशभक्ति एक धार्मिक कर्त्तव्य और स्वातंत्र्य-संग्राम नटराज के तांडव का प्रतीक बन गया।"[२]

गांधी-युग के आविर्भाव के समय तेलुगु साहित्य में कई प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। विभिन्न प्रवृत्तियों में भी राष्ट्रवादी चेतना ने इस भाषा के विकास पर भी प्रभाव डाला। हनुमत् शास्त्री ने इस विषय में लिखा है—

"गांधीजी के नेतृत्व में जब सन् १९२० से भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक राष्ट्रीयता की लहर दौड़ी तब तेलुगु-साहित्य के क्षेत्र में एक स्वच्छ राष्ट्रीय काव्यधारा बह पड़ी।"[३]

---

[१] 'राष्ट्रभाषा रजतजयन्ती ग्रंथ'—पृष्ठ २११-१२

[२] "To the Tamilian has always appealed the way of Prahlada and Saint Appar, the first great Satyagrahi of South India with his rallying cry: 'We are slaves of none; We fear no Death' against the force and power of the Pallava King. No wonder, Mahatma Gandhi soon became the idol and in his 'war without the sword or blood' the Tamilians took an important part, from his South African day. Mahatma Gandhi and his Satyagraha, touching the very heart of Tamil-land, had inspired the Tamil songs of what may be called the Gandhian Era...Patriotism becomes there a religious duty and the freedom movement itself becomes a dance of the Eternal, sure of its success and consummation, in that divine Drama of Shakti."

—'Contemporary Indian Literature'—Page 233-9.

[३] 'तेलुगु और उसका साहित्य'—पृष्ठ ७९

इस संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार ने संपूर्ण भारतीय साहित्य को कितना अधिक प्रभावित किया और स्वातंत्र्य-संग्राम से उत्पन्न भावनाओं के संस्पर्श से किस प्रकार देश की सभी जन-वाणियां झंकृत हो उठीं। किन्तु गांधीजी द्वारा अपनाई राष्ट्रभाषा हिन्दी की गूंज इन सब भाषाओं के साहित्य में सर्वाधिक मुखरित हुई और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति का वह केन्द्र बन गई। इस प्रकार "विवर्तन के एक ही आकुल क्षण में एक युग का आविर्भाव होता है। राष्ट्रीयता और जातीयता के पुनरुन्मेष के साथ आस-पास के जगत तथा पश्चिम के अनाहूत अतिथि सम्राट की यथार्थमूलक स्वीकृति और तज्जन्य प्रतिक्रिया दिखाई देती है। राष्ट्र अपनी समष्टि के लिए पुनर्मूल्यांकन में संलग्न होता है और हिन्दी-साहित्य में इसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है, यह एक तात्कालिक और सहज प्रतिक्रिया थी।"[१]

यही प्रतिक्रिया हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुई। हम देख चुके हैं कि ब्रह्म-समाज और विशेषकर आर्यसमाज के आन्दोलन ने किस प्रकार हिन्दी-पत्रकारिता के जन्म और उसके संवर्द्धन में योग दिया। उस धार्मिक और सामाजिक जागरण को इन हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने घोषित किया और इस प्रकार हिन्दी-गद्य के प्रसार तथा परिमार्जन में सहायता की। किन्तु बीसवीं शताब्दी में कांग्रेस के सत्याग्रह-आन्दोलन की राष्ट्रीय चेतना ने पूर्व शताब्दी की पत्रों-सम्बन्धी गति-विधि को भी फीका कर दिया। अब हिन्दी पत्र प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर गये और सच्चे अर्थों में भारतीय जनता के प्रवक्ता के रूप में प्रकाशित होने लगे। प्रायः सम्पादन का कार्य करनेवाले अपने क्षेत्रों के प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्ता होते थे। जब पत्रों का संचालन ऐसे सम्पादक करें, जो नेता भी हों और स्वयं भी लेख लिखें तो पत्रों के प्रभाव का व्यापक होना और उनका लोकप्रिय हो जाना स्वाभाविक ही है।

हिन्दी-पत्रकारिता में राष्ट्रीयता का बीजारोपण क[illegible] ता। उसे सिंचित कर पल्लवित एवं पुष्पित करने में सर्वश्री राजा राममोहन राय, [illegible]जा रामपालसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, लोकमान्य तिलक (हिन्दी केसरी पूना के सम्पादक व संस्थापक), गांधीजी, मदनमोहन मालवीय, सुभाषचन्द्र बोस, राजेन्द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, नरेन्द्रदेव, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी,

[१] 'हिन्दी अनुशीलन' में नन्ददुलारे वाजपेयी के लेख 'राष्ट्रीय चेतना' से—पृष्ठ ५२

कृष्णकान्त मालवीय, द्वारकाप्रसाद मिश्र, कमलापति त्रिपाठी, हरिभाऊ उपाध्याय, आदि समाज-सुधारकों, राजनेताओं अथवा क्रांतिकारी लेखकों के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने हिन्दी-पत्रकारिता के माध्यम से स्वतन्त्रता-संग्राम में योग देने के लिए अपूर्व त्याग किये तथा कारावास आदि की अनेक यातनाएं सहीं।

हिन्दी और स्वातंत्र्य-संग्राम

जो भाषा सदियों से सभी प्रकार के सार्वजनिक आन्दोलनों के लिए दर्पण के समान रही हो, यह असंभव था कि आधुनिक युग के महानतम आन्दोलन से वह प्रभावित न होती। समस्त उत्तर, मध्य और पूर्वी भारत में जहां हिन्दी बोली और समझी जाती है, हिन्दी लेखकों ने अपनी भाषा की परंपरा के अनुसार स्वाधीनता-संग्राम में आरंभ से ही बढ़-चढ़कर भाग लिया और देशभक्ति के गीत गाये, जिससे जन-मानस में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ और इस प्रकार नव-जागृति के इस आन्दोलन ने नये गीतों को जन्म दिया। वास्तव में हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिए गत पचास वर्षों में जितनी प्रेरणा राष्ट्रीय भावना से मिली, इतनी संभवतः और किसी तत्व से नहीं मिली। स्वाधीनता के लक्ष्य ने हिन्दी को अधिक उन्नत किया अथवा हिन्दी ने राष्ट्रीय भावना को अधिक बढ़ावा दिया, यह एक विचारणीय विषय है। यही कहा जा सकता है कि आधी शताब्दी तक ये दोनों अन्योन्याश्रित रहे। राष्ट्रीय चेतना अथवा उदात्त जातीय भावना का साहित्य से कितना घनिष्ठ संबंध है, इस विषय पर नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं कि इस चेतना के "विशिष्ट स्वरूप को मूर्त्त किये बिना साहित्य अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण नहीं रख सकता और न वह सार्वभौम ही बन सकता है। वह मात्र शैली-शिल्प अथवा सिद्धान्त-प्रवचन बन जायगा। राष्ट्र या जाति के विशिष्ट अस्तित्व से युक्त न होने के कारण उसकी जीवन-शक्ति क्षीण और निष्प्रभ रहेगी।... अतएव यदि हम यह जानने का प्रयत्न करें कि वर्तमान समय में हमारी विशिष्ट राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप क्या है और उसकी गहरी गतिविधि किस दिशा में है, तो यह उचित ही होगा।"[१] इस उक्ति की सार्थकता सार्वभौम है, और हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिपात करने से इस कथन का प्रमाण सहज ही मिल जायगा।

स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं को यदि हम लें तो उनमें से अधिकांश हिन्दी के समर्थक थे और हैं, यहांतक कि स्वयं महात्मा गांधी ने हिन्दी-प्रचार को अपने रचनात्मक कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बनाये रखा। जबसे उन्होंने कांग्रेस का नेतृत्व संभाला तभीसे हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा। स्वयं हिन्दी

[१] 'हिन्दी-अनुशीलन' (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)—पृष्ठ ५२

सीख लेने और दूसरों को हिन्दी पढ़ने का परामर्श देने तक ही उनका हिन्दी-प्रेम सीमित नहीं था। सन् १९१८ में ही उन्होंने अहिंदी प्रांतों में हिन्दी-प्रचार के लिए एक बृहत् संस्था (दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा) की स्थापना की। उनकी इन सेवाओं के कारण ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें दो बार (सन् १९१८, १९३५) वार्षिक अधिवेशनों का सभापति चुना। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतिपद से भाषण देते हुए सन् १९१८ में महात्मा गांधी ने कहा था—

"आपने मुझे इस सम्मेलन का सभापतित्व देकर कृतार्थ किया है। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से मेरी योग्यता इस स्थान के लिए कुछ भी नहीं है, यह मैं खूब जानता हूं। मेरा हिन्दी भाषा का असीम प्रेम ही मुझे यह स्थान दिलाने का कारण हो सकता है। मैं उम्मीद करता हूं कि प्रेम की परीक्षा में मैं हमेशा उत्तीर्ण होऊंगा।

"साहित्य का प्रदेश भाषा की भूमि जानने पर ही निश्चित हो सकता है। यदि हिन्दी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रान्त की होगी, तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी, तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। जैसे भाषक वैसी भाषा। भाषा-सागर में स्नान करने के लिए पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर से पुनीत महात्मा आयेंगे, तो सागर का महत्व स्नान करने-वालों के अनुरूप होना चाहिए। इसलिए साहित्य-दृष्टि से भी हिन्दी भाषा का स्थान विचारणीय है।"[१]

इस प्रकार हिन्दी से प्रत्यक्ष नाता जोड़कर और सार्वजनिक रूप से उसे समस्त राष्ट्र की भाषा स्वीकार करके इस नवनिर्माण के युग में उन्होंने हिन्दी को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर किया और इस भारती के आराधकों में नवीन उत्साह तथा प्रेरणा का संचार किया।

हिन्दी भाषा और स्वातंत्र्य-संग्राम को दृष्टि में रखते हुए नवोदित विचार-धाराओं और उनके प्रभाव पर विचार करना यहां आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य और स्वाधीनता-संग्राम की क्रमिक उन्नति में लगभग कार्य-कारण का सम्बन्ध है। प्रथम महायुद्ध के समय और तुरन्त उसके बाद जनजागरण की पहली लहर देशभर को विलोड़ित कर चुकी थी। जनता में राष्ट्रीयता की भावना, विदेशी शासन से मुक्त होने की महत्वाकांक्षा और राष्ट्र को उन्नत करने की उत्कट इच्छा के कारण जो वातावरण पैदा हुआ, उसके संचित बल से एक ओर असहयोग-

[१] 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ १०-११

आन्दोलन चला और दूसरी ओर भारतीय विचारकों और शिक्षित समाज ने प्रेरणा की खोज में देश के गौरवमय अतीत की छानबीन की। वास्तव में यह प्रक्रिया १९वीं शताब्दी के मध्य से चली आ रही थी, किन्तु २०वीं शताब्दी में वह फलित होने लगी। हिन्दी उपन्यास और कहानी का सामाजीकरण इसी प्रक्रिया के पुष्पित होने से हुआ और प्रेमचन्द इसके सर्वोत्तम फल हुए। हिन्दी कथा-साहित्य तिलस्म और ऐयारी की परिधि से निकलकर वास्तविक-जीवन की ओर बढ़ा। हिन्दी के प्रायः सभी लेखक अपनी लेखनी लेकर स्वाधीनता-आन्दोलन के अविभाज्य अंग बन गये।

कांग्रेस और हिन्दी

राष्ट्रीय कांग्रेस के सर्वमान्य सूत्रधार गांधीजी बन गये थे, इसलिए भाषा के प्रश्न पर उनके विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उनके सम्मुख जो राजनीतिक कार्यक्रम था, उसमें वह भाषा को महत्वपूर्ण स्थान देते थे। इसीलिए हिन्दी के संबंध में उनकी मान्यता उनका व्यक्तिगत विचार न रहकर कालान्तर में कांग्रेस की नीति बन गई। हिन्दी के पक्ष में अपने विचार व्यक्त कर देने मात्र से गांधीजी को संतोष नहीं हुआ। हिन्दी-प्रचार को और विशेषकर अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था करने को उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन का स्थायी कार्यक्रम बना दिया और इस प्रकार हिन्दी-प्रसार देश की राजनीति का एक अंग बन गया। कांग्रेस में उन दिनों अधिकतर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का ही बोलबाला था। संस्था का समस्त कार्य अंग्रेजी भाषा में चलता था और इसके वार्षिक सम्मेलनों में अंग्रेजी से अनभिज्ञ किसी भी व्यक्ति के लिए भाग लेना संभव न था। गांधीजी के विचारों का उनके साथियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि कांग्रेस के अधिवेशनों में हिन्दी के प्रयोग जैसे क्रान्तिकारी प्रस्ताव पर भी किसीने आपत्ति नहीं की। गांधीजी के अनुरोध के फलस्वरूप सन् १९२५ में कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में हिन्दी-सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ और वह पास हो गया। प्रस्ताव इस प्रकार था—

"कांग्रेस की यह सभा प्रस्ताव पास करती है कि कांग्रेस, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और वर्किंग कमेटी की कार्रवाई आम तौर पर हिन्दुस्तानी में चलेगी। अगर कोई वक्ता हिन्दुस्तानी न जानता हो या दूसरी आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी या प्रान्तीय भाषा इस्तेमाल की जा सकती है। प्रांतीय कमेटियों की कार्रवाई आम तौर पर प्रांतीय भाषाओं में चलेगी। हिन्दुस्तानी भी इस्तेमाल की जा सकती है।"

इस प्रस्ताव के संबंध में गांधीजी ने निम्न टिप्पणी लिखी थी—"हिन्दुस्तानी के उपयोग के बारे में जो प्रस्ताव पास हुआ है, वह लोक-मत को बहुत आगे ले जानेवाला है। हमें अबतक अपना काम-काज ज्यादातर अंग्रेजी में करना पड़ता है, यह निस्सन्देह प्रतिनिधियों और कांग्रेस की महासमिति के ज्यादातर सदस्यों पर होनेवाला एक अत्याचार ही है। इस बारे में किसी-न-किसी दिन हमें आखिरी फैसला करना होगा ही। जब ऐसा होगा तब कुछ वक्त के लिए थोड़ी दिक्कतें पैदा होंगी, थोड़ा असन्तोष भी रहेगा। लेकिन राष्ट्र के विकास के लिए यह अच्छा ही होगा कि जितनी जल्दी हो सके, हम अपना काम हिन्दुस्तानी में करने लगें।"[१]

इसके बाद से हिन्दी को और अधिक प्रोत्साहन मिला। हिन्दी-भाषी कार्यकर्ता अधिकतर हिन्दी में ही भाषण देने लगे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि कांग्रेस-अधिवेशनों का विवरण, जो अभी तक केवल अंग्रेजी में ही तैयार और प्रकाशित होता था, अब हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में छपने लगा। अखिल भारतीय कांग्रेस के कार्यालय से परिपत्र और कुछ पत्र-व्यवहार अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी में भी होने लगा। तीसरी बात यह हुई कि वार्षिक अधिवेशनों में सभापति का भाषण चाहे अंग्रेजी में पढ़ा जाता हो, किन्तु उसकी प्रकाशित प्रतियां हिन्दी में भी बांटी जाने लगीं। इस प्रकार हिन्दी को निर्विवाद रूप से राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता दी गई।

कांग्रेस के मंच से इस नीति का कभी विरोध नहीं हुआ। सभी गुटों के लोगों अथवा विभिन्न भाषा-भाषियों द्वारा इस प्रणाली का समर्थन होता रहा। हां, कुछ वर्षों बाद सन् १९३९ में गांधीजी ने हिन्दी की परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया। उसे हिन्दुस्तानी का नाम देकर उसमें देवनागरी तथा उर्दू लिपि दोनों को स्थान दे दिया।

२३ मई, १९३६ के 'हरिजन सेवक' में 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा—

"हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू एक ही भाषा के मुख्तलिफ नाम हैं। हमारा मतलब आज एक नई भाषा बनाने का नहीं है, बल्कि जिस भाषा को हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू कहते हैं, उसे अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनाने का हमारा उद्देश्य है। मैं मानता हूं कि श्री कन्हैयालाल मुंशी ने 'हंस' की भाषा के समर्थन में जो कहा है, वह सही है। तमिल या तेलुगु की किसी चीज का उल्था आप हिन्दी या हिन्दुस्तानी में करें, और उसमें संस्कृत शब्द न आयें, यह हो नहीं सकता, उनका आना करीब-करीब लाजिमी है, क्योंकि उनमें संस्कृत शब्द बहुत ज्यादा हैं। यही

[१] 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ २५

हाल अरबी लफ्जों का है। अरबी की किसी चीज का तर्जुमा अगर हम हिन्दी या हिन्दुस्तानी में करने बैठें, तो उसमें अरबी शब्दों को आने से हम रोक नहीं सकते। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के हिन्दी या हिन्दुस्तानी अनुवाद में अगर संस्कृत शब्दों को, जिनकी कि बंगाली भाषा में भरमार है, इरादतन् बचाया जाय, तो उसमें जो लालित्य या माधुर्य है, वह बहुत कम हो जायगा। अगर मौलवी अब्दुलहक-साहब और आकिलसाहब जैसे साहित्यिक मुसलमान चाहते हैं कि आम जबान को सिर्फ हिन्दुओं द्वारा बोली जानेवाली भाषा का रूप लेने से बचाना जरूरी है, तो उन्हें इसमें अपना खास योग देना होगा। अगर मैं हटा सकूं तो मैं उनके दिमागों से उर्दू-रूप को खालिस मुसलमानों की जबान मानने का खयाल हटा दूं, जिस तरह कि मैं साहित्यिक हिन्दुओं का यह खयाल दूर कर दूं कि हिन्दी तो सिर्फ हिन्दुओं की भाषा है। अगर दोनों के दिलों से यह खयाल जुदा नहीं होता, तो उत्तर भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों की कोई आम जबान नहीं बन सकती, फिर उसे आप चाहे किसी भी नाम से पुकारें। इसलिए यहां हमें कम-से-कम नाम के ऊपर झगड़ने की जरूरत नहीं। अगर पूरी सच्चाई के साथ आपका मतलब एक जबान का है, तो आप उसे चाहे जो नाम दे सकते हैं।"[१]

इसी संबंध में राजेंद्रबाबू ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं—

"कांग्रेस के विधान में जहां भाषा का जिक्र है वहां न 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार किया गया है न 'उर्दू' शब्द का, बल्कि वहां 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही इस्तेमाल हुआ है। जब गांधीजी ने दक्षिण भारत में राष्ट्रभाषा का प्रचार १९१८ में आरम्भ किया था तब हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में ही आरम्भ कराया था। उसी समय वह इन्दौर में साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। कांग्रेस के विधान में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यवहार महात्माजी और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने ही किया था। उनके ही शब्द को कांग्रेस ने मान लिया था। दक्षिण भारत में जिस सभा के द्वारा राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम-काज भी किया जा रहा है, उसका नाम दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा है। इससे स्पष्ट है कि गांधीजी ने जबसे इस काम को हाथ में लिया है, उन्होंने हिन्दी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषा नहीं माना है। यद्यपि दोनों की शब्दावली में अन्तर है और वह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, तथापि दोनों का व्याकरण प्रायः एक ही है और वह व्याकरण दूसरी किसी भाषा के व्याकरण से पूरा-पूरा नहीं मिलता। भाषा-तत्वविदों का कहना है कि भाषा की विभिन्नता शब्दावली से उतनी नहीं होती, जितनी उसके वाक्यों की गढ़न और व्याकरण के नियमों के कारण होती है। इसलिए यह मानना अनुचित और भाषा-

१ 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ ७४-७५

विज्ञान के नियमों के प्रतिकूल नहीं है कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा का नाम है अथवा एक ही भाषा की दो शैलियां हैं, दो विभिन्न भाषाएं नहीं।"[१]

हिंदी के प्रसार पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिंदी और हिन्दुस्तानी भाषाओं को सदा ही कांग्रेस-आन्दोलन तथा उसकी कार्य-प्रणाली से यथेष्ट बल और प्रोत्साहन मिलता रहा। कम-से-कम अहिन्दी क्षेत्रों के संबंध में कहा जा सकता है कि उनमें हिन्दी और हिन्दुस्तानी पर जोर देने से कोई अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि देवनागरी अक्षर ही उन क्षेत्रों में सुगमता से सीखे जा सकते थे। संस्कृत जाननेवाले लोग पहले ही इनसे परिचित थे। अन्य लोगों के लिए भी फारसी वर्णमाला की अपेक्षा हिन्दी लिपि सजातीय होने के कारण कहीं अधिक सरल है।

भाषा में व्यापक विषय-वस्तु

उन्नीसवीं शती के आरम्भ में हिन्दी अधिकतर धार्मिक और भक्ति-भाव-संबंधी अथवा नायक-नायिका-भेद-संबंधी विचारों की ही वाहिनी थी। कालान्तर में उसमें सामाजिक विचारधारा का समावेश हुआ। उन्नीसवीं शती के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों द्वारा हिन्दी-गद्य को विकास का अच्छा अवसर मिला। बीसवीं शती में जब हिन्दी राजनीतिक आन्दोलन की सहचरी हो गई, तो इसका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया। आधुनिक राजनीति स्वयं एक व्यापक विषय है। प्रशासन, उद्योग-धन्धे, अर्थशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, और चालू विषय इसके प्रधान अंग हैं। धीरे-धीरे हिन्दी इन सभी विषयों के विवेचन का माध्यम बन गई।

कांग्रेस जन-आन्दोलन के केन्द्र बम्बई, कानपुर, अहमदाबाद जैसे नगर तो थे ही, जहां बड़े-बड़े उद्योग और कारखाने स्थापित हैं, उसके साथ ही इस आन्दोलन का जोर छोटे शहरों में और विशेषकर कच्चे घरौंदों में रहनेवाली ग्रामीण जनता में भी कम न था। इतने अधिक और विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित जनसाधारण के आह्वान के लिए हिन्दी को अपनी शब्दावली और शैली दोनों को ही विस्तृत और व्यापक बनाना पड़ा। और फिर वर्षों तक अ. भा. कांग्रेस का प्रधान कार्यालय स्वराज्य भवन, इलाहाबाद में रहा। वहां के हिन्दीमय वातावरण का भी प्रधान कार्यालय के कर्मचारियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। फिर भी, इस विभिन्नता के दिग्दर्शन के लिए यदि हम कांग्रेस की ही विभिन्न गति-विधियों का विवेचन करें तो पर्याप्त होगा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का कार्य अनेक विभागों में विभा-

[१] 'आत्मकथा'—पृष्ठ ४५२-३

जित था, जिनकी संख्या समय-समय पर आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती गई। कुछके नाम और उनके कार्य की व्याख्या नीचे दी जाती है—

१. विशुद्ध राजनीतिक कार्य—इसका संबंध सरकार से पत्र-व्यवहार, सरकारी नीति की प्रतिक्रिया, कांग्रेस के राजनैतिक ध्येय तथा कार्य-प्रणाली की परिभाषा आदि से था। यह विभाग प्रशासन की विभिन्न प्रणालियों और राजनीति के विभिन्न सिद्धान्तों के अध्ययन में भी दिलचस्पी रखता था। जनतंत्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद आदि का विवेचन और इनकी टीका-टिप्पणी उस समय काफी होती थी। आचार्य नरेन्द्रदेव व संपूर्णानन्दजी के लेख व कृतियां इसका उदाहरण हैं।

२. विदेश-विभाग—यह विभाग विदेशी गतिविधि का विशेष रूप से अध्ययन करता था। उन दिनों राष्ट्र-संघ की गतिविधियों में भारत की बहुत दिलचस्पी थी। इटली और अबीसीनिया की घटनाओं, जर्मनी में हिटलर की बढ़ती हुई शक्ति और नाजीवाद का उदय, विदेशी सत्ता के अधीन दलित देशों के स्वातंत्र्य-आन्दोलन—इन सब बातों के विशेष अध्ययन और कांग्रेस की प्रतिक्रिया ज्ञापित करने के लिए इस विभाग का सगठन किया गया था।

३. आर्थिक विभाग—इस विभाग के अन्तर्गत छोटे और बड़े उद्योग-धंधे, श्रम-समस्या, कामगरों का सगठन, सरकार की आयात-निर्मात-नीति तथा उसकी आलोचना, देश का आर्थिक कल्याण कैसे हो और जनसाधारण के रहन-सहन का स्तर कैसे बढ़ाया जाय, इन सब बातों का संबंध था। रचनात्मक कार्यक्रम भी इसी विभाग के अन्दर आता था। अब कांग्रेस-कार्यालय से 'आर्थिक समीक्षा' नामक पत्रिका भी निकल रही है।

४. कृषक-विभाग—भारत किसानों का देश है। कांग्रेस ने दूसरे विश्व-युद्ध से पहले ही यह समझ लिया था कि वह सच्ची सार्वजनिक संस्था तभी बन सकती है जब किसानों के दिल में उसका आदर हो। इसके अतिरिक्त भारत का किसान अत्यधिक शोषित और दलित रहा है। उसकी दरिद्रता और निरीहता विश्वविख्यात है। किसान की अपनी आर्थिक और सामाजिक समस्याएं भी अगणित हैं। इन सबका समाधान करने के लिए कांग्रेस ने पहले ही से एक कार्यक्रम का निर्माण किया था। विभिन्न प्रान्तों में लगान-संबंधी स्थिति विभिन्न प्रकार की थी। उसका अध्ययन करना और समस्याओं के समाधान के लिए उचित सुझाव देना, इस विभाग का काम था।

५. शिक्षा—हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की स्थापना गांधीजी ने सन् १९३७ में की। शिक्षा के क्षेत्र में यह सबसे बड़ा कार्य था, जो अभी भी चल रहा है।

इसके अन्तर्गत बुनियादी शिक्षा-प्रणाली का विकास किया गया है और उसे नियम-बद्ध कर व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जा रहा है। स्वाधीनता से पहले यह सब कार्य कांग्रेस-सचिवालय में विशेष रूप से तथा तत्संबंधी अन्य संस्थाओं में किया जाता था।

६. समाज-सेवा—इस विभाग के अन्तर्गत हरिजनोद्धार का कार्य सबसे महत्वपूर्ण था। गांधीजी की दृष्टि में हरिजन-सेवा और दलितवर्ग के लोगों की स्थिति में सुधार, उनके सामाजिक कार्यक्रम का अविभाज्य अंग था। इसके लिए अलग से अखिल भारतीय 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गई, जिसकी शाखाएं सभी प्रान्तों में बनी।

कहना न होगा कि इन सब विभागों का काम-काज अधिकतर चाहे अंग्रेजी में होता हो, फिर भी बहुत-कुछ धीरे-धीरे हिन्दी में होने लगा, विशेषकर प्रांतीय कांग्रेस कमेटियां और व्यक्तिगत कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने की प्रवृत्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती गई। चूंकि इन सभी विभागों के वार्षिक विवरण अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही में प्रकाशित होते थे, इसके कारण हिन्दी में विवरण-शैली की भाषा परिमार्जित हुई, शब्द-भंडार बढ़ा, वस्तु-विषय व्यापक होता गया। वास्तव में सन् १९३७ में जब पहली बार उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, मध्य प्रदेश और बम्बई में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने और हिन्दी-भाषी प्रान्तों ने हिन्दी के प्रयोग पर जोर दिया, तो उसका आधार और बातों के साथ हिन्दी के क्षेत्र में कांग्रेस का अपना अनुभव भी था। हिन्दी भाषा के इतिहास में राष्ट्रीय आन्दोलन, विशेषकर कांग्रेस के कार्यक्रम द्वारा, जो प्रोत्साहन मिला है, महत्व की दृष्टि से उसकी तुलना हम मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य से ही कर सकते हैं।

कांग्रेस के नेतृत्व में स्वाधीनता-आन्दोलन के उतार-चढ़ाव का प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य के उतार-चढ़ाव पर काफी पड़ा। उदाहरणार्थ जब नये संविधान के अनुसार सन् १९३७ के आम चुनावों में कांग्रेस की भारी विजय हुई और छः प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों का निर्माण हुआ, उससे हिन्दी को असाधारण बढ़ावा मिला। प्रान्तीय विधान-सभाओं और राजनीतिक क्षेत्रों में हिन्दी को विशेष स्थान मिल जाने के कारण पुराने हिन्दी पत्रों का महत्त्व बढ़ा और नवीन पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। बिहार, मध्यप्रदेश, मध्य भारत, उत्तर प्रदेश और पंजाब में नये दैनिकों और साप्ताहिकों ने जन्म लिया। पटना से 'राष्ट्रवाणी', 'नवराष्ट्र' और बाद में 'आर्यावर्त', नागपुर से 'नवभारत', लखनऊ से 'हुंकार', इलाहाबाद से 'श्री विजय', खंडवा से 'कर्मवीर', दिल्ली से 'वीर अर्जुन' और 'महारथी' और लाहौर से 'शक्ति' दैनिक इत्यादि ऐसे पत्र हैं, जिनका प्रकाशन आरम्भ

हुआ अथवा जिन्हें कांग्रेस के सत्तारूढ़ होने से विशेष बल मिला। प्रायः ये सभी पत्र कांग्रेस-दल अथवा उसके समर्थकों द्वारा संचालित तथा संपादित होते थे।

हिन्दी को प्रोत्साहन वैधानिक और प्रशासनिक गतिविधि के अतिरिक्त उस समय के सार्वजनिक वातावरण से भी मिला। सन् १९३७ में कांग्रेस ने जन-सम्पर्क-विभाग के नाम से एक नई शाखा खोली। इस विभाग का प्रायः समस्त कार्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी, के माध्यम से होता था, जिसने देहातों में हिन्दी-प्रचार को प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रीय नेताओं की अनूदित रचनाएं

इस युग के हमारे राष्ट्रीय नेताओं में बहुत-से नेतागण जननायक ही नहीं थे, साहित्य-स्रष्टा भी थे। उनकी उच्च शिक्षा-दीक्षा, पाश्चात्य विचारधारा का अध्ययन, उनकी आदर्शवादिता और सार्वजनिक आन्दोलन के नेता के रूप में तप और त्याग का जीवन—ये सब बातें साहित्यरचना के लिए सर्वोत्तम पृष्ठ-भूमि बन गईं। कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के हाथ में आने से पहले हमारे राज-नीतिक जीवन में दादाभाई नौरोजी, गोखले, तिलक, लाला लाजपतराय, पं. मदनमोहन मालवीय, अरविन्द घोष, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, विपिनचन्द्र पाल जैसे नेता थे, जो धुरन्धर विद्वान् भी थे। इनमें से सभीने समकालीन साहित्य को समृद्ध किया और उसपर अपनी छाप छोड़ी है। उसी परंपरा में गांधीजी आये और उनके साथ मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल, चित्तरंजन दास, भूलाभाई देसाई, सरदार पटेल, सुभाषचन्द्र बोस, मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य नरेन्द्रदेव, मौलाना आजाद, महादेवभाई देसाई, किशोरलाल मशरूवाला, काका कालेलकर, बी. जी. खेर, ग. वा. मावलंकर, टी. प्रकाशम्, श्रीनिवास शास्त्री, तेजबहादुर सप्रू, डा. अम्बेदकर, सरोजनी नायडू, डा सच्चिदानन्द सिन्हा, राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, पट्टाभि सीतारमैय्या, विनोबा भावे, कृपलानी और जयप्रकाश नारायण आदि भी राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए। इन सभीने अंग्रेजी अथवा विभिन्न भारतीय भाषाओं में विशुद्ध साहित्यिक विषयों से लेकर राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्म आदि अनेक आधुनिक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। राजाजी जैसे व्यक्तियों का कथा-रस भी हिन्दी जगत् को मिला। पर हिन्दी में विशेष रूप से जो ग्रन्थ लोकप्रिय हुए, वे राष्ट्रीय नेताओं की आत्मकथाएं हैं।

साहित्य के विकास में आत्मचरितात्मक लेखनकला महत्त्वपूर्ण प्रगति की द्योतक है। प्रारम्भ में जब मनुष्य ने पढ़ने-लिखने की कला सीखी, तब सर्वप्रथम

उसके मानस पर आसपास के वातावरण का प्रभाव अंकित होना स्वाभाविक था और जब यह कला उसने हस्तगत की अथवा उसे इसमें कुछ क्षमता प्राप्त हुई तब तज्जिनत प्रभाव की प्रतिक्रिया ही उसके रचित साहित्य में उद्भासित हुई। बड़ी-बड़ी नदियों, ऊंचे पर्वतों, विशाल सागर, विस्तृत आकाश, चांद और सूरज, संक्षेप में, प्रकृति की सभी प्रेरक शक्तियों ने मानव के मानस में अक्षय प्रेरणा को जन्म दिया। जब इन शक्तियों ने मानव-जीवन को अभिभूत किया तो मानव-हृदय से उनके प्रति कुछ भय और कुछ आदर-मिश्रित भाव अभिव्यक्त हो उठे। प्रकृति की प्रशंसा में उसने स्तोत्र और गीत रचकर मानों उसके अदृश्य प्रकोप को शान्त करने के लिए भावों का अर्घ्य चढ़ाया। उसने प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मान अर्चना की। प्रकृति की नीराजना के लिए बनी इस भावभूमि में साहित्य का जन्म हुआ।

मानव-मन अधिकाधिक विकसित होता चला गया और मनुष्य-जीवन की कला से तो क्या जीवन के रहस्य से भी पूर्णतः अभिज्ञ बन गया। जीवन की रहस्यपूर्ण बातों और बहुमुखी समस्याओं को जानने और समझने के लिए वह तत्पर और सन्नद्ध था। मानव-मन की इस विकासधारा के साथ साहित्य-सरिता भी आगे बढ़ती चली। भौतिक विज्ञान, वर्णनात्मक रचनाओं, कविता और कहानी जैसी मनोरंजक कलाओं इत्यादि के साथ-साथ आत्मगत अनुभवों की अभिव्यक्ति को भी अब मार्ग मिला। हमारे प्राचीनतम साहित्य में अभी भी इस प्रकार के साहित्य की सर्वोत्तम कृतियां मिलती हैं। भारत में गौतम बुद्ध और महावीर के प्रवचनों और उपदेशों के विभिन्न संग्रहों में आत्मचरितात्मक तत्व मिलते हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य में भी वही विचारधारा दिखाई देती है। यह कौन नहीं जानता कि प्रारम्भिक ईसा-काल की रचनाओं के लेटिन साहित्य - सेन्ट ऑगास्टीन कन्फेशन्स' और कासानोवा की 'आत्मकथा' का बहुत ऊंचा स्थान है। फ्रांसीसी क्रांति के पूर्व और उन वर्षों में जब गिलोटीन द्वारा सैकड़ों व्यक्तियों की जानें ली जाती थीं उस समय तत्कालीन राजनीतिक क्रांति के आधार पर अनेक पुस्तकें लिखी गई। उन रचनाओं में एक रचना, जिसका अभी भी अध्ययन किया जाता है और जो करीब ५० वर्षों तक यूरोपीय विचारधारा को प्रभावित करती रही, रूसो की 'कन्फेशन्स' नामक आत्मकथा थी।

महान पुरुषों की आत्मकथाओं का और उनके समान ही जीवन-चरितात्मक साहित्य का मानव-हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। परिणामतः ऐसी रचनाओं की गहरी छाप समकालीन साहित्य पर पड़ती है और दीर्घकाल तक ये रचनाएं साहित्य का मार्ग प्रशस्त करती हैं। वर्तमान भारतीय साहित्य भी इस

विचारधारा से प्रभावित हुआ है और इस आत्मचरितात्मक लेखनकला की ओर नेताओं के सहज झुकाव को पुष्ट करता है। राजनीतिक क्रांति और सतत संघर्ष में भारतीय साहित्य ने अपनी सभी भाषाओं तथा अंग्रेजी में भी आशातीत प्रगति की है। इस काल में केवल राजनीतिक या ऐतिहासिक ही नहीं किन्तु साहित्यिक रचनाएं भी बहुत बड़े परिमाण में हुई हैं। क्रांति के विचार, मुक्तिकरण के आदर्श और जनजीवन में रचनात्मक कार्य की प्रेरणा, इन सबको इस साहित्य में पूरी अभिव्यक्ति और अभिव्यंजना मिली है। तत्संबंधी सभी कृतियां साहित्य की दृष्टि से अनुपम हैं, किन्तु हमारे नेताओं के जीवन-चरित्र की कहानियां और उनकी आत्मकथाओं का उसमें विशेष स्थान है।

केवल साहित्य और उसके विकास की दृष्टि से ही इन कृतियों का विशेष महत्व नहीं अपितु जो प्रभाव इन कृतियों ने समकालीन विचारधारा पर डाला है और जो अभी भी उसे प्रभावित कर रही हैं तथा भारतीय मानस को चित्रित करने में इनका जो हिस्सा है, उसके कारण इनका विशेष महत्व है। जब हम इस पर विस्तार से विचार करते हैं तो हमें यह अनुभव होता है कि ये थोड़ी-बहुत कृतियां हमारे साहित्याकाश में ध्रुव तारे की तरह अटल और स्थिर रूप से अपनी प्रतिभा ,बिखेरती हैं।

वर्तमान युग के साहित्य का दर्शन करते समय हमारे सामने काफी संख्या में उन व्यक्तियों की आत्मकथाएं और उनकी जीवनियां मिलती हैं, जो अपने समय में राजनीतिक अथवा सामाजिक जनक्रांति के अगुआ रहे हैं तथा जो स्वतन्त्रता-संग्राम में जनता-जनार्दन के माने हुए नेता रहे हैं। इनमें सबसे प्रथम और सबसे आगे महात्मा गांधी का नाम है। उनकी 'सत्य के प्रयोग' नामक आत्मकथा एक महान् रचना है, केवल इसलिए नहीं कि वह भारत के एक सर्व-मान्य नेता की आत्मकथा है, परन्तु उसकी निजी विशेषता और महत्व है। उसकी शैली, तत्कालीन समस्याओं के प्रति लेखक का दृष्टिकोण और उसमें निहित विचार-सामग्री पर लेखक ने अपने ऊंचे चरित्र और प्रतिभा की अमिट छाप डाल दी है। इस प्रकार यह आत्मकथा स्वाधीनता के महान आन्दोलन की, जिसका गांधीजी ने नेतृत्व किया और जो उस समय भारत में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उच्च शिखर पर पहुंच गया, पृष्ठभूमि का उज्ज्वल दर्शन करवाती है। इस आत्मकथा का गांधीजी के अनुगामियों पर और इस भारी अहिंसक आन्दोलन में जो रुचि रखते थे, उनपर बहुत प्रभाव पड़ा। इस आत्मकथा ने गांधीजी के आदर्शों के सत्य रूप को केवल भार-तीयों के लिए ही नहीं, बल्कि समस्त मानव-जाति के कल्याणार्थ प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट कर दिया। इसलिए इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि गांधीजी की इस

आत्मकथा को उनके जीवन के अनुभवों और सत्य के प्रयोगों की एक अमूल्य निधि माना जाता है।

सत्य के प्रयोगों की इस कहानी के साथ-साथ इसी शताब्दी में कुछ अन्य आत्मकथाएं भी प्रकाश में आईं। प्रमुख रूप से इनमें लाला लाजपतराय, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद[1] और कतिपय अन्य व्यक्तियों की आत्मकथाएं हैं।

इस काल में शायद पहली बार हमें एनी बेसेन्ट और विजयालक्ष्मी पंडित जैसी महिलाओं द्वारा लिखित जीवन-गाथाएं प्राप्त हुईं। इन सभी आत्म-कथाओं ने समकालीन इतिहास के साहित्य में श्रीवृद्धि की है, विशेषतया स्वाधीनता की ओर अग्रसर होनेवाले आन्दोलन के इतिहास को इन पन्नों में सुरक्षित करके भारत की इस युग की विचारधारा को प्रभावित किया है, जिससे आधुनिक साहित्य भी विकसित हुआ। यह सारा ही आत्मकथा-साहित्य बड़ा मूल्यवान और उत्कृष्ट है। इस युग की प्रेरणा-शक्ति इसमें निहित है।

आत्मचरितात्मक साहित्य का यह एक विशेष गुण है कि समकालीन साहित्य-कारों के लिए वह एक उदाहरण प्रस्तुत करता है, उनके सामयिक विचारधारा-संबंधी ज्ञान में अभिवृद्धि करता है और पाठकों को चिर नवीन प्रेरणा प्रदान करता है।

हिन्दी भाषा और साहित्य पर इनके अनूदित भाषणों का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, इन राष्ट्रीय नेताओं का हिन्दी की प्रगति में काफी योगदान रहा। इस अनूदित साहित्य के कारण हिन्दी परिमाण की दृष्टि से ही समृद्ध नहीं हुई, विषय वैभिन्य की दृष्टि से भी बहुत लाभान्वित हुई।

राजनैतिक नेता और हिन्दी

राष्ट्रीय नेताओं ने स्वातंत्र्य-आन्दोलन की अवधि में जो साहित्य निर्माण किया, भाषा उससे अवश्य समृद्ध हुई, किन्तु सभी रचनाएं विशुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आती। इस साहित्य का कुछ अंश विवरणात्मक, वर्णनात्मक अथवा राष्ट्रीय जीवन के कुछ पहलुओं से संबंधित होने के कारण असाहित्यिक भी कहा जा सकता है।

स्वातंत्र्य-संग्राम से संबंधित नवचेतना के युग में हिन्दी भाषा और साहित्य की जो अपूर्व अभिवृद्धि हुई, उसका श्रेय राजनीतिक नेताओं को दिया जाता है।

---

[1] राजेन्द्रबाबू ने अपनी आत्मकथा मूलरूप से हिन्दी में लिखी है। अन्य सबकी अनूदित हैं।

'आजाद' जैसे वलि होनेवाले शहीदों की आहुतियां पड़ीं, जिससे क्रांति की ज्वाला भड़क उठी। त्याग और बलिदान की ये कहानियां इस युग के साहित्य-सृजन की पृष्ठभूमि बन गईं। कवि ने भावुकतापूर्ण स्वरों में इन आत्माओं को श्रद्धांजलि अर्पित की, कथाकार ने इन घटनाओं को कथा में गूंथकर अमरत्व प्रदान किया और उपन्यासकार न इस आन्दोलन के सम्यक् दृश्य को राष्ट्रीय पटल पर चित्रित कर भारत के साहित्य को उज्ज्वल किया। अपने जीवनकाल में नेताओं ने भी अपने कृत्यों, वाणी तथा लेखनी द्वारा राष्ट्रीय आदर्शों को मूर्तिमान किया। हिन्दी भाषा और साहित्य को इससे युगान्तरकारी गति मिली। इस भाषा का क्षेत्र अधिक व्यापक होने के और सर्वसम्मति से हिन्दी राष्ट्र की प्रतिनिधि भाषा होने के कारण उसे इन प्रवृत्तियों से विशेष व्यापकता मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य-संग्राम और तज्जन्य मानस-मंथन से हिन्दी भाषा तथा साहित्य अनेकानेक रत्नों से अलंकृत हुआ। इस मानस-मंथन की गति तीव्र हो रही है और भिन्न-भिन्न दिशाओं में अग्रसर हो रही है। देश की नवीन राजनीतिक और सामाजिक परि-स्थितियां और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र इस मंथन को नाना प्रकार से आन्दोलित कर रहा है। परिणाम भी इसके विविध होंगे, किन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से उनके सार्थक होने में कोई संदेह नहीं है।

इसी आन्दोलन के कारण साहित्य के विभिन्न अंग भी समृद्ध हुए। साहित्य की जिन परंपराओं का आरंभ उस समय हुआ, वे ही परंपराएं द्वितीय महायुद्ध के समय और फिर स्वाधीनता के बाद पुष्ट होकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के रूप में सामने आ रही है। परिस्थितियों से निस्सदेह साहित्य प्रभावित हुआ है और हो रहा है, किन्तु मूलतः अभी भी राष्ट्रीय भावना और गांधीवाद ही इसे प्रेरित करने-वाली शक्तियों में है। नवीन धाराएं और नये विचार पुरानी धारा में आ मिले हैं, किन्तु उसका स्थान प्राप्त नहीं कर सके हैं।

अध्याय : ८

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

(सन् १८५६-१९२०)

भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक विकासक्रम में लोकमान्य तिलक एक आवश्यक लड़ी हैं। उन्हें प्राय: भारतीय प्रजातंत्र का पिता कहा जाता है। हमारे देश की जो दो विचारधाराएं थीं—गांधी-जी से पूर्व (सन् १९१७ तक) और गांधीजी द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करने के बाद—इन दोनों धाराओं को मिलाने का कार्य लोकमान्य ने किया। यद्यपि यह महत्वपूर्ण कार्य अधिकतर राज-नीति से संबंध रखता है, परन्तु लोकमान्य की सार्वजनिक सेवाओं का प्रभाव साहित्य के क्षेत्र पर भी पड़ा और हिन्दी भी इससे अछूती नहीं रही। वास्तव में जिन परि-स्थितियों और प्रयत्नों को हिन्दी के उन्नयन का श्रेय दिया जाता है, उनके निर्माण में लोकमान्य तिलक का काफी बड़ा हाथ है, और इसीलिए मैं समझती हूं कि उनके योगदान का मूल्यांकन हमारे प्रयास के लिए आवश्यक है।

लोकमान्य तिलक

साहित्य-निर्माता

लोकमान्य तिलक का सार्वजनिक जीवन राजनीतिक कार्य तक ही सीमित नहीं था। वास्तव में अध्ययन, अध्यापन तथा लेखन को उनका सर्वप्रथम व्यसन कहा जा सकता है। राजनीति से बाहर उन्होंने जो कार्य किया, उसपर हम तीन प्रकार से विचार कर सकते हैं। लोकमान्य लेखक के रूप में, पत्रकार के रूप में और शिक्षक के रूप में।

अधिकांश लोग लोकमान्य को 'गीता-रहस्य' के लेखक और प्राचीन भारत के इतिहास-वेत्ता के रूप में जानते हैं। संस्कृत और ज्योतिषशास्त्र के विद्वान होने के नाते और प्राच्य विद्या के गहन अध्ययन के कारण, उन्होंने जो कुछ लिखा

उसे प्रामाणिक माना गया। इतिहास, भारत-विज्ञान (इंडोलोजी) और पुरातत्व-विज्ञान आदि पर जो टीकाएं उन्होंने लिखीं, उन्हींके आधार पर वह अपने समय के प्रथम श्रेणी के लेखकों में गिने जाने के अधिकारी हैं।

तिलक के संबंध में यह कहा जाता है कि वह लेखक पहले थे और राजनीतिज्ञ बाद में। यदि देश की दयनीय स्थिति और दुखी जनता की पुकार सुनकर वह राजनीति की ओर न खिंचे होते, तो हमारे साहित्य-भंडार को 'गीता-रहस्य' जैसे अनेक ग्रंथ मिल गये होते। तिलक के मुख से निकले हुए उद्‌गारों से भी इस धारणा की पुष्टि होती है—**"मेरी हार्दिक इच्छा पर विचार किया जाय तो वह प्रोफेसर बनकर ग्रन्थ निर्माण करने की ही जान पड़ेगी, क्योंकि मुझे परिस्थिति के अन्याय से राजनैतिक क्षेत्र में उतरना पड़ा या सम्पादक बनना पड़ा।"**[1]

तिलक के संघर्षमय जीवन ने उनकी लेखनी को और भी सबल बना दिया। उसमें कर्म था और उस कर्म का महत्व था। वह कर्म से अपनी आत्मा को ऊंचा उठाना चाहते थे। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए उनके पास सबसे बड़ा शस्त्र अगर कोई था तो वह थी उनकी लेखनी, जिसका उन्होंने भरसक उपयोग किया और जिस उपयोग का व्यापक और चमत्कारी प्रभाव सभी स्वीकार करते हैं।

विभिन्न विषयों पर अनेक फुटकर लेखों के अतिरिक्त तिलक ने तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनमें प्रथम 'गीता रहस्य' है। दूसरे ग्रन्थ हैं 'ओरायन' (मृगशीर्ष) और 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' (आर्य लोगों का मूल वसित स्थान)। स्पष्ट है कि ये दोनों ही ग्रंथ प्राच्यविद्या और भारत-विज्ञान-संबंधी विषयों पर हैं। संस्कृत के पंडित होने के साथ-साथ तिलक वैदिक साहित्य तथा प्राच्यविद्या के भी विद्वान थे और इस विषय पर प्रायः निबन्ध, लेख आदि लिखते रहते थे। इससे पहले लोग ऐसा समझते थे कि भारतीय संस्कृति तथा उसकी प्राचीनता आदि के संबंध में अनुसन्धान केवल विदेशी विद्वान ही करते हैं। तिलक का अपना अनुसंधान-कार्य इस धारणा के अपवाद स्वरूप है। सभी विशेषज्ञों ने यह स्वीकार किया कि 'ओरायन' ने जो नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, **"उसके अनुसार अब सारा प्राचीन साहित्य नये ढंग पर तैयार करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है।"**[2] 'ओरायन' का प्रकाशन सन् १८९३ में हुआ। दस वर्ष बाद 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज'

[1] कृपाशंकर—'राष्ट्रनिर्माता तिलक'—पृष्ठ २२२

[2] हापकिन्स विश्वविद्यालय (अमरीका) के डा० ब्लूमफील्ड का मत—पांडुरंग गणेश देशपांडे द्वारा लिखित 'लोकमान्य तिलक' में उद्धृत—पृष्ठ २००

प्रकाशित हुई, जिसमें वेदों की प्राचीनता के संबंध में और अधिक प्रमाण तथा निश्चित मत प्रकट किये गए। बोस्टन (अमरीका) विश्वविद्यालय के आचार्य डा. वारन ने इस पुस्तक के संबंध में लिखा है—

"अपने सिद्धान्त को प्रस्थापित करने के लिए इस पुस्तक के लेखक ने जितने प्रमाण दिये हैं, वे इतने सशक्त और निर्णायक हैं कि ऐसे प्रमाण अबतक किसी भी प्राच्य-विद्या-विशारद ने कभी नहीं दिये। उनका खोजा हुआ सिद्धान्त शास्त्रीय पद्धति की कसौटी पर सोलहों आने सही उतरता है। अब यह प्रश्न नहीं रहा कि आर्यों का मूल स्थान कौन-सा है।"[1]

'गीता रहस्य' के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। गीता के कर्मयोग पर जितनी टीकाएं आधुनिक समय में प्रकाशित हुई हैं, उनमें दो सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं—तिलक का 'गीता रहस्य' और अरविन्द घोष का 'गीता दर्शन'। 'गीता-रहस्य' का अनुवाद देश की सभी भाषाओं में हुआ है और इसे असाधारण लोकप्रियता तथा मान्यता मिली है। गांधीजी ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा था—

"अपनी अतुलित बुद्धि और विद्वत्ता से तिलक ने गीता के ऊपर एक महान टीका लिखी। उनके लिए गीता अनेकानेक सत्यों का सदन थी, जिसपर उन्होंने अपना मस्तिष्क चलाया। मेरी समझ में उनकी गीता की टीका उनकी स्मृति का एक स्थायी स्मारक होगी, जो स्वतन्त्रता-संग्राम के सफल होने के बाद भी अमर रहेगी।"[2]

पत्रकार

लोकमान्य तिलक केवल पुस्तकें लिखने और सार्वजनिक सभाओं में व्याख्यान देने से ही संतोष न कर सकते थे। उन्होंने स्वतंत्र भारत का स्वप्न देखा और 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है', इस मूलमंत्र की उद्भावना की। एक प्रकार से इस स्वप्न को साकार करने का यत्न ही उनके जीवन की गतिविधियों का आधार कहा जा सकता है। उन्हें जनता से बहुत-कुछ कहना था और स्वराज्य के संदेश का प्रचार करना था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने अंग्रेजी, मराठी, और हिन्दी में समाचारपत्र प्रकाशित करने आरंभ किये। सन् १८८१ में उन्होंने आर्यभूषण प्रेस की स्थापना की तथा 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो साप्ताहिक पत्र निकालने आरम्भ किये, जिसमें उन्होंने जीवन के इस मूलमंत्र को जी भरकर

---

[1] 'लोकमान्य तिलक'—पांडुरंग गणेश देशपांडे—पृष्ठ २०६

[2] कृपाशंकर—'राष्ट्रनिर्माता तिलक'—पृष्ठ २२७

व्याख्या की और जनता का उद्बोधन किया।[1] इस कार्य में उनके अभिन्न मित्र—आगरकर और विष्णु शास्त्री चिपलूनकर उनके साथ थे। आज की तरह, लोकमान्य के जमाने में खुल्लमखुल्ला बोलने, लिखने और आन्दोलन करने की स्वतंत्रता नहीं थी। लोगों को निर्भीक बनाने के लिए लोकमान्य ने अपने अखबार का नाम 'केसरी' रखा और उसे अपने विचारों का संदेशवाहक बनाया। उसके ध्येयमंत्र के रूप में उन्होंने संस्कृत का एक श्लोक चुना था, जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी केसरी' में इस प्रकार छपता था —

> "स्वामी कुंजर-वृन्द के इस घने कान्तार के भीतर,
> रे, एक क्षण भी न तू ठहरना उन्माद में आकर,
> हाथी जान शिला विदीर्ण करके पैने नखों से निरी,
> सोता है गिरि-गर्भ में यह नहीं भीमाकृती केसरी।"[2]

प्रथम वर्ष के 'केसरी' में विष्णु शास्त्री, तिलक और आगरकर तीनों के लेख प्रकाशित हुए हैं। तिलक धर्मशास्त्र, राजनीति और कानून-संबंधी लेख लिखते थे। आगरकर के विषय थे—इतिहास, अर्थशास्त्र और सामाजिक सुधार। साहित्य-संबंधी लेख विष्णु शास्त्री के होते थे।

'मराठा' अंग्रेजी का पत्र था और उसके ग्राहक भारत के सभी प्रान्तों में थे। इसके संपादक के सामने सम्पूर्ण भारतवर्ष एवं इंग्लैंड तक का पाठक-समाज था। इसलिए मराठा के लेख 'केसरी' से अधिक प्रौढ़, जोशीले एवं राष्ट्रीयता के गहरे रंग में रंगे होते थे। पर महाराष्ट्र के लोगों को तिलक के 'केसरी' में लिखे लेख जितने पसंद थे, उतने 'मराठा' के नहीं। इसीलिए राष्ट्रीय चेतना के साथ 'केसरी' को भी अधिक व्यापक बनाने का यत्न किया गया और इसी दृष्टि से 'हिन्दी केसरी' का जन्म हुआ।

समाचार-सम्पादक का काम सदा जोखिम का होता है। पर जब पत्र 'केसरी' अथवा 'मराठा' जैसा हो और सम्पादक तिलक[3] जैसा निर्भीक और स्वतंत्र विचारों का व्यक्ति हो तो जोखिम निश्चित संकट का रूप धारण कर लेता है। तिलक विचारशील और देशभक्त सम्पादक थे और इसके साथ ही अपने समय के प्रभावशाली जननायक। इसलिए कर्तव्यपालन का मार्ग सदा उनके लिए आत्महित अथवा निजी सुरक्षा का मार्ग नहीं हो सकता था। उनपर तीन बार आपत्तिजनक

---

[1] 'लोकमान्य तिलकांचे केसरीतील लेख'—भाग १ला—पृष्ठ २

[2] पांडुरंग गणेश देशपांडे—'लोकमान्य तिलक'—पृष्ठ १०

[3] तिलक सन् १८८७ में 'केसरी' के सम्पादक बने।

समाचारों के प्रकाशन अथवा सम्पादकीय टिप्पणियों के कारण 'देशद्रोह' के अभियोग में मुकदमे चले। तीनों बार उन्होंने अपनी निर्भीकता, लोकहित और विचारस्वातंत्र्य का परिचय दिया। अदालत के दण्ड अथवा कारावास की यातना के भय से कभी विचलित नहीं हुए। परिणामतः उन्हें कारावास का दण्ड मिला और देश से निर्वासित भी किये गए। पर तिलक कभी इन विपत्तियों के कारण सरकार के आगे झुके नहीं और बराबर अपने सिद्धान्तों तथा आदर्शों के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे। इस प्रकार पत्र-सम्पादन के क्षेत्र में भी तिलक ने एक नवीन आदर्श की स्थापना की। सभी राष्ट्रीय समकालीन पत्रों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनके वक्तव्यों को सराहा। उनकी निर्भयता और अदम्य साहस को देखकर सभी विस्मित हुए। शासकों की निन्दा करते हुए 'अमृतबाजार पत्रिका', 'चैम्पियन', 'ट्रिब्यून' आदि भारतीय पत्रों ने तिलक को श्रद्धांजलि अर्पित की। सन् १९०८ के प्रसिद्ध मुकदमे में अदालत में अपनी ओर से वक्तव्य देते हुए तिलक ने कहा था—

"मेरे मराठी लेखों के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर मुझपर जो इलजाम लगाये गए हैं, ये बिल्कुल अनुचित हैं। मेरे मूल मराठी लेख और यहां पेश किये गए उनके अनुवाद, दोनों बिल्कुल अलग-अलग चीज हैं। आपको (जूरीगण को) न तो हमारे समाज का कोई ज्ञान है और न हमारी भाषा ही आप जानते हैं। इस-लिए इस अनुवाद के बल पर ही यदि आप मुझे अपराधी ठहरायें, तो यह एक भयंकर बात कही जायगी।"[1]

तिलक ने स्वयं अदालत में जिरह की। वह तीन दिन तक बहस करते रहे। सरकारी वकील उनके प्रश्नों का उत्तर न दे सका। अनुवाद वास्तव में दोषपूर्ण था, पर इसकी किसे चिन्ता थी। उन्हें छः वर्ष के लिए देश से निर्वासित किये जाने का दण्ड मिला। इस मुकदमे और अनोखे निर्णय की संसारभर में धूम मची। इंग्लैंड के पत्रों में बहुत चर्चा हुई। मास्को में लेनिन ने यह टिप्पणी की—

"भारतीय जननायक तिलक को जो घृणित दण्ड दिया गया है, उसके विरुद्ध बम्बई की गलियों में प्रदर्शन हुए।"[2] . . .

---

[1] डी. वी. ताम्हनकर—'लोकमान्य तिलक' (अंग्रेजी)—पृष्ठ १८०।

[2] "The despicable sentence passed on the Indian Democrat, Tilak gave rise to street demonstrations and a strike in Bombay... The class conscious workers in Europe now have Asian comrades and their number will grow by leaps and bounds."

—Lenin : Inflamable Material in World Politics—D.V. Tahmankar 'Lokamany Tilak'—page 171

'केसरी' मराठी और अंग्रेजी दोनों में निकलता था। किन्तु मराठी के लेख अधिक प्रभावशाली होते थे, क्योंकि तिलक की यह निश्चित धारणा थी कि स्व-भाषा जनता के हृदय तक जल्दी पहुंचती है और अधिक प्रभाव पैदा करती है। दूसरे, अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या कम थी तथा जनसाधारण अधिक संख्या में इसे समझ नहीं सकते थे। इसी विचार के आधार पर हिन्दी 'केसरी' का प्रकाशन भी आरंभ हुआ। तिलक इसमें स्वतंत्र रूप से लिखे गए लेख प्रकाशित करने के पक्ष में थे। मराठी 'केसरी' से ही अनूदित लेखों को ही छाप देने के पक्ष में वह नहीं थे। उनके इस विचार पर अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी ने तिलक के संस्मरण में प्रकाश डाला है। कुलकर्णी आठ वर्ष तक तिलक के साथ रहकर उनके लेखनादि में सहयोग देते रहे थे। अनूदित लेखों के विषय में उन्होंने तिलक के उपर्युक्त विचारों को स्पष्ट किया है और लिखा है कि एक बार एक सज्जन की इस प्रार्थना पर कि मराठी 'केसरी' के लेखों का हिन्दी अनुवाद करके एक 'हिन्दी केसरी' निकाला जाय, तिलक ने उत्तर दिया था कि "मराठी 'केसरी' में स्थानीय विषयों की अधिक चर्चा रहती है, अतः हिन्दी-भाषी जनता के लिए उनका इतना उपयोग नहीं होगा। पत्र की सफलता के लिए उस क्षेत्र की समस्याओं पर तीव्रता से लिखनेवाले लेखकों की आवश्यकता है और तभी यह लोकप्रिय हो सकता है।"[1] तिलक के इस विचार में उनका अखिल भारतीय दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक संतुलन का प्रमाण मिलता है। इस विचार से उन्होंने 'केसरी' का हिन्दी-संस्करण निकालने का निश्चय किया और इस प्रकार अपना विचार कार्यरूप में परिणत किया। इसकी प्रशंसा में गांधीजी ने ये शब्द कहे थे—

"लोकमान्य तिलक महाराज ने अपना अभिप्राय कार्य करके बता दिया है। उन्होंने 'केसरी' और 'मराठा' में हिन्दी-विभाग शुरू कर दिया है।"[2] पाठकों की सुविधा तथा पत्र की बिक्री की दृष्टि से यह उचित समझा गया कि 'हिन्दी केसरी' पूना की बजाय नागपुर से प्रकाशित किया जाय। सन् १९०३ में 'हिन्दी केसरी' का प्रकाशन आरम्भ हुआ और पत्र के सम्पादक माधवराव सप्रे नियुक्त हुए। यह पत्र सन् १९२० तक नागपुर में बराबर चलता रहा और सन् १९२० में वहां से काशी इसका स्थानान्तरण हो गया, जहां यह सन् १९४५ तक चलता रहा। 'हिन्दी-केसरी' का हिन्दी-पत्रकारिता में ऊंचा स्थान है। हिन्दी पत्रों में निष्पक्ष सम्पादन और निर्भीक आलोचना के आदर्श के स्थापन का बहुत-कुछ श्रेय इसी को है।

---

[1] 'लोकमान्य टिळक यांच्या आठवणी व आख्यायिका'—पृष्ठ २०१

[2] बनारसीदास चतुर्वेदी—'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ १८३

जिस प्रकार तिलक के उत्साह और उनकी उच्च भावना को सरकार दमन द्वारा शिथिल नहीं कर सकी, उसी प्रकार उनके तीनों पत्र अनेक प्रहारों के बावजूद चलते रहे और दिनोंदिन अधिक लोकप्रिय होते गए। स्वातंत्र्य-संग्राम की नींव दृढ़ करनेवाले पत्रों में इन साप्ताहिक पत्रों का नाम सदा अमर रहेगा और पत्रकार के रूप में लोकमान्य तिलक मदनमोहन मालवीय इत्यादि देशभक्त संपादकों में शिरोमणि गिने जायंगे।

शिक्षा-सम्बन्धी विचार

शिक्षा के प्रश्न पर तिलक के विचार मौलिक तथा राष्ट्रीय थे। प्रचलित शिक्षा-पद्धति से उन्हें असन्तोष था, क्योंकि भारतीयता की भावना से न वह प्रेरित हुई थी और न विद्यार्थियों में उसका संचार ही करती थी। तिलक आधुनिक शिक्षा में राष्ट्रीय विचारों और भारतीय धर्म तथा संस्कृति का समावेश चाहते थे। वह मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में थे। वह चाहते थे कि स्कूलों का वातावरण भारतीय संस्कृति और विचारधारा के अनुरूप हो और विद्यार्थियों में देश की संस्कृति, इतिहास आदि के बारे में गौरव की भावना पैदा हो। सरकार द्वारा खोले गए स्कूलों में इन बातों का प्रायः अभाव था। इसलिए तिलक ने सन् १८८० में ही एक नई शिक्षा-संस्था की स्थापना की, जिसका नाम 'न्यु इंग्लिश स्कूल' था। बंगाल की 'नेशनल काउन्सिल ऑव एजुकेशन' की भांति इस संस्था को भी वह एक केन्द्र बनाना चाहते थे, जिसके अन्तर्गत इसी प्रकार की अन्य संस्थाएं स्थापित की जा सकें। यह संस्था थी 'समर्थ विद्यालय'। इसकी विशेषता यह थी कि यह न तो सरकार से अनुदान लेती थी और न किसी प्रकार सरकारी हस्तक्षेप स्वीकार करती थी। बाद में एक और विस्तृत संस्था का जन्म हुआ, जिसका नाम 'महाराष्ट्र विद्या-प्रसारक मंडल' था। 'समर्थ विद्यालय' का सचालन यह मंडल करने लगा और कुछ अन्य पाठशालाएं भी इसके द्वारा खोली गईं। इन स्कूलों में बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ कला-कौशल और उद्योग-धंधों के शिक्षण का प्रबन्ध भी किया गया था। किन्तु विशेष बात यह थी कि भारतीय संस्कृति, धर्म, इतिहास तथा आधुनिक राजनीति की जानकारी विद्यार्थियों को देना आवश्यक समझा जाता था। इस संबंध में तिलक की आधारभूत धारणा यह थी कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होना चाहिए।[1]

---

[1] (अ) 'लोकमान्य तिलक' (अंग्रेजी)—डो. वी. ताम्हनकर—पृष्ठ २३-२४
(आ) 'तिलक के लेखों का संग्रह' (लोकमान्य तिलकांचे केसरीतील लेख)—पृष्ठ १२२ से १४२

हिन्दी-प्रेम

लोकमान्य तिलक जैसे देशभक्त और स्वाभिमानी राष्ट्र-प्रेमी नेता के लिए यह असंभव था कि शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर भी इतना विचार करने के पश्चात् वह राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर ध्यान न देते। तिलक की बौद्धिक प्रतिभा उदात्त और तर्कसंगत थी। इसलिए उनका चिन्तन उन्हें इस निष्कर्ष पर ले गया कि हिन्दी ही समस्त देश की भाषा हो सकती है। इस परिणाम पर पहुंचते ही उन्होंने हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में रुचि लेनी आरंभ कर दी। अपनी व्यस्तता के होते हुए भी हिन्दी के लिए यथासंभव सभी कुछ करने को वह सदा तैयार रहते। अपने सार्वजनिक भाषणों में तिलक ने हिन्दी के महत्व पर अपना मत प्रकट करना आरम्भ किया। यह भी स्पष्ट है कि तिलक के हिन्दी-प्रेम का आधार राष्ट्र की एकता की आकांक्षा और स्वराज्य की कल्पना थी। किसी भी राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के आयोजन को यह राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दी के माध्यम का उपयोग किये बिना संभव न मानते थे। कुछ हिन्दी-प्रेमियों द्वारा राष्ट्रभाषा के संबंध में भेजे गए परि-पत्र के उत्तर में लोकमान्य ने कहा था—

"राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता अब सर्वत्र समझी जाने लगी है। राष्ट्र के गठन के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे सर्वत्र समझा जा सके। लोगों में अपने विचारों का अच्छी तरह प्रचार करने के लिए भगवान बुद्ध ने भी एक भाषा को प्रधानता देकर कार्य किया था। हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है। राष्ट्रभाषा सर्वसाधारण के लिए जरूर होनी चाहिए। मनुष्य-हृदय एक दूसरे से विचार-परिवर्तन करना चाहता है, इसलिए राष्ट्रभाषा की बहुत जरूरत है। विद्यालयों में हिन्दी की पुस्तकों का प्रचार होना चाहिए। इस प्रकार यह कुछ ही वर्षों में राष्ट्रभाषा बन सकती है।"[1]

तिलक के इन विचारों का कारण उनके अपने सिद्धान्त हो सकते हैं, किन्तु इस बात का प्रमाण भी विद्यमान है कि इस विषय में उनपर गांधीजी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। लखनऊ की एक भाषा और एक लिपि-प्रचार-परिषद् (सन् १९१६) में लोकमान्य तिलक ने देवनागरी लिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाये जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, किन्तु उन्होंने अपना भाषण अंग्रेजी में दिया। उन्होंने कहा—

"यद्यपि मैं हिन्दी भाषा में बोल नहीं सकता और यह बात मैंने सम्मेलन के उद्योगियों से प्रकट भी कर दी थी, फिर भी जब उन लोगों ने आग्रह किया कि

[1] बनारसीदास चतुर्वेदी—'राष्ट्रभाषा'—मुख पृष्ठ

अवश्य ही मैं यहां आकर राष्ट्रभाषा के विषय में अपने कुछ विचार प्रकट करूं तो मैंने उस आज्ञा को शिरोधार्य किया।"[1]

इसी अवसर पर बोलते हुए गांधीजी ने कहा, "सभापतिजी (तिलक) के व्याख्यान से मैं सुखी और दुःखी दोनों हुआ हूं, क्योंकि आपने जो विद्वत्तापूर्ण बातें कहीं हैं, वे यदि हिन्दी में कही गई होतीं तो कितना लाभ होता ? ... उनके लिए हिन्दी सीख लेना कोई कठिन नहीं है, जबकि लार्ड डफरिन ने और महारानी विक्टोरिया ने हिन्दी सीख ली थी।"[2]

गांधीजी के इस कथन के बाद तिलक ने हिन्दी सीख ली और फिर सार्वजनिक सभा में भी हिन्दी में भाषण देने लगे। खंडवा में उन्होंने हिन्दी में भाषण दिया था, जिसका जिक्र काका कालेलकर ने तिलक के संस्मरण में किया है। इस भाषण को सुनकर गांधीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि लोकमान्य तिलक ने हिन्दी की एक नई शैली प्रचलित की है, जिस शैली में छोटे-छोटे वाक्यों में बड़े-से-बड़े विषयों का स्पष्ट और अद्भुत विवेचन करने का सामर्थ्य है।[3] आज के युग में हिन्दी में भाषण देना यद्यपि कोई बड़ी बात नहीं मानी जाती, किन्तु उस समय जबकि हिन्दी भाषा का प्रयोग बहुत ही कम होता था, तिलक का यह हिन्दी-भाषण भी क्रांतिकारी कदम ही माना जायगा।

तिलक ने हिन्दी कैसे सीखी, इस बारे में एक रोचक घटना का वर्णन रामेश्वर दयाल दुबे ने एक लेख में किया है। वह इस प्रकार है—

"कलकत्ता में सन् १९१७ में राष्ट्रभाषा प्रचार-सम्बन्धी एक सम्मेलन आयोजित हुआ। तिलक और गांधीजी दोनों इसमें शामिल हुए। सम्मेलन में तिलक ने अंग्रेजी में सारगर्भित भाषण दिया। उसके पश्चात् गांधीजी हिन्दी में बोले। उन्होंने लोगों से पूछा कि कितने लोग लोकमान्य तिलक के भाषण को समझे। इसपर बहुत कम हाथ उठे। तब उन्होंने पूछा कि यदि यही व्याख्यान हिन्दी में होता तो कितने लोग समझते। इसपर प्रायः सभी हाथ उठे। इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति गांधीजी की श्रद्धा और अनुराग सार्वजनिक रूप से पहली बार कलकत्ता में प्रकट हुआ। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद लोकमान्य ने हिन्दी पर पूर्ण अधिकार कर लिया।"[4]

इससे भी पूर्व ऐसा ही एक सम्मेलन सन् १९०५ में काशी नागरी प्रचारिणी

---

[1] बनारसीदास चतुर्वेदी—'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ १७०
[2] बनारसीदास चतुर्वेदी—'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ—१७५-६
[3] 'लोकमान्य तिलक यांच्या आठवणी व आख्यायिका' —पृष्ठ ११०
[4] 'राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रन्थ', उत्कल—पृष्ठ १५

सभा के तत्वावधान में रमेशचन्द्र दत्त की अध्यक्षता में आयोजित हुआ था। इस सम्मेलन में तिलक ने देवनागरी को राष्ट्रलिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया था। उन्होंने कहा था—

"सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्व की यह बात ध्यान में रखने की है कि एक लिपि निर्धारित करने का यह आन्दोलन केवल उत्तर भारत के लिए नहीं है। यह एक वृहत्तर आन्दोलन का समष्टि रूप है, मैं कह सकता हूं कि समग्र भारत के लिए एक भाषा मान लेने का यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन है। क्योंकि किसी जाति को निकट लाने के लिए एक भाषा ही एक महत्वपूर्ण तत्व है। एक भाषा के माध्यम से ही आप अपने विचार दूसरों पर व्यक्त करते हैं। . . . हमारा लक्ष्य न केवल समग्र उत्तर भारत के लिए हो, वरन् मैं तो कहूंगा कि आगे चलकर मद्रास के दक्षिणी भाग समेत समस्त भारत के लिए एक भाषा रखने का भी है।"[1]

एक लिपि के समर्थन में तिलक ने कहा—

"लार्ड कर्जन के स्टैंडर्ड टाइम की भांति हम राष्ट्रीय स्तर पर स्टैंडर्ड लिपि चाहते हैं और यदि स्टैंडर्ड टाइम के बदले वह हमें स्टैंडर्ड लिपि देते तो हमारा और अधिक सम्मान उन्हें प्राप्त होता। हम सारे प्रांतीय भेदभाव भूलकर इसे करके ही रहेंगे।"[2]

सन् १९०६ में कलकत्ता में तिलक के हिन्दी-विषयक विचारों को सुनकर गांधीजी को बड़ी प्रसन्नता हुई थी। उन्होंने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया—

"कलकत्ता-कांग्रेस के समय हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के संबंध में उन्होंने जो कहा था, उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वह कांग्रेस पंडाल से तुरन्त ही लौटे थे। हिन्दी के संबंध में उन्होंने अपने शांत भाषण में जो कहा, उससे बड़ी तृप्ति हुई।"[3]

तिलक यह मानते थे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है। इस सम्बन्ध में काकासाहेब कालेलकर ने तिलक के राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विचारों को अपने संस्मरण में व्यक्त किया है तथा यह भी दर्शाया है कि तिलक ढीली-ढाली भाषा पसन्द नहीं करते थे। उनकी अपनी भाषा में ज्वाला रहती थी और हिन्दी को भी वह ऐसी ही तेजमयी बनाना चाहते थे। उन्होंने अपनी बातचीत में कहा था—

"हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने योग्य है, यह बात सत्य है, पर जबतक हिन्दी

[1] 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—वर्ष ६१, अंक १, संवत् २०१३—पृष्ठ ८३-८४
[2] 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—वर्ष ६१, अंक १, संवत् २०१३—पृष्ठ ८४
[3] 'मेरे समकालीन'—पृष्ठ २६८

भाषा-भाषी लोगों में देशभक्ति की तीव्र ज्योति प्रज्वलित नहीं होगी तबतक हिन्दी भाषा में तेज का संचार नहीं होगा। जब हिन्दी-प्रेमियों में खुशामदखोरी या चापलूसी की वृत्ति को त्यागकर देश के कोने-कोने में नया संदेश पहुंचाने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होगी तभी हिन्दी भाषा समृद्ध होगी।"[1]

तिलक की वक्तृता को गोलीबार की उपमा दी गई है। सिपाही जिस प्रकार छाती या माथे के नजदीक बंदूक रखकर निशाना लगाता है, लोकमान्य तिलक उसी तरह अपनी सीधी-सादी भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों के वाग्बाण चलाकर श्रोताओं के हृदय तथा बुद्धि को बेध देते थे। इसीलिए उन्हें हिन्दी में इस तेज का अभाव खटकता था। उन्होंने कहा भी था—"हमको वह दरबारी भाषा कहां से आयेगी? वास्तव में हिन्दी पर परतंत्रता का परिणाम बहुत बुरा हुआ है।"[2] निस्सन्देह तिलक के इन क्रांतिकारी विचारों ने हिन्दी-साहित्य की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव डाला और उसे राष्ट्रभाषा-पद के योग्य बनाने के लिए यत्न-शील रहकर अपने अनुयायियों को भी इन विचारों के अनुकूल बनाया।

तिलक के इन विचारों ने उनके अनुयायियों को भी प्रभावित किया और वे सभी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त समझने लगे। एन. सी. केलकर ने, जो तिलक के बाद 'केसरी' के सम्पादक हुए इस संबंध में कहा था—

"मेरी समझ में हिन्दी भारतवर्ष की सामान्य भाषा होनी चाहिए—यानी समस्त हिन्दुस्तान में बोली जानेवाली भाषा होनी चाहिए। निस्सन्देह, हिन्दी दूसरे कार्यों के लिए प्रान्तीय भाषाओं की जगह तो ले नहीं सकती। सब प्रान्तीय कार्यों के लिए प्रान्तीय भाषाएं ही पहले की तरह काम में आती रहेंगी। प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति तो अपने मार्ग पर होती ही रहेगी। प्रान्तीय शिक्षा और साहित्य का विकास प्रान्तीय भाषाओं के ही द्वारा होगा। लेकिन एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से मिले, तो पारस्परिक विचार-परिवर्तन का माध्यम हिन्दी होनी चाहिए, क्योंकि हिन्दी अब भी अधिकांश प्रान्तों में समझ ली जाती है और बोलने तथा चिट्ठी लिखने लायक हिन्दी थोड़े समय में ही सीख ली जाती है। इस विषय में कोई प्रान्तीय

---

[1] —लोकमान्य म्हणाले, हिन्दी राष्ट्रभाषा होण्यास लायक आहे खरी, परंतु जोंवर हिन्दी बोलणाऱ्या लोकांमध्ये देशभक्तिचा जोम व खरी तळमळ नाहीं, तोंवर त्या भाषेंत तेज यावयाचें नाहीं। राष्ट्राला कांहीं तरी संदेश पोहोंचविण्याची तळमळ मनांत उत्पन्न होईल तेव्हांच त्याचे हातून भाषा समृद्ध होईल।"

—लोकमान्य टिळक यांच्या आठवणी व आख्यायिका—पृष्ठ १०६

[2] लोकमान्य टिळक यांच्या आठवणी व आख्यायिका—पृष्ठ ११०

भाषा हिन्दी का स्थान नहीं ले सकती।"[१]

महाराष्ट्र में गत चालीस वर्षों से हिन्दी का प्रचार-कार्य सुचारु रूप से हो रहा है और इस भाषा का वहां व्यापक विस्तार है। इसकी पृष्ठभूमि वास्तव में तिलक और उनके अनुयायियों ने तैयार की थी। महाराष्ट्र ऐसा अहिन्दी-भाषी क्षेत्र है, जहां कई हिन्दी विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने हिन्दी समाचारपत्रों का संपादन किया। यह कहना उचित होगा कि तिलक का हिन्दी-प्रेम जहां उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता और महान नेतृत्व का परिचायक है, वहां उनका व्यक्तित्व हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने के लिए श्रेय का भागी कहा जा सकता है। यह उत्कर्ष-वेला यद्यपि सन् १९५० में आई, किन्तु वहांतक पहुंचने के लिए हिन्दी को सबसे बड़ा सहारा गांधीजी और उनके समकालीन नेताओं का ही मिला। हिन्दी के विकासकाल में (सन् १९०० से १९५०तक) भारतीय नेताओं को अनथक प्रयत्न करने पड़े। उनके विचारों की दृढ़ता और ओजस्वी व्यक्तित्व की छाया में हिन्दी बढ़ी और सुदृढ़ बनी। तिलक हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न में सदा अडिग और देवनागरी लिपि की उपयोगिता के कड़े समर्थक रहे। यद्यपि उनकी लेखनी हिन्दी-साहित्य की विशेष सेवा न कर सकी, तथापि उनकी वाणी हिन्दी भाषा के विकास के लिए सदा कर्मशील रही। तिलक कर्म के धनी थे और अपने इस विचार-कर्म से उन्होंने हिन्दी के विकास-क्रम को आगे बढ़ाया, यह निर्विवाद है।

१ 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ ६३-६४

अध्याय : ९

मदनमोहन मालवीय

(सन् १८६१–१९४६)

आधुनिक काल में हिन्दी के निर्माण और विकास का सर्वाधिक श्रेय प्राय: तीन नेताओं को दिया जाता है—स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी और मदनमोहन मालवीय। इनके उत्साह, समर्थन और प्रभावशाली नेतृत्व ने राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी भाषा का आधार दृढ़ किया और लोगों को इसका साहित्य-भंडार भरने की प्रेरणा दी। इस त्रिमूर्ति में अन्तर केवल यही था कि स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी दोनों अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के थे तो मालवीयजी हिन्दी-भाषी प्रान्त के थे और उनकी मातृभाषा हिन्दी थी। उनका जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ ई. को प्रयाग में हुआ था। जिस समय मालवीयजी का जन्म हुआ उस समय तक राजा राममोहन राय का ब्रह्म-समाज विकसित हो चुका था और रामकृष्ण परमहंस के उपदेशामृत का प्रसार हो रहा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी वैदिक धर्म की चिन्तन-धारा के साथ नये विचार और सुधार से देश को अतीत के गौरव का स्मरण दिला रहे थे। देश की एकता के लिए उन्होंने प्राचीन वैदिक संस्कृति और आर्य-भाषा हिन्दी को सम्बल दिया। ऐसे समय में मालवीयजी का जन्म हुआ था। मालवीयजी ने सन् १८८४ में उच्च शिक्षा समाप्त की। तभी से उन्हें दो बातों की लगन थी, साहित्य-सेवा और जनसेवा। इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति उनको हिन्दी की ओर ले गई। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करते ही वह इधर आकृष्ट हुए और लिखने के प्रत्येक अवसर का स्वागत करने लगे। ऐसे अवसर बराबर आते भी रहे। किन्तु इससे कहीं बढ़कर हिन्दी की सेवा करने के अवसर उन्हें सार्वजनिक कार्यों द्वारा मिले। इस प्रकार लेखनी तथा अपने सार्वजनिक जीवन की गतिविधि द्वारा मालवीयजी ने हिन्दी की सेवा की। इन दोनों पर पृथक्-पृथक् विचार करना उचित होगा।

मदनमोहन मालवीय

लेखक और पत्रकार

अपने कालेज-जीवन से ही मालवीयजी की रुचि लेखन की ओर थी।

लिखने और बोलने में अभिरुचि होने के कारण ही इन्होंने कालेज में पढ़ते समय 'साहित्य सभा' और 'हिन्दू समाज' की स्थापना की। यह भी कहा जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय, पं. बदरीनारायण चौधरी इत्यादि साहित्यकारों के बीच बैठ मालवीयजी कविता और साहित्य के रस का पान करते और कराते थे। चौदह वर्ष की उम्र में ही शृंगार रस के बारे में उन्होंने एक दोहा लिखा था—

यह रस ऐसो है बुरो, मन को देत बिगारि
याते पास न जाइए, जब लों होय ठनारि।[1]

इससे इनकी रसिक वृत्ति तथा काव्यवृत्ति दोनों की झलक मिलती है। 'म्यो सेंट्रल कालेज' की पत्रिका में तथा स्वतन्त्र रूप से वह प्रहसन लिखा करते थे। लोग उन्हें सफल हास्य-लेखक मानते थे। इसी विद्यार्थी-जीवन के उनके प्रहसन के दो नमूने देखिये। 'जेंटलमैन' नामक कविता में उन्होंने पढ़े-लिखे लोगों का चित्र खींचा है। विषय की बारीकी को देखते हुए उन्होंने प्रहसन को काव्य रूप दिया। वह लिखते हैं—

"अहले यूरप पूरा जेंटिलमैन कहलाता हैं हम
'डोन्ट से' बाबू 'टू मी' मिस्टर कहा जाता हैं हम।
गंगा जाना पूजा जपतप छोड़ो ये पाखण्ड सब,
घूरने में मुंह को गिरजाघर में नित जाता हैं हम।
बाबू ओ' चाचा का कहना 'लाइक' हम करता नहीं,
'पापा' कहना अपने बच्चों को भी सिखलाता हैं हम॥"[2]

वह हास्य-लेखक ही क्या जो सदा औरों की ही हँसी उड़ाता रहे और अपने ऊपर कुछ न लिखे। सफल लेखक सदा अपने ऊपर दूसरों को हँसने का अवसर देता है। सो मालवीयजी ने भी अपना नाम झक्कड़सिंह रखा और अपना रेखाचित्र इस प्रकार खींचा—

"गरे जूही के हैं गजरे पड़ा रंगी दुपट्टा तन,
भला क्या पूछिये धोती तो ढाके से मंगाते हैं,
कभी हम धारनिश पहनें कभी पंजाब का जोड़ा,
हमेशा पास डंडा है यह झक्कड़सिंह गाते हैं॥"[3]

ऐसे कविता-कलाप के अतिरिक्त मालवीयजी ने गम्भीर विषयों पर भी लेख

---

[1] 'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ ८३
[2] महामना मदनमोहन मालवीय—पृष्ठ ३२
[3] 'महामना मदनमोहन मालवीय—पृष्ठ ३२

लिखने का क्रम आरम्भ किया। शिक्षा समाप्त करते ही यद्यपि उन्होंने अध्यापन कार्य शुरू किया, पर जब कभी अवसर मिलता कुछ-न-कुछ और किसी-न-किसी पत्र में अवश्य लिखते। बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' में उन्होंने हिन्दी के समर्थन में और दूसरे विषयों पर बहुत-कुछ लिखा। लेखन-कला के उपयोग का पहला सुअवसर इन्हें सन् १८८६ में अनायास ही मिल गया। इसी वर्ष कलकत्ता में कांग्रेस का दूसरा वार्षिक उत्सव हुआ। उत्सुकता और सार्वजनिक जीवन की पुकार मालवीयजी को भी वहां ले गई। जब इस युवक का सुन्दर भाषण कालाकंकर के राजा रामपालसिंह ने सुना तो उन्होंने मालवीयजी को 'हिन्दुस्तान' दैनिक का सम्पादक बनने पर राजी कर लिया। यह एक यशस्वी जीवन का शुभ श्रीगणेश सिद्ध हुआ। देश-सेवा के साथ प्रथम हिन्दी दैनिक के सम्पादक के नाते यहां से उनकी हिन्दी-सेवा का आरम्भ हुआ। हिन्दी के महत्व के संबंध में उनके विचार जितने स्थिर थे, उतने ही दृढ़ भी। बम्बई में राष्ट्रभाषा के संबंध में बोलते हुए सन् १९१९ में उन्होने कहा था—

"यह कौन-सी भाषा है, जो वृन्दावन, बद्रीनारायण, द्वारका, जगन्नाथपुरी इत्यादि चारों धामों तक एक समान धार्मिक यात्रियों को सहायता देती है? वह एक हिन्दी भाषा है। लिखा फ़ेंका, लिखा फ़ेंका ही क्यों लिखा इंडिका है। गुरु नानकजी लंका, तिब्बत, मक्का और मदीना, चीन इत्यादि सब देशों में गये। वहां उन्होंने किस भाषा में उपदेश दिया था? यही हिन्दी भाषा थी। इससे जान पड़ता है कि उस समय भी हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा थी, और उसका सार्वजनिक प्रचार था।"[१]

मालवीयजी की लेखनी से मंजकर 'हिन्दुस्तान' चमक उठा। बहुत जल्दी वह बहुत लोकप्रिय हो गया। सबसे पहले हिन्दी में तड़ित समाचार इसी पत्र में निकले थे। जनता और सरकार दोनों ने इस पत्र को अपनाया। सोए हुए लोगों को कुम्भकर्णी नींद से जगाने के लिए यदि सबसे अच्छा और सीधा कोई उपाय है, तो वह पत्र है। महाकवि अकबर इलाहाबादी ने एक बार कहा था—

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो॥[२]

मालवीयजी यह बात समझ चुके थे। सन् १९०५ में मालवीयजी की हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना प्रत्यक्ष रूप धारण कर चुकी थी। उसको जीवित रखने के

---

[१] बम्बई में १६ अप्रैल १९१९ को अवम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण—'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ १४

[२] 'महामना मदनमोहन मालवीय—पृष्ठ ४२

लिए पहले ही उन्होंने यह सोच लिया था कि कोई ऐसा पत्र निकाला जाय, जो हिन्दू विश्वविद्यालय की निरन्तर चर्चा छेड़ता रहे और लोग उसे भूलने न पावें। इस विचार से उन्होंने सन् १९०७ में 'अभ्युदय' की स्थापना की थी।

बालकृष्ण भट्ट ने इसका नामकरण किया और मालवीयजी ने दो बरस तक इसका संपादन भी किया। इसके बाद यह संयुक्त प्रान्तीय कौंसिल के सदस्य हो गये और पुरुषोत्तमदास टंडन, कृष्णकांत मालवीय, गणेशशंकर विद्यार्थी और वेंकटेशनारायण तिवारी का भी सहयोग इसे प्राप्त हुआ। प्रारम्भ में वह साप्ताहिक रहा, फिर सन् १९१५ से दैनिक हो गया। 'अभ्युदय' के नाम से ही उसकी नीति भी स्पष्ट है और इसी नीति के कारण वह ब्रिटिश सरकार की आंखों में सदा खटकता था। कई बार इसे जमानतें देनी पड़ीं, कई जमानतें जब्त हो गईं और इस तरह कई बार महीनों यह बंद भी रहा, किन्तु 'अभ्युदय' देश, समाज, और साहित्य की सदा अथक सेवा करता रहा। इसका महत्व इसलिए भी बहुत है, क्योंकि इसके साथ कई बड़े त्यागी नेताओं का नाम जुड़ा ही नहीं, इसके उत्तरोत्तर अभ्युदय में उन सबने पूरा योगदान दिया है।

'लीडर' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की स्थापना का श्रेय भी मालवीयजी को ही है। जनजागृति में इन पत्रों का जो भी हाथ रहा हो, उसकी चर्चा यहां असंगत होगी, क्योंकि ये पत्र अंग्रेजी के हैं। किन्तु 'लीडर' के हिन्दी संस्करण 'भारत' का आरम्भ सन् १९२९ में हुआ और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का हिन्दी संस्करण 'हिन्दुस्तान' भी वर्षों से निकलता आ रहा है। इनकी मूल प्रेरणा में मालवीयजी ही हैं। 'लीडर' के एक वर्ष बाद ही मालवीयजी ने 'मर्यादा' नामक पत्र निकलवाने का प्रबन्ध किया था। उनका यह अभिमत सदा रहा कि अंग्रेजी पढ़ी-लिखी जनता के लिए 'लीडर' काफी था, पर हिन्दी समझनेवाले लोगों के लिए भी बौद्धिक खाद्य आवश्यक है। इस पत्र में बहुत दिनों तक राजनीतिक समस्याओं पर योग्यतापूर्ण निबन्ध लिखे गए।

सन् १९३३ की २० जुलाई को मालवीयजी की संरक्षता में 'सनातन धर्म' नामक पत्र निकला, जिसमें धार्मिक विषयों के अतिरिक्त विज्ञान, कलाकौशल, अर्थशास्त्र, समाज, साहित्य इत्यादि सभी विषयों पर महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते थे।

अन्य पत्रों की भी मालवीयजी सदा सहायता करते रहे और अपने विचारों के विस्तार के साथ चेतना की आभा प्रसारित करते रहे। वह पत्रों द्वारा जनता में प्रचार करने में बहुत विश्वास रखते थे और स्वयं वर्षों तक सम्पादक रहे थे। उनकी एक और विशेषता स्मरणीय है। हिन्दी-संसार में मालवीयजी की हिन्दी का

सदा एक अलग स्थान रहा है। संस्कृत के परम् विद्वान होते हुए भी ठेठ संस्कृत के शब्दों के अत्यधिक उपयोग को उन्होंने कभी अच्छा नहीं माना। अचरज, जतन, लगन, पैठना, प्रानी आदि बहुत-से देशज शब्द उनके लेखों में मिलेंगे। वह बड़ी सरल, सबकी समझ में आनेवाली हिन्दी लिखते और बोलते थे। इसीलिए जनसाधारण में भी उनकी हिन्दी बड़ी प्रिय बन गई और उसी सरलता से उसका विकास और विस्तार हो सका। पत्रकारिता का अनुभव हो जाने के अतिरिक्त 'हिन्दुस्तान' में रहते हुए सम्मेलनों, सार्वजनिक सभाओं आदि में वह भाग लेने लगे। कई साहित्यिक और धार्मिक संस्थाओं से उनका सम्पर्क तथा सम्बन्ध जुड़ गया और इस नाते वह हिन्दी-प्रसार का कार्य करने लगे। सन् १९०६ में प्रयाग के कुंभ के अवसर पर उन्होंने 'सनातन धर्म' का विराट् अधिवेशन कराया, जिसमें उन्होंने 'सनातन धर्म-संग्रह' नाम का एक बृहत ग्रन्थ तैयार कराकर महासभा में उपस्थित किया। कई वर्ष बाद तक सनातन-धर्म-सभा के बड़े-बड़े अधिवेशन मालवीयजी ने कराये। इससे अगले कुंभ में त्रिवेणी के संगम पर इनका 'सनातन धर्म महासम्मेलन' भी इस 'सनातन धर्म महासभा' से आ मिला। 'सनातन धर्म महासभा' के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए काशी से 'सनातन धर्म' नाम का साप्ताहिक भी प्रकाशित होने लगा और लाहौर से 'विश्वबंधु' निकला। इसकी मूल प्रेरणा में भी मालवीयजी ही थे।

मालवीयजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के घोर समर्थक थे। सार्वजनिक जीवन में उनका पदार्पण विशेषकर दो घटनाओं के कारण हुआ (१) अंग्रेजी और उर्दू के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हिन्दी भाषा को क्षति न पहुंचे, इसके लिए जनमत-संग्रह करना और (२) भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्वों को प्रोत्साहन देना। आर्यसमाज के प्रवर्तक तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने हिन्दी की जो सेवा की थी, मालवीयजी उसका सम्मान करते थे, किन्तु धार्मिक और सामाजिक विषयों पर वह आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे। आर्यसमाज की वैदिक धर्म की व्याख्या से वह सहमत नहीं थे। समस्त कर्मकाण्ड, रीतिरिवाज, मूर्तिपूजन आदि को वह हिन्दू-धर्म का मौलिक अंग मानते थे। इसलिए धार्मिक मंच पर आर्यसमाज की विचारधारा का विरोध करने के लिए उन्होंने जनमत संगठित करना आरम्भ किया। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले 'भारत धर्म महामंडल' और पीछे 'अखिल भारतीय सनातन धर्म-सभा' की नींव पड़ी। धार्मिक विचारों को लेकर दोनों सम्प्रदायों में चाहे जितना मतभेद रहा हो, किन्तु हिन्दी के प्रश्न पर आर्यसमाज और सनातन धर्म सभा में मतैक्य ही नहीं था, अपितु एक दूसरे से स्पर्धा-सी भी थी। शिक्षा और प्रचार के क्षेत्र में सनातन धर्म सभा ने हिन्दी को उन्नत करने के लिए

जो कुछ किया, उसका विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। यहां यही कहना पर्याप्त है कि इस संस्था तथा आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता मालवीयजी थे और समाचारपत्रों द्वारा उन्होंने अपने इन विचारों का प्रसार और प्रचार करके भारतीय संस्कृति के गौरव तथा हिन्दुत्व की भावना को गहरी बनाने का पूरा यत्न किया।

मालवीयजी एक सफल पत्रकार थे और हिन्दी-पत्रकारिता से ही उन्होंने जीवन के कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया। पत्रकारिता-जगत् में उन्होंने सम्मान और सफलता पाई तथा अपने पत्रों का मान भी बढ़ाया। इसीलिए मालवीयजी के देहावसान पर मद्रास के 'हिन्दू' ने उनके इस पक्ष को लेकर मालवीयजी की बड़ी प्रशंसा करते हुए लिखा था—

"हिंदी-पत्रकार के रूप में उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश किया था और अपने पत्र के लिए एक अच्छी ख्याति अर्जित की। पत्रकारिता में उनकी रुचि उत्तरोत्तर गहरी होती गई। पत्रकारिता की समस्याओं तथा संभावनाओं के प्रति उनकी अन्तर्दृष्टि ने उन्हें उन प्रेस-कानूनों का घोर आलोचक बना दिया, जिन्होंने इस देश में मत व्यक्त करने की स्वतंत्रता को एक मजाक भर बना दिया है।"[१]

वास्तव में मालवीयजी ने उस समय पत्रों को अपने हिन्दी-प्रचार का प्रमुख साधन बना लिया था और हिन्दी के स्तर को ऊंचा किया था।

सार्वजनिक कार्यों द्वारा हिन्दी-सेवा

धीरे-धीरे मालवीयजी का कार्यक्षेत्र व्यापक होने लगा। पत्र-सम्पादन से धार्मिक संस्थाएं और इनसे सार्वजनिक सभाएं, विशेषकर हिन्दी के समर्थनार्थ, और यहां से राजनीति की ओर—इस क्रम ने उनसे सम्पादन-कार्य छुड़ा दिया और वह विभिन्न संस्थाओं के सदस्य, संस्थापक अथवा संरक्षक के रूप में सामने आने लगे। पत्रकार के रूप में उनकी हिन्दी-सेवा की यही सीमा है, यद्यपि लेखक की हैसियत से वह हिंदी के विकास के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। इस अवधि में दो पत्रों का उन्होंने सम्पादन किया और चार हिन्दी पत्रों की और दो अंग्रेजी पत्रों (दैनिकों) की स्थापना की। अब मालवीयजी शिक्षा, संस्कृति और राजनीति के व्यापक क्षेत्रों की ओर अग्रसर हुए और उनका स्वरूप

---

१. "He had started his public life as a Hindi journalist and built up a fine reputation for his paper. And his interest in Journalism continued to be close and friendly. It was his inside knowledge of the potentialities as well as the problems of the press that made him a formidable critic of the Press laws which have made a mockery of freedom of opinion in this country.

—'The Hindu' (Madras) 14-11-46

सार्वजनिक नेता का हो गया था। हिन्दी के विकास में उनके योगदान का अब दूसरा अध्याय आरम्भ होता है।

हिन्दी की सबसे बड़ी सेवा मालवीयजी ने यह की कि उन्होंने उत्तर प्रदेश की अदालतों और दफ्तरों में हिन्दी को व्यवहार-योग्य भाषा के रूप में स्वीकृत कराया। इससे पहले केवल उर्दू ही सरकारी दफ्तरों और अदालतों की भाषा थी। सन १८९० से ही इसके विरुद्ध आन्दोलन किया गया और मालवीयजी ने उत्तर प्रदेश में तथा अन्य प्रान्तों में जनमत संगठित किया और अपनी मांग के अनुरूप वातावरण पैदा किया। फिर तर्क तथा आंकड़ों के आधार पर शासकों को आवेदन-पत्र दिया। इस आवेदन-पत्र में मालवीयजी ने लिखा था कि "पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की प्रजा में शिक्षा का फैलना इस समय सबसे आवश्यक कार्य है और गुरुतर प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि इस कार्य में सफलता तभी प्राप्त होगी जब कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में नागरी अक्षर जारी किये जायंगे। अतएव अब इस शुभ कार्य में जरा-सा भी विलम्ब न होना चाहिए और न राज्य-कर्मचारियों तथा अन्य लोगों के विरोध पर कुछ ध्यान ही देना चाहिए।... हमें पूर्ण आशा है कि वे बुद्धिमान और दूरदर्शी शासक, जिनके प्रबल प्रताप से लाखों जीवों ने इस घोर अकाल रूपी काल से रक्षा पाई है, अब नागरी अक्षरों को जारी करके इन लोगों की भावी उन्नति और वृद्धि का बीज बोयेंगे और विद्या के सुखकर प्रभाव के अवरोधों को अपनी क्षमता से दूर करेंगे।"[1]

सन् १९०० में गवर्नर ने उनका आवेदनपत्र-स्वीकार किया और इस प्रकार हिन्दी को सरकारी कामकाज में स्थान मिला। इस निर्णय से हिन्दी-आन्दोलन को बहुत सहायता हुई और इसके समर्थकों को प्रोत्साहन मिला। हिन्दी की स्थिति में भारी परिवर्तन हुआ और इसके प्रचार तथा प्रसार का कार्य वेग से आगे बढ़ने लगा। इस सफलता का श्रेय मालवीयजी को है। इसे उन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है और हिन्दी के विकास के लिए सुझाव दिये हैं। उन्होंने कहा है—

"हमने कहा था कि कचहरियों की भाषा हिन्दी भी कर दी जाय, राजा ने हमारे प्रदेशों में कचहरियों की भाषा हिन्दी भी कर दी। इन दिनों इस देश

[1] कचहरियों तथा प्रारम्भिक पाठशालाओं में फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि का प्रचार कराने के लिए संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर एन्टोनी मैकडानल को २ मार्च सन् १८९८ ई० को भेजे गए अभ्यर्थना लेख (मेमोरियल) से, जिसका डा० श्यामसुन्दर-दास ने अनुवाद किया तथा नागरी प्रचारिणी सभा ने जिसे प्रकाशित कराया था।

में कचहरियों की जो भाषा है, वह हिन्दी है। यत्न चेष्टा का प्रयोजन है, आदमी जिस बात के लिए यत्न और चेष्टा करता है, वह हो जाती है . . . जो स्कूल-कालेज स्थापित किये गए हैं, उनमें लड़के हिन्दी पढ़ें। यूरोपीय इतिहास, काव्य, कलाकौशल आदि की पुस्तकें हिन्दी में अनुवादित हों। हिन्दी में उपयोगी पुस्तकों की संख्या बढ़ाई जाय। सरकार ने स्कूलों में हिन्दी जारी कर दी है। अब हमें चाहिए हम हिन्दी की उत्तमोत्तम पाठ्य पुस्तकें तैयार करें।"[1]

इससे पहले सन् १८९३ में मालवीयजी काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में पूर्ण योग दे चुके थे। वह सभा के प्रवर्तकों में थे और आरम्भ से ही इनकी सहायता सभा का सम्बल रहा। सभा के प्रकाशन, शोध और हिन्दी-प्रसार-कार्य में मालवीयजी की रुचि बराबर बनी रही और वह सभा के संरक्षक के रूप में परामर्श देकर तथा अन्य प्रकार से अन्तिम दिन तक सभा की सहायता करते रहे।

हिन्दी-आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता बन जाने के कारण मालवीयजी पर हिन्दी के प्रचार और साहित्य की अभिवृद्धि का दायित्व भी आ पड़ा। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु सन् १९१० में मालवीयजी की सहायता से प्रयाग में 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई। उसी वर्ष अक्तूबर मास में सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ, जिसके सभापति मालवीयजी थे। अपने अभिभाषण में हिन्दी की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था—

"हिन्दी साहित्य का रसपान करने में मुझको अन्य मित्रों की अपेक्षा कम स्वाद नहीं मिलता।"

मालवीयजी विशुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे और हिन्दी, हिन्दुस्तानी को एक नहीं मानते थे। उनके विचार देखिये। इसी भाषण में उन्होंने कहा था—

"जो विदेशी हिन्दी के विद्वान् हैं, वे यही कहते आये हैं कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। इस भाषा का नाम उर्दू है, इसीका नाम हिन्दुस्तानी है। ये लोग यह सब कहेंगे, किन्तु यह न कहेंगे कि यह भाषा हिन्दी है।... ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित कितने ही अंग्रेज अफसरों ने मुझसे पूछा था कि हिन्दी क्या है? इस प्रांत की भाषा तो हिन्दुस्तानी है। मैं यह प्रश्न सुनकर दंग रह गया। समझाने से जब उन्होंने स्वीकार नहीं किया तब मैंने कहा कि जिस भाषा को आप हिन्दुस्तानी कहते हैं, वही हिन्दी है। अब आप कहेंगे कि इसका अर्थ क्या

[1] 'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ १०१

हुआ ? इसका अर्थ यह है कि न हमारी कही आप मानें, न उनकी कही हम ।"[1]

शिक्षा के क्षेत्र में मालवीयजी ने जो अद्वितीय कार्य किया है, उसका भी एक आवश्यक अंग हिन्दी-प्रचार है । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना द्वारा हिन्दी के प्रसार में जो सहायता मिली, वह स्वतःसिद्ध है । सन् १९१७ में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और कालान्तर में यह एशिया का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय बन गया। यह विश्वविद्यालय उनके इन स्वप्नों तथा आदर्शों का मूर्त रूप था । भारत के प्राचीन गौरव का स्मारक था, जिसका निर्माण मालवीयजी ने अपना खून पसीना बहाकर किया था । इसीलिए उन्हें इसपर गर्व था, जिसे उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है —

"जब हम फ्रांसीसियों तथा जर्मनों को अपने राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों पर गर्व करते हुए देखते हैं तथा जापानियों को अपने देश तथा राष्ट्र के प्रति उत्कट देशप्रेम रखते हुए देखते हैं तो हम अवश्य ही इन सब विचारों से प्रभावित होते हैं । हम उन्हींकी सन्तान हैं, जिन्होंने नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों को जन्म दिया था । इस विद्या के प्राचीन केन्द्र पर हमारा गर्व करना स्वाभाविक ही है ।"[2]

वास्तव में यह एक ऐतिहासिक कार्य ही उनकी हिन्दी-सेवा का अमिट शिलालेख है । प्रारम्भ से ही इस संस्था का यह नियम रहा है कि प्रत्येक विद्यार्थी अनिवार्य रूप से हिन्दी पढ़ेगा । जब हम यह देखते है कि इस विश्वविद्यालय में प्रतिवर्ष सैकड़ों विद्यार्थी अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों से प्रविष्ट होते हैं, तो इस नियम का महत्त्व समझ में आता है । हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा द्वारा भाषा का जो प्रसार हुआ, उसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय में हिन्दी तथा संस्कृत को विशेष स्थान प्राप्त है । हिन्दी के स्नातकोत्तर अनुसंधान में यह विश्वविद्यालय देश में सर्वप्रथम था । इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों का यह फल है कि इस विश्वविद्यालय ने कई विद्वानों को जन्म दिया । इसके अतिरिक्त 'सनातन धर्म सभा' के प्रमुख नेता होने के कारण देश के विभिन्न भागों में जितने भी सनातन धर्म कालेजों की स्थापना हुई, वह मालवीयजी की सहायता

---

[1] मालवीयजी के १० अक्तूबर, १९१० को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गए भाषण से-'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ १८-९

[2] मालवीयजी के २६ जनवरी, १९२० को हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-भाषण से –'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ ४४

से हुई। इनमें कानपुर, लाहौर, अलीगढ़ आदि स्थानों के सनातनधर्म कालेज उल्लेखनीय हैं। सनातनधर्म स्कूलों और अन्य शिक्षण-संस्थाओं की संख्या तो बहुत अधिक है। इन सभीके प्रमुख सहायक और आजीवन संरक्षक मालवीयजी रहे। इन सभी संस्थाओं द्वारा हिन्दी का प्रचार हुआ।

शिक्षा के माध्यम के विषय में मालवीयजी के विचार बड़े स्पष्ट थे। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा—"भारतीय विद्यार्थियों के मार्ग में आनेवाली वर्तमान कठिनाइयों का कोई अन्त नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा न होकर एक अत्यन्त दुरूह विदेशी भाषा है। सभ्य संसार के किसी भी अन्य भाग में जन-समुदाय की शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा नहीं है।"[1]

मालवीयजी विद्यार्थियों के बीच रहते थे। शिक्षा उनके जीवनकार्य का एक अंग थी। उसकी समस्या उनके चिन्तन का विषय था। अतः विद्यार्थियों की कठिनाइयों को वह सहानुभूति से सोचते थे और उसे दूर करने का यत्न करते थे। वह समझते थे कि विद्यार्थियों के लिए निजी भाषा द्वारा ज्ञान प्राप्त करना कहीं अधिक सरल है। उन्होंने कहा था—

"अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा पठित विषयों पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में उसे बाधा पड़ती है और उस प्राप्त ज्ञान को अंग्रेजी में व्यक्त करना उसे और भी कठिन प्रतीत होता है। हमारे विद्यार्थियों का किसी भी विषय में उतना अच्छा ज्ञान नहीं हो सकता, जितना उसी विषय का अपनी मातृभाषा के द्वारा अध्ययन करके एक अंग्रेज बालक प्राप्त करता है। भारतीय नवयुवक की सोचने तथा अपनेको व्यक्त करने की दोनों शक्तियों का ह्रास हुआ है। अतएव राष्ट्रीय शिक्षा अपनी उत्तमता के उच्च शिखर पर तबतक नहीं पहुंच सकती जबतक जनता की मातृभाषा अपने उचित स्थान पर, शिक्षा के माध्यम तथा सर्वसाधारण के व्यवहार के रूप में, स्थापित न की जाय।"[2]

'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' जैसी साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना द्वारा, काशी विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण-केन्द्रों के निर्माण द्वारा और सार्वजनिक रूप से हिन्दी-आन्दोलन का नेतृत्व कर उसे सरकारी दफ्तरों में स्वीकृत कराके मालवीयजी ने हिन्दी की जो सेवा की, उसे साधारण नहीं कहा जा सकता। उनके प्रयत्नों से हिन्दी को यश, विस्तार और उच्च पद मिला।

---

१. 'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ ६०

२. 'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ ६१

किन्तु इस बात पर कुछ आश्चर्य होता है कि ऐसी शिक्षा-दीक्षा पाकर और विरासत में हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करके मालवीयजी ने एक भी स्वतन्त्र रचना नहीं की। उनके अग्रलेख, भाषण तथा धार्मिक व्याख्यान ही उनकी शैली और ओजपूर्ण अभिव्यक्ति का परिचय देते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह उच्च कोटि के वक्ता और लेखक थे। संभव है, बहुधंधी होने के कारण उन्हें कोई पुस्तक लिखने का समय नहीं मिला। अपने जीवनकाल में उन्होंने जो कुछ हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए किया, वह सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए पर्याप्त है, किन्तु उनकी निजी रचनाओं का अभाव खटकता है। उनके भाषणों और फुटकर लेखों का भी कोई अच्छा संग्रह आज उपलब्ध नहीं है। केवल एक ही संग्रह उनके जीवनकाल में ही सीताराम चतुर्वेदी ने प्रकाशित किया था, वह भी पुराने ढंग का है और उतना उपयोगी नहीं जितना होना चाहिए। लोकमान्य तिलक, राजेन्द्रबाबू और जवाहरलाल के मौलिक या अनूदित साहित्य की तरह मालवीयजी की रचनाओं से हिन्दी की साहित्य-निधि भरित नहीं हुई। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में मालवीयजी का योगदान क्रियात्मक अधिक है, रचनात्मक साहित्यकार के रूप में कम।

वक्ता के रूप में

मालवीयजी की वाग्धारा निर्बाध गति से बहते झरने की तरह थी। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों पर ही उनका समान अधिकार था और दोनों ही भाषाओं में धाराप्रवाह बोलने में वह असाधारण वाग्शक्ति तथा कला का परिचय देते थे। सार्वजनिक सभाओं में उनके भाषण सुनने के लिए हजारों की भीड़ एकत्रित होती थी। मालवीयजी प्रायः लम्बे भाषण देते थे, किन्तु उनकी वाक्पटुता और वक्तृत्व शैली के कारण श्रोतागण थकने नहीं पाते थे और सदा उन्हें आदर और शांति के साथ सुनते थे। वह जितने निपुण राजनीतिक विषयों पर भाषण देने में थे, उतने ही निष्णात धार्मिक उपदेश और कथा कहने में भी थे। प्रयाग और काशी में उनकी कथा-सभाएं प्रसिद्ध हैं, जिनमें वह कभी-कभी दो-दो तीन-तीन घंटे लगातार बोलते थे, तो भी जनता मन्त्रमुग्ध-सी उनकी कथा सुनती थी। उनकी भाषा में असाधारण प्रवाह था।

कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में सन् १८८६ में कांग्रेस का द्वितीय अधिवेशन हुआ था। मालवीयजी पहली बार इसमें सम्मिलित हुए और बोले भी। कांग्रेस में यह उनका सर्वप्रथम भाषण था। इस भाषण में उन्होंने कहा था—"क्या कोई कह सकता है कि ग्रेटब्रिटेन हम स्वतन्त्र-जन्मा

भारतीयों को प्रतिनिधित्व के अधिकार देने में संकोच करेगी जब उसने अपनी भाषा और अपने साहित्य के द्वारा हमें इसके महत्व को समझने के योग्य बना दिया है, उसको प्राप्त करने के लिए उत्तेजित कर दिया है।"[१]

मालवीयजी ने पुनः भावावेश में कहा—

"मैं प्रत्येक उदार अंग्रेज से पूछता हूं कि क्या हमको इस अधिकार से वंचित होने के विरुद्ध शिकायत करने का दृढ़ कारण नहीं है और क्या यह अधिकारच्युत होना अंग्रेजों के अयोग्य अन्याय नहीं है? निश्चय ही प्रत्येक स्वतन्त्रता-प्रेमी उदार अंग्रेज की यही इच्छा है कि जिस स्वतन्त्रता का वह स्वयं उपभोग करता है, वही स्वतन्त्रता सबको मिले, क्योंकि एक कवि के कथनानुसार—

"स्वतन्त्रता की दिव्य ज्योति का जिसने पाया अमल विलास,
यही पुण्य है, वही धर्म है, यही परम पुरुषार्थ प्रयास।
तुच्छ परिधि में नहीं बंधा है उसके वैभव का उल्लास,
सफल विश्व में स्थापित करता वह स्वतन्त्रता सबके पास।"[२]

मालवीयजी की इस वक्तृता से कांग्रेस के संस्थापक मि० ह्यूम बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने कलकत्ता-कांग्रेस की रिपोर्ट में लिखा—

"किन्तु जिस भाषण का सबसे अधिक उत्साह के साथ स्वागत हुआ, वह था कुलीन ब्राह्मण मदनमोहन मालवीय का भाषण। इनके गौर वर्ण, सुन्दर आकृति, स्वभाव तथा प्रखर बुद्धि ने प्रत्येक दर्शक को तुरन्त आकृष्ट कर लिया। मालवीय ने पासवाली कुर्सी पर खड़े होकर सूझबूझपूर्ण और ऐसी शक्ति तथा वाक्पटुता से भाषण दिया कि उसके प्रवाह के वेग के सामने कुछ भी न टिक सका।"[३]

---

१. 'महामना मदनमोहन मालवीय'—पृष्ठ १५६

२. For he that values liberty confines
His zeal for her predominance within
No narrow bounds, her cause engages him
Wherever pleaded, it is the cause of man.

३. "But perhaps the speech that was most enthusiastically received was one made by Pundit Madan Mohan Malaviya, a high caste Brahmin, whose fair complexion, and delicately chiseled features, instinct with intellectuality, at once impressed every eye, and who suddenly jumping up one chair beside the President poured forth a manifestly impromput speech with an energy and eloquence, that carried everything before these."

—From the Congress Report of 1886 by A. O. Hume.

ह्यूम ही क्यों गांधीजी भी मालवीयजी की वक्तृत्व-शक्ति से कम प्रभावित नहीं हुए थे। उन्होंने मालवीयजी के धाराप्रवाह भाषण का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—

"पंडित मदनमोहन मालवीयजी को अपने खयालात को हिन्दी में बताने में कुछ कठिनाई नहीं मालूम पड़ती है। उनका अंग्रेजी का व्याख्यान चांदी-सा चमकता हुआ कहा जाता है, लेकिन जैसे मानसरोवर में से निकली गंगा की धारा सूर्य की किरणों से सुवर्ण की नाई झलकती है, वैसे ही श्रीमान् पंडितजी का हिन्दी व्याख्यान-प्रवाह भी झलकता है।"[१]

कांग्रेस का कोई ऐसा अधिवेशन नहीं हुआ, जिसमें मालवीयजी की वाणी लोगों को सुनने को न मिली हो। कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव नहीं हुआ, जिसपर मालवीयजी ने अपने विचार प्रकट न किये हों। लगभग तीस वर्ष तक मालवीयजी प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय विधान-सभाओं के सदस्य रहे और उनकी ख्याति सदा सर्वोत्तम वक्ताओं में रही। कांग्रेस-सदस्य ही नहीं, शासक-वर्ग भी उनकी वाणी के ओज और संयम के आगे झुकता था। इस प्रकार मदनमोहन मालवीय ने अध्यापक, पत्रकार, प्रचारक, सार्वजनिक नेता और साहित्यिकों के प्रश्रयदाता के रूप में जीवन-पर्यन्त हिन्दी की अपूर्व सेवा की।

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ २६१

अध्याय : १०

महात्मा गांधी

(सन् १८६९–१९४८)

गांधीजी का सर्वतोमुखी व्यक्तित्व विराट् था। उतना ही सर्वतोमुखी व्यापक प्रभाव उसका हिन्दी-साहित्य पर ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड़ा है। किन्तु यहां मेरा अभीष्ट केवल गांधीजी द्वारा हिन्दी-आन्दोलन का नेतृत्व है। भारतव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात करते समय ही उनकी यह मान्यता थी कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है। तभी से उन्होंने अपनी इस मान्यता का जनता में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

महात्मा गांधी

हिन्दी का प्रसार-प्रचार और गांधीजी

अपने सार्वजनिक जीवन के ऊषाकाल में ही दक्षिण अफ्रीका में प्रवास के समय गांधीजी ने राष्ट्रभाषा की समस्या पर विचार कर लिया था और हिन्दुस्तान लौटते ही उन्होंने अपना मत प्रकट करना आरम्भ किया। सबसे पहले गुजरात शिक्षा परिषद, भरोंच के अवसर पर बोलते हुए उन्होंने हिन्दी के महत्व का उल्लेख किया।[१] उसी वर्ष कलकत्ता-कांग्रेस में बोलते हुए उसी बात को फिर दोहराया और लोकमान्य तिलक तक से हिन्दी में बोलने का आग्रह किया। उनके भाषा-सम्बन्धी विचारों से शिक्षित वर्ग परिचित हो चला था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ध्यान गांधीजी की ओर जाना स्वाभाविक था। सन् १९१८ में सम्मेलन ने उन्हें अपना सभापति चुना, जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इस मान्यता ने मानो गांधीजी को और भी उत्साहित किया हो और उन्होंने अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार की व्यापक योजना बना डाली और तुरन्त उसे कार्यरूप देने की व्यवस्था की। उसी समय गांधीजी के सुझाव पर सम्मेलन ने प्रचार का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इस कार्य

[१] 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी'—पृष्ठ १ से ८ तक

को गांधीजी ने कितनी गंभीरता और तत्परता से आरम्भ किया, उसकी द्योतक यह बात है कि शिक्षकों के प्रथम दल के साथ गांधीजी ने अपने पुत्र देवदास को सन् १९१८ में ही दक्षिण भारत भेजा।

'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना तो उन्होंने की ही, स्वयं दक्षिण में भ्रमण कर लोगों में राष्ट्रभाषा की भावना को भी दृढ़ किया। आरम्भ में ही उनके व्यक्तित्व का हिन्दी के प्रचार और विस्तार के लिए कितना उपयोग हुआ और किस प्रकार अहिन्दी-भाषी दक्षिण-निवासियों को उन्होंने प्रेरित किया यह 'हिन्दी प्रचारक' की एक रिपोर्ट से ज्ञात होता है। उसमें लिखा है—"आगामी अप्रैल (सन् १९२९) में हिन्दी-प्रचार-कार्य के जन्मदाता महात्मा गांधी आन्ध्र प्रांत में भ्रमण करने आनेवाले हैं। . . . और इसमें इस निश्चय को प्रकाशित किया गया—१. महात्माजी को जो मान-पत्र दिये जायं, वे सब हिन्दी में हों। २. जहां-जहां हिन्दी पाठशालाएं हों, वे स्थान उनके कार्यक्रम में जुड़वाने का अवश्य यत्न किया जाय।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अपने व्यक्तित्व और अनन्य हिन्दी-प्रेम के कारण गांधीजी ने दक्षिण में हिन्दी-प्रचार को सहज बना दिया और अपने प्रति लोगों की श्रद्धा को हिन्दी की तरफ झुकाकर बड़ी आसानी से हिन्दी की सेवा की और अन्यों से ली। हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता के विषय में गांधीजी ने एक प्रचारक को लिखा था—

"जबतक तमिल प्रदेश के प्रतिनिधि सचमुच हिन्दी के बारे में सख्त नहीं बनेंगे, तबतक महासभा में से अंग्रेजी का बहिष्कार नहीं होगा। मैं देखता हूं कि हिन्दी के बारे में करीब-करीब खादी के जैसा हो रहा है। यहां जितना संभव हो, आन्दोलन किया करो। आखिर में तो हम लोगों की तपश्चर्या और भगवान की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा।"[2]

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य सन् १९१८ से १९२७ तक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की ओर से, पर गांधीजी के संरक्षण में, होता रहा। सन् १९२७ में गांधीजी के ही सुझाव पर 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा' की स्थापना हुई और यह कार्य उसके सुपुर्द हुआ। दक्षिण में हिन्दी-प्रचार-कार्य बराबर आगे बढ़ता रहा था, पर गांधीजी उसकी प्रगति से सन्तुष्ट न थे। उन्होंने सन् १९३५ में इस कार्य का निरीक्षण करने और आवश्यक सुधार सुझाने के लिए काका कालेलकर को दक्षिण भारत भेजा। इस जांच के परिणाम-

[1] 'हिंदी-प्रचारक'—फरवरी, १६२६—पृष्ठ ३३

[2] 'हिंदी-प्रचारक'—फरवरी, १६२६—पृष्ठ ३५

स्वरूप सन् १९३६ में तमिल, तेलगु, कन्नड और मलयालम प्रदेश के लिए चार प्रांतीय सभाओं की स्थापना हुई। इस समस्त कार्य की देखरेख के लिए अलग से हिन्दी-प्रचार-समिति की स्थापना हुई, जिसका नाम आगे चलकर सन् १९३७ में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति रखा गया। यह समिति आज भी दक्षिण के अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में हिन्दी-प्रसार का कार्य तत्परता से कर रही है। इसका प्रधान कार्यालय वर्धा में है। उस समय गांधीजी के कार्यक्रम में हिन्दी के प्रसार के लिए 'दक्षिण भारत प्रचार सभा' और 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना से बड़ा प्रयास देश के इतिहास में कभी नहीं किया गया। इस कार्य की समीक्षा करते हुए मालचन्द्र आप्टे ने लिखा है :

"दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य गांधीजी की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से शुरू हुआ। गांधीजी ने ही इस कार्य को अपने कंधों पर लिया, तब धन-जन की कमी क्यों महसूस हो? गांधीजी ने उत्तर-भारतीय धनी लोगों से इस कार्य के लिए समय-समय पर धन मांगा, और वह मिला भी। स्वर्गीय जमनालाल बजाज ने इस कार्य में गांधीजी का हाथ बंटाया। उन्होंने खुद काफी आर्थिक सहायता दी और धन-संग्रह की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ली"[१]

हिन्दी के प्रसार का यह कार्य एकदम अनूठा है और जबतक हिन्दी भाषा जीवित रहेगी, प्रत्येक भारतवासी गांधीजी के प्रति कृतज्ञ रहेगा। उन्होंने सदा हिन्दी को राष्ट्रीय एकता और परतंत्रता से मुक्त होने की आकांक्षा का साधन माना। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दी को साध्य भी समझा, जिसका पठन-पाठन अपने-आपमें एक आदर्श है और एक यथार्थ आवश्यकता की पूर्ति है। हम इस विवेचन को राष्ट्र-भाषा पर गांधीजी की ही उक्ति से समाप्त करते हैं—

"अंग्रेजी ने हमपर जो जादू का असर डाला वह अभी नष्ट नहीं हुआ है। उसके कारण हम हिन्दुस्तान की, उसके ध्येय की ओर प्रगति में रोड़े अटकाते हैं। हम अंग्रेजी सीखने में जितने साल बिताते हैं, उतने महीने अगर हिन्दी सीखने में बिताने का कष्ट नहीं करते तो जनता के लिए हमारा प्रेम बिल्कुल ऊपरी है।"[२]

गांधीजी की व्यावहारिकता, हिन्दी के प्रति उनके अगाध प्रेम और हिन्दी-प्रचार के लिए उनकी लगन, इनका पूर्ण परिचय देने के लिए ये थोड़े-से शब्द पर्याप्त हैं।

---

१ 'हिंदी-प्रचार का इतिहास'—मंत्रि राष्ट्रभाषा प्रचार-संघ—पृष्ठ ६

२ 'गांधीवाणी'—पृष्ठ २३१

राष्ट्रभाषा-संबंधी विचार

रामाज-सेवा-परिषद के अध्यक्ष-पद से गांधीजी ने समाज-सेवा की तरह राष्ट्रभाषा की सेवा की ओर भी ध्यान दिलाया। उनके लिए देश-प्रेम का एक अंग अथवा उसका व्यक्तिकरण भाषा-प्रेम में भी निहित था। उन्होंने कहा था—

"समाज की सबसे बड़ी सेवा हम पहले अपने-आपको बन्धनों से मुक्त करके ही कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि अंग्रेजी भाषा तथा रीति-रिवाजों के अनुकरण से ही हम और अधिक बंधनों में पड़े हुए हैं। देश-प्रेम और जनता के प्रेम से हमें देशी भाषाओं की ओर निहारना चाहिए।... राष्ट्रीय व्यवहार में हिन्दी को काम में लाना देश की शीघ्र उन्नति होने के लिए अत्यावश्यक है।"[1]

अपने एक लेख में 'क्या अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो सकती है?' गांधीजी लिखते हैं—

"कितने ही स्वदेशाभिमानी विद्वान कहते हैं कि अंग्रेजी राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए। मेरी समझ में यह प्रश्न ही अज्ञान दशा का सूचक है। हमारे स्वनामधन्य वाइसराय ने एक बार अपने भाषण में अंग्रेजी के राष्ट्रभाषा होने की आशा प्रकट की है। वाइसराय महोदय का मत है कि अंग्रेजी भाषा धीरे-धीरे इस देश में फैलेगी। वह हमारे कुटुम्बों में प्रवेश करेगी, और बाद में वह राष्ट्रीय भाषा की उच्च पदवी प्राप्त करेगी। ऊपर की दृष्टि से विचार करने पर यह बात कुछ ठीक जंच जाती है, और अपने उस शिक्षित वर्ग की दशा देखकर, जो बिना अंग्रेजी की सहायता के अपना काम ही नहीं चला सकता, ऐसी ही सूचना मिलती है। परन्तु दीर्घ दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि अंग्रेजी न तो राष्ट्रीय भाषा हो सकती है और न होनी चाहिए।"[2]

गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के निम्नलिखित पांच लक्षण[3] बताये हैं और उन्हें विस्तार से समझाया भी है। जैसे पहला लक्षण है—

(1) "वह भाषा राज-कर्मचारियों के लिए सरल हो।" इसकी व्याख्या में गांधीजी ने लिखा है कि "यह मानी हुई बात है कि राज-कर्मचारियों में अंग्रेजी का भाग थोड़ा ही है। राज्य के उच्च कर्मचारी ही अंग्रेज हैं, शेष बड़ा भाग हिन्दुस्तानियों ही का है और यह तो हर कोई स्वीकार करेगा कि भारतवासियों के लिए भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी कहीं कठिन है।" आज स्वाधीनता के बाद हमारे नेताओं ने संविधान में हिन्दी को राजभाषा बना

१. 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ १

२. 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ ४५

३. राष्ट्रभाषा-संबंधी पांचों लक्षण 'राष्ट्रभाषा' के पृ. ४३-४४ से उद्धृत किये गए हैं।

ही दिया है। इस निर्णय में भी गांधीजी की प्रेरणा अवश्य थी, यह हमें मानना चाहिए।

गांधीजी ने राष्ट्रभाषा का दूसरा लक्षण बताया है—"उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष के परस्पर के धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवहार निभ सकें।" इसको भी उन्होंने यह कहकर पुष्ट किया है कि अंग्रेजी भाषा जनसमाज की भाषा हो जाय, यह सर्वथा असंभव है।

तीसरा लक्षण उन्होंने बताया है—"उस भाषा को देश के अधिकांश निवासी बोलते हों।" और यह प्रमाणित है कि अंग्रेजी भारत के अधिकांश निवासियों की भाषा है ही नहीं

गांधीजी के अनुसार चौथा लक्षण है—"वह भाषा राष्ट्र के लिए सरल हो।" इसका भी अंग्रेजी में अभाव है, क्योंकि यह सिद्ध ही है कि यह समस्त राष्ट्र के लिए सरल नहीं। गांधीजी ने बार-बार यह कहा है कि "भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्यरूपी हिमालय में मिलेगा, और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकलती हुई गंगाजी अनन्तकाल तक बहती रहेगी, ऐसे ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकलता हुआ झरना सूख जाता है, वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिन्दी की दशा होगी।"

गांधीजी ने पांचवां लक्षण बताया है—"वह भाषा क्षणिक या अल्प-स्थायी स्थिति के ऊपर निर्भर न हो"। इसपर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है, "अंग्रेजी भाषा वर्तमान में जो सत्ता भोग रही है, वह अस्थायी है। अंग्रेजी राष्ट्रीय भाषा हो, ऐसी कल्पना ही हमारी निर्बलता सूचित करती है। पांच लक्षणों से युक्त हिन्दी भाषा की समता करनेवाली दूसरी कोई भाषा है ही नहीं। हिन्दी भाषा का निर्माण राष्ट्रभाषा के योग्य ही हुआ है और यह बहुत बरसों पहले राष्ट्रभाषा की भांति व्यवहृत हो चुकी है।"[१]

गांधीजी ने स्वदेशाभिमान का आधार भी स्वभाषा को ही माना है। वह हमेशा यह कहते रहे कि "स्वदेशाभिमान को स्थिर रखने के लिए हमें हिन्दी सीखना आवश्यक है।"[२] यूं गांधीजी का दृष्टिकोण बड़ा उदार था और वह यह कदापि नहीं चाहते थे कि मनुष्य अपने ज्ञान को केवल एक ही भाषा के ज्ञान में बांध ले। वह सदा इस विचार के थे कि अन्य भाषाओं से ज्ञान और विचार का

---

१. 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ ४३-४४

२. 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ ४६

संग्रह करके उसका लाभ हिन्दी भाषा और साहित्य को भी मिले। अंग्रेजी भाषा के मूल्य को वह जानते थे और उसके साहित्य का भी उनका गहरा अध्ययन था। किन्तु विदेशी भाषा के आगे अपनी भाषा के महत्व और गौरव को भुला देना वह कभी अभीष्ट नहीं समझते थे। इसीलिए उन्होंने लिखा—

"मैं चाहूंगा कि साहित्य में रुचि रखनेवाले हमारे युवा स्त्री-पुरुष जितना चाहें अंग्रेजी और संसार की दूसरी भाषाएं सीखें और फिर उनसे यह आशा रखूंगा कि वे अपनी विद्वत्ता का लाभ भारत सरकार को उसी तरह दें जैसे बोस, राय या स्वयं कविवर दे रहे हैं। लेकिन मैं यह नहीं चाहूंगा कि एक भी भारतवासी अपनी मातृ-भाषा को भूल जाय, उसकी उपेक्षा करे या उसपर शर्मिन्दा हो और यह अनुभव करे कि वह अपनी खुद की देशी भाषा में विचार नहीं कर सकता या अपने उत्तम विचार प्रकट नहीं कर सकता।"

('यंग इंडिया', १-६-२१)[1]

दक्षिण अफ्रीका में प्रवास के समय ही गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को समझ लिया था और उनकी यह धारणा भी बन चुकी थी कि हिन्दी ही उस भाषा का स्थान ले सकती है। 'हिन्द स्वराज्य' में सन् १९०९ में उन्होंने राष्ट्रभाषा की समस्या पर इस प्रकार लिखा था—

"हरेक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को पर्शियन का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिन्दुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। उत्तर और पश्चिम में रहनेवाले हिन्दुस्तानी को तमिल सीखनी चाहिए। सारे हिन्दुस्तान के लिए तो हिन्दी ही होनी चाहिए।"[2]

अपनी आत्मकथा के आरंभ में भी गांधीजी ने लिखा है—

"अब तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षणक्रम में मातृभाषा के उपरांत राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए भी स्थान होना चाहिए। ...यदि भाषाएं विधिपूर्वक पढ़ाई जायं और सब विषयों का अध्ययन अंग्रेजी के द्वारा करने का बोझ हमपर न हो तो पूर्वोक्त भाषाएं भाररूप न मालूम हों, बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे।"[3]

इस विचार को व्यक्त कर देने मात्र से गांधीजी को सन्तोष नहीं हुआ। हिन्दी-प्रचार को, विशेषकर अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी पढ़ाने के

---

[1]. 'त्रिपथगा', मार्च, १९६०—पृष्ठ ७

[2]. 'हिन्द स्वराज्य' १९०९—पृष्ठ १२४

[3]. 'आत्मकथा'—पृष्ठ १८

लिए सक्रिय प्रयत्नों को उन्होंने अपने सार्वजनिक कार्यक्रम का स्थायी अंग बना लिया। राजनीतिक कार्य के साथ-साथ हिन्दी को आगे बढ़ाना भी उन्होंने आवश्यक समझा। इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से नाता जोड़ा और सन् १९१८ में उन्होंने उसका सभापति बनना स्वीकार किया। गांधीजी के नेतृत्व के कारण वह आन्दोलन, जो उत्तर भारत तक सीमित था और जिसमें हिन्दी-भाषी व्यक्तियों की ही प्रधानता थी, अब अखिल भारतीय बन गया और उसका स्वरूप राष्ट्रीय हो गया। उन्हीके सुझाव पर अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचारार्थ एक नई संस्था का जन्म हुआ, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

गांधीजी जैसे व्यवहार-कुशल नेता के लिए यह स्वाभाविक था कि जो उपदेश वह औरों को दें, उसपर स्वयं भी अमल करें। इसलिए उन्होंने स्वयं हिन्दी सीखना आरम्भ किया और धीरे-धीरे हिन्दी-भाषी लोगों से पत्र-व्यवहार हिन्दी में ही करना आरम्भ किया। सार्वजनिक सभाओं में, कांग्रेस की परिषदों में उन्हें जब कभी अवसर मिलता, वह हिन्दी के महत्व पर जोर देने से न चूकते। उनका यह विचार था कि विदेशी भाषा की गुलामी से मुक्त हुए बिना सच्ची आजादी पाना असम्भव है।

गांधीजी ने 'यंग इंडिया' के बाद 'हरिजन' नामक साप्ताहिक प्रकाशित करना आरम्भ किया। यह पत्रिका पहले अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। एक वर्ष के बाद ही उन्होंने उसके हिन्दी और गुजराती संस्करण निकालने की व्यवस्था कर दी। इन पत्रिकाओं के पाठक और सार्वजनिक कार्यकर्ता इस बात से परिचित हैं कि हिन्दी 'हरिजन' को आगे बढ़ाने के लिए गांधीजी कितने उत्सुक और प्रयत्नशील रहते थे। गांधीजी के कारण अनेकानेक लोगों ने, विशेषकर अहिन्दी-भाषी लोगों ने हिन्दी सीखी और उसके प्रति रुचि पैदा की। इसलिए उनके योगदान को आंकते समय केवल उनकी रचनाओं को ही आधार नहीं बनाया जा सकता, यद्यपि उनकी संकलित रचनाओं की संख्या भी बहुत बड़ी है। उनकी सबसे बड़ी देन वास्तव में यह थी कि उन्होंने राजनीति, शिक्षा और समाज को हिन्दी के अनुकूल बनाया और हमारे राष्ट्र के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में उच्च पद पर आसीन किया।

हिन्दी के प्रति इन सेवाओं के कारण महात्मा गांधी को सन् १९३५ में दूसरी बार अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन का सभापति चुना गया। उस पद से दिये गए अपने अभिभाषण में गांधीजी ने राष्ट्रीयता और व्यावहारिकता की दृष्टि से हिन्दी के महत्व पर प्रकाश डाला।

उन्होंने हिन्दी पठन-पाठन को कांग्रेस के रचनात्मक कार्य का अंग बताते हुए सभी अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोगों को हिन्दी सीखने का परामर्श दिया। अपने भाषण में उन्होंने कहा—

"मैं हमेशा से यह मानता रहा हूं कि हम किसी भी हालत में प्रान्तीय भाषाओं को मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें। ऐसा कहने में हिन्दी के प्रति हमारा कोई पक्षपात प्रकट नहीं होता। हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होने के लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है, जिसे अधिक-संख्यक लोग जानते, बोलते हों और जो सीखने में सुगम हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही है, यह बात यह सम्मेलन सन् १९१० से बता रहा है और इसका कोई वजन देने लायक विरोध आज तक सुनने में नहीं आया है। अन्य प्रान्तों ने भी इस बात को स्वीकार कर ही लिया है।"[१]

कांग्रेस की बागडोर गांधीजी के हाथ में आने से पहले अंग्रेजी के माध्यम से ही कांग्रेस का समस्त-कामकाज होता था। यह कांग्रेस की कार्यप्रणाली, उसके उद्देश्य और नीति के अनुरूप ही था, क्योंकि अभी तक नरम दल के हाथों में ही संस्था का नेतृत्व था। कांग्रेस का प्रभाव अभी तक नगरों में रहनेवाले शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था और उनसे सम्पर्क के लिए अंग्रेजी का माध्यम पर्याप्त था। गांधीजी के कांग्रेस में आने पर ही यह नीति बदली। कांग्रेस का लक्ष्य अब जनसाधारण से सम्पर्क स्थापित करना हो गया। तभी तो यह संस्था विदेशी शासन का अन्त कर सकती थी और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा अथवा असहयोग आन्दोलन के देशव्यापी कार्यक्रम की कल्पना कर सकती थी। अब राष्ट्र की सेवा के लिए भारतीय समाज के जीवन की दीक्षा लेना आवश्यक था। यह भाव इस युग में स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। संक्षेप में, गांधीजी ने राजनीति में राष्ट्रसेवा, त्याग और बलिदान की भावना को सर्वोच्च स्थान दिया।

दृष्टिकोण, लक्ष्य और नीति में ऐसा आधारभूत परिवर्तन होने के साथ यह आवश्यक था कि जनसाधारण तक पहुंचने के लिए अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं का आश्रय लिया जाय। देश के अधिकांश भाग में यह जनसम्पर्क का कार्य हिन्दी द्वारा ही हो सकता था, यह बात गांधीजी ने समझ ही नहीं ली थी, वह इसे बार-बार दोहराते भी रहे। मद्रास में कांग्रेस-मंत्रिमंडल द्वारा अनिवार्य हिन्दी शिक्षण के विरुद्ध कुछ आलोचना सुनने में

[१] 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ ४४-४५

आई थी। मद्रास सरकार की विज्ञप्ति पर गांधीजी ने 'हरिजन सेवक' में जो टिप्पणी छापी, उसका एक अंश इस प्रकार है—

"हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा है या होगी, अगर ऐसी घोषणाएं हमने सच्चाई के साथ की हैं, तो फिर हिन्दुस्तानी का ज्ञान प्राप्त करने में कोई बुराई नहीं है।... अगर हमें अखिल भारतीय राष्ट्रीयता प्राप्त करनी है, तो प्रान्तीय आवरण को भेदना ही पड़ेगा। सवाल यह है कि हिन्दुस्तान एक देश और राष्ट्र है या अनेक देशों और राष्ट्रों का समूह है? जो लोग यह मानते हैं कि यह एक देश है, उन्हें तो राजाजी का पूरा समर्थन करना ही चाहिए।"[1]

गांधीजी ने इस विचार का भारतीय राजनीति तथा राष्ट्रीयता की नवीन परिभाषा द्वारा व्यापक प्रचार किया। यह धारणा और हिन्दी को विशुद्ध साहित्य की परिधि से निकालकर राजनीति के मंच पर स्थापित करना गांधीयुग का प्रथम लक्षण है।

गांधीजी का कार्य बड़ा विस्तृत था। जीवन का कोई पहलू तथा क्षेत्र ऐसा नहीं, जहां गांधीजी का ध्यान न गया हो और जिसपर उन्होंने अपने विचार व्यक्त न किये हों। विचारों को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने स्वाधीनता से पहले ही अनेक संस्थाओं की स्थापना की, जैसे गांधी-सेवा-संघ, चर्खा-संघ, हरिजन सेवक संघ, आदिम जाति सेवक संघ, तालीमी संघ, राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा, दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, इत्यादि-इत्यादि। ये सभी संस्थाएं जहां स्वतंत्र संगठन के रूप में काम करती थीं, वहां समग्र राष्ट्रीय कार्यक्रम की दृष्टि से एक-दूसरे की पूरक थीं। ये सभी अपना कार्य अधिकतर हिन्दी में करती थीं। इसलिए सभीसे हिन्दी के प्रसार में विशेष सहायता मिली। गांधीजी के नेतृत्व की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनकी प्रत्येक गति-विधि उनके सम्यक् कार्यक्रम का अंग होते हुए भी प्रत्येक एक दूसरे की पूरक थी, अर्थात् प्रत्येक से अन्य सभी गतिविधियों को पूर्ण लाभ पहुंचा। इन गतिविधियों का सर्वाधिक प्रभाव हिन्दी-प्रचार के कार्य पर पड़ा और हिन्दी को देशव्यापी भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

साहित्यिक के रूप में

महात्मा गांधी ने जो निजी लेखनी से लिखा और वाणी से कहा, वह सब हिन्दी का बहुमूल्य साहित्य है। अपने जीवनकाल में गांधीजी हिन्दी में कुछ-न-कुछ बराबर लिखते रहे। उनका लिखित साहित्य तीन भागों में विभक्त है—(१) 'हरिजन सेवक', 'हिन्दी नवजीवन', 'नई तालीम' आदि

[1] 'हरिजन सेवक', १० सितम्बर, १९३९

पत्रिकाओं में उनके सम्पादकीय तथा अन्य लेख, (२) उनके पत्र तथा रचनाएं, और (३) उनके प्रवचन। उनकी अपनी हिन्दी पत्रिकाओं में जो अग्रलेख आदि छपे हैं, उनका साहित्यिक महत्व चाहे कितना ही हो, उनका राजनीतिक प्रभाव व्यापक था। अपनी भाषा के सम्बन्ध में उन्हें स्वयं कोई भ्रम नहीं था, किन्तु वह राष्ट्रीय कारणों से बाध्य होकर ही हिन्दी पत्र निकालते और स्वयं हिन्दी में लिखते थे। सन् १९२१ में जब पहली बार 'हिन्दी नवजीवन' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, तब गांधीजी ने नम्रतापूर्वक सम्पादकीय स्तम्भ में लिखा था "**यद्यपि मुझे मालूम है कि नवजीवन को हिन्दी में प्रकाशित करना कठिन काम है, तथापि मित्रों के आग्रह के वश होकर और साथियों के उत्साह से नवजीवन का हिन्दी अनुवाद निकालने की धृष्टता मैं करता हूं।...हिन्दुस्तानी भाषानुरागी हिन्दी नवजीवन में उत्तम प्रकार की हिन्दी की आशा न रखें।... मुझे न तो इतना समय है कि हमेशा हिन्दुस्तानी में लेख आदि लिखकर दे सकूं, और न बहुत हिन्दुस्तानी लिखने की शक्ति ही मुझमें है।**"[1]

यह देखते हुए कि इन्हीं लेखों को चार से अधिक भागों में संकलित किया गया है, गांधीजी की विनम्रता अथवा क्षमा-याचना उनके व्यक्तित्व के अनुरूप सारगर्भित जान पड़ती है। अनेक राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर हिन्दी में उनके विचार आज विद्यमान हैं। इन लेखों ने न केवल प्रेरणा तथा पथप्रदर्शन द्वारा कोटि-कोटि भारतीयों की सेवा की है और हिन्दी-साहित्य को परोक्षरूप से समृद्ध किया है, अपितु ये अपने निजी प्रभाव और महत्व के कारण हिन्दी की अमूल्य निधि बन गये हैं।

गांधीजी की एकमात्र मौलिक रचना गीता का हिन्दी गद्यानुवाद है। और कोई पुस्तक मूलरूप से उन्होंने हिन्दी में नहीं लिखी। हां, उनके बहुत-से हिन्दी में लिखे पत्र हैं, जो हाल में संकलित किये गए हैं। इनमें से अधिकांश विभिन्न हिन्दी-प्रचार-संस्थाओं तथा उनके कार्यकर्ताओं को लिखे गए हैं। इनकी शैली प्रत्यक्ष, सीधी और सरल है। इन पत्रों को देखकर आश्चर्य होता है कि सीमित शब्दावली और हिन्दी भाषा का साधारण ज्ञान रखते हुए भी गांधीजी अपना मन्तव्य कितने स्पष्ट और व्यवहाररूप से दूसरों पर प्रकट कर देते थे। टंडनजी के नाम उनका एक पत्र देखिये—

२, महाबलेश्वर

"भाई टंडनजी, २८-५-४५

मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती। सब पूछते हैं,

[1] 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ २२

मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह सकता हूं और हिन्दुस्तानी सभा में भी ? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, जिसमें नागरी लिपि को ही राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जबकि मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू लिपि को यह स्थान दिया जाता है और उस भाषा को जो न फारसीमयी है और न संस्कृतमयी। जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूं, तब मुझे सम्मेलन से हट जाना चाहिए, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता है ? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी, और मुझे पता चलेगा कि मैं कहां हूं।

कृपया शीघ्र उत्तर दें। मौन के कारण मैंने ही लिखा है। लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सबको मुसीबत होती है, इसलिए इसे लिखवाकर भेजता हूं। आप अच्छे होंगे ?

आपका,

मो० क० गांधी"[१]

यदि गांधीजी अंग्रेजी या गुजराती में लिखते तो संभवतः भाषा अधिक प्रांजल और सुन्दर होती, परन्तु भावाभिव्यक्ति में विशेष अन्तर न होता। किन्तु भाषा अथवा भावों की दृष्टि से यह पत्र अच्छा और सुलिखित ही कहा जायगा। गांधीजी के ऐसे सभी व्यक्तिगत तथा अन्य पत्र हिन्दी में प्रकाशित गान्धी-साहित्य का अंग हैं। हिन्दी की स्थिति तथा उसके प्रसार पर इस प्रकार के पत्रों का अनुकूल प्रभाव पड़ा, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

अब हम गाधीजी के प्रवचन-साहित्य को लेते हैं। वर्षों तक वह प्रतिदिन प्रार्थना के बाद हिन्दी में प्रवचन देते रहे और इन प्रवचनों में विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करने का उन्हें अवसर मिला। उनका यह प्रवचन-साहित्य अपनी विविधता तथा व्यापकता के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपनी सरल और मनोरंजक शैली के लिए भी प्रसिद्ध है। बात करते समय गांधीजी बहुत सीधे-सादे और अधिक जानकारी न रखनेवाले व्यक्ति की तरह बोलते थे, किन्तु उनके प्रवचनों में जहां-कहीं सत्यान्वेषण के रूप में किसी विवाद के निष्कर्ष की ओर संकेत है, वहां उनकी भाषा में दृढ़ता और गहराई दोनों ही विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ उनका निम्न प्रवचन देखिये, जिसमें उत्तेजनापूर्ण वातावरण में उन्होंने जनता से शांत और अहिंसा के पथ पर अडिग रहने का अनुरोध किया है।

[१] 'राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी—पृष्ठ १७२

"खबर आई है कि हमारे नजदीक ही गुड़गांव में कई गांव जल गये हैं। किसने किसके मकान जलाये हैं, इसका पता चलाने की कोशिश में मैं हूं, पर सही पता लगना कठिन है। लोग कहेंगे कि जब इतने करीब में यह सब हो रहा है तब यहां बैठा मैं लंबी-चौड़ी बातें कैसे सुना रहा हूं ? जब आप लोग यहां आ गये हैं और हमारी बदकिस्मती से गुड़गांव में यह हो रहा है तब अपने मन की बात मैं आपसे कहूंगा ही। और मेरा यही कहना है कि हमारे चारों ओर अंगार जलते रहें तो भी हमें तो शांत ही रहना है और चित्त स्थिर रखते हुए हमें भी इस अंगार में जलना है। हम क्यों दहशत के मारे यह कहते फिरें कि दूसरी जून को यह होनेवाला है, वह होनेवाला है ? जो बहादुर होंगे, उनके लिए उस दिन कुछ भी होनेवाला नहीं है, यह यकीन रखिये। सबको एक बार मरना ही है। कोई अमर तो पैदा नहीं हुआ है। तो फिर हम यही निश्चय क्यों न कर लें कि हम बहादुरी से मरेंगे और मरते दम तक अपनी ओर से बुराई नहीं करेंगे। जान-बूझकर किसीको मारेंगे नहीं। एक बार मन में ऐसा निश्चय कर लेंगे तब आप स्थिरचित्त रहेंगे और किसीकी ओर नहीं ताकेंगे। जो डरा-धमकाकर पाकिस्तान लेना चाहेंगे, उनसे कह देंगे कि इस तरह रत्तीभर भी पाकिस्तान मिलनेवाला नहीं है। आप इन्साफ पर रहेंगे, हमारी बुद्धि को समझा देंगे, दुनिया को समझा देंगे तो आप पूरा-का-पूरा हिन्दुस्तान ले जा सकते हैं। जबर्दस्ती से तो हम पाकिस्तान कभी नहीं देंगे।"[1]

वाक्-साहित्य होने के नाते उनकी भाषा में पुनरावृत्ति और शिथिल वाक्य-विन्यास के दोष कहीं-कहीं अवश्य आ गये हैं, किन्तु फिर भी प्रवचन-साहित्य द्वारा भाषा और साहित्य दोनों को यथेष्ट समृद्धि हुई। गांधीजी की सत्यानुभूत विचारधारा और दिव्य प्रतिभा की चमक से बहुत कम ऐसे विषय हैं, जो उद्भासित और आलोकित न हुए हों। पिछड़े हुए लोगों के विकास की समस्या, शिक्षा-प्रणाली, देहात-सुधार का काम, छोटे उद्योग-धन्धों की प्रगति, साधारण बीमारी में दवादारू या प्राकृतिक चिकित्सा, धर्म, दर्शन, राजनीति, तथा भाषा-समस्या इत्यादि विषयों पर गांधीजी ने एकदम मौलिक विचार प्रकट किये हैं, जिन्होंने समस्त आधुनिक भारतीय चिन्तन में आमूल क्रान्ति की है, जिसका प्रभाव पाश्चात्य पदार्थवादी दर्शन पर भी पड़ा। साधन को साध्य के समकक्ष आदर्श बनाकर जो समन्वय और समीकरण उन्होंने उदात्त मर्यादित मानव-जीवन के लिए उपस्थित किया, वही गांधी-दर्शन का प्राण है और आज समस्त पीड़ित मानवता के लिए आशा का दीपक है। गांधीजी के

[1] 'प्रार्थना-प्रवचन'—पृष्ठ ९८-९९

comparision with Bacon and Aristotle

चिन्तन में एक विशेष उदात्त दृष्टिकोण है, जो किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। उनका सुभाषित तथा सुलिखित विपुल साहित्य ऐसा दीपक राग है, जिसने भारत में ही नहीं, समस्त संसार की निराशा के अंधकार में डूबी-बुझी हुई असंख्य मानवताओं को ज्योतित किया। अगणित साहित्यकारों, कलाकारों, दार्शनिकों, राजनीति-विशारदों, सुधारकों को उन्होंने प्रकाशवान युगप्रवर्तक बनाया। और एक हिन्दी ही उनकी इस दिव्य प्रेरक शक्ति की प्रमुख वाणी थी। राष्ट्रभाषा के पद पर भी गांधीजी ने ही उसका अभिषेक किया। हमारे प्रस्तुत मूल्यांकन का लक्ष्य गांधीजी का यही ऐतिहासिक कर्तृत्व है।

राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों से सम्बन्धित नेताओं की रचनाओं में जो साहित्य-तत्व है, हिन्दी के विपुल साहित्य के निर्माण में उसका योगदान महत्वपूर्ण है। सबसे पहले हम गांधीजी की रचनाओं को लेते हैं। अपनी लेखन-शैली के प्रवाह, भाषा की सरलता तथा सौष्ठव के लिए गांधीजी विख्यात हैं। अंग्रेजी और गुजराती में तो उन्होंने बहुत-कुछ लिखा ही, हिन्दी में उनके प्रवचन-साहित्य तथा फुटकर रचनाएं और यथार्थ वर्णन का भावात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से बहुत ऊंचा स्थान है। उनकी मौलिक रचनाओं तथा अनूदित रचनाओं को मिलाकर हिन्दी में जितना गांधी-साहित्य है, वह संसार की किसी भी भाषा में किसी एक लेखक की रचनाओं से अधिक ही होगा, कम नहीं।

गांधीजी का लेखन सोद्देश्य था। अपने विचारों का प्रचार ही उनके लिए सर्वोपरि था, इसलिए उनके प्रत्येक वाक्य में सरलता का प्रयास है। जवाहरलालजी ने भी उनकी भाषा के सम्बन्ध में कहा है—"गांधीजी की भाषा सादा, सरल और विषय-संगत होती थी। किसी भी अनावश्यक शब्द का प्रयोग वह शायद ही कभी करते हों।"[१] सुविवेचित विचार उनकी अभिव्यक्ति का निर्देशन करते हैं, इसलिए उनकी भाषा स्वभावतः विचार-प्रधान भी है। गांधीजी सत्य के पुजारी थे। उसका प्रतिपादन वह सहज ही सरल भाषा में करते थे। उनके हृदय से निकली सचाई पाठक के हृदय में संक्षिप्त और स्पष्ट रूप में भी सीधे ही पहुंचती थी। इसी कारण जीवन के गूढ़तम सत्य को भी वह सूत्र रूप में कह सकने में समर्थ और सफल हुए। उदाहरण के लिए उनके इन वाक्यों को देखिये—"शरीर की स्थिति अहंकार की ही बदौलत सम्भवनीय है। शरीर का आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है। जिसके अहंकार

[१] 'राष्ट्रपिता'—पृष्ठ ४७

का आत्यन्तिक नाश हो चुका है, वह तो प्रत्यक्ष सत्य की मूर्ति हो जाता है ।"[1] सत्य की व्याख्या भी उन्होंने एक सूत्र में इस प्रकार की —"... सत्य सर्वदा स्वावलम्बी होता है और बल तो उसके स्वभाव में ही होता है ।"[2] उनकी एक उक्ति और देखिये । उसमें उनके जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है, वह गांधीजी की ही लेखनी की प्रवीणता हो सकती है । उन्होंने लिखा है—"मैं ऐसी कला और ऐसा साहित्य चाहता हूं, जो लाखों से बोल सके ।"[3] संतकाव्य और बाइबिल गांधीजी की भाषा के सदैव आदर्श रहे । अलंकारों से उन्हें विशेष मोह नहीं । उनका प्रयोग केवल वहीं किया गया है, जहां दृष्टान्त द्वारा अपनी बात समझाना अभीष्ट था । उदाहरणार्थ—

"... शुद्ध अहिंसा के नाम से ही हमें भड़क नहीं जाना चाहिए । इस अहिंसा को हम स्पष्टतया समझ लें, और उसकी सर्वोपरि उपयोगिता को स्वीकार कर लें, तो उसका आचरण जितना कठिन माना जाता है, उतना कठिन नहीं है । 'भारत-सावित्री' की रट लगाना आवश्यक है । ऋषि-कवि पुकार-पुकार-कर कहता है, 'जिस धर्म में सहज ही शुद्ध अर्थ और काम समाये हुए हैं, उस धर्म का हम क्यों आचरण नहीं करते ?' यह धर्म तिलक लगाने या गंगा-स्नान करने का नहीं, किन्तु अहिंसा और सत्य आचरण का है । हमारे पास दो अमरवाक्य हैं, 'अहिंसा परम धर्म है' और 'सत्य के सिवा दूसरा धर्म नहीं ।' इसमें वांछनीय सब अर्थ और काम आ जाते हैं ।"[4]

इसी अहिंसा को उन्होंने एक वाक्य में इस तरह रख दिया है—"...अहिंसा, अपने सक्रिय रूप में, सम्पूर्ण जीवन के प्रति एक सद्भावना है । यह विशुद्ध प्रेम है...।"[5] गांधीजी की मातृभाषा गुजराती थी । इसलिए उनकी भाषा में गुजराती शब्द तो है ही, वाक्य-विन्यास पर भी गुजराती लेखन-शैली का प्रभाव है । जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'शुद्ध अहिंसा के नाम से हमें भड़क नहीं जाना चाहिए' से यह स्पष्ट हो जाता है । किन्तु इससे भाषा की अभिव्यक्ति और सौंदर्य में अन्तर नहीं पड़ता है । गुजराती और अंग्रेजी में ही नहीं, हिन्दी में भी उनकी लेखन-शैली एक कलाकार की सुंदर अभिव्यक्ति है । एक शब्द भी व्यर्थ नहीं, नपे-तुले शब्द और अपने-अपने स्थान पर ही ठीक । उनकी शैली में न आडम्बर है और न व्यर्थ शृंगार । उनकी

[1] श्री जमनालाल बजाज के नाम साबरमती-जेल से लिखे १७-३-१९२२ के एक पत्र से ।

[2] 'हिन्दी नवजीवन'—१४ फरवरी, १९२४

[3] 'राष्ट्रपिता'—पृष्ठ २४

[4] 'हरिजन सेवक'—२० जुलाई, १९४०

[5] 'गांधी-वाणी'—पृष्ठ २७

सादगी से ही उनकी भाषा सरल और सुंदर है। फिर भी वह इस सादगी में शैली का अद्‌भुत सौंदर्य भर देते थे। उनकी भाषा और शैली भाव-सौंदर्य से भरी हुई रहती थी। उनके छोटे-से-छोटे वाक्य में भी गद्य-काव्य का सौंदर्य भरा रहता है। **"गाय दया की एक कविता है"**—इस छोटे-से वाक्य में इस प्राणी के संपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति हो गई है। उसमें कितना प्रभावोद्रेक, कितनी कला है! इसी प्रकार—**"समस्त कला अन्तर के विकास का आविर्भाव ही है।"**[१] इस छोटे-से वाक्य में जीवन का संपूर्ण अन्तर्भाव मुखरित हो उठता है। इस वाक्य की तरह ही बिना बोले उनके भाव व्यक्त हो उठते हैं। गागर में सागर के समान गांधीजी के वाक्यों में भावों का सागर भरा होता है। उनकी पुस्तकों, लेखों और भाषणों से निकली विचारधारा से भाषा पर उनके अधिकार का पता चलता है। इसलिए भाषा अपने-आप उनके दिव्य विचारों का अनुसरण करती है। इसीलिए गुजराती-भाषी होते हुए भी गांधीजी को हिन्दी में अपने विचार व्यक्त करने में कभी कठिनाई नही हुई। और फिर उनका अपना सारा जीवन ही एक काव्य बनकर मुखरित हो उठा। उनकी आत्मा सतत झंकृत वीणा बन गई, जिससे आत्म-समर्पण की रागिनी निकलती और जो उनके कभी न थमनेवाले कर्ममय जीवन के मृदंग पर ध्वनित होकर सदा जन-मानस को उत्साहित करती रहती है। उन्होंने अपने जीवन-काव्य को क्रियात्मक मानवीय करुणा से ओत-प्रोत कर दिया। मानवता की प्रतिमूर्ति बनकर उन्होंने भावों को जगाया। मानवता के पुजारी बनकर उन्होंने आत्मा की कला को सजाया और कला, उन्होंके शब्दों में, **"मनुष्य की आन्तरिक दिव्यता को प्रकट करती है।"**

गांधीजी की भावसुषमा और शैली-सौंदर्य हमें उनके उन शब्दों में दिखाई देता है, जहां गांधीजी स्वयं इसमें खोये-से दिखाई देते है। उन्होंने स्वयं कहा है, **"जब मैं सूर्यास्त की सुषमा या चन्द्रमा के सौंदर्य को देखता हूं, तब मेरा अन्तःकरण प्रभु की पूजा में फैल जाता है।"**[२] यह गांधीजी के भाव-सौंदर्य का उत्कृष्ट नमूना है। उनका सारा जीवन ही आत्म-सौंदर्य से जागृत है और श्रेष्ठ कला का सुन्दर प्रतीक है। अतः यह मानना होगा कि हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्होंने अनन्य सेवा की है।

महात्मा गांधी के निजी समर्थन और गांधीयुग की विचारधारा द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य को जो प्रोत्साहन मिला, हिन्दी के इतिहास में यह सर्वथा अपूर्व है। गांधी-विचारधारा ने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया।

---

[१] 'गांधी-वाणी'—पृष्ठ १४०

[२] 'हमारे राष्ट्रनिर्माता'—पृष्ठ ४००

इसलिए जिस किसी साहित्यिक ने देश के जीवन का विस्तृत चित्रण किया अथवा भारतीय जनता के किसी भी पहलू को लेकर उसे अपनी रचना का आधार बनाया, वह इस विचारधारा से प्रेरित और प्रभावित हुए बिना न रहा। वास्तव में यह बात समस्त भारतीय भाषाओं के तत्कालीन साहित्य पर लागू होती है, किन्तु हिन्दी पर विशेषरूप से। अतः हिन्दी को गांधीजी की देन का मूल्यांकन करते समय उनके व्यक्तिगत सहयोग का विवरण देना ही काफी नहीं। इस शती के साहित्य पर उनके निजी प्रवचनों, उपदेशों तथा लेखों से कहीं अधिक व्यापक प्रभाव स्वयं उनके जीवन, उनके आदर्शों तथा मूल विचारों का पड़ा।

हिन्दी उपन्यास, गल्प, नाटक और काव्य—साहित्य के इन सभी अंगों पर गांधी-युग की विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। आधुनिक कथा-साहित्य, विशेषकर उपन्यासों में, राष्ट्रीय जीवन का जैसा सर्वांगीण चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुआ है, वैसा संभवतः और किसीकी रचनाओं में नहीं हुआ। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता उनकी आदर्शवादिता थी। अपने आरंभिक काल में सामाजिक जीवन की कुरीतियों के पटाक्षेप द्वारा उन्होंने इस आदर्श की पूर्ति की, जिसका नमूना 'निर्मला', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' आदि हैं। इसके बाद जैसे-जैसे प्रेमचन्द की रचनाओं में प्रौढ़ता आती गई और भारतीय जीवन के विविध पक्षों का चित्रण करने की ओर वह अग्रसर हुए, उनकी विषयवस्तु राजनीतिक होती गई। उस समय भारतीय राजनीति के सूत्रधार गांधीजी थे। इसी कारण प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासों का वातावरण राष्ट्रीय आन्दोलन से व्याप्त हो गया। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' उनके राजनीतिक उपन्यासों के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ये उपन्यास, इनकी कथा-वस्तु, इनके पात्र गांधी-विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि रंगभूमि और 'कर्मभूमि' को गांधीवादी उपन्यासों की संज्ञा दी गई है। प्रेमचन्द की कहानियों में भी गांधीवाद और उसके आदर्शों की झलक मिलती है। इसी श्रेणी में भगवती-प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और स्व. चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास आते हैं। सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पंत, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के नाटकों में तथा मैथिलीशरण गुप्त, स्व. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर' और सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं में गांधी-विचारधारा की अर्थात् राष्ट्रीयता की प्रतिध्वनि है। भारतीय साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो ऐसा भास होता है कि आधुनिक साहित्य पर महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और विचारों का जो गहरा प्रभाव पड़ा, उसकी तुलना हम केवल साहित्य तथा कला पर पड़े उस प्रभाव से कर सकते हैं, जो दो हजार वर्ष हुए गौतम बुद्ध और बौद्धमत का पड़ा था।

गांधीजी राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा और मोहम्मद की परम्परा में थे। उनकी वाणी से निर्विकार सत्य देव-पुरुषों के वचनामृत की भांति ही निःसृत होता था। सत्य, अहिंसा, प्रेम, खादी आदि विषयों पर उनका जीवन-दर्शन वेदवाक्यों की भांति ही अवतीर्ण हुआ है। उनका समस्त लिखित और वाक्-साहित्य सत्य की पारदर्शी मणियों से जड़ा हुआ जगमग-जगमग है।

यह अमृत वाणी शाश्वत साहित्य और कला की परम आत्मा है, जिससे प्रेरित होकर ही सर्वजनहिताय साहित्य की सृष्टि होती है। जनवादी साहित्य और कला का यह सत्याग्रही युग-युग तक भारती की वरद संतति को प्रेरित करता रहेगा।

अध्याय : ११

पुरुषोत्तमदास टंडन

(सन् १८८२)

हिन्दी-प्रचार के सबसे बड़े संरक्षक के रूप में पं. मदनमोहन मालवीय का उत्तराधिकारी बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को ही कहा जा सकता है। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के बाद मालवीयजी ने टंडनजी को सन् १९०९ में 'अभ्युदय' का सम्पादक ही नहीं बनाया, वरन् सम्मेलन का समस्त कार्यभार भी उनके सुपुर्द कर दिया और उन्होंने इस दायित्व को ऐसी खूबी से निभाया है कि टंडनजी अब 'सम्मेलन के प्राण' विख्यात हैं।

पुरुषोत्तमदास टंडन

गत पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी के पक्ष को जिन कठिनाइयों और प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, उन संकट की घड़ियों में टंडनजी ही हिन्दी-आन्दोलन का सबसे दृढ़ सहारा रहे हैं। आरम्भ से अन्त तक वह अपने सुविचारित सिद्धान्तों पर अडिग रहे हैं और इसके लिए उन्होंने बड़े-से-बड़े नेताओं और संस्थाओं का मुकाबला ही नहीं किया, वरन् हँसी-खुशी वैयक्तिक त्याग भी किया है। सेठ गोविन्ददास ने 'स्मृति कण' में टंडनजी के संबंध में लिखा है—

"टंडनजी का अंतरंग उस प्रकार का है, जो हिमालय के सदृश अडिग और गंगा के सदृश निर्मल चरित्र का निर्माण करता है। . . . वह उन व्यक्तियों में है, जिनका सारा जीवन किसी-न-किसी प्रकार की क्रान्तिकारी सेवा में व्यतीत हुआ है। . . . इस देश के पराधीन होने के कारण इस सेवा का सर्वोत्कृष्ट और उच्चतम मार्ग था देश को स्वाधीन करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आवश्यकता थी बड़ी-से-बड़ी जोखिम उठाने की और बड़े-से-बड़े त्याग करने की। टंडनजी ने जीवनभर यही किया। फिर वह अपने मतों पर इस प्रकार अडिग रहे कि महात्मा गांधी के

सदृश नेता के सामने भी झुके नहीं।"[1]

यह सब उनकी दृढ़ता का प्रमाण है। उनके आलोचक उनकी कर्मनिष्ठा और निःस्वार्थ हठ के आगे झुकते आये हैं और बराबर उनका आदर करते रहे हैं। टंडनजी का कार्यक्षेत्र अधिकतर इलाहाबाद रहा है, जहां वह वकालत करते थे। असाधारण रूप से सफल और अत्यधिक व्यस्त वकील होते हुए भी सार्वजनिक कार्यों के लिए समय निकालना उनके लिए कभी कठिन न हुआ। आरम्भ से ही अपनी त्याग-भावना के कारण उन्हें कितनी मान्यता मिली, इसका प्रमाण यह है कि उस समय जब जवाहरलालजी ने राजनीति में पदार्पण किया, टंडनजी इलाहाबाद के और उत्तर प्रदेश के प्रमुख नेताओं में पहले ही अपना स्थान बना चुके थे।[2] हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो सूत्रधार वह रहे ही, कांग्रेस में भी उनका स्थान प्रथम पंक्ति में रहा।

टंडनजी आस्थावान् पुरुष हैं, किन्तु वह अपने धार्मिक विश्वासों का प्रदर्शन करना पसन्द नहीं करते। इसलिए कम लोग यह जानते हैं कि वह राधास्वामी-मत के अनुयायी हैं और प्रायः सर्वप्रथम गुरु की समाधि के समीप बैठकर ध्यान-मग्न होना उन्हें रुचता है। राधास्वामी-मत से संबंध भी इस बात का कारण हो सकता है कि उन्हें सन्तवाणी, विशेषकर कबीर, दादू और रैदास की वाणी से विशेष मोह है और इन सन्तों की शिक्षा का टंडनजी के जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ा है।

सार्वजनिक व्यक्तित्व

लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित 'लोक सेवक मंडल' के सदस्य बन जाने से टंडनजी का कार्यक्षेत्र पंजाब भी बन गया। सन् १९२६ में मंडल का सदस्य बनकर और वकालत को तिलांजलि देकर टंडनजी ने अपना समस्त जीवन सार्वजनिक कार्यों के लिए अर्पित कर दिया। लाला लाजपतराय की मृत्यु के बाद वह 'लोक सेवक मंडल' के सभापति बने। मंडल का प्रधान कार्यालय लाहौर था, इसलिए उन्हें अधिकतर वहीं रहना पड़ता था। इस स्थिति में पंजाब के हिन्दी-आन्दोलन को प्रेरणा मिली और टंडनजी के पथप्रदर्शन में प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन और आर्यसमाज, सनातनधर्म-सभा, देव-समाज आदि द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी के लिए अधिकाधिक स्थान देने की भावना

---

[1] 'स्मृतिकण'—पृष्ठ १५१

[2] 'राजर्षि अभिनन्दन-ग्रन्थ' में जवाहरलाल नेहरू का लेख—'मेरे भाई'—पृष्ठ ७

को बल मिला। इस अवधि में पंजाब में शायद ही कोई ऐसी हिन्दी-संस्था हो और कोई ही ऐसा बड़ा साहित्यिक उत्सव हुआ हो, जिसमें टंडनजी ने सक्रिय रूप से भाग न लिया हो। हिन्दी के सभी केन्द्रों से उनका निकट सम्पर्क रहा। लाहौर, अमृतसर, जालंधर और अबोहर, ये हिन्दी के केन्द्र थे और इन सभीको टंडनजी से यथासमय परामर्श और सहायता मिलती रही है।

यह सर्वविदित है कि टंडनजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जन्मदाताओं में से हैं। इस संस्था की स्थापना में मालवीयजी के निकटतम सहायकों में टंडनजी का नाम आता है और सम्मेलन की प्रथम नियमावली उन्हींकी लिखी हुई है। तबसे आजतक सम्मेलन बराबर टंडनजी के उतना ही निकट रहा है, यद्यपि समय-समय पर इसे उनपर अधिक आश्रित भी होना पड़ा है। टंडनजी के एकछत्र नेतृत्व में ही सम्मेलन प्रौढ़ हुआ है और अपने पचास वर्ष के जीवन में ऊंच-नीच और गरम नरम परिस्थितियों से पार पा सका है। संकट के समय टंडनजी की पतवार ही सम्मेलन की नाव को तट पर लगाने में समर्थ हो सकी है।

टंडनजी की दूसरी हिन्दी-सेवा सम्मेलन के तत्वावधान में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना थी। सम्मेलन प्रचार आदि के अनेक कामों में उलझा था, इसलिए स्वतंत्र रूप से अध्ययन आदि के लिए विद्यापीठ को स्थापित करना उचित समझा गया। सन् १९३० तक विद्यापीठ सम्मेलन का ही एक अंग रही और उक्त वर्ष में इसे पृथक् करके स्वतंत्र रूप दे दिया गया। हिन्दी के शिक्षण और प्रचार में विद्यापीठ आज बहुमूल्य कार्य कर रही है।

उच्चकोटि के सार्वजनिक नेता और व्यवस्थापक की हैसियत से ही टंडनजी ने हिन्दी की सेवा नहीं की, वह स्वयं ऊंचे साहित्यिक और साहित्य के पारखी हैं। जिन्होंने टंडनजी को साहित्यिक गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में भाग लेते देखा है, वह जानते हैं कि वह कितने काव्यप्रेमी और रसिक हैं। यदाकदा वह स्वयं भी कविता करते हैं। टंडनजी ने 'बानरसभा' नामक एक कविता लिखी थी, जो बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' में छपी थी। आल्हा छंद और अवधी-भाषा में अंग्रेजों पर लिखी हुई यह एक विनोदपूर्ण कविता है। 'पुष्प और दीपक' नामक कविता भी 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के 'नवीन पद्य संग्रह' में प्रकाशित हुई है। कबीर और रहीम के वह विशेष प्रशंसकों में हैं। उन्हींकी प्रेरणा से दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रहीम खानखाना के मकबरे पर प्रति वर्ष इस महान कवि की बरसी मनाने लगा है और मकबरे की इमारत में सरकार द्वारा सुधार का काम भी उन्हीं-के सुझाव से होना आरम्भ हुआ है।

टंडनजी सन् १९३२ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के

with Bacon and A...

कानपुर-अधिवेशन के सभापति हुए थे और अनेक बार प्रान्तीय सम्मेलनों का सभापतित्व कर चुके हैं। टंडनजी का सम्मेलन पर कितना प्रभाव है और हिन्दी के वह कितने कट्टर समर्थक हैं, इसका ऐतिहासिक उदाहरण सन् १९४१ का चुनाव था, जिसमें गांधीजी के समर्थन और अपने महान् व्यक्तित्व के बावजूद राजेन्द्रबाबू हार गये और अमरनाथ झा अबोहर में होनेवाले अधिवेशन के सभापति चुने गए। विरोध का कारण हिन्दी और हिन्दुस्तानी का विवाद था। टंडनजी सदा हिन्दी के पक्ष में रहे हैं और 'हिन्दुस्तानी' के विरोधी। यद्यपि बहुत-से व्यक्तियों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि विशुद्ध हिन्दी के समर्थक टंडनजी फारसी के बहुत अच्छे विद्वान् हैं।

गांधीजी ने सन् १९४५ में हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर मतभेद के कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने टंडनजी के नाम पत्र में लिखा—"जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूं, तब मुझे सम्मेलन से हट जाना चाहिए, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है।"[1] टंडनजी ने इस पत्र के उत्तर में कहा कि गांधीजी के और सम्मेलन के दृष्टिकोण में कोई मौलिक मतभेद नहीं, किन्तु यदि गांधीजी इस बात से सहमत न हों तो उनके निर्णय को सम्मेलन को दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ेगा। टंडनजी ने अपने पत्र में लिखा—

"सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है।

"वह स्वयं हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू शैली का नहीं। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता। किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी को हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं। सम्मेलन आरंभ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्यों को हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य होने में रोक नहीं है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी अकादमी के सदस्य हैं, और हिन्दुस्तानी अकादमी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियां और लिपियां चलाती है। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें।

"एक बात इस संबंध में और भी है। यदि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अबतक सदस्य न होते, तो संभवतः आपके लिए यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा का काम करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आने की आव-

[1] 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ १७१

श्यकता न देखते। परंतु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं, तब उसे छोड़ना उसी दशा में उचित हो सकता है, जब निश्चित रीति से उसका काम आपके नये कामों के प्रतिकूल हो। यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ाई है, तो विरोध की कोई बात नहीं है।

"मुझे जो बात उचित लगी, ऊपर निवेदन की। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टि-कोण से सहमत नहीं हैं और आपका आत्मा यही कहता है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊं, तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूंगा।"[१]

यह पत्र जहां गांधीजी के प्रति टंडनजी के आदरभाव और सत्कार का सूचक है, वहां उनकी (टंडनजी) दृढ़ता का भी परिचायक है। हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रश्न पर वह किसी भी दशा में समझौते के लिए तैयार नहीं थे, यद्यपि वह स्वयं और समस्त हिन्दी-जगत, गांधीजी ने हिन्दी के लिए जो कुछ किया उस ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकते। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि गांधीजी के सम्मेलन से त्यागपत्र के कारण जो परिस्थिति पैदा हो गई थी, उस संकट की स्थिति से सम्मेलन टंडनजी के नेतृत्व के कारण ही निकल सका। बात सिद्धान्त की थी। टंडनजी का कहना था कि देवनागरी अक्षर ही हिन्दी के लिए सबसे अधिक उप-युक्त हैं और हिन्दी के लिए दो लिपियां निर्धारित करना भाषा के लिए और इसके व्यापक प्रचार के लिए घातक होगा। टंडनजी के मत में कितनी सच्चाई थी, यह इस बात से प्रमाणित होता है कि सन् १९४९ में हमारी संविधान-परिषद् ने भी हिन्दी और देवनागरी लिपि को ही मान्यता दी। किन्तु गांधीजी का पक्ष भी सत्य था। देश की राजनीतिक परिस्थिति बदल जाने से, अर्थात् भारत के टुकड़े हो जाने से, उर्दू लिपि और अरबी-फारसी-प्रधान उर्दू-भाषी मुसलमानों का बहुमत देश से पाकिस्तान चला गया और हिन्दी के लिए रास्ता खुल गया। तब भी यह रास्ता इतना साफ और सीधा नहीं है, जैसा कि हिन्दी को सर्वसम्मति से संविधान द्वारा राष्ट्रभाषा घोषित कर देने पर भी उसके अब चतुर्दिक विरोध से सिद्ध है। पहले एक विरोधी उर्दू थी, आज देश की शेष सभी भाषाओं ने मिलकर हिन्दी के विरुद्ध व्यूह-रचना कर ली है, जिसमें भारत सरकार के अहिंदी नेताओं और नौकरशाही का खुला-छिपा सहयोग एक सार्वजनिक अपवाद बन गया है।

साहित्यिक व्यक्तित्व

टंडनजी हिन्दी के अच्छे लेखक और आलोचक भी हैं। यदाकदा मनोरंजन के लिए कविता भी कर लेते हैं। सितम्बर १९४७ में उन संसत्सदस्यों के सम्मान

[१] 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी'—पृष्ठ १७४-५

में, जो हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक थे, एक आयोजन नई दिल्ली में किया गया था। आयोजन अनौपचारिक था और गुरुद्वारा रोड पर एक साहित्य-प्रेमी[१] के घर पर हुआ था। उस अवसर पर सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी-अपनी चुनी हुई कविताएं सुनाईं। समारोह के सभापति थे टंडनजी। अन्त में कुछ शब्द कहने के स्थान पर उन्होंने भी एक निजी कविता पढ़ी, जिसका शीर्षक 'दीपक' था। उनकी शैली परिमार्जित है, उसमें ओज है और उसका सबसे बड़ा गुण उसका प्रवाह है। आज से चालीस वर्ष पूर्व भी टंडनजी की भाषा कितनी सौंदर्यपूर्ण और भावान्वित थी, इसका उदाहरण कविता-कौमुदी के लिए लिखी उनकी प्रस्तावना से ज्ञात होता है। इसमें उन्होंने कविता को सृष्टि का सौंदर्य कहा है। उनके लिए जीवन का सौंदर्य ही कविता है। इस सौंदर्य से अभिभूत हुई उनकी लेखनी भी काव्यमयी बन गई है। उन्होंने इसी कविता की कौमुदी में मग्न होकर लिखा है—"कविता सृष्टि का सौंदर्य है, कविता ही सृष्टि का सुख है, और कविता ही सृष्टि का जीवन-प्राण है। परमाणु में कविता है, विराट् रूप में कविता है, बिन्दु में कविता है, सागर में कविता है, रेणु में कविता है, पर्वत में कविता है, वायु और अग्नि में कविता है, जल और थल में कविता है, आकाश में कविता है, प्रकाश में कविता है, अंधकार में भी कविता है, सूर्य और चन्द्र और तारागण में कविता है, किरण और कौमुदी में कविता है, वृक्ष में कविता है, जिधर देखो कविता का ही साम्राज्य है।"[२] इसे पढ़ते-पढ़ते अनुभव होता है मानो टंडनजी की लेखनी भी कविता बन गई है। उसके हर शब्द में कविता है, हर वाक्य में कविता है और संपूर्ण शब्दचित्र काव्य-मय है। जो भी शब्द पढ़िये, वही कविता बनकर सामने आता है। टंडनजी को केवल कविता से ही संतोष नहीं होता, वह कविता के साथ महाकाव्य की कल्पना करते हैं। सृष्टि के साथ ब्रह्माण्ड उनके सामने आता है। सृष्टि का हर अणु-परमाणु उनके लिए कविता है और यह ब्रह्माण्ड महाकाव्य। वह पुनः लिखते हैं—"प्रकृति काव्यमय है, सारा ब्रह्माण्ड एक अद्भुत महाकाव्य है। जिस मनुष्य ने इस सारगर्भित रसमयी कविता के आनन्द का स्वाद चखा, वही भाग्यवान् है। जिसने इस सरस्वती-मन्दिर में कुछ शिक्षा ग्रहण की और मनन किया, वही पंडित है। जिसने इस अमृत-प्रवाह में डूबकर, दो-चार कलश भरकर प्यासे-थके हुए रोगी या मृतप्राय यात्रियों को कुछ बूंदें पिलाकर उन्हें शक्ति दी और पुनर्जीवित

१ श्री पुत्तनलाल वर्मा 'करुणेश' की नर्सरी में
२ 'कविता कौमुदी'—प्रस्तावना

किया, वही कवि है।"[1] निस्सन्देह टंडनजी भाग्यवान है, जिन्होंने सरस्वती-मंदिर में बैठ उसकी आराधना ही नहीं की, सरस्वती का प्रसन्न प्रसाद भी पाया है। वह निश्चय ही उच्च कोटि के पंडित हैं, जिन्होंने साहित्य और वाङमय का अध्ययन, चिन्तन और मनन किया है। अपने ही शब्दों और अर्थों में वह कवि हैं, जिन्होंने अनेक लेखकों को अपनी वाणी और लेखनी से प्रेरणा दी है, जीवन दिया है और ज्ञानामृत का पान कराया है। उन्होंने हिन्दी-भाषा को शक्ति दी है और उसके साहित्य को पुनर्जीवित किया है। इतना ही नहीं उन्होंने हिन्दी को अभिलक्षित स्थान पर पहुंचाने की सदा आशा रक्खी है। उसीके लिए आजीवन उन्होंने प्रयास किया है। जवाहरलालजी ने उनकी इस आशावादी शक्ति की सराहना करते हुए लिखा है—"उम्मीद पूरी होना एक बात है पर उम्मीद पूरी होने की ताकत रखना बड़ी बात है।"[2] टंडनजी के लिए यह उक्ति सर्वथा उपयुक्त है। आज भी उनका संकल्पबल उतना ही दृढ़ है, जितना पहले था कि स्वाधीन भारत में हिन्दी अपने गौरवपद को अवश्य पायेगी और समस्त देश की राष्ट्रभाषा बनकर देश के नवनिर्माण के साथ आगे बढ़ेगी। सितम्बर १९४९ में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर संविधान-सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा था—"हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपनी भवितव्यता की ओर आगे बढ़ते जायं, वैसे-वैसे अतीत से हमको बांधनेवाली वह लम्बी और दृढ़ शृंखला दुर्बल न होने पाये। वरन् होना तो यह चाहिए कि वह प्रत्येक पग पर और भी दृढ़ होती जाय। मेरा निवेदन है कि हमारा तात्त्विक राजनीतिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हमारा जीवन भूतकालिक न हो, वरन् वह उस वर्तमान में हो, जो हमें अतीत से बांधे रखता है।"[3] हिन्दी का अतीत से नाता तोड़ देने के समर्थकों या पक्षपातियों के उत्तर में टंडनजी ने यह विचार प्रस्तुत किये थे। वह भूतकाल से वर्तमान की कड़ी को जोड़कर हिन्दी के लिए उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं। यही भाव इन पंक्तियों में झलकता है। टंडनजी गंभीर विषय के लिए भी कैसी रुचिकर शब्दावली का प्रयोग कर सकते हैं, यह उनके बजट के संबंध में दिये हुए भाषण से ज्ञात होता है। देखिये बजट के संबंध में उनके विचार और उसके उपयुक्त आलोचना-शैली। मार्च १९५४ को लोक-सभा में बोलते हुए टंडनजी ने कहा—

"सभापति महोदय, मैं आज इस बहस के आखिरी दिन में खड़ा हुआ हूं।... अभी हम होली की ऋतु में हैं और होली के बाद यहां इकट्ठे हुए हैं।

[1] 'कविता-कौमुदी'—प्रस्तावना
[2] 'राजर्षि अभिनन्दन-ग्रन्थ'—पृष्ठ ७
[3] 'शासन-पथ-निदर्शन'—पृष्ठ १३-१४

comparision with Bacon and A.

गुलालों का आकाश हमने देखा है। कहीं-कहीं गुलाल के साथ गर्द का गुब्बार भी देखा है। यह हमारा बजट भी होली के आकाश के समान गुलाल और गर्द से छाया हुआ है। हमारी पंचवर्षीय योजना में दोनों मिले हुए हैं। इन चन्द मिनटों में मुझे सब ब्योरे में नहीं जाना है, परन्तु जहां मैं मानता हूं कि पंचवर्षीय योजना में कुछ रंगीनी है, दिलों को प्रसन्न करनेवाली वस्तु है, वहां मुझे व्यर्थ का आडम्बर और गर्द का गुब्बार भी दिखाई देता है और मैं पूछना चाहता हूं कि जिन दीन और गरीब भाइयों से हमारा देश भरा पड़ा है और जिनके बारे में अभी मेरे मित्र श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने गांधीजी का एक उद्धरण पढ़ा, उन दीनों-गरीबों की झोंपड़ियों में इस योजना से अबतक क्या हुआ ? इससे अगले दो वर्ष में उनको क्या लाभ हो जायगा ? इस बात में मुझे गहरा सन्देह है। मुझे इस पंचवर्षीय योजना से यह नहीं दिखाई देता कि हमारे गांवों की दशा कुछ बहुत उन्नत होनेवाली है, उसके लिए तो योजना का कुछ रूप-रंग अलग होना चाहिए।"[1]

इन उदाहरणों से टंडनजी की भाषा-शैली के गुण-दोष का परिचय मिलता है। शब्दों का चयन और उपयोग वह बहुत सोच-विचारकर करते हैं, उन्हें हल्का शब्द कहीं पसन्द नहीं। भाषा सरल होती है, पर तो भी उसमें कुछ अलंकार उसे भूषित करने के लिए रहते हैं। अनुप्रास टंडनजी की भाषा में प्राय: मिलता है—जैसे गुलाल और गर्द का गुब्बार। शब्द ही नहीं वाक्य-विन्यास भी इस ढंग का है कि उससे भाषा अधिक रोचक और अति मधुर हो सके। उनका रसिक हृदय भाषा और भाव दोनों का पारखी है। उनकी निम्न भावाभिव्यक्ति चित्ताकर्षक है। वह लिखते हैं—

"बिहारी ने यह तो सच कहा है—

अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान
वह चितवन कछु और है, जिहि बस होत सुजान।

"किन्तु बिहारी ने इस रसीले दोहे में केवल बाहरी आंखों ही के रस का वर्णन किया और वह भी अधूरा। वास्तव में वश करनेवाली आंखों में इतना भेद नहीं होता, जितना वश होनेवाली आंखों में। हीरे की परख जौहरी की आंखें करती हैं, पदार्थ रूपी चित्रों में चितेरे के हाथ की महिमा कवि की ही आंखें पहचानती हैं।" टंडनजी की आंखों से भाषा का सौंदर्य कैसे छिप सकता है। वह सच्चे हीरे के पारखी हैं। तभी तो वह पुनः लिखते हैं—"हिन्दी बोलनेवालों का यह सौभाग्य है कि कविता के ऊंचे आदर्श के समीप तक पहुंचनेवाले कई कवि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा द्वारा अपनी अमूल्य वाणी से संसार का उपकार किया

[1]'शासन-पथ-निदर्शन'—पृष्ठ ६६

है। . . . इनके भावों को जिसने समझा, वह सच्चा पंडित है। इनके मर्म को जिसने पाया, वह स्वयं महात्मा है। संसार साहित्य की चर्चा करता है, कांच को हीरा जानकर उसके पीछे दौड़ता है। . . . अनेक भाषाएं अपने-अपने कांच के टुकड़ों को सामने रख हीरे का दम भरती हैं, किन्तु जैसा कबीर ने कहा है—

सिंहन के लंहड़े नहीं हंसन की नहिं पांत।
लालन की नहिं बोरियां, साधु न चले जमात।

"कवियों के भी लंहड़े नहीं होते। वह काल, वह देश भाग्यवान् है, जहां एक भी कवि उत्पन्न हो जाय। . . . कुछ कांच पहचाननेवाले समालोचक हिन्दी-भाषा में साहित्य की कमी देखते हैं। गांव का रहनेवाला, जिसने अपनी गांव की दूकान में रंग-बिरंगे कांच के टुकड़े देखे हैं, नगर में आकर जब एक बड़े जौहरी की दूकान में जाता है तो अपनी गांव की दूकान के समान रंगीले कांचों को न देखकर बहुमूल्य मणियों का तिरस्कार करता है और कहता है—हमारे गांव की दूकान के समान यहां मणियां तो हैं ही नहीं। ठीक यही दशा इन समालोचकों की है।" हिन्दी भाषा में टंडनजी भावों के लाल और शब्दों की मणिया पिरोते हैं। उनका भाषा-सौष्ठव जौहरी की दुकान के सच्चे हीरे के हार-सा सुन्दर और समुज्ज्वल है। देखिये उन्होंने अपनी भाषा में कैसी सुन्दर मणिया पिरोई हैं। इस प्रस्तावना के अंत में उन्होंने लिखा है[1]— "इस कविता-कौमुदी की छटा, संग्रह होने के कारण, बादलों से छनकर आती है, तो भी अंधकार दूर करने के लिए पर्याप्त है। इसमें अमूल्य मणियों की लड़ियां हैं, साथ-साथ रंगीले कांच के टुकड़ों की बन्दनवारें भी हैं।" टंडनजी की भाषा-कौमुदी की आभा भी हिन्दी-साहित्य के आंगन में इसी तरह अपनी छटा बिखेर रही है। उनकी भाषा का यह एक उत्तम उदाहरण है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि हीरे और कांच दोनों ही को उपयुक्त स्थान देनेवाले टंडनजी अपनी भाषा में भी तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों को स्थान देते हैं। एकदम तत्सम शब्दों से ही उन्हें मोह नहीं। सरलता के लिए वह तत्सम शब्दावली को न्योछावर कर सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से उनकी भाषा के लालित्य और प्रांजलता का परिचय हमें मिला। टंडनजी जीवन में संकल्प के आग्रही और सिद्धान्त के व्रती हैं। सत्यनिष्ठ होने के कारण उनकी स्पष्टोक्ति में कभी-कभी तीव्रता का तीखापन भी आ जाता है। कभी-कभी वह भाषा के माध्यम से आलोचक पर चोट भी करारी करते हैं। उनके कटाक्ष अथवा तीव्रोक्ति में प्रभाव होता है और बल भी। मूल्य-नियमन पर लोकसभा में बोलते हुए उन्होंने अपने भाषण में कहा था—

[1] 'कविता-कौमुदी'—प्रस्तावना (इसे टंडनजी ने मार्गशीर्ष ९, संवत १९७४ में लिखा था।)

"कंट्रोल की बात आप करते हैं। कंट्रोल होना चाहिए, इसे मैं भी मानता हूं, नियंत्रण होना चाहिए। लेकिन केवल कीमत पर ही नहीं। मुख्य चीज तो यह होनी चाहिए कि जीवन पर एक कंट्रोल और नियंत्रण हो। लेकिन आज जीवन पर वह कंट्रोल कहां है? कंट्रोल अपने ऊपर और अपने शासन पर और अपने कार्यकर्त्ताओं पर होना चाहिए।"[१]

शासन पर कैसी कड़ी चोट की है और नियंत्रण की कैसी आलोचना की है। ऐसी भाषा के प्रयोग में टंडनजी पटु हैं। वह शब्दों के अर्थ में आस्था रखते हैं और इनका निरर्थक अथवा प्रभावहीन उपयोग उन्हें नहीं भाता। हां, लम्बे भाषणों अथवा लेखों में जहां वह कभी-कभी सूक्ष्म विचारों को व्यक्त करने का यत्न करते हैं, उनकी भाषा को समझने में कठिनाई होती है, कम-से-कम वह सरल और सुग्राह्य नहीं रहती। फिर भी टंडनजी की भाषा में प्रवाह है और साहित्य-तत्व है, जो उसे आकर्षक बनाये बिना नहीं रहता।

सन् १९२२ में तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण देते हुए टंडनजी ने जो उद्गार प्रकट किये और जिस प्रकार अपने विचारों को सजाकर रखा, वह कोई साहित्यिक ही कर सकता है। इस भाषण में उन्होंने कहा—

"साहित्य कानन के इस अंश में बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुषों की वाणी की झनकार हो रही है, किन्तु अब भी बहुत-से स्थान ऐसे हैं, जहां नये-नये प्रतिभाशाली गायकों और व्याख्याताओं के बसने की आवश्यकता है। यह समय भारतवर्ष के लिए महान परिवर्तन और बड़े महत्व का है। यही एक ऐसा अवसर है, जबकि मनुष्य के और देश के भाग्य में ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते और जबकि वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का सारा मानसिक प्रवाह बदल दे। . . . कृत्रिमता छोड़िये, भावुकता संग्रह कीजिये। सूर्य-सी नैसर्गिक ज्योति का सौंदर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखाई पड़ता है। हरे, लाल और पीले कांच के टुकड़ों की उसे आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योति को सुन्दर बनाने के लिए आप भले ही अपने कांच के टुकड़े भिन्न-भिन्न रंगों में रंगें, और उनको भिन्न-भिन्न भूषणों से भूषित करें, किन्तु सूर्य की ज्योति इन कृत्रिम आभूषणों का तिरस्कार ही करती रहती है। आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के चलन के अनुसार भी, परकीया नायिका को अधिक होती है। स्वकीया सती का शृंगार आभूषणों पर न निर्भर ही है और न उनसे बढ़ता ही है। . . . वाणी की सार्थकता इसीमें है कि वह आकाश में सीढ़ी बांधकर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहां से वाणी का उद्गार हुआ है। . . . आप अपनी वाणी का ऊंचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृंगार

१ 'शासन-पथ-निदर्शन'—पृष्ठ ४५

नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें। . . . भारतवर्ष के इस परिवर्तनकाल में हमें ऐसे उपासकों की आवश्यकता है, जो अपनी वाणी से स्वतंत्रता का नाद देश में भर दें। नगर, ग्राम, जंगल और पहाड़ों से घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यता को निकालकर महाशक्ति की मूर्ति को जनता के हृदय में स्थापित कर उसके पवित्र पूजन के लिए नृत्य और गान आरम्भ करें। निस्सार और नीचे गिरानेवाले रसों और उन्हींके समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़कर दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिये। उनके उपयुक्त संचारी भावों से उन्हें संचरित कीजिये और तब उनके परिणामस्वरूप महत् अनुभवों का दर्शन कर कृतार्थ होइये।"[१]

इस प्रकार के सुन्दर और साहित्यिक विचारों द्वारा और साहित्य सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी-सेवी संस्थाओं में प्राण भरते रहने की चेष्टाओं द्वारा बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने हिन्दी भाषा और साहित्य की असीम सेवा की है। हिन्दी की सेवा करनेवालों और इसके साहित्य की अभिवृद्धि करनेवालों की संख्या काफी बड़ी है, किन्तु टंडनजी का स्थान इस सूची में कुछ निराला है। उनके लिए यह कहना कि हिन्दी-प्रचार अथवा विस्तार में टंडनजी ने सहायता की हास्यास्पद-सा लगेगा, क्योंकि वह इस शती के प्रथम दशक से इस समस्त आन्दोलन के प्रवर्तकों में से हैं। वास्तव में टंडनजी उस मंच के निर्माता हैं, जिसपर आकर अनेक हिन्दी-प्रेमियों ने अपनी-अपनी श्रद्धा और क्षमता के अनुसार हिन्दी के भण्डार को भरा। यह कहना गलत न होगा कि उनका ध्यान केवल इस भंडार की ओर ही नहीं रह सकता था। वह मंच की स्थिरता तथा दृढ़ता के लिए भी उत्तरदायी थे। यदि मंच ही निर्बल हो जाय और उसके टूट जाने का भय रहे तो साहित्य-सेवियों के कार्य का मार्ग ही अवरुद्ध हो सकता है। इसलिए रंगमंच के सूत्रधार की भांति टंडनजी को इस साहित्यिक मंच के स्थायित्व को बनाये रखने के लिए बराबर सतर्क और सचेष्ट रहना पड़ा है। यह ऐसा कार्य था, जिसे प्रत्येक व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता था। इस कार्य के गंभीर दायित्व को उन्होंने भली प्रकार निभाया। यह टंडनजी की हिन्दी के लिए सबसे बड़ी सेवा है। इस दिशा में उनका योगदान अद्वितीय माना जायगा।

दूसरे, टंडनजी हिन्दी के ऐसे संरक्षक और प्रहरी रहे हैं, जिन्होंने केवल मंच की ही चिंता नहीं की अपितु समय-समय पर स्वयं उसपर आकर साहित्य-भंडार को समृद्ध करने का भी यत्न किया। उनका मार्गदर्शन अन्य साहित्यिकों को एक मंच पर ला जुटाने और साहित्य-सृजन के हेतु अनुकूल वातावरण बनाये रखने

[१] 'लिलपुंज'—पृष्ठ ५४-५५-५६

तक ही सीमित नहीं था। इन अनुकूल परिस्थितियों का प्रभाव स्वयं टंडनजी पर भी पड़ा और इनसे उनका अपना मानस भी झंकृत हुआ। इसका प्रमाण टंडनजी की रचनाएं हैं, जो भाषणों, लेखों, पत्रों आदि के रूप में बिखरी पड़ी हैं और सौभाग्य से, संकलित अथवा फुटकर, हमें उपलब्ध हैं। उनकी संयत, किन्तु सजीव और ओज-पूर्ण शैली ने हिन्दी के साहित्य-भण्डार को समृद्ध किया है। अतः टंडनजी की हिन्दी-सेवाओं के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वह गत पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी-संस्थाओं के अटल प्रहरी और साहित्यिकों के अचूक मार्गदर्शक और प्रेरणा-स्रोत रहे हैं।

अध्याय : १२

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

(१८८४)

राजेन्द्रबाबू के साहित्य से परिचित कोई भी व्यक्ति उनकी लेखनशैली के सम्बन्ध में ठीक अनुमान लगा सकता है। उनकी नैसर्गिक सरलता, गांभीर्य और एकरूपता उनके शब्दों से झलक पड़ती है। दैनिक जीवन के जितने भी पहलू हैं, उन सभीमें राजेन्द्रबाबू व्यवहार से स्वाभाविक और यथार्थ रहे हैं। कैसी भी परिस्थिति हो, उनकी पहली प्रतिक्रिया कर्त्तव्यपरायणता और आदर की होती है। सामने आनेवाली घटनाओं को अथवा जीवन के तथ्यों को वह जिस उदारता से मान्यता देकर, उनसे निपटने का यत्न करते हैं, उसे असाधारण ही कहा जा सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनमें निजी विचारों अथवा आत्मगत भावों का अभाव है। सच बात यह है कि आत्मिक तत्त्व के प्राचुर्य से ही उनमें बाहरी जगत के प्रति आदर-भाव का प्रादुर्भाव हुआ है। उनकी उदारता तथा सहिष्णुता का आधार उनका विवेक और समन्वयात्मक बुद्धि है।

राजेंद्रबाबू

आरम्भ से ही उन्होंने सदा अपने-आपको पीछे रखना सीखा है। जिसे स्वार्थ अथवा निजी हित कहते हैं, उसकी कल्पना उनके लिए न सहज है, न स्वाभाविक। यत्न करने पर ही वह ऐसा भेद-भाव कर सकते हैं, जिससे उनमें निजीपन की चेतना उत्पन्न हो। उनके लिए उपकार का अर्थ है परोपकार और सुख से अभिप्राय है औरों का सुख। और इस विचारधारा के पीछे न कोई अहम् है और न किसी प्रकार का दंभ। यह सब उनके लिए एकदम स्वाभाविक और सीधी-सादी बात है। सौभाग्य से उनके जीवन की गति ऐसी समतल और समरस रही है कि उतार-

चढ़ाव ने अथवा बाढ़ या सूखे ने उसके प्रवाह में बहुत बाधा नहीं डाली है। नदी की भांति मानवजीवन में भी यह तो हो नहीं सकता कि सदा ही परिस्थितियां एक-समान और मौसम एक-सा रहे। आंधी, तूफान और टीले-चट्टान तो मार्ग में आते ही हैं, किन्तु उस व्यक्ति के लिए इनका अस्तित्व कहां जो न तो इनकी चिंता करे और न इनसे भयभीत हो। उसकी अपनी गंभीरता और निर्दिष्ट उद्देश्य के प्रति कर्त्तव्यपरायणता इतनी अधिक होती है कि ये सभी बाधाएं बुलबुले की तरह स्वयं ही बन-बिगड़कर लुप्त हो जाती हैं। ठीक यही राजेन्द्रबाबू के जीवन में हुआ है। सार्वजनिक जीवन में पदार्पण करते ही उन्होंने एक सीमित किन्तु सुस्पष्ट लक्ष्य के प्रति आस्था की घोषणा की और दिनोंदिन उनकी यह आस्था इतनी दृढ़ होती गई तथा विवेचन एवं अनुभव ने उसे एक ऐसे महान् और सुन्दर स्वप्न में परिणत कर दिया कि जीवन की और सभी गति-विधियों से वह करीब-करीब बेखबर रहे। उन्होंने जो कुछ किया अथवा जो कुछ देखा, वह सब उसी महान् लक्ष्य के माध्यम से और उसीकी पूर्ति हेतु देखा।

ऐसे नेता और लोकहित-चिन्तक को आरंभ से ही आपबीती और जगबीती का चित्र खींचने की प्रेरणा मिली तो यह आश्चर्य की बात नहीं। राजेन्द्रबाबू का भावात्मक विकास वास्तव में महान् है, किन्तु इससे यदि कोई वस्तु सफल स्पर्धा कर सकती है, तो वह उन्हींका बौद्धिक विकास है। उनके मस्तिष्क की प्रखरता और विलक्षणता के प्रमाण उन सभी पाठशालाओं और विद्यालयों में आज भी विद्यमान हैं, जहां हर दृष्टि से वह सफल विद्यार्थी रहे।

विद्यार्थी-जीवन में ही राजेन्द्रबाबू बरबस लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। इसका कारण सार्वजनिक कार्य में उनकी गहरी रुचि थी। कलकत्ता के सार्वजनिक और राजनीतिक क्षेत्रों से उनका व्यक्तिगत परिचय हो चला था और संयोग से उस समय बंग-भंग के कारण कलकत्ता में असाधारण उथल-पुथल थी। लेखन के माध्यम के सम्बन्ध में वह पहले ही निश्चय कर चुके थे और हिन्दी के प्रति गहरी दिलचस्पी उनके व्यक्तित्व पर अपना प्रभाव छोड़ गई थी। १९०५-६ में ही उन्होंने हिन्दी में लिखना आरंभ किया। विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति पर अभी जब वकालत आरंभ ही की थी, पं० पद्मसिंह शर्मा के आग्रह से उन्होंने 'भारतोदय' के लिए एक लेख लिखा। इस सर्वप्रथम प्रकाशित हिन्दी लेख में, जो स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक स्थिति के बारे में था, उन्होंने लिखा—"समाज की पतितावस्था का मुख्य कारण शिक्षा का अभाव है। हमारे देश में शिक्षित मनुष्यों की संख्या इतनी कम है कि यदि कोई नया प्रस्ताव किया जाय तो उसे सैकड़े पीछे पंचानवे जान ही नहीं सकते। उनके जानने-जताने के दो ही उपाय

हो सकते हैं—एक समाचार-पत्रों के द्वारा और दूसरा व्याख्यानों या उपदेशों के द्वारा।...व्याख्यान का अर्थ कुर्सी-टेबुल लगाकर हाथ, पैर, सिर, या पंचांगों को परस्पर लड़ा-भिड़ाकर कुछ कह देना ही नहीं है, बल्कि उन सभी उपायों को व्याख्यान कह सकते हैं, जिनसे एक या अधिक मन्तव्य जनसमूह पर अपना प्रभाव डालें।[1] 'महिला-उद्धार' के विषय में लिखते हुए राजेन्द्रबाबू ने बालविवाह और वृद्ध-विवाह की बुराइयों की ओर समाज का ध्यान खींचा है। यहां उनकी भाषा-शैली लेख के योग्य नहीं, भाषण के योग्य है। इसे पढ़ने से ऐसा आभास होता है मानो वह जनता को उद्बोधन कर रहे हैं। उनकी भाषा में ललकार है। उदाहरणार्थ—"इतना ही नहीं, यदि आपकी स्त्री मर जाय तो आप चाहे कितनी बार ब्याह करलें। आप अपने भोग-विलास के लिए चाहे सहस्राक्ष इन्द्र भी बन जायं, ६०, ७० वर्षों की अवस्था में भी १२-१५ की कन्या का हाथ पकड़ने में जरा भी नहीं हिचकें। पर यदि ८ वर्ष की कन्या विधवा हो जाय तो उसे अपनी जिंदगीभर आंसू बहाने पड़ें। मैं तो समझता हूं कि विधवाओं के अधिक होने के दो मुख्य कारण हैं—१. बालविवाह और २. वृद्ध-विवाह। हमारे नेता उन लोगों से जाकर क्यों नहीं पूछते जो ८-९ वर्ष के लड़के-लड़कियों का ब्याह करके उनके, देश के जीवन और वंश के जीवन को एक ही कुठार से उच्छिन्न कर देते हैं।"

इस लेख की भाषा से यह विदित होता है कि लेखक ने यह लेख अपने जीवन के आरंभ-काल में, समाज के कार्यक्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व, लिखा है। इसीलिए भाषा में नवीन विचारों का जोश है और पतित हिन्दू-समाज की स्थिति का दर्द है। उन्होंने समाज-संशोधक का भी अच्छा उदाहरण दिया है। इसी लेख के अन्त में राजेन्द्रबाबू ने लिखा है—"संशोधक रेल का इंजन है—उसे पीछेवाली गाड़ियों को भी खींच ले जाना है, वह केवल एक ही मनुष्य को बैठानेवाला मोटरकार नहीं है कि सबको पीछे छोड़ता और उनपर अपनी घृणा की धूल बरसाता हुआ आगे निकल जाय।"[2] राजेन्द्रबाबू के शब्दों में कितनी सचाई है, यह उनके जीवन से प्रत्यक्ष है। उस समय राजेन्द्रबाबू लेखनी का अभ्यास कर रहे थे, यह उनके उस पत्र से भी ज्ञात होता है, जो पं० पद्मसिंह शर्मा को उन्होंने लिखा था—'सरस्वती' में जो लेख देने की आज्ञा की गई, सो अनुल्लंघनीय न होने पर भी लेख के असामर्थ्योपहत होने से विलम्बसाध्य होगी।...प्रथम तो ऐसा विषय नहीं सूझता, जिसपर हिन्दी रसिकों का अनुराग हो, द्वितीयतः हिन्दी लेख में भी सामर्थ्य नहीं। आप कुछ विषय निर्देश करें तो कुछ यत्न हो। 'समाज-संशोधन'

[1] 'भारतोदय'—सितम्बर, १९१०—'समाज-संशोधन' लेख से

[2] 'भारतोदय'—सितंबर, १९१०—'समाज-संशोधन' लेख से

comparison with Bacon and Aristocle

वाला लेख आपको इतना पसन्द होगा, यह मुझे कभी धारणा नहीं थी। यदि उधर 'भारतोदय' कृतार्थ हुआ तो इधर मैं भी कृतार्थ हुआ।"[१]

इससे स्पष्ट है कि राजेन्द्रबाबू ने वास्तव में अपनी असमर्थ लेखनी को समर्थ बनाने के लिए 'शब्द-संग्रह' में पूरी शक्ति लगाई है। इसी अनवरत अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप आज वह सफल लेखक के रूप में हमारे सामने हैं। राजेन्द्रबाबू के इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें जन्मना भाषा-शैली का प्रसाद नहीं मिला। कठिन परिश्रम और अध्यवसाय से ही उनकी लेखनी हिन्दी भाषा के साहित्य-तत्त्व को खोज सकी है। यह क्रमिक उन्नति कैसे हुई, उसके लिए इस दिशा में उनके जीवन-क्रम और विचारधारा की गति का अनुसंधान आवश्यक है।

जीवनी और व्यक्तित्व

राजेन्द्रबाबू का जन्म उत्तर बिहार के जीरादेई नामक छोटे-से गांव में हुआ। स्कूल में दाखिल होने से पहले घर पर मौलवीसाहब के पास फारसी पढ़ी। उन दिनों में स्कूल की आठ वर्षों की पढ़ाई होती थी और सबसे नीची श्रेणी आठवीं कहलाती थी, उसीमें प्रवेश पाया। वहां पहले-पहल हिन्दी पढ़ना शुरू किया और वहीं कुछ दिनों के बाद हिन्दी के बदले संस्कृत पढ़ी। पर चौथे दर्जे में पहुंचते-पहुंचते हिन्दी-संस्कृत दोनों को छोड़कर उर्दू और फारसी फिर ले ली, क्योंकि फारसी से कुछ परिचय था और समझा जाता था कि वकालत के पेशे में उससे मदद मिलेगी। इनके पिताजी की आशा थी कि राजेन्द्रबाबू पढ़कर बड़े वकील होंगे। इसी आशा के भरोसे हिन्दी से सम्पर्क छूट गया। एन्ट्रेंस और एफ. ए. तक फारसी पढ़ी। बी. ए. में ऐच्छिक विषय के रूप में राजेन्द्रबाबू ने हिन्दी में लेख लिखा और पास हुए। यद्यपि हिन्दी, संस्कृत से संपर्क छूट गया था, तथापि रुचि बनी रही।

कलकत्ता में 'हिन्दी भाषा परिषद्' नाम की एक संस्था थी और बिहारियों का एक बिहारी-क्लब था। इन दोनों जगह हिन्दी की चर्चा हुआ करती थी और यहां हिन्दी में लेख पढ़े जाते थे और भाषण दिये जाते थे। इन दोनों संस्थाओं में राजेन्द्र-बाबू नियमित रूप से भाग लिया करते थे। उस समय के मुख्य व्यक्तियों में बालमुकुंद गुप्त, छोटूलाल मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, यशोदानन्दन अखौरी, उमापति दत्त शर्मा, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, हरेकृष्ण जौहर, अमृतलाल चक्रवर्ती प्रभृति जब-तब इनमें भाग लिया करते थे और इन सबसे उसी सिलसिले में राजेन्द्रबाबू का परिचय हुआ। पं. गोविन्दनारायण मिश्र से भी पीछे चलकर उनका परिचय हुआ। ये सभी हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यकार हो गये हैं। इन सबके संपर्क ने

[१] 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र'—पृष्ठ २४१

राजेन्द्रबाबू में सहज ही हिन्दी के प्रति अनुराग पैदा कर दिया।[1]

उन्हीं दिनों कुछ लोगों का विचार हुआ कि जिस प्रकार बंगीय साहित्य परिषद् का वार्षिक समारोह घूमधाम से हुआ करता है, वैसा ही हिन्दी-साहित्यकारों का भी सम्मेलन हुआ करे तो अच्छा हो और कई लोगों के साथ मिलकर पत्रों में ऐसा सुझाव देते हुए अन्य हिन्दी-प्रेमियों के साथ राजेन्द्रबाबू ने भी पत्र लिखा। औरों के दिलों में भी ये विचार उठ रहे थे और कुछ ही दिनों के बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन सन् १९१० में मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में काशी में हुआ, जिसमें राजेन्द्रबाबू शामिल हुए और वहां श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से उनका परिचय हुआ।

कलकत्ता में रहते-रहते ही पद्मसिंह शर्मा से उनका परिचय हुआ, जिसका एक कारण हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् पांडेय जगन्नाथप्रसाद थे। उनके परिचय का एक फल यह हुआ कि हिन्दी-लेखन की ओर इनकी सहज प्रवृत्ति हो गई और अब राजेन्द्रबाबू ने लेख लिखना आरंभ किया। 'भारतोदय' में उनका सबसे पहला लेख प्रकाशित हुआ, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। इस पत्रिका के संपादक पद्मसिंह शर्मा ही थे और उन्हींकी प्रेरणा से राजेन्द्रबाबू ने हिन्दी में यह लेख लिखा था। मैंने हिन्दी पर जोर यहा इसलिए दिया, क्योंकि उनकी सारी शिक्षा अंग्रेजी में हो रही थी। किन्तु यह लेख उनके हिन्दी-प्रेम का द्योतक है।

जब कलकत्ता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, तो स्वागत-समिति के अध्यक्ष पं० छोटेलाल मिश्र और मंत्री राजेन्द्रबाबू बने। उसके बाद उनका सम्बन्ध सम्मेलन से बराबर बना रहा और उसके वार्षिक अधिवेशनों में शामिल भी होते रहे। जब-तब वह लेख भी लिखा करते थे और प्रकाशित करवाते थे। पटना में जब सम्मेलन का अधिवेशन १९२० में हुआ तो वह फिर स्वागत-समिति के पदाधिकारी बने और १९३६ में नागपुर-सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए। अखिल भारतीय सम्मेलन के अतिरिक्त बिहार प्रांतीय सम्मेलन के साथ भी उनका घनिष्ठ संपर्क रहा और उसके वार्षिक अधिवेशन में भी अध्यक्ष हुए।

जब १९२८ में राजेन्द्रबाबू इंग्लैण्ड गये, तब वहां से उन्होंने अपने अनुभव कुछ लेखों के रूप में लिख भेजे। पटना से 'मेरी यूरोप यात्रा' शीर्षक लेख 'देश' साप्ताहिक में प्रकाशित हुए। इस पत्र के राजेंद्रबाबू संपादक भी रहे और बहुत दिनों तक उनका नाम संपादक के स्थान पर चलता रहा, पर उसके वास्तविक संपादन में जब-तब लेख लिख देनेके सिवा उनका हाथ बहुत नहीं रहा, क्योंकि तबतक वह राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुके थे। इस काल में हिन्दी लेखकों और पत्रकारों में जीवानंद

[1] ये नाम स्वयं राजेन्द्रबाबू के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं।

शर्मा और पारसनाथ त्रिपाठी से संपर्क रहा। कलकत्ता में बाबूराव विष्णु पराड़कर और लक्ष्मणराव गर्दे के परिचय में आये। इस प्रकार अध्ययनकाल से ही, यद्यपि इनकी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से हुई, फिर भी हिन्दी के अनेक विद्वानों के परिचय और संपर्क में आने से इस भाषा के प्रति इनकी सहज रुचि जाग्रत हुई और इस तरह उसमें रुचि ही नहीं ली, राजेन्द्रबाबू ने काफी पहले से हिन्दी का नेतृत्व भी किया।

आगे चलकर राजेन्द्रबाबू ने अपनी 'आत्मकथा' हिन्दी में लिखी। यह बृहत् ग्रन्थ उनके हिन्दी पर पूर्ण अधिकार का प्रमाण है। 'आत्मकथा' की भाषा परिष्कृत है। इसकी शैली की विशेषता भावों तथा विचारों का सरल और मनोरंजक प्रवाह है।

हिन्दी-प्रचार के काम में उनकी रुचि पहले से ही थी। जब महात्मा गांधी ने चंपारन में रहते समय हिन्दी-प्रचार का काम दक्षिण भारत में आरंभ किया, तबसे उनकी विशेष रुचि इस काम में हो गई और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा की स्थापना के पहले ही जो कुछ प्रचारक हिन्दी-भाषी प्रांतों से भेजे गए, उनमें कुछ ऐसे थे, जिनको प्रोत्साहन देकर बिहार से राजेन्द्रबाबू ने भेजा। जब सभा नियमित रूप से स्थापित हुई, तबसे ही उसके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और कितने ही वर्षों से महात्मा गांधी की आज्ञा के अनुसार वह इसके उच्च पदाधिकारी रहे हैं और आज भी उसके अध्यक्ष हैं। उस सभा के सारे इतिहास के साथ राजेन्द्रबाबू का नाम अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है।

इस तरह बिहार प्रान्तीय सम्मेलन के साथ और राष्ट्रभाषा प्रचार-सभा के साथ भी उनका क्रियात्मक तथा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इनकी बहुत इच्छा थी कि बिहार की आदिम जातियों के बीच हिन्दी-प्रचार का काम जोरों से हो और इसके लिए प्रांतीय सम्मेलन को प्रोत्साहित करते रहें, पर वह काम बहुत नहीं चला। हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा के साथ महात्माजी की प्रेरणा से वह शुरू से ही संबद्ध रहे हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के साथ भी सम्बन्ध बना और दिनोंदिन बराबर बढ़ता गया। उसके प्रकाशनों में इनकी खासी रुचि रही है। 'हिन्दी साहित्य के बृहत इतिहास' के निर्माण को राजेन्द्रबाबू ने ही प्रेरित किया और उसकी भूमिका भी लिखी। हिन्दी-साहित्य के विकास के लिए यह एक ऐतिहासिक सहयोग राजेन्द्रबाबू ने दिया है।

संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान मिला है और राजेन्द्रबाबू इस समय प्रयत्न में लगे रहे हैं कि संविधान की यह धारा कार्यान्वित हो।

साहित्यिक के रूप में

साहित्यिक दृष्टि से राजेन्द्रबाबू की भाषा-शैली में प्रसाद गुण है। जीवन का

अनुभव होने के साथ-साथ विचारों की परिपक्वता और लक्ष्य का स्पष्टीकरण उन्हें जिस ओर ले गया, उसका सुन्दरतम वर्णन उनकी अपनी रचनाओं में है। कहा जाता है कि व्यक्तित्व ही शैली है। इसीलिए राजेन्द्रबाबू की लेखनी विभिन्न विषयों की चर्चा करते हुए भी अपनी अन्तरात्मा की झांकी प्रस्तुत करती है। उनके विचारों की सरलता, सात्विकता और स्पष्टता पूरी तरह उनके लेखन में प्रतिबिम्बित होती है। फिर भी शैली नीरस नहीं है। उनकी 'आत्मकथा' में ग्रामीण जीवन का वर्णन सीधा और सरल होते हुए भी सजीव और रोचक है, किन्तु कल्पना से अधिक वह तथ्य के निकट है। प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर वह आंख नहीं मींच लेते। इसका उदाहरण 'आत्मकथा' में दिया गया मैसूर की यात्रा का वर्णन है—"बंगलौर और मैसूर के अलावा मैं उन प्राचीन मंदिरों को भी देखने गया, जो जैन-काल और हिन्दू-काल की स्थापत्य-कला के अच्छे-से-अच्छे नमूने हैं। श्रवण गोलबेला और हलेबीड के दृश्य अद्भुत हैं। वे संसार के उन चकित करनेवाले स्थानों में हैं, जिनको न देखना मानो मनुष्य की कृतियों के उत्तमोत्तम नमूनों को न देखना है। तीर्थंकर महावीर की बहुत विशाल मूर्ति एक पहाड़ की चोटी पर पहाड़ काटकर बनाई गई है, जो बहुत दूर से, प्रायः १०-१५ मीलों से, नजर आने लगती है। तारीफ यह कि उतनी बड़ी मूर्ति कुछ अलग से तैयार करके वहां चोटी पर बैठाई नहीं गई है, बल्कि वह पहाड़ की ऊंची चोटी को ही काटकर बना दी गई है और चारों ओर की पहाड़ी काटकर समतल कर दी गई है। मूर्ति ऐसी सुन्दर बनी है कि चाहे आप मीलों की दूरी से देखिये या नजदीक जाकर, उसके सभी अंग ऐसे अनुपात से बनाये गए मालूम होंगे कि कहीं कुछ भी त्रुटि नजर न आयेगी। प्रत्येक अंग, पैर की अंगुलियों से लेकर नाक-कान तक, अपने-अपने स्थान पर ठीक अनुपात में बना दीख पड़ता है। यह जैनों का एक बहुत बड़ा तीर्थ है, जहां समस्त भारतवर्ष के जैन दर्शन करने जाते हैं।"[१]

प्राकृतिक दृश्य के साथ-साथ राजेन्द्रबाबू प्रदेश के भूगोल और जीवन के तथ्यों को भी देखते जाते हैं, जो इस उदाहरण से स्पष्ट है —"तीसरा अद्भुत दृश्य प्राकृतिक था। वह है गिरिसप्पा का जलप्रपात। यह ऐसे स्थान में है, जहां ब्रिटिश और मैसूर राज्यों की सरहद मिलती है। प्रायः एक हजार फुट की ऊंचाई से जल गिरता है। इसको एक ओर ब्रिटिश राज्य के एक कोने से और दूसरी ओर मैसूर-राज्य के एक कोने से हम देख सकते हैं। पर मैसूर-राज्य में से देखने पर दृश्य अधिक सुन्दर और सुहावना मालूम होता है। वहां ठहरने और बैठकर दृश्य देखने का भी अच्छा और सुन्दर स्थान राज्य की ओर से बना दिया गया है। मैं

१ 'आत्मकथा'—(साहित्य संसार, पटना प्रथम संस्करण)—पृष्ठ ५९९

companion with Bacon and Aristotle

कुछ देर तक बैठकर प्राकृतिक चमत्कार को देखता रहा। उन दिनों वहां से बिजली निकालने के लिए कारखाना बनाने, दूर-दूर तक बिजली पहुंचाने का प्रबन्ध मैसूर-राज्य की ओर से किया जा रहा था। बहुत-से मजदूर वहां से कई मील की दूरी तक काम करते मिले। मालूम नहीं कि इस प्राकृतिक चमत्कार पर इस मानुषिक बलात्कार का क्या असर पड़ा है और यह शोभा अब भी है या नहीं।"[१]

यदि घटना-विशेष का ठीक-ठीक, अतिरंजन-रहित किन्तु प्रभावोत्पादक वर्णन देखना हो, तो वह भी उनकी 'आत्मकथा' में मौजूद है। एक दिन जब राजेन्द्र-बाबू अस्पताल के वार्ड में थे, सहसा धरती कांपने लगी। उन्होंने बाहर देखा और विहार के भयानक भूकंप का थोड़े-से शब्दों में जैसा हृदयग्राही वर्णन उन्होंने किया है, वह एकदम अनूठा है। "तुरन्त चारपाई से उतरकर बाहर निकल गया। सामने के मैदान में जाकर खड़ा हो गया, धरती इतने जोरों से डोल रही थी कि खड़ा रहना कठिन था। साथ-ही-साथ भयानक गड़गड़ाहट थी, सैकड़ों रेलगाड़ियों के एक साथ चलने के बराबर आवाज हो रही थी। कुछ दूसरे बीमार, जो आस-पास के मकानों में थे और जो चल सकते थे, मेरे नजदीक ही आकर खड़े हो गये। मैदान में बहुत-सी गायें चर रही थीं, वे पूंछ उठाकर इधर-उधर दौड़ने लगीं। एक बार सब मिलकर जहां हम लोग खड़े थे, वहां इस तरह दौड़ी आईं कि जान पड़ा, हम लोगों पर हमला कर रही हैं! पर ऐसा कुछ न करके हम लोगों के पास दौड़ती आकर खड़ी हो गईं, मानों उन्होंने उस स्थान को निरापद समझा अथवा हम लोगों को अपना हितैषी मानकर हमारे पास रहना ही अच्छा समझा। इतने में ही, कुछ दूर पर, नर्सों के रहने का बड़ा दो-मंजिला मकान धड़ाम से गिर पड़ा। पर गड़गड़ाहट इतनी थी कि मकान गिरने की आवाज कम ही सुनाई दी, केवल धूल-गर्द को जोरों से उड़ते देखकर ही हमने समझा कि वह मकान गिरा है। अस्पताल के कुछ [illegible] जहां-तहां गिरे, पर सौभाग्यवश कोई मरा नहीं और न कोई घायल ही हुआ। [illegible] देर में शान्ति हुई।"[२]

राजेन्द्रबाबू की शैली और उनकी समस्त रचनाएं उच्च और नितान्त मानवीय आदर्श की भित्ति पर खड़ी हैं। स्वान्तःसुखाय या 'कला कला के लिए', जैसे आदर्शों से वह कभी प्रभावित नहीं हुए। उनके लेखन के पीछे सदा आदर्श झिलमिल करता दिखाई देता है। उस आदर्श की पूर्ति और अभिव्यक्ति के लिए ही वह लेखनी का आश्रय लेते हैं। इतिहास की घटनाओं की व्याख्या हो अथवा शिक्षा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन अथवा राष्ट्रीय या रचनात्मक कार्यक्रम की रूपरेखा हो, उनकी

१ 'आत्मकथा' (प्रथम संस्करण)—पृष्ठ ५६७-६८

२ 'आत्मकथा' (प्रथम संस्करण)—पृष्ठ ६८७

लेखनी, जान पड़ता है, हाथ की शक्ति से नहीं, बल्कि आत्मा के आदर्श-बल से चलती है। सांस्कृतिक विषयों पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसके पीछे अनुभव तो है ही, गंभीर चिंतन-मनन और सुलझे हुए विचार भी हैं। भारतीय संस्कृति में भारत की आत्मा का निवास है और इसलिए वह अमर बनी रही है। राजेन्द्रबाबू लिखते हैं—

"हमारा समाज समय की क्रान्तियों से अपनेको बिल्कुल अछूता नहीं रख सका, पर वह आज भी अपने मौलिक सिद्धान्तों के साथ अपनी संस्कृति के मौलिक आधारों के साथ ज्यों-का-त्यों खड़ा है। आज चीन के सिवा दूसरा कोई ऐसा देश नहीं, जो अपनी संस्कृति को अनन्त-काल से आज तक उस तरह सुरक्षित रख सका हो, जैसा हिन्दू-समाज ने किया है। इसका क्या कारण है? आज क्यों हम प्राचीन समाजों की तरह समय के गर्त में विलुप्त नहीं हो गये हैं? मैं मानता हूं कि हममें एक ऐसी शक्ति है, जो हमें बचाती आई है और मेरा विश्वास है कि वह आगे भी बचाती रहेगी। मैं तो यह भी मानता हूं कि वह शक्ति भौतिक और पार्थिव साधनों पर अवलम्बित नहीं है, वह मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखती है। वह केवल हमारे देश और समाज की ही रक्षा नहीं करती रहेगी, बल्कि सारे संसार के लिए प्राण-दाता बनेगी।"[1] भारत के लिए राष्ट्रीय शिक्षा तथा मातृभाषा पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—

"राष्ट्रीय शिक्षा में पठन-पाठन की रीति और है तथा शैली भी निराली है। छात्र और बहुतेरे शिक्षक एक साथ रहते हैं और एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होते हैं। शिक्षकों का सहवास-जनित प्रभाव छात्रों के हृदय पर पड़ता है और शिक्षक भी ऐसे ही हैं, जिन्होंने विद्योपार्जन के साथ-साथ देश-सेवा और उसके लिए त्याग का व्रत लिया है। हमारी नीति है कि हम अपने बच्चों को भारतीय रखें, न कि उन्हें विदेशी बना देवें। इसलिए हमारी उच्चकोटि की शिक्षा भी मातृभाषा द्वारा ही दी जाती है। जब मैं पटना यूनिवर्सिटी की सिनेट का सदस्य था और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, तो मि० फाकेस (Fawcus) ने मुझसे पूछा था कि यदि आपको अधिकार दे दिया जाय, तो क्या आप इस प्रस्ताव को कार्य में परिणत कर सकते हैं। मैंने उत्तर दिया था कि मेरे दिल में कुछ भी शक नहीं है, मैं कल ही उसके अनुसार काम करने लगूंगा। यह प्रस्ताव आज से चार साल पहले स्वीकृत हुआ था और फिर सुना है कि वह इस कारण से हटा दिया गया है कि वह व्यावहारिक रूप से काम में नहीं लाया जा सकता है। राष्ट्रीय विद्यालय इसी दलील का मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए चेष्टा कर रहा है। यह प्रस्ताव केवल

[1] 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृष्ठ १५६

मैट्रिकुलेशन के लिए ही हिन्दी को माध्यम बनाना चाहता है। महाविद्यालय में उच्च शिक्षा भी हिन्दी द्वारा ही दी जा रही है। हम समझते हैं कि केवल माध्यम बदल देने से ही जितना समय विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में लगता है, वह बहुत घटाया जा सकता है। अभी पुस्तकों की भी कमी है, शिक्षक भी पूरे उपयुक्त नहीं मिलते, पर इन अड़चनों के रहते हुए भी हम आशा करते हैं कि कुछ दिनों में ही इसका सन्तोषजनक फल देखने में आयेगा।"[1]

वह चाहे पटना हाईकोर्ट के धनी प्रतिष्ठित वकील रहे हों या कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में बम्बई के अधिवेशन का सभापतित्व कर रहे हों, या देश का संविधान बनानेवालों की परिषद् का पथप्रदर्शन कर रहे हों अथवा स्वाधीन भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति के उच्च पद पर आसीन हों, स्वभावतः और वास्तव में राजेन्द्रबाबू भारतीय किसान की आत्मा के सच्चे प्रतिनिधि हैं। रंगीन कालीन, भव्य भवन, राजकीय सजधज और सुरीले, चमकते बैंड-बाजे, अन्य दर्शकों पर चाहे जो प्रभाव डालते हों, किन्तु राजेन्द्रबाबू की नैसर्गिक सरलता और आन्तरिक ग्रामीणता पर वे झीना आवरण तक नहीं डाल पाते। ठीक यही बात उनकी रचनाओं के विषय में सत्य है। आसाम की मनोरम घाटियों को देखकर, वहां की पर्वतीय नदियों का कलकल निनाद सुनकर उन्हें केवल प्रकृति की शृंगारमय सुषमा का ही ध्यान नहीं आता, बल्कि उन बीहड़ वनों में रहनेवाले लोगों के जीवन, हरे रंग के बिछौने जैसे धान के खेत, उस क्षेत्र के वन्य और कृषि-उत्पादन, इन सब बातों की तरफ वह बरबस खिंच जाते हैं, यह बात इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है। अपनी आसाम-यात्रा के वर्णन में उन्होंने लिखा है—

"इस यात्रा में मैंने एक बात देखी। नवगांव जिले के गांवों में भ्रमण करते समय देखा कि यहां बहुत जमीन परती है, जो अभी तक आबाद नहीं की गई। जमीन पर बहुत अच्छी और हरी घास लगी हुई थी, क्योंकि यहां की जमीन में योंही काफी नमी रहती है। कहीं-कहीं इन बड़ी परतियों में कुछ झोंपड़े नज़र आते थे, जिनमें थोड़े ही आदमी देखने में आये। अभी तक जमीन पर कोई फसल नहीं थी और न जोतने-बोने का कोई चिन्ह ही देखने में आता था।"[2] अर्थात् राजेन्द्रबाबू के आदर्शों में लौकिकता है और उनके लौकिक विचारों में अलौकिक ऊंचाई है, जिससे भाषा को रूप और गुण दोनों प्राप्त होते हैं।

भाषा-शैली

राजेन्द्रबाबू के उच्चादर्शों, निर्मल और निष्कपट विचारों और सादे जीवन

---

१ 'भारतीय शिक्षा'—पृष्ठ ५५-५६

२ 'आत्मकथा' (प्रथम संस्करण)—पृष्ठ २७०

का प्रभाव उनकी भाषा पर पड़ा है। उनकी पुस्तकों में विस्तृत विवरण जिन स्थलों पर आते हैं, आकर्षक तथा रोचक होते हुए भी अलंकृत नहीं हैं। अपनी भाषा को अनावश्यक अलंकारों से सजाने के लिए वह रुकते नहीं। अर्जुन जैसे बेधने के लिए केवल अपने लक्ष्य को देखता था, राजेन्द्रबाबू केवल अपने तथ्य की अभिव्यक्ति को लक्ष्य करते हैं। वह बाबा आदम के जमाने से चली आई नानी की कहानी की कालसिद्ध परम्परा में अपनी बात साफ और सीधे तरीके से कहते हैं।

राजेन्द्रबाबू अपनी उदारता के दरवाजे सदा खुले रखना चाहते हैं। जीवन में ही नहीं, भाषा के लिए भी उनका यही उदार दृष्टिकोण है। हिन्दी और उसके साहित्य की अभिवृद्धि और विकास के लिए राजेन्द्रबाबू सरल शब्दों का चयन आवश्यक समझते हैं। कई पौधों से चुने हुए फूलों से गुलदस्ता अधिक रंगीन और सुन्दर बन जाता है, सुन्दर शब्दों का चयन और भाषा में उसका गठन साहित्य के सौंदर्य को भी बढ़ा देता है। राजेन्द्रबाबू ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है, जिसका उल्लेख यहां अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि न केवल इससे यह ज्ञात होता है कि भाषा के विकास में विविध शब्दों का समिश्रण आवश्यक है, अपितु हमारा प्राचीन हिन्दी-साहित्य भी इस बात का साक्षी है। सूर और तुलसी की कृतियां हिन्दी-साहित्य की अमर कृतियां हैं। उनमें भी किस प्रकार अन्य भाषाओं से शब्दों को ले लिया गया, यह सब निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। वह लिखते हैं—

"हिन्दी के प्राचीन प्रसिद्ध कवियों की कविता में भी बहुतेरे शब्द ऐसे मिलते हैं, जो विदेशी भाषा के हैं या विदेशी शब्दों के रूपान्तर मात्र हैं।

सूरदास—हौं हरि सब पतितन को नायक,
को करि सकै बराबरि मेरी इते मानको लायक।
तुलसीदास—गई बहोरि गरीब नेवाजू।
सरल सबल साहिब रघुराजू।
भइ बकसीस जाचकन दीन्हा।
बना बजार न जाय बखाना।
जनवासे गवने मुदित सकल भूप सिरताज
कुंभकरन कपि फौज बिडारी।
लोकप जाके बन्दीखाना।
जो कुछ झूठ मसखरी जाना।
बैठे बजाज-सराफ बनिक, अनेक मनहुं कुबेर से।
गनी-गरीब ग्रामनर नागर।

कोटि कंगूरन चढ़ि गए कोटि कोटि रनधीर।

"तुलसीदास तथा हिन्दी के अन्य प्राचीन कवियों की रचना में अरबी-फारसी के शब्दों का ही नहीं, उर्दू में आजकल प्रचलित मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है। जैसे—

'बालिस बासी अवध का बूझिये न खाको।'

अर्थात् अयोध्या के निवासी खाक भी नहीं समझते।

'कैयो बार कही पिय अजहूं न आये बाज।'

अर्थात्, हे स्वामी, मैंने कई बार कहा, तुम अभी तक बाज नहीं आये।

"इसमें 'खाक नहीं समझना' और 'बाज नहीं आना'—ये मुहावरे उर्दू में आजकल प्रचलित हैं, जो शब्द पहले तुलसीदासजी की बोलचाल में थे।"[1]

राजेन्द्रबाबू ने स्वयं शब्दों का चयन करके हमें दे दिया है और इनके उपयोग के लिए वह समझाते हैं—

"आज के युग में, जब दुनिया से वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण दूरी और समय का भेद उठता जा रहा है, कोई भी भाषा दूसरी भाषाओं के संपर्क से अपने को अछूती नहीं रख सकती। यदि वह ऐसा प्रयत्न करे तो संसार की दौड़ में वह बहुत पीछे रह जायगी और उसके लिए उन्नति के दरवाजे बन्द हो जायंगे। हिन्दी-भाषा के गुणों में एक विशेष गुण यह है कि हिन्दुओं की भाषा होती हुई भी उसने अरबी-फारसी के ही नहीं, बल्कि तुर्की, पुर्तगाली और अंग्रेजी इत्यादि के शब्दों को भी अछूत नहीं समझा। यदि ऐसा नहीं किया होता तो कितने ही शब्द, जो हमारे घरों में पहुंच गये, आज न होते और उनके पर्यायवाची शब्द हमारे पास शायद इतने सुगम न मिलते। इस प्रकार के शब्द प्रायः मनुष्य-जीवन के सभी कामों से सम्बन्ध रखते हैं और उनके बिना जीवन-निर्वाह कठिन हो जाता। यथा—

"सौगात, गलीचा, बहादर, मुचलका, कुली, कैंची, चाकू, लाश, दारोगा, तोप, चिक आदि तुर्की से।

"अलमारी, अचार, बोतल, कमरा, आलपीन, गमला, गोभी, गोदाम, चाबी, मिस्त्री, मेज, तम्बाकू, नीलाम, तौलिया, परात, बुताम, सन्तरा आदि पुर्तगाली से।

"समन, जज, सिगरेट, रबर, रजिस्टर, मशीन, मजिस्ट्रेट, बैंक, बम, रिपोर्ट, फीस, परेड, टिकट, ड्राइवर, टीन, टेबिल, मैनेजर, मास्टर, मिल, मेम्बर, मेम, मोटर, मिनट, मिल्टी, बिगुल, प्लेग, पुलिस, बटन, मनीबेग, रजिस्ट्री, मनिआर्डर, स्टेशन, प्लेटफार्म, ट्रेन, मानीटर, कांग्रेस, कालिज, कम्पनी, कलेण्डर, कमिटी,

---

[1] 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृष्ठ ५५-५६

कापी, कार्निस, कुनैन, कोट, कौन्सिल, ग्लास, गिन्नी, गैस आदि अंगरेजी से।

"हद, बालिग, हलवाई, अमीर, अतलस, तोशक, तकिया, हुक्का, असबाब, बुखार, बहस, मलना, गल्ला, जेब, दलाल, तरावट आदि अरबी से।

"पुर्जा, गुलाल, अखबार, नौकर, पुल, दंगल, सितार, जलेबी, रंदा, दवात, दिहात, पेशाक, पलक, चश्मा, वकील, लाला, बीमा, बाबा, पाजी, दामाद, तालाब, बखिया, तमाचा आदि फारसी से।"[१]

राजेन्द्रबाबू का यह दृढ़ मत है कि "हिन्दी भी यदि जीती-जागती भाषा होना चाहती है तो उसे अपने शब्द-भंडार को बढ़ाना पड़ेगा। बहिष्कार की नीति तो यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकती और न विदेशी शब्दों को बाहर रखकर यह अपनी उन्नति कर सकती है। हिन्दी संस्कृत नहीं है, हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख बसते हैं और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे तो भी वह हिन्दी ही रहेगी।"[२] अनेकता में हिन्दुस्तान की एकता और विविधता में भी हिन्दी की समरसता को बनाये रखने के लिए राष्ट्रपति की यह वाणी मंगल राष्ट्र-वाणी है, इसमें संदेह नहीं।

राजेन्द्रबाबू की भाषा में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे ठेठ हिन्दी के अतिरिक्त, भोजपुरी, मैथिली, बंगला, उर्दू आदि कई जनपदीय भाषाओं के भंडार से लिये गए हैं, जैसे, मुशाहरा, तरक्की, शीरनी, तहकीकात, चिक्का इत्यादि। चूंकि राजेन्द्रबाबू इन सब भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं, उन्हें जो शब्द जिस भाषा से मिला, उन्होंने उसीको स्वीकार कर लिया। इसीलिए तत्सम शब्दों का बाहुल्य उनकी भाषा में कम मिलेगा। और जबसे गांधीजी की हिन्दुस्तानी-संबंधी नीति को कांग्रेस ने अपनाया, राजेन्द्रबाबू की भाषा पर सरलता की दिशा में और भी गहरा प्रभाव पड़ा। यह बात हम उनकी भाषा को तुलनात्मक दृष्टि से देखने से समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ 'मेरे यूरोप के अनुभव', 'संस्कृत का अध्ययन' और 'चंपारन में महात्मा गांधी' ये पुस्तकें १९२७ से पहले लिखी गई थीं। इन ग्रन्थों की भाषा की तुलना यदि हम 'आत्मकथा', 'बापू के कदमों में', और 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति' की भाषा से करें, तो बात आसानी से समझ में आ जायगी। तुलनात्मक अध्ययन के लिए चारों पुस्तकों में से कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

'मेरे यूरोप के अनुभव'

"इस सर्द देश में भी उनके पैरों पर एक महीन मोजे के सिवा दूसरा कोई ढांकन

[१] 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृष्ठ ५४-५५

[२] 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृष्ठ ५७

नहीं रहता।" यह यूरोप की स्त्रियों की वेशभूषा के संबंध में है। वस्त्र के आवरण के लिए 'ढांकन' शब्द राजेन्द्रबाबू की निपट ग्रामीण भाषा का प्रारंभिक उदाहरण है।

"महायुद्ध तो खैर पृथ्वी के इतिहास में बहुत बड़ी चीज हुई है, यहां तो खेलने-वालों के भी इतिहास लिखे पड़े हैं। क्रिकेट और फुटबॉल तथा घुड़दौड़ का भी इतिहास है। जो घोड़े घुड़दौड़ में आते हैं, उनके इतिहास लिखे मिलते हैं। घुड़दौड़ के घोड़ों का इतिहास बड़े घुड़दौड़ के दिन या उससे कुछ पहले समाचारपत्र छापते हैं और उनमें से प्रत्येक का हाल कि यह कहां से आया, उसका पिता कौन घोड़ा था और वह कभी घुड़दौड़ में दौड़ा था या नहीं, किसने उसे पाला, किसके हाथों से वह गुजरा और किस सवार ने उसे फेरा इत्यादि सभी कुछ लोगों को अवगत करा दिया जाता है। यह इतिहास जितनी सफाई और सचाई के साथ मिल सकता है, उतनी सफाई के साथ हमारे देश के बड़े-बड़े खानदानियों का इतिहास भी नहीं मिलता।"[१] राजेन्द्र-बाबू का यह वर्णन भी उसी सफाई को लिये है, इसमें सन्देह नहीं रहता।

'संस्कृत का अध्ययन'

"जिस तरह उपरला हिंद बना, उसी तरह इसी युग में पूरब में एक और हिंद बना, जिसको लोग तब गंगा-पार का हिंद कहते थे और जो अब भी परला-हिंद (Further India) कहलाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाजनपदों के जमाने में भारत में सामुद्रिक व्यापारी उधर जाने लगे थे और वहां सोना मिलने के कारण उसका नाम सुवर्णभूमि उन्होंने रखा था। जो आज का फ्रांसीसी हिंदचीन है, वहांतक ईस्वी पूर्व की पहली सदी में भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। पहले कहा जा चुका है कि सुवर्णभूमि के साथ सबसे अधिक और पुराना सम्बन्ध चंपा (भागलपुर) के लोगों का था। उन्होंने उसके पूरबी छोर पर चंपा राज्य स्थापित किया और बारहसौ बरसों तक उस चंपा की बड़ी शक्ति और समृद्धि बनी रही। मलक्का, सुमात्रा और जावा द्वीप, ये सब मिलाकर कुछ हिस्सा सुवर्णद्वीप और कुछ यवद्वीप कहलाते थे। इनमें तथा मदगास्कर द्वीप में भी ईस्वी सन की पहली सदी में भारतीय बस्तियां स्थापित हुईं।

"इस प्रकार भारत का विस्तार एक तरफ उपरले हिंद और दूसरी तरफ परले हिंद तक हो जाने से दोनों ओर से उसका सम्बन्ध चीन के साथ हो गया। परले हिंद होकर भारत और चीन के बीच स्थल और जल-मार्ग दोनों चलते थे। पहली सदी ईस्वी में धर्मदत्त और कश्यप मातंग नाम के दो भिक्षु पहले-पहल चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने गए और यह सिलसिला आगे शताब्दियों जारी रहा।"[२]

---

१ 'मेरे यूरोप के अनुभव'—पृष्ठ १६, २८-२६

२ 'संस्कृत का अध्ययन'—पृष्ठ २०६-७

विषय गम्भीर होते हुए भी इसमें भाषा-सौष्ठव की कमी दिखाई देती है।

'चम्पारन में महात्मा गांधी'

"एक ने नहीं, हजारों-हजार रैयतों ने महात्मा गांधी से यही बयान किया कि उन्होंने मजबूर होकर, बेइज्जत होकर, मार खाकर शरहबेशी के मुआहिदों पर अंगूठों के निशान बनाये। जिन लोगों को रैयतों की हृदय-विदारक कहानियों के सुनने का दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य प्राप्त हुआ है—इजलास पर बैठकर फैसला लिखनेवाले चाहे जो कहें—उनका यह दृढ़ और अचल विश्वास है कि रैयतों ने खुशी से शरहबेशी कबूल नहीं की। हां, इतना अवश्य है कि प्रत्येक रैयत के साथ जुर्म न किया गया हो—प्रत्येक रैयत पेड़ में बांधकर चमड़े की चमोटी से पीटा न गया हो, उसको मुरगीखाने अथवा कोठीघर में बन्द न किया हो, उसके घर सिपाही न बैठाये गए हों, उसका पानी रोकने के लिए धांगड़ (एक अछूत जाति के लोग) दरवाजे न रोके हों, उसको बांधकर धूप में न सुलाया गया हो, अथवा उसे बांधकर उसके सिर या छाती पर पत्थर या लकड़ी का बोझ न रखा गया हो—हज्जाम-धोबी को उसका काम करने से रोक न दिया गया हो, झूठा मुकदमा चलाकर उसे जेल न भिजवाया गया हो, उसके गांव का रास्ता और उसकी पतियों में गौओं का जाना बन्द न कर दिया गया हो—पर इतना अवश्य है कि यदि किसी गांव में किसी बड़े प्रतिष्ठित रैयत को किसी प्रकार से दबा दिया गया तो उस गांव अथवा जवार के रैयत उसकी हालत देखकर मारे डर के दब गये। और उनका इस प्रकार डरना और दब जाना भी स्वाभाविक ही था।"[1]

'आत्मकथा'

"इसी प्रकार उन्होंने (गोखले) प्रायः डेढ़-दो घंटे तक हम लोगों से बातें कीं। बातें करने का तरीका भी ऐसा था कि हम लोगों के दिल पर उसका बहुत गहरा असर हुआ। अन्त में उन्होंने कहा—'ठीक इसी समय उत्तर देना जरूरी नहीं है, क्योंकि सवाल गहन है, विचार करके हमसे एक दिन फिर मिलो और तब अपनी राय दो।' हम लोग वहां से, एक प्रकार से खोये हुए से होकर निकले। अपने 'मेस' में वापस आये। उनकी बातों का इतना असर पड़ा था कि कोई दूसरी बात सूझती ही न थी।

"हम दोनों उनकी बातों पर विचार करने लगे। मुझे तो कई दिनों तक नींद नहीं आई। खाना-पीना सब कुछ बरायनाम रह गया। स्वदेशी के दिनों में देश की बातें सामने आती थीं। देशसेवा की भावना भी जब-तब जाग्रत होती थी। पर

[1] 'चंपारन में महात्मा गांधी'—पृष्ठ ४२

with Bacon and Aristotl

इसके पहले कभी इस तरह से यह प्रश्न सामने नहीं आया था और न कभी ऐसे बड़े आदमी से मिलकर इस प्रकार के मार्मिक शब्दों के सुनने का ही सौभाग्य हुआ था। एक ओर उनकी बताई देश के लिए हम जैसे लोगों की सेवा की जरूरत, दूसरी ओर भाई पर घर का सारा बोझ डालना ! मेरे भी दो पुत्र हो चुके थे और उनके भी तीन पुत्रियां थीं और एक लड़का। मां अबतक जीवित थीं। वह क्या कहेंगी, घर के दूसरे लोगों को कैसा दुःख होगा इत्यादि भावनाएं इतनी सताती रहीं कि जैसा ऊपर कहा है—खाना-पीना तक प्रायः छूट गया। हम दोनों के सिवा इन बातों को दूसरा कोई जानता नहीं था। भाई साथ में ही थे, पर उनसे भी नहीं कहा। किसी दूसरे साथी से भी नहीं कहा। हाईकोर्ट जाना भी बन्द रहा। टहलना-घूमना छूट गया। कहीं-न-कहीं एकान्त ढूंढ़कर बैठना और चिन्ता करना, यही एक काम रह गया। प्रायः दस-बारह दिनों तक यही सिलसिला चला। भाई को कुछ शक हुआ कि तबीयत ठीक नहीं है। उनको कुछ कहकर टाल दिया। अभी अपना जी नहीं भरता था तो उनसे क्या कहूं।"[१] भावानुभव की तरह ही राजेंद्रबाबू का यह वर्णन बड़ा ही हृदयस्पर्शी है। इन शब्दों में हम सीधे उनकी अन्तरात्मा का दर्शन कर सकते हैं।

'बापू के कदमों में'

"जिसे हम जीवन और मृत्यु कहते हैं, उसमें महात्मा गांधी कोई भेद नहीं मानते थे। आत्मा अमर है और शरीर बदल सकता है तथा मृत्यु से केवल शरीर ही छूटता है। इसलिए वह कहा करते थे कि मनुष्य को मृत्यु का आलिंगन करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।"

"उन्होंने कभी अपनी हिफाजत के लिए कोई विशेष प्रबंध नहीं होने दिया। सभी जगह निर्भय होकर अपना काम करते ही रहे। प्रार्थना के लिए वह जा रहे थे कि हत्यारे ने भीड़ चीरकर, नमस्कार के बहाने, उनके सामने आकर, गोली मार दी और 'हे राम' का उच्चारण करते हुए वह गिर गये। उनके लिए इससे और सुन्दर तथा भव्य मृत्यु नहीं हो सकती थी। एक तो ईश्वर में ध्यान लगाकर प्रार्थना के स्थान पर जा ही रहे थे, गोली लगने पर भी मुख से 'हे राम' का ही उच्चारण हुआ !

जनम-जनम मुनि जतन कराहीं,
अन्त राम कहि आवत नाहीं !

"पर महात्माजी के मुंह में अन्तिम शब्द 'राम' का ही आया। इससे बढ़कर

---

[१] आत्मकथा—पृष्ठ ७०-७१

उनकी तपस्या का और क्या सुन्दर फल हो सकता था।"[1] मृत्यु का इससे अच्छा वर्णन और कहीं नहीं देखने को मिलता। तुलसी-रामायण का नित्य पाठ करने-वाले राजेन्द्रबाबू के हृदय से गांधीजी की मृत्यु पर बापू के 'हे राम' के उद्‌गार ने उनकी वाणी और लेखनी से सहज ही वही भाव-धारा प्रवाहित कर दी।

'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'

"सरस्वती के इस प्रसिद्ध मंदिर में कई वर्ष की साधना और तपस्या के उपरान्त आज आप स्नातक भाइयों ने उसका वरदान पाया है—वह वरदान, जो आपके जीवन में आपके लिए अमोघ कवच होगा, और जो होगा आपकी जीवन-यात्रा का अक्षय संबल। अपनी इस ममतामयी और उदार माता के पवित्र मंदिर से संभवतः शीघ्र ही विदा लेकर आप जीवन के व्यापक महासागर के यात्री बनेंगे और आपके हाथ में होगी अपनी जीवन-नौका की पतवार। इस समय जब आप अपने भाग्य और भविष्य के द्वार पर खड़े हैं, मैं आपसे कुछ शब्द इस विश्वास से कहना चाहता हूं कि संभवतः उनसे इस विशाल जीवन-महासागर में अपनी दिशा निर्धारण करने में आपको सहायता मिले और आप उस पथ को पहचान सकें, जो मानव को राम-राज्य की ओर ले जाता है।"[2]

इस प्रकार इन उद्धरणों की भाषा-शैली से यह प्रतिभासित होता है कि जैसे-जैसे राजेन्द्रबाबू की लेखनी आगे बढ़ी है, भावों और अनुभवों के सहारे उसका अभ्यास बढ़ता गया है और वह प्रवीण भी बन गई। इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजेन्द्रबाबू की भाषा विविध भावों को साथ लेकर चलती है और उसमें विविध भाषाओं, भोजपुरी, उर्दू, संस्कृत इत्यादि के शब्दों का समावेश है। वास्तव में तो हिन्दी के रूप में समन्वय ही उनका आदर्श है। कोरे पांडित्य की ओर राजेन्द्रबाबू कभी आकर्षित नहीं हुए। इसके फलस्वरूप यद्यपि भाषा में काफी सरलता आई है, तथापि कहीं-कहीं वह अपरिमार्जित प्रतीत होती है। शब्दों का चुनाव ही दोषपूर्ण नहीं, किन्तु कहीं-कहीं अभिव्यक्ति में भी शिथिलता आ गई है और वाक्य-विन्यास अव्यवस्थित-सा दिखाई देता है। उनका अभिप्राय प्रमुख रूप से अपनी बात कह देना होता है और कहने में वह सचाई, लिखने का उद्देश्य और भाषा की सरलता, बस इन तीन बातों का ही ध्यान रखते हैं। भाषा के रूप और शृंगार के प्रति उनकी रुचि इतनी ही कम है, जितनी स्वयं अपनी वेशभूषा के प्रति। फिर भी उनके सरल, सतेज व्यक्तित्व की तरह उनकी भाषा में सहज ओज है, उनकी रचनाओं में जीवन है और पाठक सहज ही उसकी ओर आकर्षित होता

[1] 'बापू के कदमों में'—पृष्ठ २९६

[2] 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृष्ठ १२७

- comparison with Bacon and Aristot

है। इसका प्रमुख कारण भाषा में विचारों का प्राधान्य और उनके विचारों में आदर्श का समावेश है। निष्प्रयोजन उन्होंने न कभी लिखा और न इसमें उनका विश्वास है। जहां उनका अभिप्राय अथवा प्रयोजन आया वहां विचार, ध्येय और आदर्श इन तीनों ने लेखनी का पथप्रदर्शन किया। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में सहस्रों पाठकों ने निजी भावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिविम्ब देखा है। अनेक पाठकों को उनसे समाज-सेवा और राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य की प्रेरणा मिली है। उनकी शैली इस उद्देश्य की पूर्ति अवश्य कर सकी है। उसको ही यह श्रेय है कि उसने लेखक के स्थूल और सूक्ष्म विचार सहज ही व्यक्त किये और पाठकों को प्रभावित किया। इस शैली में व्यावहारिकता और सरल प्रांजलता है। शैली विचारों की वाहिनी होती है। शैली लेखक के व्यक्तित्व की, जो भाषा में प्रतिविम्बित होता है, छाया बन जाती है। राजेन्द्रबाबू के ऊंचे, सौम्य व्यक्तित्व का प्रतिविम्ब उनके संपूर्ण साहित्य में स्पष्ट प्रतिविम्बित होता है, जिसकी सरल मधुर छाया हम उनकी भाषा-शैली में पाते हैं।

प्रभाव और योगदान

राजेन्द्रबाबू उन नेताओं में हैं, जिनके सार्वजनिक जीवन का प्रभाव हिन्दी की उन्नति और प्रचार पर अधिक-से-अधिक पड़ा है। हिन्दी के प्रति उनका स्नेह प्रारंभिक वर्षों में ही जाग्रत हो गया था। हिन्दी-भाषी बिहार उनका सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र होने के कारण उन्होंने सार्वजनिक और निजी काम-काज हिन्दी में ही आरंभ किया। ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसकी समस्त शिक्षा अंग्रेजी में ही हुई हो और जिसने स्कूल में, विश्वविद्यालय में वैकल्पिक विषय के रूप में भी हिन्दी कभी न पढ़ी हो, हिन्दी भाषा में दैनिक कामकाज करना, हिन्दी में अनेक पुस्तकों की रचना करना, और हिन्दी के पक्ष का ऐसा जोरदार समर्थन करना श्रेय की बात है। इन्हींके विचारों और नेतृत्व के फलस्वरूप बिहार विद्यापीठ की स्थापना हुई, जहां शिक्षा का माध्यम हिन्दी माना गया। इससे पहले पटना विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी में भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी-सम्बन्धी प्रस्ताव, सबसे पहले राजेन्द्रबाबू ने प्रस्तुत किया। अपने तर्क, प्रचार और परिश्रम के बल पर ही उन्होंने घोर विरोध होते हुए भी उस प्रस्ताव को स्वीकार कराया। बिहार के सर्वमान्य नेता होने के कारण राजेन्द्रबाबू के भाषा-सम्बन्धी विचारों तथा कार्य से उस प्रान्त में हिन्दी की उन्नति का मार्ग सहज ही प्रशस्त हो गया।

राजेन्द्रबाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चोटी के नेताओं में केवल वही ऐसे है, जिन्होंने अपनी सब रचनाएं मौलिक रूप से हिन्दी में लिखी और बाद में उनके अनुवाद दूसरी भाषाओं में हुए। इसका एकमात्र अपवाद 'इंडिया डिवाइ-

डेद'—'खंडित भारत' है। इन पचास वर्षों में अग्रगण्य नेताओं में से किसीने भी-अपनी आत्मकथा अंग्रेजी भाषा के सिवाय किसी दूसरी भाषा में नहीं लिखी। केवल दो ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने यह सम्मान अपनी मातृभाषाओं को दिया—गांधीजी ने अपनी जीवनी 'सत्यना प्रयोगो'—गुजराती में लिखी और राजेन्द्रबाबू ने अपनी 'आत्मकथा' हिन्दी में लिखी। इसी प्रकार उनके लगभग आठ-नौ और ग्रन्थ मूलतः हिन्दी में ही लिखे गए। इन रचनाओं से हिन्दी-साहित्य में जो समृद्धि आई, वह प्रत्यक्ष है। इस मौलिक साहित्य का जो प्रभाव हिन्दी पाठकों पर पड़ा, वह अनूदित पुस्तकों का कभी नहीं पड़ सकता। इसी तथ्य को मान्यता देने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें 'आत्मकथा' पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' दिया और हाल ही में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने उन्हें दो पुरस्कार दिये। एक, सर्वप्रथम वयोवृद्ध हिन्दी-सेवी होने के नाते और दूसरा, गांधी साहित्य पर सर्वोत्तम रचना (बापू के कदमों में) के लिए। यह मान्यता राजेन्द्रबाबू की हिन्दी-सेवा और उनकी रचनाओं के प्रभाव की सूचक है तथा हिंदी-साहित्य को उनके योगदान का प्रमाण है।

इतिहास का विद्यार्थी राजेन्द्रबाबू का सबसे बड़ा योगदान उस रचनात्मक-कार्य को मानेगा, जो उन्होंने संविधान-सभा के अध्यक्ष और भारत के प्रथम राष्ट्रपति होने के नाते किया। संविधान-सभा यदि हिन्दी के पक्ष में सर्वसम्मति से निश्चय कर सकी और अनेक दिशाओं से विरोध का समाधान कर सकी, तो उसका अधिकतर श्रेय भी संविधान-सभा के अध्यक्ष के रूप में राजेन्द्रबाबू को है। भारतीय संविधान के हिन्दी-रूपान्तर तैयार करने के प्रश्न पर बहुत-सी कठिनाइयां सामने आईं, किन्तु राजेन्द्रबाबू के आग्रह पर संविधान लागू होने से पहले ही उसका हिन्दी-रूपान्तर तैयार कराया गया। इस कार्य के लिए प्रामाणिक पारिभाषिक शब्द तैयार कराने में भी उन्हींका हाथ था। उनकी समन्वयात्मक बुद्धि ही इसको कर सकी। पारिभाषिक कोश तैयार करने के लिए उन्होंने एक समिति की नियुक्ति की, जिसमें प्रत्येक भारतीय भाषा के कम-से-कम दो प्रतिनिधि लिये गए। शब्दों के इस व्यापक आधार पर निर्मित होने के कारण ही संविधान-शब्दकोश हिन्दी में ही नहीं, बल्कि और कई भाषाओं में स्वीकृत हुआ, जैसे बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तेलुगू आदि। हिन्दी की इस सेवा के लिए राजेन्द्रबाबू का स्थान सदा हिन्दी-सेवियों की सूची में अग्रगण्य रहेगा।

राष्ट्रपति-पद से उन्होंने हिन्दी को मान्यता ही नहीं दी, बल्कि उसके अधिक-से-अधिक व्यापक प्रयोग पर जोर दिया। स्वयं राष्ट्रपति-भवन में यथासंभव अंग्रेजी और हिन्दी को बराबर स्थान दिलाया। राजकीय समारोहों के लिए

comparision with Bacon and Aristot

निमंत्रण-पत्र, राष्ट्रीय अवसरों पर अभिभाषण, औपचारिक अवसरों पर राष्ट्र के नाम संदेश, विदेशी राजदूतों द्वारा प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करने-सम्बन्धी आयोजन, राष्ट्रपति-भवन में समय-समय पर निकलनेवाले परिपत्र, कर्मचारियों के लिए निर्देशन, राष्ट्रपति के दौरे के कार्यक्रम—इन सभी बातों के लिए हिन्दी का प्रयोग किया जाने लगा। राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने अनेक हिन्दी-सम्मेलनों और साहित्यिक गोष्ठियों के उद्घाटन किये और इन सभी अवसरों पर उनके भाषणों ने भाषा की समस्या और साहित्य-निर्माण पर मार्मिक प्रकाश डाला है। हिन्दी के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने दूसरी भारतीय भाषाओं के सम्मेलनों में जो भाषण दिये, वह भी राजेन्द्रबाबू का उल्लेखनीय योगदान है। (तामिल संघम्, कन्नड़ साहित्योत्सव, मलयालम्-तेलुगू साहित्य परिषद्, पंजाबी साहित्यिक मेला, मराठी साहित्य परिषद्, बंगला सम्मिलिनी, इत्यादि)। इस योगदान में उनके पूर्व-विचारों की पुष्टि होती है, जो उन्होंने १९२३ में व्यक्त किये थे। हिन्दी की उन्नति और उसके विकास के उपाय बताते हुए उन्होंने कहा था—

"हिन्दी की उन्नति और प्रचार कई प्रकार के हो सकते हैं। जहां के रहनेवाले समझ और बोल सकते हैं, वहां के लोगों में इसके साहित्य के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे स्थानों में उत्तमोत्तम ग्रन्थों का संग्रह करके पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित किये जायं। हिन्दी-साहित्य के प्रेमियों को विविध रूप से पुरस्कृत किया जाय। अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के लेखकों को तथा कवियों को प्रोत्साहन दिया जाय। उत्तमोत्तम ग्रन्थों को छापकर सस्ते मूल्य पर बेचने का प्रबन्ध हो। ऐसी मण्डलियां और संस्थाएं स्थापित की जायं, जो सचाई और सहृदयता के साथ तथा निष्पक्ष भाव से नये-नये ग्रन्थों की समालोचना किया करें। पुस्तक-लेखकों को उनकी पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता दी जाय। अन्य भाषाओं के—चाहे वह देशी हो, या विदेशी—उत्तमोत्तम ग्रन्थों का उल्था किया जाय। नाटक-मण्डलियां अच्छे-अच्छे नाटक खेलकर लोगों में हिन्दी की ओर रुचि पैदा करें। अच्छे-अच्छे विद्वानों द्वारा सम्पादित और सिद्धान्तों को प्रचारित करनेवाली पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हों। मन्दिरों तथा देवालयों में हिन्दी-ग्रन्थों के—विशेषकर धार्मिक ग्रन्थों के—पठन-पाठन का सर्वत्र प्रबन्ध किया जाय। जितनी सार्वजनिक संस्थाएं हैं, उनमें हिन्दी द्वारा ही सब काम किये जायं। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, वकील-मुख्तार, शिक्षक-विद्यार्थी, सभी अपने-अपने दफ्तरों तथा घरेलू कामों में हिन्दी का ही व्यवहार करें। इन उपायों के अतिरिक्त सब श्रेणी के विद्यालयों में हिन्दी, हिन्दी-साहित्य और हिन्दी द्वारा अन्य विषयों की शिक्षा

दी जाय।"[१]

राजेन्द्रबाबू के हिन्दी-सम्बन्धी विचारों की एक विशेषता यह है कि उनका आधार उदारता, सहिष्णुता और अविकल राष्ट्रीयता है। उन्हें सभी भारतीय भाषाओं से प्रेम है और वह सभीकी उन्नति को भारतीय साहित्य की उन्नति मानते हैं। उनके उदार दृष्टिकोण ने हिन्दी के विरोध को नरम किया है और भाषा की गुत्थी को सुलझाने में काफी सहायता दी है।

अब मैं राजेन्द्रबाबू के प्रमुख ग्रन्थों को संक्षेप में समीक्षा करती हूं। उनकी प्रत्येक कृति का अपना उद्देश्य है और अपना व्यक्तित्व। इसलिए लेखक की शैली के अतिरिक्त, इन कृतियों के विकास द्वारा उनकी विचारधारा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

'चंपारन में महात्मा गांधी'

हिन्दी-साहित्य में इस विषय पर यह प्रथम सांगोपांग पुस्तक है। यद्यपि कुछ लेख इस विषय पर श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में निकलते रहे, और इसके प्रभाव से वहां के लोगों में जागृति पैदा हुई, तथापि इसका प्रभाव इस पुस्तक के लेखक पर नहीं पड़ा। इस रचना का आधार लेखक की व्यक्तिगत जानकारी और महात्मा गांधी ने वहां जो सत्याग्रह किया, उसके निजी क्रियात्मक संपर्क और दर्शन पर हैं। बिहार के निवासी होने के नाते उन्होंने चंपारन की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का भी पूरा चित्रण किया है। इस पुस्तक में प्रायः सौ वर्षों की नील की कोठियों की श्रमिक जनता की समस्याओं का निदर्शन और महात्मा गांधी के सत्याग्रह से उनका समूल उन्मूलन तथा जन-जीवन की क्रान्ति का चित्रमय वर्णन है। छोटी-मोटी घटनाओं को लेकर गांधीजी के सारे कार्यक्रम का, जो कुछ दिनों के बाद सारे देश में व्याप्त हुआ और जो स्वराज्य-प्राप्ति के साथ ही एक प्रकार से समाप्त हुआ, बीज चम्पारन में देखा गया और लेखक ने पुस्तक की भूमिका (जो पहले-पहल अहिंसात्मक असहयोग के प्रारंभ के बाद प्रकाशित हुई) लिखा था कि जो कार्यक्रम छोटे पैमाने पर चम्पारन में देखा गया है, वही भारत में वृहदाकार में देखा जा रहा है और उसमें भविष्यवाणी की थी कि जैसे वह सारा खेल सुखान्त *हुआ और किसान और नीलवर दोनों ही खुश रहे, उसी तरह से असहयोग-आन्दोलन* भी स्वराज्य प्राप्त करके समाप्त होगा और भारतवासी तथा अंग्रेज दोनों ही

---

[१] भाषण—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का (विशेष) अधिवेशन—कोकोनाडा—१९२३।

—'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—पृष्ठ २२-२३ से उद्धृत

खुश रहेंगे। अन्त में ऐसा ही हुआ भी। इससे लेखक की दूरदर्शिता और परिणामों को स्पष्ट देख पाने की शक्ति का परिचय मिलता है, जिसका लाभ हिन्दी-साहित्य को ऐसी पुस्तक द्वारा पहले मिला। इस पुस्तक में अहिंसा का महत्व इससे प्रमाणित हुआ और नील द्वारा अपनी सारी आमदनी को खोकर और नील की खेती छोड़कर नीलवर भारत से चले गए, पर खुश होकर गये और जाने से पहले गांधीजी के रचनात्मक काम में उनमें से कुछने सहायता भी की। उसी तरह अपना राज्य अंग्रेजों ने छोड़ा, पर भारत और अंग्रेजों में परस्पर सद्भावना बनी रही।

पुस्तक में सब बातों का ब्योरेवार वर्णन है। चंपारन की स्थिति गांधीजी के जाने के पहले कैसी थी, किसान नीलवरों द्वारा किस तरह सताये जा रहे थे और प्रायः एक सौ वर्षों से नील की खेती से छुटकारा पाने की कोशिश कर रहे थे, पर हमेशा असफल रहे। कभी-कभी बिगड़कर नील-कोठियों के मजदूर बलवा-फसाद कर दिया करते थे। किसी नीलवर को मार डालते और उनके बंगले जला देते। पर बदले में अधिक दमन का शिकार बनते। यहांतक कि वे इतने भयभीत थे कि अदालतों में जाने की भी उनकी हिम्मत नहीं होती थी। जब गांधीजी से ये बातें कही गईं, तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। पर उन्होंने स्वयं स्थिति की जांच करने का वचन दिया और चंपारन आये। उनके पहुंचते ही या रास्ते में ही किसान बड़ी संख्या में, जो कचहरियों में जाने से डरते थे, उनके पास पहुंचने लगे और अपना दुखड़ा सुनाने लगे। कमिश्नर ने गांधीजी को जिला छोड़कर चले जाने का हुक्म दिया। उन्होंने हुक्म मानने से इन्कार किया। उनपर मुकदमा चला और उन्होंने हुक्म न मानने का अपराध स्वीकार करके सजा मांगी, पर गवर्नर की ओर से मुकदमा ही उठा लिया गया और इस प्रकार सत्याग्रह का पहला सफल प्रयोग भारतवर्ष में हुआ। गांधीजी ने अपनी जांच जारी रखी। कुछ दिनों बाद गवर्नर ने एक जांच-कमिटी मुकर्रर की, जिसके गांधीजी भी एक सदस्य थे। उस कमिटी ने रिपोर्ट दी कि नील बोने की प्रथा बिल्कुल उठा दी जाय और जो रुपये नीलवरों ने जबरदस्ती वसूल किये थे, उसका कुछ भाग रैयतों को वापस किया जाय और जो जमीन की मालगुजारी में उन्होंने वृद्धि की थी, वह भी कुछ हद तक घटा दी जाय। गवर्नर ने इन सिफारिशों को मानकर कानून बना दिया। नील की खेती बन्द होते ही नीलवर अपनी-अपनी जमीन बेचकर दो-तीन वर्षों के अंदर चले गए और जिन खेतों में उनके सुंदर बंगले बने थे, वहां किसानों के मवेशी बांधे जाने लगे। गांधीजी ने दो-तीन जगहों पर अपने विचार के अनुसार पाठशाला खोली। थोड़े दिनों के बाद असहयोग-आन्दोलन चला और चम्पारन के आन्दोलन का असर सारे बिहार पर यह पड़ा कि सारा प्रदेश एक आवाज से गांधीजी का साथ देता रहा। इस पुस्तक के अन्य

का आधार यही क्रान्तिपूर्ण कहानी है।

'आत्मकथा'

'आत्मकथा' में राजेन्द्रबाबू के सरल और सात्विक व्यक्तित्व के अतिरिक्त देश के इतिहास में विगत चालीस महत्वपूर्ण वर्षों में जो घटनाएं घटीं, लेखक ने उनमें क्या भाग लिया, भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विचारधारा की प्रगति—इन सब बातों की अच्छी झांकी मिलती है। कथा के पूर्वार्द्ध का स्तर देहाती जीवन, साधारण पारिवारिक परिस्थितियां, हिन्दू-समाज के रीति-रिवाज आदि से ऊपर नहीं उठता और उसके उत्तरार्द्ध का स्तर इतना ऊंचा है कि वह विशुद्ध आदर्शवाद, देशभक्ति, त्याग, निःस्वार्थ सेवा और उच्च बौद्धिक विकास, इन सभीसे ओत-प्रोत है। सबसे बढ़कर 'आत्मकथा' के पन्नों में हमें एक सौम्य, सच्चे, विलक्षण और न्यायोन्मुख व्यक्तित्व के सम्पूर्ण दर्शन होते हैं।

लेखक १९४० में बीमार पड़कर सीकर जमनालालजी के साथ गये थे और वहां ही इस आत्मकथा का जन्म हुआ, पर तब उन्होंने इसे थोड़ा ही लिखकर छोड़ दिया, क्योंकि अन्य कामों में लग गये। सन् १९४२ में जब जेल गये, तब वहां इसको पूरा किया।

'डिवाइडेड इंडिया'

'डिवाइडेड इंडिया'—खंडित-भारत अंग्रेजी में लिखी। सन् १९४० में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान-सबंधी प्रस्ताव पास किया और तब उस विषय पर लोगों का ध्यान गया। राजेन्द्रबाबू जैसे दृष्टा ने उसी समय एक लेख लिखा, जो पुस्तकाकार में भी छपा। उसमें मुस्लिम लीग के प्रस्ताव की आलोचना और विवेचना की। जब जेल में गये, तो यह विचार हुआ कि उसी विषय को विस्तारपूर्वक और सब पहलुओं पर दृष्टि डालते हुए एक बड़ी पुस्तक लिखी जाय और जेल में रहते-रहते उन्होने अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया, जिसके मंथन-स्वरूप इस पुस्तक का जन्म हुआ। शीघ्र ही इसका हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित हो गया।

इसका उद्देश्य यह था कि हिन्दू-मुसलमान दोनों इस विषय का तटस्थता-पूर्वक अध्ययन करें और समझें कि इससे मुसलमानों को क्या लाभ या नुकसान हो सकता है और जिन आधारों पर यह दावा पेश है, उनमें क्या तथ्य है। यह भी दिखलाया गया कि यदि मुस्लिम लीग के प्रस्ताव के अनुसार बंटवारा हुआ भी, तो पाकिस्तान की क्या दशा होगी। पुस्तक बंटवारे के पहले छपी, किन्तु बंटवारे के बाद यह स्पष्ट हुआ कि लेखक ने जो अनुमान किये थे, वे सब सत्य हुए।

इस ग्रंथ में राजेन्द्रबाबू एक अनुभवी लोकनेता, राजनीति के अध्ययनशील विद्यार्थी और नीर-क्षीर-विवेक के प्रतिपादक के रूप में हमारे सामने आते हैं। लेखन-शैली और अपना पक्ष प्रस्तुत करने की विधि सरल होते हुए भी इतनी प्रभावोत्पादक है कि एक मंजा हुआ वकील और निष्कपट मस्तिष्क ही उसका प्रणेता हो सकता था। पाकिस्तान पर और प्रस्तावित बंटवारे से संबंधित समस्याओं पर सन् १९४०-४७ की अवधि में बहुत-से ग्रन्थ प्रकाशित हुए, किन्तु 'खंडित भारत' सबसे अधिक लोकप्रिय और उपयोगी सिद्ध हुआ। समस्या का विवेचन इसमें इतना निस्पृह, तात्विक और निष्पक्ष है कि इस पुस्तक को दोनों पक्षों के लिए संदर्भ के बहुमूल्य ग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली। हिन्दी के संदर्भ-साहित्य में यह ग्रन्थ सर्वोपरि है और इस प्रकार के साहित्य के लिए यह सदा आदर्श माना जायगा।

'बापू के कदमों में'

परिपक्व लेखनशैली, सुलझे हुए विचार, सफलता की छाया में द्विगुणित श्रद्धा—ये 'बापू के कदमों में' नामक पुस्तक की विशेषताएं हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस पुस्तक को आत्मकथा की अपेक्षा अधिक विकसित एवं प्रौढ़ कहा जा सकता है। विषय सीमित है और अभिव्यंजना भावनाओं के सहारे शरद्कालीन सरिता की तरह स्वच्छ रूप में मध्यम गति से प्रवाहित होती दीखती है। महात्मा गांधी के प्रति लेखक की असीम श्रद्धा और उनके सिद्धान्तों में लेखक की आस्था की गहराई का आभास गांधीजी के व्यक्तित्व पर ही प्रकाश नहीं डालता, वरन् स्वयं लेखक के व्यक्तित्व को भी मानो उभारकर सामने रख देता है। इस पुस्तक में भावनाओं की अभिव्यंजना, भक्तिपूर्ण श्रद्धांजलि और राजनीतिक आदर्शवाद को परिमार्जित साहित्यिक शैली में व्यक्त किया गया है।

'संस्कृत के अध्ययन' के अतिरिक्त राजेन्द्रबाबू की अन्य कृतियां 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति', 'भारतीय शिक्षा' व 'गांधीजी की देन' इत्यादि उनके अमूल्य अभिभाषणों के संग्रह हैं, जिनमें विविध [illegible] पर उनके मौलिक विचारों का प्रवाह गतिमान हुआ है। इनकी भाषा बहुत प्रांजल और सुन्दर है।

स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू की मौलिक लेखक के रूप में हिन्दी-साहित्य को उपलब्धि उनका ऐतिहासिक गौरव है। राष्ट्रभाषा इस श्रीवृद्धि से पुलकित है।

अध्याय : १३

जवाहरलाल नेहरू

(सन् १८८९)

"मैं अक्सर कुछ-न-कुछ लिखा करता हूं और लिखने में दिलचस्पी भी है। फिर यह झिझक कैसी? कभी-कभी गांधीजी पर भी लिखा है। लेकिन जितना मैंने सोचा यह मजमून मेरे काबू के बाहर निकला। यह आसान था कि मैं कुछ ऊपरी बातें, जो दुनिया जानती है, उनको दोहराऊं। लेकिन उससे फायदा क्या? अक्सर बातें उनकी मेरी समझ में नहीं आईं, कुछ बातों में उनसे मतभेद भी हुआ। एक जमाने से उनका साथ रहा, उनकी निगरानी में काम किया। उनका छापा मेरे ऊपर पड़ा, मेरे ख्याल बदले, रहने का ढंग बदला, जिंदगी ने एक करवट ली, दिल बढ़ा, कद कुछ ऊंचा हुआ, आंखों में रोशनी आई, नये रास्ते दिखे, और उन रास्तों पर लाखों और करोड़ों के साथ हमकदम होकर चला। क्या मैं ऐसे शख्स के निस्बत लिखूं, जो कि हिन्दुस्तान का और मेरा एक जुज हो गया और जिसने एक जमाने को अपना बनाया। हम जो इस जमाने में बढ़े और उसके असर में पले, हम कैसे उसका अंदाजा करें? हमारे रग और रेशे में उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड़े हैं।"[1]

जवाहरलाल नेहरू

यह भाषा सिवाय जवाहरलाल नेहरू के और किसकी हो सकती है, और

[1] ६ अक्तूबर, १९३९ को गांधी-जयंती के लिए लिखी 'श्रद्धांजलि'—(हस्तलिखित प्रति श्री मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, के सौजन्य से प्राप्त) इस उ रण को शब्दशः मात्रा, अनुस्वारसहित ज्यों-का-त्यों दिया गया है, जिससे नेहरूजी की हिन्दी का पूर्ण परिचय मिलता है।

सिवाय महात्मा गांधी के और किस व्यक्ति के सम्बन्ध में वह ऐसे उद्‌गार प्रकट कर सकते हैं ? नेहरूजी वास्तव में कवि हैं और उनके भावचित्रों में पूर्णता झलकती है। लोगों को भ्रम है—और स्वयं जवाहरलाल भी कभी-कभी उनमें सम्मिलित हो जाते हैं—कि नेहरूजी अंग्रेजी में ही मन और मस्तिष्क के भाव व्यक्त कर पाते हैं, अथवा जब वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी में बोलते हैं, शब्दों का अभाव उनकी वाणी में बाधक होता है। जहांतक नेहरूजी का संबंध है, उनके भ्रम का कारण विनम्रता ही हो सकता है, किन्तु अन्य लोग ऐसा अज्ञानतावश ही सोच सकते हैं। इस प्रश्न पर अधिक विचार करने से पूर्व गांधीजी के दुःखद देहावसान पर उन्होंने क्या कहा उसमें से कुछ शब्दों पर दृष्टिपात कर लें। महात्माजी की हत्या के तुरन्त बाद ही आकाशवाणी से बोलते हुए नेहरूजी ने करुण स्वर में कहा था—"एक गौरव था, जो कि अब नहीं रहा और वह सूरज, जो हमारे जीवन को गरमी और रोशनी पहुंचाता था, अस्त हो गया और हम ठंड तथा अंधकार में कांप रहे हैं। किन्तु गांधीजी कभी नहीं चाहते थे कि इतने गौरव को देख चुकने के बाद हम अपने हृदय में ऐसी अनुभूति को स्थान दें। दैवी ज्योतिवाला वह महापुरुष हमें लगातार बदलता रहा और आज हम जैसे हैं, उसीके ढाले हुए हैं। उसी दैवी ज्योति में से हममें से भी बहुतों ने एक चिनगारी ले ली, जिसने हमारी झुकी हुई पीठ सीधी कर दी और हमें कुछ सीमा तक उनके द्वारा निर्मित मार्ग पर चलने के योग्य बनाया।... बड़े-बड़े और प्रसिद्ध लोगों की स्मृति में कांसे या संगमरमर की मूर्त्तियां बनती हैं, किन्तु दैवी ज्योतिवाले इस व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में ही लाखों और करोड़ों के हृदय में स्थान पा लिया...। उनका विस्तार सारे हिन्दुस्तान में था—सिर्फ महलों या चुनी हुई जगहों या असेम्बलियों में ही नहीं, बल्कि नीचों और पीड़ितों की हर झोंपड़ी और हर कुटिया में। वह लाखों के हृदय में बसते हैं और अनन्त युगों तक बसते रहेंगे।[१]"

और अब देखिये वह शोक-चित्र, जो गांधीजी के अस्थि-विसर्जन के पश्चात् त्रिवेणी के तट पर नेहरूजी ने खींचा—"आखिरी सफर खतम हुआ, अन्तिम यात्रा समाप्त हो गई। पचास वर्ष से ऊपर हुआ, महात्मा गांधी ने हमारे इस देश में बहुत चक्कर लगाये। हिमालय से, सीमाप्रान्त से, ब्रह्मपुत्र से लेकर कन्याकुमारी तक सारे प्रान्तों में, सारे देश के हिस्सों में वह घूमे। खाली तमाशा देखने के लिए नहीं जाते थे, बल्कि जनता की सेवा करने के लिए, जनता को पहिचानने के लिए। और शायद कोई भी हिन्दुस्तानी नहीं होगा, जिसने इतना इस भारत देश में भ्रमण किया हो,

१ ३० जनवरी, १९४८ को गांधीजी की हत्या के तत्काल बाद ऑल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली से दिया गया भाषण—(हिन्दी में)—'राष्ट्रपिता'—पृष्ठ ११७ से

इतना यहां कि जनता को पहचाना हो, और जनता की इतनी सेवा की हो। तो उनकी इस दुनिया की यात्रा खत्म हुई। हमारी और आपकी यात्राएं अभी जारी हैं।[1]"

कौन कह सकता है कि इन उद्गारों को शब्दों का अभाव छू भी गया है ? यह भी कौन कह सकता है कि वक्ता ने इन शब्दों में अपने हृदय के भावों को पूर्ण रूप से यथेच्छ व्यक्त नहीं किया ? यदि भाषा कभी किसी व्यक्ति की भावनाओं की चेरी बनकर उसके मस्तिष्क के विचारों और हृदय के उद्गारों को व्यक्त करने में तल्लीन हुई है, तो निश्चय ही वह व्यक्ति जवाहरलाल नेहरू है और वह भाषा हिन्दुस्तानी या हिन्दी है। उन्होंने अनेक बार स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नियमित रूप से हिन्दी पढ़ने या लिखने का अवसर उन्हें कभी नहीं मिला। किन्तु फिर भी आज से नहीं, लगभग चालीस वर्षों से यह भाषा उनके विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। उन्होंने इस भाषा में जो विचार लोगों के सामने रखे, वे जीवन की जटिल समस्याओं से संबंध रखते हैं। राजनीति हो अथवा सामाजिक समस्याएं, देहातों का विकास हो अथवा शिक्षा का प्रश्न, इन सभी विषयों पर उन्होंने मुक्त कंठ से अपने विचारों को सरल हिन्दी में व्यक्त किया है। यह कहना कि इसका कारण नेहरू की प्रतिभा है, एक साधारण-सा तथ्य है, क्योंकि उनका संपूर्ण व्यक्तित्व महिमा और गरिमा-सहित प्रतिभा-संपन्न है। उनकी जीवन-व्यापी कर्म-साधना स्वयं एक प्रकार से प्रतिभा की परिभाषा है। इसलिए हिन्दी के विस्तार में उनके योगदान को आंकने के लिए हमें अभिव्यक्ति की ओर पहुंचनेवाले दूसरे रास्तों को भी खोजना होगा।

भाषा-शैली

भाषा हृदय के भावों और मस्तिष्क के विचारों को शब्दों में चित्रित करने का माध्यम है। प्रायः इस माध्यम के उपयोग के लिए ज्ञानोपार्जन और सतत अभ्यास की आवश्यकता है। ऐसा बहुत कम देखने में आया है कि किसी जननायक के विचारों तथा भावों के वेग के आगे भाषा अबाध गति से आप-ही-आप गतिमान न हो जाय। मानो वह उन विचारों और भावों का सहज अनुवाद हो। जवाहरलाल नेहरू के भाषण इस असाधारण प्रक्रिया का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। उनकी भाषा में सरलता के साथ-साथ ओज, माधुर्य और प्रवाह की स्वाभाविक व्याप्ति रहती है। सबसे बढ़कर उसमें एक ऐसा अनुभूतिमय तथ्य होता है, जो शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्ग के लोगों को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। इस गुण के मूल

[1] ऑल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली, के सौजन्य से प्राप्त। यह भाषण १२ फरवरी, १९४८ को त्रिवेणी-तट पर अस्थि-विसर्जन के समय दिया गया था।

में वक्ता की प्रतिभा ही नहीं होती, बल्कि उसकी भावनाओं की ठोस सच्चाई और ईमानदारी से भाषा स्वयं वेग पकड़ती है। ऐसे व्यक्तित्व का एक गुण उसका अदम्य उत्साह और असाधारण सहृदयता होती है। वह शब्दों के भंवर में नहीं फंसता, और न उनके अभाव से ही पीड़ित होता है।

जवाहरलाल नेहरू के लेखन और भाषण का आधार सम्भवतः साहित्य की श्रीवृद्धि की कामना नहीं है। फिर भी, उनके भाषणों के संकलन न केवल आधुनिक साहित्य के अंग हैं, अपितु कालांतर में भी वे साहित्य-जगत् के शृंगार समझे जायंगे। उनके गद्य में कवि-हृदय की उन्मुक्तता और आकर्षक बेपरवाही है। उनके शब्द-चित्रण में निश्चल सीधेपन के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की मस्ती है, जिससे उनकी भाषा को ओज मिला है।

कलाकार और प्रकृति-प्रेमी

नेहरूजी प्रकृत्या ही कलाकार हैं। जीवन के प्रत्येक पहलू और हर चीज में उन्हें कला की झांकी मिलती है। उसीसे वह प्रेरणा लेते हैं और उसीकी सहायता से लक्ष्य निर्धारित कर वह उसकी ओर आगे बढ़ते हैं। कला ही नहीं, बल्कि कलाकारों के प्रति उनके हृदय में विशेष कोमलता है। अपनी इंडोनेशिया यात्रा में जब वह बाली-द्वीप में गये और उन्होंने वहां का प्राकृतिक सौंदर्य और नर-नारियों का कलाप्रेम देखा तो वह बोल उठे—"बालीद्वीप सृष्टि का प्रभात है और यहां के लोग ही वास्तव में देवपुत्र हैं।"[1] अनेक बार हिमालय की छटा ने उनपर जादू किया है। काश्मीर की मनोरम घाटी को देखकर, हिमाच्छादित उत्तुंग नन्दादेवी की शैलमालाओं को निहारकर तथा विभिन्न स्थानों में तुषारमंडित प्रपातों और निर्झरों की कलकल ध्वनि को सुनकर उनका हृदय अभिभूत हो जाता है और कल्पना उसमें थिरकने लगती है। भावदर्शन में तल्लीन कोमल कल्पना का मनोहारी चित्र उनकी इन पंक्तियों में मिलेगा, जिसमें जीवन-सुषमा और प्रकृति-सुषमा इन दो सहेलियों की बातचीत को वह मानों चुपचाप सुन रहे हैं—"उत्तर की ओर नन्दादेवी और सफेद पोशाक में उसकी सहेलियां सिर ऊंचा किये थीं। पहाड़ों के करारे बड़े डरावने थे और लगभग सीधे कटे हुए-से कभी-कभी नीचे बड़ी गहराई तक चले जाते थे, परन्तु उपत्यकाओं के आकार तरुण उरोजों की तरह बहुधा गोल और कोमल थे। कहीं-कहीं वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गये थे, जिनपर हरे-हरे लहलहाते खेत इन्सान की मेहनत को जाहिर कर रहे थे।"[2] ऐसे अवसरों पर उन्होंने जो कुछ लिखा

[1] अपनी बालीद्वीप (इन्डोनेशिया) की यात्रा के समय (१९५८) एक विद्वान के सौजन्य से ज्ञात।

[2] 'राजनीति से दूर'—पृष्ठ ४

अथवा कहा, उससे यह आभास होता है मानो वह प्रकृति में तन्मय हो गये हों और उस समय उनकी वाणी से जो उद्‌गार निकले, वे मानो प्रकृति ने स्वयं आत्मपरिचय में कहे हों।

कलाकार सदा सौंदर्य-प्रेमी होता है। प्रकृति के प्रति उसका सहज आकर्षण होता है। अतः जवाहरलाल का प्रकृति से सहज प्रेम होना स्वाभाविक है। प्रकृति ने ही उन्हें कोमलता दी है, प्रकृति ने ही उनके जीवन में प्रेरणा भरी है और प्रकृति ने ही उनको कला की पूजा और अर्चना सिखाई है, जिसकी वन्दना में उनकी स्वर-लहरी गद्यमय काव्य और छन्दों की सृष्टि करती है। प्रकृति ने उनमें महान् आस्था पैदा की है, जो उसीकी तरह शाश्वत बन गई है। मानव-जीवन क्षणभंगुर हो सकता है, मानव विनाश की ओर जा सकता है, पर प्रकृति उन्हें सदा एकरूप, एकरस रहती नजर आती है। यही विचार उनके साहित्य का मानो शाश्वत चिंतन बन गया प्रतीत होता है। उनके विचारों में अनेक परिवर्तन झलकते नजर आ सकते हैं, किन्तु उनकी आत्मा ने प्रकृति के साथ अटूट नाता जोड़ रखा है। उनका यह प्रकृति-प्रेम प्रकृति सदृश ही दृढ़ और अटल है। साहित्य में उनके इस भाव की अभिव्यक्ति उन्हीं के अनुरूप है—**"आदमी की शठता से अछूते, सुनसान, अज्ञेय उन सफेद पहाड़ों को देखते-देखते मुझे फिर से शांति महसूस हुई। आदमी चाहे कुछ भी क्यों न करे, ये पहाड़ तो यहां रहेंगे ही। अगर वर्तमान जाति आत्महत्या कर ले, या और किसी धीमी प्रक्रिया से गायब हो जाय तो भी वसन्त आकर इन पहाड़ी प्रदेशों का आलिंगन करेगा ही, चीड़ वृक्षों के पत्तों में लड़खड़ाती हुई हवा भी यहां ही करेगी और पक्षियों का संगीत भी चलता ही रहेगा।"**[1]

प्रकृति-वर्णन में उनकी रुचि का प्रमाण हमें मिल ही चुका है। पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं, फल-फूलों सभीमें उनकी दिलचस्पी है। जेल में जीव-जन्तुओं पर उन्होंने अच्छा निबन्ध लिखा है।[2] नेहरूजी ने 'भारत के पक्षी' नामक ग्रन्थ की सुन्दर प्रस्तावना हिन्दी में ही लिखी है। उनके भावों ने यहां भी भाषा को सहज ही सजा दिया है। इस सुन्दर भावमयी भाषा का रूप देखिये। वह लिखते हैं—**"अक्सर यूरोपीय बालक चिड़ियों और जानवरों, यहांतक कि फूलों और पेड़ों के बारे में भी बहुत-कुछ जानता है। हमारे बच्चों, या बड़ों में भी, कितने ऐसे होंगे, जो इन चीजों के बारे में काफी जानकारी रखते हों ? . . . यह सचमुच अफसोस की बात है, क्योंकि इस तरह हम जीवन के एक आनन्द से वंचित रह जाते हैं, जिसे कोई भी हमसे छीन नहीं सकता, चाहे हम खुशकिस्मत हों या बदकिस्मत।**

---

[1] 'राजनीति से दूर'—पृष्ठ ८

[2] 'राजनीति से दूर'—पृष्ठ ६२

यूं तो इस दुनिया में परेशानियां भरी हैं, लेकिन कितना सौंदर्य भी है ! अगर हम मुसीबतों और परेशानियों से बच नहीं सकते तो प्रकृति की सुन्दरता और विविधता में रस लेकर कम-से-कम इस घाटे को पूरा तो कर ही सकते हैं।"[१]

इस भाषा से नेहरूजी की भावात्मक शैली की झलक मिलती है। हिन्दी और उर्दू के शब्दों को जैसे 'अफसोस', 'खुशकिस्मत' और 'बदकिस्मत' शब्दों के साथ-साथ 'आनन्द' और 'वंचित' शब्दों के मेल ने भाषा और भाव के सौंदर्य को घटाया नहीं है। नेहरूजी की भाषा ऐसी सुन्दर होती है और भावना इतनी मधुर कि एक बार उसके रसास्वादन के बाद पुनः-पुनः उसका रस लेने को जी चाहता है। देखिये, एक और उदाहरण। इसी 'प्रस्तावना' में वह आगे लिखते हैं—"बरसात के मौसम में बादल कैसे खूबसूरत होते हैं, उनके बदलते हुए रंगों को देखकर जो खुशी हासिल होती है, वह कभी मिटती नहीं। चिड़िया आती हैं और हमारी साथी और मित्र हो जाती हैं। एक फूल भी हमें दुनिया की खूबसूरती को याद दिलाता है।"[२]

दुनिया की परेशानियों से हटकर नेहरूजी फूलों और पक्षियों से दोस्ती कर अपना जी बहलाते हैं और जीवन के सच्चे सौंदर्य का दर्शन करते हैं। यह कोमल भाव और उसकी अभिव्यक्ति एक कवि-हृदय और उसकी चतुर लेखनी की ही देन हो सकती है। किन्तु नेहरूजी का व्यक्तित्व यथार्थ जगत् में भी ऐसी ही सजीव भाषा का स्वामी है। जहां कहीं वह जनता को, विशेषकर ग्रामीण लोगों को, संबोधित करते हैं, वहां नेहरूजी के भाषणों में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। उन्हें आकाश में उड़ान अच्छी लगती है, किन्तु जिस भूतल पर खड़े होकर वह भाषण देते हैं, उसे उन्हें भुलाना भी अभीष्ट नहीं। इलाहाबाद जिले के एक ग्राम में भाषण देते हुए (फरवरी, १९५७), नेहरूजी ने अपने श्रोताओं को भारत में नवयुग की याद दिलाते हुए कहा—"हमारे देश में आजकल बड़े भारी काम हो रहे हैं। हमारा सारा देश सैकड़ों बरस बाद अपने पैरों पर, अपनी टांगों पर खड़ा हो रहा है और अब उसने जरा करवट ली है। अब हम बड़े-बड़े कामों की बड़ी-बड़ी लड़ाई लड़ रहे हैं। अरे, हम तो शांति के लोग हैं, लड़ाई कैसे लड़ेंगे ? पर हम किसी देश से लड़ाई नहीं लड़ रहे और न यह घर की लड़ाई है। फिर भी, हमारी यह लड़ाई बहुत बड़ी है। यह लड़ाई किसी आदमी से नहीं है, हमारी यह लड़ाई है हमारे देश की गरीबी से। यह लड़ाई हमारे देश की दरिद्रता से है, हमारे देश की बेरोजगारी से है। कैसे आप निकालें देश की इस गरीबी को ? हम चाहते हैं कि आप अच्छे घरों में रहें, आप सबको रोजगार मिले। पर यह सब तभी होगा जब सब

१. 'भारत के पक्षी'—प्रस्तावना
२. 'भारत के पक्षी'—प्रस्तावना

लोग अपने काम को मेहनत से करेंगे। तब देश आगे बढ़ता है। इसी तरह से बड़े-बड़े काम हो सकते हैं। इन बड़े कामों में आप लोग लगें और उन्हें बढ़ायें।"[१] सरल भाषा में व्यक्त किये हुए उनके इन उद्‌गारों में उस ग्रामीण जनता के लिए नया उद्‌बोधन है। भाषा और व्याकरण की दृष्टि से इसमें दोष या त्रुटियां हो सकती हैं, किन्तु उसके प्रभाव में कहीं कमी आई हो, यह नहीं मान सकते।

यथार्थ और कल्पना का समन्वय

जवाहरलाल नेहरू की विचारधारा और प्रशिक्षण पर विज्ञान का गहरा प्रभाव है। उनकी उच्च शिक्षा-दीक्षा का प्रमुख विषय विज्ञान ही था। इसके बाद व्यापक अध्ययन के परिणामस्वरूप उनकी रुचि मानव की आधारभूत समस्याओं में हुई। इसीलिए उनका दृष्टिकोण भी बहुत व्यापक है और प्रायः उन्होंने अपने भाषणों में राजनीति को मानव-जीवन का एक तुच्छ अंग कहा है। यथार्थवादी और किसी हद तक भौतिकवादी होते हुए भी सभी प्रकार के ऊंचे आदर्श और स्वयं आदर्शवाद की ओर खिंच जाने के लोभ का वह संवरण नहीं कर सकते। यही कारण है कि उनके उन्मुक्त विचार यदि कभी देहातों में कंकाल और दरिद्रता का तांडव देखते हैं तो कभी सुनहले स्वप्नों की रचना करते हैं—ऐसे स्वप्न, जिनका चिंतन सुखद है और जिनका साकार होना जीवन की महानतम सफलता है। वे जीवन के गौण-से-गौण और प्रतिकूल-से-प्रतिकूल तथ्यों की अवहेलना करने के पक्ष में नहीं हैं, किन्तु इसके साथ ही कल्पना के सहारे आकाश में उड़ने के भी वह शौकीन हैं। जीवन का सत्य उनके लिए स्थिर धरातल है और जीवन का निर्माण उनके सुनहले स्वप्नों और मधुर कल्पनाओं का साकार रूप है, अर्थात् जीवन की वास्तविकताओं से वह भागते नहीं और जीवन का सौंदर्य उनके विचारों का सुन्दर शृंगार बना है। सफल जीवनद्रष्टा के रूप में उनका व्यक्तित्व चमका है और स्वप्नस्रष्टा के रूप में उनकी कला निखरी है। इसीसे उनके साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

दिसम्बर १९२९ में जवाहरलाल नेहरू जब पहली बार कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए तो अपने भाषण में उन्होंने अपने-आपको समाजवादी कहा था। यूरोप में, विशेषकर इंग्लैंड में, वह युग समाजवाद का युग था और इस प्रणाली से संबंधित साहित्य का अध्ययन जवाहरलाल बराबर करते रहे थे। तभी से समाजवाद के सिद्धान्तों में उनकी आस्था रही है। सबके लिए समान अवसर और उत्पादन के कुछ आधारभूत साधनों का राष्ट्रीयकरण, इन सिद्धान्तों का अध्ययन उन्होंने

---

[१] 'जवाहरलाल नेहरू के भाषण' (सूचना-मन्त्रालय, भारत सरकार)—पृष्ठ १८

गंभीरता और परिश्रम के साथ किया है। इसके साथ ही साम्यवाद और तत्संबंधी रूसी प्रयोग और परीक्षण में भी उनकी गहरी दिलचस्पी रही है। साम्यवाद के अध्ययन पर ही संतोष न कर दूसरे विश्वयुद्ध से कुछ साल पहले उन्होंने रूस की यात्रा भी की। जैसा कि उनके बाद के लेखों से स्पष्ट होता है, इस यात्रा में उनका सर्वप्रथम उद्देश्य वहां की राजनीति और शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना था। इनमें से किसी भी सिद्धान्त को उन्होंने पूर्ण रूप से न स्वीकार किया और न ही ठुकराया। विवेक और व्यवहार-बुद्धि के आधार पर उन्होंने भारत की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए इन दोनों प्रणालियों की कुछ बातों के पक्ष में विचार प्रकट किये। यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि जवाहरलाल पर गांधीजी के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। इसलिए ऐसे किसी भी राजनैतिक कार्यक्रम को स्वीकार करने के पक्ष में वह नहीं थे, जिसका आधार हिंसा हो।[1] इन सब प्रभावों, संपर्कों तथा अध्ययन के फलस्वरूप जवाहरलाल नेहरू के विचारों ने ऐसी परिपक्वता और समन्वय दृष्टि पाई, जो भारत की विचार-धारा को ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्याप्त परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का भी समन्वय कर सकी। इसीसे उनके विचारों का साहित्य पर बड़ा व्यापक और समन्वयात्मक प्रभाव पड़ा है। इन सब विचारों का प्रभाव साहित्य के अतिरिक्त उनकी राजनैतिक धारणाओं पर भी पड़ा और बात यह है कि आधुनिक भारत की 'तटस्थ' नीति भी इसी समन्वयात्मक दृष्टि की देन है।

नेहरूजी और भारतीय समाज

यदि किसी विषय के सम्बन्ध में नेहरू के विचार क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं तो वह विषय भारत की, विशेषकर हिन्दुओं की, समाज-व्यवस्था है। जवाहरलाल सभी प्राचीन परंपराओं के विरोधी नहीं, वास्तव में वैदिक-काल और कुछ वैदिक परंपराओं और साधारणतः प्राचीन आर्यों की सभ्यता के वह हृदय से प्रशंसक हैं। अपनी पुस्तकों में जहां-कहीं भी उन्होंने भारतीय इतिहास के प्रभातकाल और आर्य-जाति के प्रवेश तथा उनकी सभ्यता का उल्लेख किया है, वह गर्व और गौरव की भावना के बिना नहीं किया।[2] किन्तु रूढ़िवाद और अन्धविश्वास के वह घोर शत्रु हैं। श्रद्धा और आस्था के लिए उनके जीवन में स्थान है, पर इस शर्त पर कि उनका आधार बौद्धिक हो, केवल परंपरागत न हो।

जवाहरलाल नेहरू जैसा उदार विचारक वर्णव्यवस्था का और विशेषकर उसके आधुनिक रूप का समर्थक नहीं हो सकता। स्वयं ब्राह्मण होते हुए,

---

[1] 'राष्ट्रपिता'—पृष्ठ ४२

[2] 'डिस्कवरी ऑव इण्डिया'—पृष्ठ ७६-७७

पूर्वजों पर गर्व करते हुए भी उन्हें ब्राह्मणों के बड़प्पन की आलोचना करते हुए कभी संकोच नहीं होता। जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था को वह आधुनिक युग के प्रतिकूल मानते हैं। शायद इसीलिए गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों के प्रति नेहरू की गहरी आस्था है। बुद्ध को वह संसार का महानतम क्रांतिकारी विचारक स्वीकार करते हैं। सन् १९५६ में जब देशभर में बुद्ध-जयंती मनाई जा रही थी, और इस संबंध में दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय सभा आयोजित की गई थी, उस अवसर पर जो उद्गार नेहरूजी ने प्रकट किये, वे उनकी निजी विचार-धारा का ठीक प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने कहा कि "गौतम बुद्ध जैसे महापुरुष को जन्म देने पर भारत जितना गर्व करे थोड़ा है, किन्तु इसके साथ ही बुद्ध की आधार-भूत सीख की जैसी अवहेलना इस देश में हुई है, उसपर हम जितना लज्जित हों थोड़ा है। बुद्ध की शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण बात रूढ़िवाद और जात-पांत के आडम्बर से उठने की थी। यह शर्म की बात है कि बुद्ध ने इस देश में ही नहीं, बल्कि दुनियाभर में एक क्रांति जगाई और संसार के जनमत को हिला दिया, किन्तु रूढ़िवाद की दृष्टि से हमारा समाज आज भी लगभग वहीं है, जहां ढाई हजार वर्ष पहले था।"[1] इन विचारों में उनकी अन्तर्वेदना के दर्शन होते हैं। उनके इन विचारों की पृष्ठभूमि केवल इतिहास का अध्ययन ही नहीं, बल्कि गांधीजी का सान्निध्य भी है। गांधीजी स्वयं वर्ण-व्यवस्था के आलोचक और जात-पांत के विरोधी थे। मनुष्य को वह मानवोचित गुणों से ही परखकर छोटा या बड़ा मानते थे। इस विश्वास के बल पर ही उन्होंने पिछड़े हुए लोगों अथवा हरिजनों के उद्धार के लिए देशव्यापी आन्दोलन खड़ा किया था। स्वभावतः जवाहरलालजी की निजी विचारधारा इससे पुष्ट हुई। जवाहरलाल की कृतियों, उनके वक्तव्यों और उनके भाषणों में उनकी इन प्रतिक्रियाओं का स्पष्ट आभास मिलता है और मानव-बन्धुत्व-संबंधी जो संकल्पना है, उससे उनका यह विश्वास मेल खाता है।

धर्म के प्रति दृष्टिकोण

धर्म और धार्मिक विचार नेहरू के लिए एक कोमल (डेलिकेट) विषय है। शायद वह इसे सार्वजनिक चर्चा का विषय भी नहीं मानते, क्योंकि कोमल होने के साथ-साथ यह व्यक्तिगत भी है। उनका मत है कि धर्म का संबंध मानव की निजी आस्था और उसकी सौंदर्य-बोध की भावना से है। धर्म वहींतक उपयोगी और मानव का पथप्रदर्शक है, जहांतक वह इन दो भावनाओं को पुष्ट करता है। जहां रूढ़िवाद,

[1] २४ मई, १९५६ को बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर नई दिल्ली में दिया गया भाषण।

अंधविश्वास और दकियानूसी विचार धर्म की परिधि में आये, वहीं धर्म एक पाखण्ड की चीज बन गया और मानव के बौद्धिक विकास में एक अवरोध आ खड़ा हुआ। धर्म के क्षेत्र में वह मानव-धर्म को ही अपना आदर्श मानते दिखाई देते हैं। सूर्य, समुद्र, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों के मनन और उनके प्रति उद्‌बोधन से जवाहरलाल को प्रेरणा मिलती है, किन्तु इसके व्यापारीकरण को वह समाज के लिए अहित-कर समझते हैं। जवाहरलाल की कृतियों और भाषणों से यह बात स्पष्ट होती है कि उनके धार्मिक विचारों में समय के साथ परिवर्तन होता गया है। इसे वह स्वयं निस्संकोच स्वीकार करते हैं। एक समय था जब वह अपने-आपको नास्तिक कहते थे, उसके बाद वह संशयवादी हुए और इधर कई वर्षों से धार्मिक तत्व के प्रति उनकी आस्था जाग्रत हुई है। उनके परिवर्तनशील विचार और बदलती हुई धारणाएं स्वभावतः उनकी साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित होती हैं।

१३ अप्रैल, १९५९ को बैसाखी के अवसर पर नेहरूजी ने सप्त-सरोवर (हरिद्वार) में संस्कृत विद्यालय और श्री स्वामी रामतीर्थ-सत्संग का उद्‌घाटन किया। उस अवसर पर हिन्दी में बोलते हुए उन्होंने कहा—"युग बदलता रहता है। अगर हम विवेकबुद्धि से काम न लें तो युग निकल जायगा। गंगाजी को देखिये, वह आपके लिए रुकती नहीं। वह आगे निकल जाती है। देखने में वही नदी बहती है, जो कल भी थी, लेकिन जो पानी निकल गया वह फिर कल नहीं होगा। देश वही है, मगर जमाना बदलता रहता है। विचारों को जमाने के साथ-साथ बदलना आसान नहीं। अगर हम अपने दिमाग को एक कोठरी में बन्द रखते तो हमें खुद भी यह दुःख होता कि जमाने ने हमें छोड़ दिया। . . . अभी कुछ देर पहले संस्कृत विद्यालय का उद्‌घाटन हुआ। संस्कृत के अध्ययन की भी विशेष महत्ता है। संस्कृत की सहायता हमारी उन्नति में बड़ी जरूरी चीज है। उसके जरिये देश ने हजारों वर्षों तक तरक्की की है। सभी भाषाएं संस्कृत की ही औलाद हैं। अपने देश में संस्कृत का विशेष प्रचार होना चाहिए। हमारे बुजुर्ग संस्कृत को ऊंचा स्थान देते थे।" तिब्बत पर संकट के संदर्भ में उन्होंने कहा—"तिब्बत के लोग भले हैं, लेकिन वे पिछले युग के हैं। समाज का युग से अलग होना नुकसानदेह है। उनके धर्मगुरु श्री दलाई लामा, जो यहां से भागकर आये हैं, आजकल हमारे अतिथि हैं। . . . वह बौद्धधर्म के नेता हैं, जिसका हमारे देश से घनिष्ठ संबंध है। चूंकि वह (दलाई लामा) युगधर्म के अनुकूल अपनेको नहीं बना सके, उन्हें अपने देश से भागकर आना पड़ा है। दरअसल परिस्थिति जनता को ढकेलकर नये युग में ला रही है और जबतक धर्म और विज्ञान कदम मिलाकर न चलें, इस किस्म

की घटना होनी स्वाभाविक है।"[1]

इस उद्धरण में नेहरूजी की विचारधारा धर्म की दृष्टि से सर्वांगीण है। प्राचीन सभ्यता और संस्कृत के प्रति उन्होंने आदरपूर्ण उद्‌गार प्रकट किये हैं और धर्म का अथवा धार्मिक प्रवृत्ति का विरोध न करके उसके आधार का वैज्ञानिक होना आवश्यक माना है। भाषा की दृष्टि से भी उक्त भाषण कुछ भिन्न है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, जो उनकी साधारण भाषा के विपरीत है। यद्यपि तद्भव शब्द और कुछ उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर 'विवेक बुद्धि', 'घनिष्ठ', 'परिस्थिति', 'स्वाभाविक' आदि शब्द प्रायः उनके भाषणों में कम मिलते हैं। नेहरूजी स्वयं परिवर्तन के पक्ष में हैं और उसी सिद्धान्त का उन्होंने यहां प्रतिपादन किया है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि उनका सप्तसरोवर में दिया गया भाषण, भाषा और धार्मिक दृष्टिकोण की दृष्टि से, उनके बदलते हुए विचारों का परिचायक है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

साहित्यकार के रूप में

कुछ विचारकों और आलोचकों का मत है कि जवाहरलाल जितने बड़े एक लेखक और विचारक के रूप में हैं, उतने शायद और किसी दृष्टि से नहीं। किसी भी असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति की तरह उनके व्यक्तित्व के भी विभिन्न अंग हैं, और उन अंगों में, कुछ लोगों का विचार है, नेहरू का साहित्य-प्रेम और उनकी लेखनकला सर्वोपरि हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रशासक, राजनीतिज्ञ और राजनयिक के रूप में भी उनकी ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय है, किन्तु यह निर्विवाद है कि सबसे पहले सफल लेखक के रूप में ही उन्हें देश-विदेश में मान्यता मिली। इसकी सफलता में ही उनके साहित्य की परिष्कृति निहित है। उनकी 'मेरी कहानी' 'हिन्दुस्तान की कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' नेहरू के प्रधान-मंत्री बनने और विश्व-मंच पर पदार्पण करने से कहीं पहले अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रतिभा की झलक बिखेर चुकी थी।

एक संवेदनशील हृदय, व्यापक शिक्षा-दीक्षा द्वारा उन्नत मस्तिष्क, परंपरा द्वारा एक प्राचीनतम सभ्यता की अनुभूतियों की प्राप्ति और संसार की विस्फोटक तथा परिवर्तनोन्मुख परिस्थिति—इन सब तत्वों के मिलन से यदि एक अत्यन्त असाधारण प्रतिभा का जन्म न होता तो यह आश्चर्य की बात होती। जवाहरलाल के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ऐसा आभास होता है कि जिस लाड़-चाव से घर में इनका लालन-पालन हुआ, शिक्षा ने उसी स्वाभाविक गति से उनका

[1] सप्तऋषि आश्रम, सप्तसरोवर तीर्थ, हरिद्वार—उद्घाटन-कार्यक्रम और भाषण—१३ अप्रैल, १९५९।

बौद्धिक विकास किया और उसके बाद देश और संसार ने आशा के साथ उनके कार्य-कलाप के लिए मंच को सजाया। इस प्रकार उनके जीवन में कहीं भी कोई ऐसी घटना नहीं घटी, जिसका पूर्ण श्रेय केवल संयोग को दिया जा सके। उनकी 'कहानी' में सारी श्रृंखलाएं एक दूसरी से बंधी हैं, कोई भी कड़ी कमजोर नहीं दिखाई देती।

साहित्य-रचना के क्षेत्र में जवाहरलाल से किसीको निराशा नहीं हो सकती, न कोई यह कह सकता है कि उनके द्वारा एक भी सुअवसर का अपव्यय अथवा उपेक्षा हुई है। प्रायः आरंभ से ही लेखनी उनका प्रधान अस्त्र रही है। इस कला के रसास्वादन के लिए उन्हें जीवन में बहुत देर इन्तजार नहीं करना पड़ा है। सार्वजनिक जीवन में उतरते ही उन्होंने जिस भयंकर यथार्थता के दर्शन किये, उसकी ठेस से उनका संवेदनशील हृदय झंकृत हो उठा और उस झंकार के फल-स्वरूप उनकी लेखनी गतिमान हुई। जिस समय नेहरूजी ने राजनीति में पदार्पण किया, स्वराज्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। कांग्रेस की सारी नीति और गति-विधि इसी यथार्थ की ओर खींचती थी। इसी विषय में उन्होंने लिखा है—"इसीलिए कांग्रेस की ओर से बर्तानिया की हुकूमत से सवाल किये गए कि यह हिन्दुस्तान की आजादी को तसलीम करती है कि नहीं? इन प्रश्नों का जवाब उन्होंने देने से इन्कार किया। इसीसे जाहिर होता है कि उनकी पुरानी साम्राज्यवादी नीति जारी है और वह आजादी के लिए नहीं लड़ते। उनकी लड़ाई अपने साम्राज्य को कायम रखने के लिए है। इससे हमने असहयोग किया। ....इस तरह के सवाल हमको अपने से भी करने हैं। हमारा ध्येय क्या है? स्वराज है, आजादी है, यह तो ठीक है। लेकिन कैसा स्वराज? अब गोल शब्दों का समय जाता रहा। हम कैसा राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं? हमको इन सब बातों को अपने दिमाग में साफ करना है। जब विचार साफ होते हैं तब ही हमारा कार्य ठीक चल सकता है।"[1] नेहरूजी की इस विचारधारा और लेखनशैली में भी पर्याप्त दृढ़ता और स्पष्टता है। ज्यों-ज्यों राजनीति में वह गहरे उतरते गए, उनकी विचारधारा और लेखनशैली तदनुसार परिपक्व होती गई। 'मेरी कहानी' में जो सरल और निष्कपट वर्णन है, 'विश्व इतिहास की झलक' में इन गुणों में तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन जोड़ दिये गए हैं। उसके बाद 'हिन्दुस्तान की कहानी' में और विभिन्न भाषणों के संग्रहों में आत्मगत भाव मात्र ही वस्तुस्थिति को ग्रहण करने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। आदर्शवाद यथार्थवाद

[1] १७ नवम्बर, १९३६ को अपने लेख-संग्रह के लिए लिखे 'दो शब्द'—नेहरूजी की हस्तलिखित प्रति से।

के भार को खुशी से वहन करता है, कल्पना ठोस तथ्यों के हाथ बनने-बिगड़ने को तैयार रहती है।

मौलिक रूप से हिन्दी में लिखे गए उनके एक लेख–'दो मसजिदें'–का एक अंश देखिये, जो लाहौर की शहीदगंज मसजिद के झगड़े के संबंध में लिखा गया था—"इस मसजिद से मेरा ध्यान उतरकर एक दूसरी मसजिद की तरफ पहुंचा। यह इस्लाम से भी पुरानी है और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफानों को इस आलीशान इमारत ने बर्दाश्त किया, बारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा, मिट्टी ने उसके बाज हिस्सों को ढंका। बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया भर का तजुरबा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे जमाने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों को बर्दाश्त करना कठिन था, लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे, मजहब उठे और बैठे, बड़े-से-बड़े बादशाह, खूबसूरत से खूबसूरत औरतें, लायक-से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर गायब हो गये। इस तरह की धीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे, लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊंचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की बड़ाई, फरेब और बेवकूफी? हजारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा। कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?"[1]

इस लेख में जनभाषा हिन्दी पर उनका असाधारण अधिकार प्रकट होता है। उनकी प्रबुद्ध एवं परिपक्व कल्पना की नाटकीयता, विस्तार, विशालता, भावुकता, काव्यमयता, सभी कला-साहित्य के अनिवार्य उपकरण इसमें विद्यमान हैं। नेहरू-साहित्य में, जो मूल अंग्रेजी में अधिक और हिन्दी में कम है, उच्चतम लेखन-कला के सभी स्थायी चिरंतन गुण विद्यमान हैं। साहित्य की स्वतंत्रता के भी वह कट्टर पक्षपाती हैं। अपने इस विचार को व्यक्त करने के लिए उन्होंने लिखा—"साहित्य

[1] 'नेहरू अभिनंदन ग्रंथ'—पृष्ठ ५७३। यह लेख ७ अगस्त, १९३५ के 'विशाल भारत' में प्रकाशित हो चुका था।

फूल की तरह खिलता है और उसपर दबाव डालने से मुरझा जाता है।"[१] नेहरूजी का साहित्य वास्तव में फूल की तरह खिला है, क्योंकि उसपर कभी क्लिष्ट शब्दों का भार नहीं पड़ा। उसमें भावों ने सुरभि भरी और कला ने उसे संवारा, सजाया और संभाला। इस साहित्यिक विकास का एक दूसरा कारण भी है। लेखक को इतिहास की परिधि में ही जकड़े रहना मंजूर नहीं। वह घटनाओं के वर्णन पर ही संतोष नहीं कर सकता। इसलिए 'स्वान्तः सुखाय' की भावना ने जोर पकड़ा और इस भावना के वशीभूत होकर जवाहरलाल ने जो कुछ लिखा, उसका एक-एक शब्द एक जागता-बोलता चित्र है और नित्य अभिनव रहते हुए शाश्वत साहित्य का उत्तम नमूना है। काश्मीर की सुनहली घाटी, नन्दादेवी के हिमाच्छादित शिखर, सूरमा घाटी का जादूभरा सूर्यास्त, गढ़वाल की सुपुप्त पहाड़ियां तथा सीधे-सादे और अल्हड़ लोग, आकाश में उड़ती चिड़िया और धरती पर खिलते फूल—इन सबको देखकर स्वयं कला की जो प्रतिक्रिया होगी, ठीक वही जवाहरलाल की हुई है।

नेहरूजी और राष्ट्रभाषा हिन्दी

राष्ट्रीय कांग्रेस की इस धारणा का कि हिन्दी ही सार्वजनिक कामों के लिए भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, जवाहरलाल नेहरू अपवाद नहीं हो सकते। जब-जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न कांग्रेस के सामने आया, उन अवसरों पर और अन्य सार्वजनिक सभाओं में उन्होंने बराबर इसी मत को जनता के सामने रखा। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा, मद्रास के नये भवन का उद्घाटन करते समय सन् १९३६ में उन्होंने कहा था : "भाषा का सवाल सिर्फ दक्षिण भारत का ही नहीं, वह सारे भारत का भी सवाल है। हमारी बड़ी-बड़ी दस-ग्यारह भाषाएं हैं, जिन्हें हम दो परिवारों में विभाजित कर सकते हैं : (१) संस्कृत की लड़कियां, और (२) दक्षिण भारत की भाषाएं, जैसे तमिल, तेलुगु आदि। ये दोनों परिवार एक दूसरे से बहुत फर्क रखने पर भी, काफी संबंध भी रखते हैं। हमारी नीति है कि कोई भी भाषा दबाई नहीं जाय, न उनके खिलाफ हमारी भाषा लड़ी की जाय। मेरा दृढ़ मत है कि कोई भी शख्स अपनी मातृभाषा के द्वारा ही तरक्की कर सकता है। हमारा ध्येय पुरानी भाषाओं को जोरों से चलाना है और उन्हींके द्वारा शिक्षा आदि भी चलानी चाहिए। लेकिन देशभर को बांधने के लिए, भारत के भिन्न-भिन्न हिस्से एक दूसरे से संबंधित रहें, इसके लिए हिन्दी की जरूरत है...।"[२]

---

[१] 'विशाल भारत'—२५ जुलाई, १९३७

[२] 'हिन्दी प्रचारक', मद्रास—सितम्बर-अक्टूबर, १९३६

यह मत ठीक गांधीजी के विचार के अनुरूप है। वह भी सार्वदेशिक मामलों के लिए समस्त देश में हिन्दी की शिक्षा आवश्यक समझते थे, यद्यपि प्रादेशीय भाषाओं को प्रोत्साहन दिये जाने के वह भी पूर्ण समर्थक थे। इसी मत का प्रतिपादन नेहरूजी ने अनेक बार अपने भाषणों और लेखों में किया है। 'राष्ट्रभाषा का सवाल' नामक उनके भाषा-संबंधी विशेष लेखों के संग्रह की प्रस्तावना में गांधीजी ने लिखा है कि **"जवाहरलाल के निबन्ध से राष्ट्रीय और शुद्ध शिक्षा के दृष्टिकोण से सारे विषय को ठीक तरह से समझने में कीमती मदद मिलेगी।"** यही विचार नेहरूजी ने संविधान-सभा में और बाद में भारतीय संसद् में बार-बार दोहराये हैं।

नेहरूजी के संबंध में यह कहा गया है कि वह लेखक और विचारक पहले है और राजनीतिज्ञ अथवा प्रशासक बाद में। लेखन उनके अन्तःकरण के निकटतम है, उनकी आत्मा की नैसर्गिक क्रिया है। उन्होंने अभी तक बहुत-कुछ लिखा है, किन्तु अधिकांश अंग्रेजी में। फिर भी उनके भाषण अधिकतर हिन्दी में हुए हैं और भाषा, राजनीतिक समस्याएं, चुनाव, प्रान्तों का पुनर्गठन आदि महत्वपूर्ण विषयों पर उनके कुछ विशेष लेख मूलरूप से हिन्दी में भी लिखे गए हैं। उनका समस्त साहित्य हिन्दी में अनूदित हो चुका है और उसकी गणना लोकप्रिय साहित्य में होती है। नेहरूजी हिन्दी भली प्रकार लिखते-पढ़ते हैं और अपनी पुस्तकों के हिन्दी रूपान्तर को स्वयं देखकर ही प्रकाशित होने देते हैं। उन्हें संकीर्णता अथवा किसी भी तरह के बन्धन प्रिय नहीं। भाषा में भी वह अनुवाद के बन्धन में नहीं बंधना चाहते। शब्द और भाव का संयोग ठीक हो तो शब्दशः अनुवाद को छोड़ देना ही वह पसन्द करते हैं। इस विषय में वह लिखते हैं—**"मेरी राय में 'लड़खड़ाती दुनिया' बहुत अच्छा नाम है। यह सही है कि यह 'कॅंब्लिंग वर्ल्ड' का अनुवाद नहीं है, लेकिन अनुवाद करने की जरूरत ही क्या है?"**[1] किन्तु शब्द जहां भाव से अलग हुआ, जवाहरलालजी को वह बात खटक जाती है। भाषा और भाव दोनों के वह धनी हैं और दोनों का सह-अस्तित्व ही उन्हें भाता है। भाषा से भाव का वियोग उन्हें खलता है। अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' के अनुवाद के संबंध में उन्होंने किस बारीकी से लिखा है, यह भी ध्यान देने योग्य है। वह अपने एक पत्र में लिखते हैं— **" 'मेरी कहानी' का नया संस्करण भी मुझे मिला—इसको मैंने उधर-इधर देखा। पहले मुझे इसका मौका कम मिला था। ('देखना' शब्द शायद यहां रह गया है) बहुत जगहें मुझे ऐसा मालूम हुआ कि अनुवाद में मेरे माने नहीं निकले हैं।**

[1]. डिस्ट्रिक्ट जेल, देहरादून से २४-६-४१ को श्री मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल के नाम भेजे पत्र से—(मार्तण्डजी के सौजन्य से)

एक नये माने दिये गए हैं। शायद मेरे माने समझे न गये हों। . . . चन्द मिसालें आपको देता हूं—९५३ सतर ८—'मजेदार' शब्द बिल्कुल गलत है। यह Curious का तरजुमा है। मजे से और Curious से कोई संबंध नहीं। अनुवाद 'अजीब' या कोई और ऐसा शब्द हो सकता था। अक्सर और जगह Interesting का अनुवाद 'मजेदार' से हुआ है। यह भी बिल्कुल गलत है—'दिलचस्प' ज्यादा करीब का शब्द है, लेकिन वह भी पूरा ठीक नहीं है। Interesting में मजे का खयाल नहीं। एक तकलीफ की बात भी Interesting हो सकती है।

"९६३—नीचे के करीब : 'लेकिन जबतक एक साल न बीत जाय, तबतक उसकी बहुत-कुछ बात हो सकती थी'। यह भी बिल्कुल गलत अनुवाद है और मेरे माने अनुवादक नहीं समझे। न यह सही है कहना कि 'कीमत औरों ने चुका दी थी' और इसको इस तरह से लिखा जा सकता था :

'कीमत तो दूसरों को देनी पड़ी थी, तब फिक्र की कौन-सी बात। लेकिन एक साल के खत्म होने के पहले काफी फिक्र और परेशानी आनेवाली थी।'

"९७५ "आखिर लाइन 'महसूस किया कि जीवन एक काम की चीज है' इस अनुवाद ने एक जोर के और मनों से करे फिकरे को बेमाने और कमजोर कर दिया है। इसका अनुवाद आसान नहीं है। अलावा इसके, अनुवाद में एक पूरी लाइन गायब है। हो सकता है, जो आपको भेजा गया था, उसीमें गायब हो। आखिरी फिकरा यह है—"I wandered about the glorious valley and the higher mountains and climbed a glacier, and forgot for a while the pain and torment of soul which are the lot of humanity to-day. Life seemed to be worthwhile."

"इसका सारा ही अनुवाद अच्छा नहीं है। 'रमणीयता' ठीक शब्द नहीं है और कमजोर है।

"ये चन्द मिसालें मैंने जल्दी में यहां लिखी हैं। ऐसी बहुत मिल सकती हैं।"[1]

इस पत्र से ज्ञात होता है कि नेहरूजी की सम्मति, समर्थन तथा निर्देशन के कारण उनकी अनूदित पुस्तकों की भाषा-शैली पर अनुवादक के साथ-साथ लेखक का प्रत्यक्ष सहयोग तथा प्रभाव है। इसी कारण इन पुस्तकों के अनुवाद में अनुवादक की नहीं नेहरूजी की अपनी भाषा की झलक है तथा भाव अधिक बने-बिगड़े नहीं। इसका प्रमाण उनके ये पत्र हैं, जो प्रकाशित नहीं हुए हैं।

नेहरूजी का अंग्रेजी में किया गया पत्र-व्यवहार तो प्रकाशित हो चुका है,

---

१. २९-९-४१ को डिस्ट्रिक्ट जेल, देहरादून से श्री मार्तण्ड उपाध्याय को लिखे हस्त-लिखित पत्र से।

किन्तु उनके हिन्दी पत्रों पर अभी प्रकाश पड़ना रहता है। अपनी रचनाओं के हिन्दी-संस्करणों के प्रकाशन के संबंध में लिखे गए उनके पत्र बड़े रोचक हैं। ये सभी पत्र उन्होंने हाथ से लिखे हैं। उनमें से एक पत्र को हम यहां उद्धृत करते हैं।

Sylvana
Epalinges
Lausanne

१४ फरवरी, १९३६

प्रिय हरिभाऊजी,

आपका खत मिला। धन्यवाद। आपकी पुस्तक भी आई। लेकिन अब मैं जल्दी भारत वापस जाऊंगा और यहां इन दिनों पढ़ने का समय नहीं मिलेगा। इसे वहां वापसी पर ही पढ़ूंगा।

मेरी नई पुस्तक, जो बापू के पास है, वह अंग्रेजी में दो महीने के अन्दर लंदन से निकलेगी। उसके बाद उसके अनुवाद का सवाल उठेगा। बापू के पास जो मैंने भेजा था, उसमें मैंने बहुत रद्दोबदल किया है, इसलिए उससे अनुवाद नहीं हो सकता। मैं जरूर चाहता हूं कि इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हो और अगर आप करें तो मुझे खुशी होगी। लेकिन अभी इसको मैं तै नहीं कर सकता—मेरी वापसी पर बातचीत होगी। वापस जाने में अब बहुत कम दिन रह गये हैं। मेरा इरादा है २९ फरवरी को हवाई जहाज से रवाना होऊं। अगर इससे चला और रास्ते में कोई हादसा नहीं हो गया तो ४ मार्च के सुभे इलाहाबाद पहुंचूंगा।

कमलाजी की तबीयत कुछ थोड़ी सम्हली है, लेकिन इतमीनान के काबिल कुछ नहीं कहा जा सकता है।

आपका,
जवाहरलाल नेहरू''

इस पत्र से जहां लेखक की व्यावहारिकता का परिचय मिलता है, वहां यह भी पता चलता है कि उसे हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होता। भाषा की दृष्टि से दो-चार स्थानों में हिन्दी में कुछ शब्द गलत रूप से अवश्य लिखे गए हैं, जैसे—'तै' (तय), 'सक्ता' (सकता), 'सुभे' (सुबह), 'सम्हली' (संभली)। 'हादसा' जैसा उर्दू शब्द भी इस पत्र में कुछ अपरिचित-सा मालूम होता है। इन शब्दों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नेहरूजी ने हिन्दी का 'व्याकरणादि सहित' अध्ययन कभी नहीं किया, जो कुछ भी हिन्दी वह सीखे जन-संपर्क से ही सीखे। उनके साहित्य-प्रेम ने इस भाषा को सहज अभिव्यक्ति

दी। उनकी भाषा और शैली को देखकर कोई इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रहेगा कि नेहरूजी को भाषा से अधिक भाव से मोह है और उन्होंने जो लिखा, स्वेच्छा से ही नहीं, बल्कि भाव-विभोर होकर लिखा है।

हिन्दी को जवाहरलाल नेहरू के योगदान के मूल्यांकन करने का अब हमें अधिकार है। वह देश के सर्वोपरि नेता हैं। आज ही नहीं अपितु गत चालीस वर्षों से उनकी गणना देश के प्रथम श्रेणी के जननायकों में रही है। उन्होंने लोकमत को प्रभावित किया है, स्वयं अपने उदाहरण और विचारों के बल से भारत के सार्वजनिक वातावरण को आन्दोलित किया है। दूसरे, वह एक उत्कृष्ट लेखक भी हैं। उनकी वाणी यदि वातावरण में कुछ समय के लिए लहरें उत्पन्न करती है, तो उनकी लेखनी अपनी कला द्वारा वर्णित स्थितियों को स्थायित्व प्रदान करती है। उनके लेखों और लिपिबद्ध विचारों में युग की धड़कन है और इतिहास की स्पष्ट झलक है। ऐसे साहित्य-स्रष्टा के विचार संक्रामक हुए बिना नहीं रह सकते। तीसरे, उन्होंने भले ही अधिकतर अंग्रेजी में लिखा हो, हिन्दी के भी अच्छे लेखक हैं। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी-साहित्य को समृद्धि और नवचेतना दोनों ही दी है। उनकी अपनी विशिष्ट शैली है, अपना वाक्य-विन्यास और अपना शब्द-चयन है। इस शैली ने हिन्दी-जगत् को प्रेरणा दी और गतिमान किया है। इन सबके अतिरिक्त, जवाहरलाल हिन्दी के सच्चे हितैषी और समर्थक हैं। वास्तव में उन्हें सभी भाषाओं से स्नेह है, पर हिन्दी वह स्वयं जानते हैं और इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करते हैं। इसलिए जहां हिन्दी के भारी दायित्व पर उन्होंने जोर दिया है, वहां निजी उद्गारों तथा भावोद्घाटन द्वारा इसके साहित्य की वाटिका को सींचा भी है। उर्दू अकादमी में भाषण देते हुए कुछ वर्ष हुए उन्होंने कहा था—"हम हिन्दी और उर्दू या बंगला या किसी और भाषा की फिजूल बहसों में न पड़ें, बल्कि सभीकी उन्नति की कोशिश करें। एक के बढ़ने से दूसरी भी बढ़ेगी। . . . मुझे खुशी है कि दिल्ली में हिन्दी परिषद् की बैठक होनेवाली है। मैं आशा करता हूं कि इसमें हमारे साहित्यकार सब मिलकर ऐसे रास्ते निकालेंगे, जिसमें हिन्दी-साहित्य और मजबूत हो और फैले . . . ।"[1]

जो व्यक्ति उर्दू अकादमी में भाषण देते समय भी हिन्दी-साहित्य की समृद्धि की आकांक्षा प्रकट करने में संकोच न करता हो, उसे हिन्दी का परम हितैषी नहीं तो और क्या कहेंगे ?

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विवाद के विषय में उनके निम्नलिखित

---

१ 'राजनीति से दूर'—पृष्ठ २२६-७

विचार भी ज्ञातव्य हैं, जिनसे स्वयं उनकी मिश्रित भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत होता है। "हिन्दी और उर्दू के मेल से हम एक बहुत खूबसूरत और बलवान भाषा पैदा करेंगे, जिसमें जवानी की ताकत हो और दुनिया की भाषाओं में एक माकूल भाषा हो।"[1] भाषा और साहित्य के संदर्भ में भी वह घोर जनवादी है, और वास्तव में जनतंत्र में उनकी अविचल आस्था के ही कारण उन्हें जनभाषा में भी अटूट विश्वास है। सर्वसाधारण के लाभार्थ साहित्य-रचना के विषय में उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है—"हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जो सभ्य हो और जिसे अधिक-से-अधिक जनता समझे। इसको हम बैठकर कुछ कोशों का मुकाबला करके नहीं बना सकते, और न दो-चार साहित्यकार (उर्दू और हिन्दी के) ही मिलकर इसको पैदा कर सकते हैं। इसकी बुनियाद तभी मजबूत पड़ेगी जब लिखनेवाले आम जनता के लिए लिखेंगे और बोलनेवाले उनके ही लिए बोलेंगे।"[2] इसीलिए अपने भाषणों में भी नेहरूजी ने इसी तरह की जनभाषा का उपयोग किया है। किन्तु भाषा के संबंध में, नेहरूजी का ज्ञान काफी अच्छा है। भाषा की उत्पत्ति, उसका विकास तथा भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के विषय में उन्होंने कई बार अपने विचार प्रकट किये हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने अपने एक भाषण में कहा है—"हमारे देश की जो भाषाएं हैं और जो कमो-बेश एक ही जड़ से निकली हैं, और अगर एक ही जड़ से नहीं भी निकली हैं तो उनकी शाखाएं मिल गई हैं।... तो इससे यहां की तरक्की, हालांकि हर भाषा की जड़ अपने देश में थी, लेकिन काफी उसकी तरक्की होती थी और भाषाओं के सम्बन्ध से, यूरोप के और लैटिन और ग्रीक तो खैर थे ही। अब तो आप किसी अच्छे कोई अंग्रेजी बहुत सारे साप्ताहिक अखबार हैं, साहित्य से सम्बन्ध जो रखते हैं, आप उन्हें उठायें अंग्रेजी या फ्रेंच या जर्मन, उनमें आप पायेंगे काफी चर्चा और भाषाओं का, अंग्रेजी में खाली अंग्रेजी का नहीं पायेंगे, आप फ्रांसीसी, स्पैनिश, इटेलियन, जर्मनी, रूसी सबका कुछ-न-कुछ पायेंगे। उनकी जो किताबें निकलती हैं, उनके रिव्यूज होंगे उसमें, कुछ-न-कुछ चर्चा होगा, दिखाया जायगा कैसे उसका असर उनकी भाषा पर पड़ा। जर्मन में आप, जर्मन कोई ऐसा अखबार पढ़ें उसमें फ्रेंच, अंग्रेजी रूसी भाषाओं का चर्चा होगा। इस तरह से यह बढ़ी और कोई उनमें विरोध नहीं रहा, हालांकि अलग-अलग देशों की थी, और जो सवाल हमारे सामने है यह यहां इतना नहीं उठता था, मानो एक देश की एकता, उसको बढ़ाना। तो चाहे आप उसको एक ढंग से देखें, देश की एकता के ढंग से, और

---

[1] 'विशाल भारत', २५ जुलाई, १९३७

[2] 'हिन्दुस्तान की समस्याएं'—पृष्ठ ७२-७३

चाहे आप देखें भाषाओं का बढ़ना, किसी ढंग से, या यह आवश्यक हो जाता है कि हमारी जो अनेक भाषाएं हैं, उनका सम्बन्ध एक-दूसरे से हो, और वह समझें अच्छी तरह से। और काफी लोग कई भाषाओं को जानें, यह बहुत आवश्यक है।"[१] भाषा के इसी विकास को ध्यान में रखते हुए नेहरूजी हिन्दी के पक्ष का भी समर्थन उसी प्रकार करते हैं। उनका यह निश्चित मत है कि सीमाबद्ध होकर भाषा का विकास रुक जाता है, उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। इसी दृष्टि से हिन्दी के विषय में एक बार उन्होंने कहा था, "हिन्दी आगे कैसे बढ़ रही है? कैसे उसकी तरक्की होती है? यह विचार कि एक भाषा दूसरी भाषा को पछाड़ के बढ़ती है, यह निकम्मा विचार है, यह गलत विचार है। वो अपनी शक्ति से बढ़ती है।" . . . नेहरूजी ने भाषा की शक्ति के साथ शब्द की शक्ति की भी व्याख्या बड़े सुन्दर ढंग से की है। वह इसी भाषण में आगे कहते है, "हर शब्द का इतिहास है और जिन लोगों को शब्दों में दिलचस्पी है, वो अक्सर इतिहास को ढूंढ़ते हैं—कहां से आया, क्या उसने रंग बदले, कैसे उसके माने बदले, इस तरह से सैकड़ों बरस में शब्द ढलते जाते हैं।"[२] शब्दों के इस विवेचन में नेहरूजी की शब्द-रचना और वाक्य-विन्यास का परिचय भी मिलता है। इस भाषा से ज्ञात होता है कि भाषा को सुव्यवस्थित बनाने के लिए वह रुकते नही और यदि रुकते भी है तो वाक्य और अटपटे-से हो जाते हैं। अतः अपने जानदार शब्दों पर उन्हें अधिक विश्वास रहता है और इसीलिए उनकी अव्यवस्थित भाषा में भी जान आ जाती है। तभी उन्होंने अपनी स्वाभाविक भाषा में स्पष्ट रूप से कहा है कि "हिन्दी में जान है, वह जीवित भाषा है और मुझे यकीन है कि वह उछलती-कूदती हुई तरक्की का अपना रास्ता खुद बना लेगी। . . . हजार शब्दकोश भी भाषा में वह जान नहीं डाल सकते, जो उसमें अपने अन्दर होती है। जिस भाषा में अपनी शक्ति नहीं होती, वह दूसरों की बार-बार कोशिशों से भी नहीं बढ़ती और जिसमें अपनी ताकत होती है, वह खुद-बखुद तरक्की कर लेती है।"[३] जवाहरलालजी की भाषा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनकी हिन्दी और लेखन-शैली उदात्त एवं मर्यादित विचारधारा, प्रखर मेधा, सतेज प्रतिभा, विशद दृष्टिकोण, ऐतिहासिकता, चिन्मयता, काव्योचित्त सरसता और सत्य की सरलता से अलंकृत है। इस रूप में हिन्दी को उनकी देन निस्सन्देह अद्वितीय है।

---

[१] आकाशवाणी साहित्य सम्मेलन के उद्घाटन अवसर पर ५ अप्रैल, १९५७ को दिये गए भाषण से (मूल लिपि ऑल इंडिया रेडियो के सौजन्य से प्राप्त)

[२] राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सम्मेलन में ६ मई, १९५९ को नेहरूजी का भाषण— (ऑल इंडिया रेडियो के सौजन्य से)

[३] 'राजभाषा'—संसदीय हिन्दी-परिषद का पत्रिका—२२ मई, १९५९

अध्याय : १४

आचार्य नरेन्द्रदेव

(सन् १८८९-१९५६)

ऐसे जननायक का उत्तम उदाहरण, जिसने राजनीतिक और सार्वजनिक कार्य के साथ-साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से हिन्दी की अभिवृद्धि में अधिकतम योगदान दिया हो, आचार्य नरेन्द्रदेव हैं। वह उच्चकोटि के नेता और देशभक्त थे और सार्वजनिक काम की लगन उन्हें बचपन से ही लग गई थी। हिन्दी-प्रेम के संस्कार और लोकमान्य तिलक का प्रभाव उनपर किस तरह और कब हुआ, इस विषय में आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने संस्मरण में लिखा है—

आचार्य नरेन्द्रदेव

"मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढ़ा। इनके अतिरिक्त बेताल-पच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तकें भी पढ़ीं। उस समय चन्द्रकान्ता की बड़ी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को सोलह बार पढ़ा होगा। चन्द्रकान्ता सन्तति को, जो चौबीस भाग में है, एक बार पढ़ा था। न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित् इन्हीं पुस्तकों का पठन-पाठन हुआ करता था। दस वर्ष की आयु में मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। पिताजी के साथ नित्य मैं संध्या-वन्दन और भगवद्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघुकौमुदी भी पढ़ी थी। जब मैं १० वर्ष का था अर्थात् १८९९ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिताजी डेलीगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय डेलीगेट का 'बैज' होता था कपड़े का फूल। मैंने भी भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा

लिया और उसको लगाकर अपने चचाजाद भाई के साथ 'विजिटर्स गैलरी' में जा बैठा। उस जमाने में प्रायः भाषण अंग्रेजी में होते थे और यदि हिन्दी में होते तब भी मैं कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवाय शोर-गुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था। दर्शकों ने तंग आकर मुझे डांटा और पण्डाल से भागकर मैं बाहर चला आया। उस समय मैं कांग्रेस के महत्व को क्या समझ सकता था। किन्तु इतना मैं जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानडे देश के बड़े नेताओं में से हैं। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वहीं किया।"[१]

आगे चलकर लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में उन्होंने राजनीतिक कार्य आरंभ किया और गांधीजी से असहयोग का संदेश पाते ही वकालत छोड़कर वह एकदम आन्दोलन में शामिल हो गये। इसके बाद ही गांधीजी द्वारा स्थापित काशी विद्यापीठ में अध्यापक का काम करने लगे और बाद में उसके आचार्य हुए। विशुद्ध विद्वत्ता, गंभीर विवेचन और सच्ची जनसेवा की भावना, इन सबका सुंदर सम्मिश्रण उनके व्यक्तित्व में मिलता है। उन्होंने विभिन्न भाषाओं और भाषा-विज्ञान का ही गहन अध्ययन नहीं किया, बल्कि इतिहास और राजनीति-शास्त्र के भी वह प्रकाण्ड पंडित थे। हिन्दी के प्रति श्रद्धा और स्नेह उन्हें परंपरा से मिले थे। इसलिए उन्होंने काशी विद्यापीठ में जाते ही उपर्युक्त गहन विषयों पर हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। उन्होंने इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र पर हिन्दी में लेख और पुस्तकें लिखीं। उनका उद्देश्य जहां यह था कि विद्यापीठ के विद्यार्थियों के लिए अच्छी पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध हों, वहां वह साधारण हिन्दी पाठकों की ज्ञानपिपासा को भी शान्त करना चाहते थे। काशी विद्यापीठ में कार्य आरम्भ करते ही उन्होंने विदेशों के इतिहास पर छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे। इनमें इंग्लैंड, आयरलैंड, रूस, इटली, अमरीका आदि के इतिहास सम्मिलित हैं। समाजवाद के संबंध में भी इसी प्रकार उन्होंने सन् १९३०-३१ में लेखों और भाषणों द्वारा ज्ञान का प्रसार किया।[२]

समाजवाद की ओर प्रवृत्ति

काशी विद्यापीठ में अध्यापन-कार्य करते समय और उससे पहले, तथा इसके उपरान्त भी नरेन्द्रदेवजी का झुकाव समाजवाद की ओर स्पष्ट दिखाई देता था। हिन्दी में समाजवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या करनेवालों में नरेन्द्रदेव सर्वप्रथम हैं। कांग्रेस में समाजवादी दल के भी वह सदा प्रमुख नेताओं में रहे। समाजवादी विचारों के प्रचारार्थ इन्हींके सम्पादकत्व में लखनऊ से 'संघर्ष' साप्ताहिक निकाला गया। इस पत्र का हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास

---

[१] 'राष्ट्रीयता और समाजवाद'—पृष्ठ ६७५

[२] 'राष्ट्रीयता और समाजवाद'—१ से ९४ तक

में विशेष स्थान है, क्योंकि समाजवाद के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या ही इसमें नहीं होती थी, बल्कि समाजवादी देशों की हलचल और उनके विविध समाचार भी इसके स्तम्भों में छपते थे। 'संघर्ष' के लिए लिखनेवालों में जवाहरलाल नेहरू भी शामिल थे। उन दिनों आचार्य नरेन्द्रदेव के लेखों और सम्पादकीय विचारों के कारण समाजवाद-संबंधी विषयों पर अनेक विवाद समाचारपत्रों में चले और देश की आर्थिक स्थिति और साधनों के विकास के उपायों के बारे में जनता की रुचि बराबर बढ़ती गई। समय-समय पर जब कभी राष्ट्रीय समस्याओं पर कांग्रेस को विचार करना पड़ा, नरेन्द्रदेवजी प्रायः कांग्रेस-समाजवादी दल के प्रवक्ता के रूप में बोलते या लिखते थे। कांग्रेस कार्यकारिणी और महासमिति में उनकी बात पर गांधीजी भी ध्यान देते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने के बाद जो स्थिति पैदा हुई, उसके विवेचन के लिए कांग्रेस ने समाजवादी दल के विचार जानने का भी प्रयत्न किया। इस दल की ओर से नरेन्द्रदेवजी ने कांग्रेस के कर्तव्य पर प्रकाश डाला और इस संबंध में 'संघर्ष' में लिखा। 'कांग्रेस के सामने सवाल' शीर्षक से उन्होंने बड़ा सुन्दर विश्लेषणात्मक लेख लिखा, जिसका एक अंश इस प्रकार है —

"यदि हम जनता की शक्ति के बल पर साम्राज्यवाद से रियायतें ऐंठकर उससे समझौता करना चाहते हैं तो एक बात है। उसके लिए हमारा मौजूदा कार्य-क्रम ठीक हो सकता है, परन्तु यदि वास्तविक पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा लक्ष्य है तो हमें जनता के हाथ में शक्ति देने और उसे अपनी आर्थिक समस्याएं हल करने का अधिकार देना होगा।

"हमने शिक्षा के क्षेत्र में एक कार्यक्रम की बुनियाद रखी है। इसी प्रकार हमें आर्थिक क्षेत्र में भी एक मौलिक और साहसपूर्ण परिवर्तन की बुनियाद रखनी होगी। हमारे उद्योग-व्यवसाय किस प्रकार चलेंगे, उनकी व्यवस्था और संगठन किस प्रकार होना चाहिए कि मेहनत करनेवाली जनता अपने परिश्रम का पूरा फल पा सके और उत्पत्ति (पैदावार) के साधनों पर उसका अधिकार रहे, किस प्रकार जनता में प्रत्येक व्यक्ति को एक बराबर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकार होंगे, किस प्रकार जनता की सभी श्रेणियों के व्यक्तियों को सभी क्षेत्रों में जीविका प्राप्त करने, उन्नति और विकास करने का समान अधिकार होगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हम समाज का संगठन किस प्रकार एक ऐसे आदर्श पर कर सकेंगे, जिसमें बेकारी, भूख, शोषण, अत्याचार आदि नहीं होंगे ? ये हैं वास्तविक प्रश्न जिनका सम्बन्ध देश की जनता के जीवन से है और जिन्हें हल करने की ओर कांग्रेस को कदम बढ़ाना चाहिए। यदि कांग्रेस इन प्रश्नों को हाथ में लेने से कतरायेगी तो उसका अन्त हो जायगा।

"कांग्रेस की शक्ति है जनता, और जनता आज सोई हुई नहीं, वह सन्तुष्ट भी नहीं। जनता आज जितनी असन्तुष्ट और सचेत है, वैसी कभी नहीं थी। जनता अपनी समस्याओं को लेकर व्याकुल है। यदि जनता की इन समस्याओं को कांग्रेस अपना लेती है तो वह जनता की प्रतिनिधि रह सकेगी और जनता की ये समस्याएं उसका हथियार बन जायंगी और इनका हल उसका उद्देश्य बन जायगा, परन्तु यदि कांग्रेस इन सब महत्वपूर्ण समस्याओं से पल्ला खींचकर ही अपना अस्तित्व कायम रखना चाहेगी, तो बिना ईंधन की आग की तरह वह जल्द ही बुझ जायगी।

"कांग्रेस के भविष्य और अस्तित्व के बारे में ये प्रश्न हैं, जिनकी ओर हमारे नेताओं का ध्यान जाना चाहिए और इस समय आवश्यकता है कि कांग्रेस एक ऐसी योजना तैयार करे, जिसमें इन प्रश्नों का स्पष्टीकरण हो और जनता उसे समझ सके।"[1]

कितनी स्पष्ट और शिष्ट भाषा में कांग्रेस की नीति तथा स्थिति की यह आलोचना है। नरेन्द्रदेवजी की शैली की यही विशेषता है कि स्थिति के विश्लेषण के बाद उनसे दोषों पर पर्दा डालने की आशा नहीं की जा सकती। इस स्पष्टवादिता के पीछे उनकी कर्त्तव्यपरायणता की भावना रहती थी। इसलिए निजी मत प्रकट करने में वह गांधीजी की टीका करते हुए भी नहीं चूकते थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह पर गांधीजी द्वारा प्रकट किये गए विचारों के संदर्भ से नरेन्द्रदेवजी ने 'संघर्ष' में लिखा—

"महात्माजी ने अपने वक्तव्य में कहा है कि मैं स्वयं सत्याग्रह नहीं करना चाहता। इस निश्चय का कारण बताते हुए महात्माजी कहते हैं कि इसका कारण यह भी है कि कांग्रेस गवर्नमेंट को परेशान नहीं करना चाहती। यह थ्योरी सत्य और अहिंसा-सम्मत बताई जाती है। हमारी अल्पबुद्धि में यह नहीं आया कि इसका सत्य और अहिंसा से क्या सम्बन्ध है, जब हम सत्याग्रह किसीको परेशान करने की गरज से नहीं करना चाहते हैं, बल्कि अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए ही करना चाहते हैं। महज छेड़छाड़ के लिए कोई आन्दोलन करना नामुनासिब होगा, यह हम मानते हैं, उससे हमारा ही नुकसान है। यह तो वही मसल हुई कि दूसरे की नाक काटने के लिए हम अपनी नाक कटवाने के लिए तैयार हैं। जब युद्ध आरम्भ होने पर वर्किंग कमेटी ने अपना लम्बा वक्तव्य निकाला था और बाद में रामगढ़-कांग्रेस ने अपना प्रस्ताव पास किया था, जिसमें बताया गया था कि यह युद्ध साम्राज्यवादी है और अगला कदम सत्याग्रह का होगा, उस समय हमको गवर्नमेंट को परेशान करने का ख्याल न था। जब कभी हम स्वराज्य की लड़ाई

[1] 'संघर्ष', लखनऊ, १ दिसम्बर, १९३९

छेड़ें, साम्राज्यशाही को परेशानी होगी ही, लेकिन क्या इससे हम जन्मसिद्ध अधिकार को छोड़ दें ? क्या हम यह समझें कि जबतक युद्ध में प्रतिपक्षी के हारने के लक्षण नहीं दिखाई पड़ें तबतक तो सत्याग्रह करना सत्य और अहिंसा के प्रतिकूल नहीं है, लेकिन जब हमारा प्रतिपक्षी शत्रु से विताड़ित होने लगे और उसकी पराजय की आशंका हो जाय तब गुलामों को लड़ाई रोक देनी चाहिए। जब हमारा प्रतिपक्षी लड़ाई में संभल जाय, यह तर्क हमारी बुद्धि में नहीं आता। हिन्दुस्तान की आजादी ही अंग्रेजों के लिए काफी परेशानी की बात है, वे ऐसा समझते हैं, लेकिन हम तो हिन्दुस्तान को आजाद करके अंग्रेज कौम पर एहसान करेंगे। मैं यह बात मजाक में नहीं कहता, क्योंकि मेरा विश्वास है कि जो कौम दूसरों को गुलाम बनाती है, वह अन्त में खुद गुलाम हो जाती है, इसलिए स्वराज्य की लड़ाई ऐसे मौके पर छेड़ना परेशान करना नहीं है। हमारी लड़ाई तो शान्तिमय है। हम उनके देश पर तो आक्रमण कर नहीं रहे हैं, केवल अपने देश को आजाद करना चाहते हैं। इसमें किसीको परेशान करने का सवाल कहां उठता है ? खेल और कुश्ती के कायदे ऐसे हो सकते हैं, लेकिन आजादी के जंग में इन कायदों की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी किसी कायदे को मानने को तैयार नहीं है।"[१]

शिक्षा-शास्त्री

नरेन्द्रदेवजी शिक्षाशास्त्र के भी पूर्ण पंडित थे। विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों का उनका अध्ययन गहन था और देश की शिक्षा-समस्या पर उन्होंने बहुत-कुछ लिखा। राजनीति के पश्चात आचार्य नरेन्द्रदेव ने सबसे अधिक शिक्षा पर ही लिखा। उनका दृष्टिकोण एक बुद्धिवादी का है, किन्तु है क्रियात्मक। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी और शिक्षक दोनों का बड़ा महत्व है। इसलिए एक शिक्षा-शास्त्री के लिए यह उपयुक्त ही है कि वह बालकों के साथ-साथ शिक्षक का भी पूरा ध्यान रक्खे। उन्होंने 'जनवाणी' में शिक्षकों की स्थिति पर एक लेख लिखा था, जिसमें प्राचीन और आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की ओर ध्यान दिलाते हुए, आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षकों की स्थिति को सुधारने की ओर ध्यान दिलाया था। उन्होंने लिखा था—

"प्राचीन काल में शिक्षा देने का भार ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु, पादरी या मौलवियों पर था। समाज में उनके लिए बड़ा सम्मान था। केवल भोजन और वस्त्र लेकर ही यह समाज की शिक्षा की व्यवस्था करते थे। दानशील व्यक्ति और राज्य की ओर से इनकी संस्थाओं को सहायता मिलती थी। . . . जो शिक्षक थे, उनको समाज आदर की दृष्टि से देखता था, किन्तु आज मनुष्य का मापदण्ड रुपया हो गया

[१] 'संघर्ष', लखनऊ, २८ अक्तूबर, १९४०

है। ... शिक्षा के क्षेत्र में योग्य शिक्षकों की कमी का कारण भी यही है। यह चिन्ता का विषय है और इसपर गंभीरता के साथ विचार करने की आवश्यकता है। हमारा भविष्य उज्ज्वल हो, इसके लिए अध्यापन के काम को आकर्षक बनाना पड़ेगा। आज समाज का आर्थिक कष्ट यदि बढ़ गया है और जब रुपयों में मनुष्य की कीमत आंकी जाती है, तब पुरस्कार की वृद्धि का प्रश्न अध्यापक के लिए भी महत्व का हो जाता है।'[1]

जनहित और व्यावहारिक उपादेयता ही किसी भी सिद्धान्त की परख के लिए उसकी कसौटी है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति और प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर उनके लेख अत्यन्त सारगर्भित और महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को स्थान देना उचित होगा अथवा नहीं, इस प्रश्न पर स्वतंत्रोत्तर वर्षों में काफी विवाद हो रहा है। सरकारी प्रतिवेदनों में भी धार्मिक शिक्षा की उपयोगिता पर विचार किया गया है। इसी प्रश्न पर आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र से अपने भाषण में नरेन्द्रदेवजी ने, जो कहा, उसका सार इस प्रकार है—

"साम्प्रदायिक मेल उत्पन्न करने की सदिच्छा से कदाचित् स्कूलों के पाठ्य-क्रम में धार्मिक शिक्षा के समावेश की बात कही जाती है। पर लोग क्षमा करें, मुझे यह कहना ही पड़ता है कि यह दवा बीमारी से भी अधिक घातक साबित होगी। धार्मिक शिक्षा के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि सभी धर्म मूलतः एक हैं और सही दृष्टि से देखा जाय तो ऐसा धर्म एकत्व-साधन की ही एक शक्ति है। मैं मानता हूं कि कुछ सर्वव्यापक तत्व ऐसे हैं, जो सब धर्मों में समान हैं। पर ऐसे भी कुछ तत्व हैं, जो एक-एक सम्प्रदाय के अपने-अपने विशेष हैं। जनता जिस धर्म को समझती और पालन करती है, वह तो विशिष्ट विधियुक्त कर्म और पूजा-पाठ ही हैं और ये सब सम्प्रदायों के अलग-अलग हैं। सीधी और सच्ची बात यही है कि धर्म समाज की एक घातक शक्ति है।

"राष्ट्रीय सरकार का काम यह है कि वह इन विभिन्नताओं को पीछे कर दे और सबके लिए समान चीजों को आगे करे, जो सबको मिलाती और विभिन्न प्रकार के लोगों को एकत्व में बांधती है।"[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि बालकों के लिए धर्म की शिक्षा एक प्रकार से सांप्रदायिकता की शिक्षा बन जायगी, यह भय उनके मन में रहता था। सर्व-धर्म-समन्वय को बालक-बुद्धि इतनी शीघ्रता से नहीं समझ सकती, इसके लिए परिपक्व मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। इसीलिए उनकी धारणा यह होती

[1] 'जनवाणी', मई, १९४७

[2] 'राष्ट्रीयता और समाजवाद'—पृष्ठ ५०६-१०

थी कि "स्कूलों के पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा का समावेश करने से ये सांप्रदायिक भेद विशेषरूप से उन बच्चों के सामने आयेंगे, जिन्हें इन भेदों का अभी कोई ज्ञान नहीं है।" उनका यह स्पष्ट मत था कि "बच्चा धर्म और चरित्र की बातें मौखिक शिक्षा से नहीं सीखा करता। अतः उदाहरणार्थ, अपने बच्चे को सेवाभाव के गुणों की प्रशंसा करने से बच्चों के वैसे भाव नहीं बनेंगे, बल्कि उन्हें सेवा करने के अवसर देने से दूसरों की सेवा करने में जो सुख और आनन्द है, वह प्राप्त होगा।"[१] इस प्रकार आचार्य नरेन्द्रदेव के शिक्षा और धर्म के विषय में बड़े सुलझे हुए विचार थ। धर्म उनके जीवन में गहरा उतरा, किन्तु बालकों को उसकी शिक्षा देने से वह डरते थे। उस गहराई में निपुणता-प्राप्त तैराक को ही उतरना चाहिए, यह उनका अभिमत था। उन्होंने स्वयं धर्म का गहरा अध्ययन किया था। जब वह लखनऊ और काशी विश्वविद्यालयों के उपकुलपति के पद पर रहे, शिक्षा के साथ-साथ बौद्धमत के आदर्शों और भारत में बौद्ध धर्म के विकास तथा ह्रास के इतिहास की ओर नरेन्द्रदेवजी आकृष्ट हुए। जीवन के अन्तिम वर्ष उन्होंने 'बौद्ध दर्शन' लिखने में बिताये। यह बृहत् ग्रन्थ उनके देहान्त के उपरान्त ही प्रकाशित हो सका और इसकी गणना इस विषय की सर्वोत्तम प्रामाणिक पुस्तकों में की जाती है। इसपर साहित्य अकादमी ने उन्हें सन् १९५६ की हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना घोषित करके ५०००) का पुरस्कार दिया था, किन्तु दुर्भाग्यवश तब उनका देहान्त हो चुका था और पुरस्कार उनके परिवार को दिया गया।

भाषा-शैली

नरेन्द्रदेवजी की शैली सुगठित, गम्भीर और विचारों से ओतप्रोत है। विषय की गम्भीरता और विचारों की विविधता के कारण कहीं-कहीं उनकी शैली क्लिष्ट अथवा कुछ बोझिल दिखाई देती है, किन्तु विषय-विशेष से परिचित पाठक के लिए उसे ग्रहण करने और सरलता से समझने में कठिनाई नहीं हो सकती। उनके राजनीतिक विचारों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। बौद्धधर्म की व्याख्या और दर्शन के प्रतिपादन की भाषा कहीं-कहीं बहुत क्लिष्ट है। किन्तु इसे लेखक का दोष नहीं कहा जा सकता। दर्शन के सम्बन्ध में किसी भी भाषा में लिखा जाय, उसे साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता। फिर भी नरेन्द्रदेवजी ने अधिक-से-अधिक स्पष्ट और बोधगम्य भाषा में लिखने का यत्न किया है। महायान बौद्धधर्म की विशेषता का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं—

"स्थविरवाद का आदर्श अर्हत्व और उसका लक्ष्य निर्वाण था। अर्हत

[१] 'राष्ट्रीयता और समाजवाद'—पृष्ठ ५११

रागादि-मलों का उच्छेद कर क्लेश-बन्धन-विनिर्मुक्त होता था। उसका चित्त संसार से विमुख और मन निर्विषयी होता था। अर्हत् अपनी ही उन्नति के लिए यत्नवान् होता था। उसकी साधना अष्टांगिक मार्ग की थी। स्थविरवादियों के मत में बुद्ध यद्यपि लोक-ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हैं, तथापि बुद्ध-काय जरा-व्याधि-मरण इत्यादि दुःखों से विमुक्त न था। महासांघिकों के विचार में बुद्ध एक विशेष अर्थ में लोकोत्तर थे। महासांघिकवाद के अन्तर्गत लोकोत्तरवाद एक अवान्तर शाखा थी। इसके विनय का प्रधानग्रन्थ महावस्तु है। इनके मत में बुद्ध को विश्राम अथवा निद्रा की आवश्यकता नहीं है और जितने समय तक वह जीवित रहना चाहें, उतने समय तक जीवित रह सकते हैं। स्थविरवादियों के अनुसार यदि नियम-पूर्वक अच्छा अभ्यास किया जाय तो इस दृष्ठ-धर्म में ही निर्वाणफल का अधिगम होता है। मोक्ष के इस मार्ग का अनुसरण वह करता है, जो शील-प्रतिष्ठित है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है। बुद्ध अन्य अर्हतों से मिलते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का निर्देश किया, जिसपर चलकर लोग संसार से विमुक्त होते हैं। इस विशेषता का कारण है कि बुद्ध ने पूर्व-जन्मों में पुण्य-राशि का संचय और अनन्त-ज्ञान प्राप्त किया था।"[१]

'बुद्ध-शिक्षा की सार्वभौमिकता' लेख में वह लिखते हैं—

"भगवान बुद्ध का बताया मार्ग मध्यम मार्ग कहलाता है, क्योंकि यह दोनों अन्तों का परिहार करता है। जो कहता है कि आत्मा है, वह शाश्वत दृष्टि के पूर्वान्त में अनुपतित होता है। जो कहता है कि आत्मा नहीं है, वह उच्छेद दृष्टि के दूसरे अन्त में अनुपतित होता है। उच्छेद और शाश्वत दोनों अन्तों का परिहार कर भगवान मध्यमा प्रतिपत्ति (मार्ग) का उपदेश करते हैं। एक अन्त काम-सुखा-नुयोग है, दूसरा अंत आत्म-क्लमथानुयोग है। भगवान दोनों का परिहार करते हैं। भगवान कहते हैं कि देव और मनुष्य दो दृष्टि ग[illegible] से परिपुष्ट होते हैं। केवल चक्षुष्मान यथाभूत देखता है। एक भव में रत होते हैं। जब भवनिरोध के लिए धर्म की देशना होती है, तब उनका चित्त प्रसन्न नहीं होता। इस प्रकार वह इसी ओर रह जाते हैं। एक भव की जुगुप्सा के विभव का अभिनन्दन करते हैं। वे मानते हैं कि उच्छेद ही शाश्वत और प्रणीत है। ये अतिधावन करते हैं। चक्षुष्मान भूत को भूततः देखता है, भूत को भूततः देखकर वह भूत के विराग-निरोध प्रतिमन्नपेता है। यह मध्यम मार्ग अष्टांगिक मार्ग है।"[२]

यह है नरेन्द्रदेवजी की दार्शनिक विचारधारा। यह शैली क्लिष्ट है और इसे

---

१ 'बौद्धधर्म दर्शन'—पृष्ठ १०५

२ 'त्रिपथगा', अक्तूबर, १९५६

पूरी तरह वही समझ सकता है, जो इस विषय से परिचित ही नहीं, बल्कि जो इसमें दीक्षित हो चुका हो। साधारण व्यक्ति के लिए इसे समझना बड़ा कठिन है। इस दुरूहता से भाषा भी बोझिल मालूम होती है। इसे एक प्रकार से हमें शैली का दोष ही मानना होगा, किन्तु जैसा हम देख चुके हैं उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों की लेखनशैली कहीं अधिक सरल है और इसी कारण नरेन्द्रदेवजी के लेखों का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रायः सभी विषयों पर जो कुछ लिखा, वह हिन्दी में ही लिखा। हिन्दी पर उनका पूर्ण अधिकार था और इसे ही वह जनगण की भाषा मानते थे। 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' और 'बौद्धधर्मदर्शन' के अतिरिक्त नरेन्द्रदेव की रचनाओं में 'समाजवाद—लक्ष्य तथा साधन' भी हैं, जो उनके भाषणों के आधार पर तैयार की गई हैं। नरेन्द्रदेवजी समाजवादी नेता थे, अतः समाजवाद के सिद्धान्तों और आदर्शों का निरूपण उनके राजनीतिक विषयों में प्रमुख स्थान रखता था। यह पुस्तक समाजवाद की व्याख्या का संक्षिप्त रूप है। इन तीनों पुस्तकों, उनके लेखों तथा भाषणों इत्यादि के अध्ययन से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि नरेन्द्रदेवजी की भाषा विषय के साथ-साथ बदलती रहती है—कहीं एकदम सरल तो कहीं एकदम दुरूह। यह इस बात का प्रमाण है कि नरेन्द्रदेवजी ने विद्वत्समाज तथा जनसाधारण दोनों का उसी प्रकार ध्यान रक्खा है जैसे शिक्षक और विद्यार्थी का। हिन्दी भाषा और साहित्य को उनकी सरल तथा क्लिष्ट दोनों ही शैलियों को साथ-साथ लेकर चलना पड़ा है। 'बौद्ध-दर्शन' की शैली से वह दबी है, किन्तु साहित्य उभरा है। सरल हो या क्लिष्ट नरेन्द्रदेवजी की विद्वत्ता और सुलझे हुए विचारों से हिन्दी भाषा परिष्कृत और परिमार्जित हुई है तथा उसका साहित्य-तत्व भी उभरा है। अतः हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में आचार्य नरेन्द्रदेव का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। उनसे हिन्दी-साहित्य को ऊंचा वाङ्मय प्राप्त हुआ है और भाषा को समुन्नत और सुलझे हुए विचार।

अध्याय : १५

डॉ० सम्पूर्णानन्द

(सन् १८९०)

सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के उन प्रमुख जननायकों में से हैं, जिनकी साहित्य-सेवाओं से हिन्दी का भण्डार भरा है और जिनके प्रवल समर्थन से समय-समय पर हिन्दी को अमूल्य सहारा मिला है।

सम्पूर्णानन्द

प्रारंभिक कविताएं

विज्ञान के स्नातक होते हुए भी उन्हें आरम्भ से ही साहित्यिक लेखन और अध्ययन में गहरी दिलचस्पी थी। गोखले की मृत्यु पर इनके उमड़ते हुए विचारों ने कविता का रूप ले लिया। सम्भवतः यह उनकी पहली कविता थी, जो फरवरी १९१५ के 'नवनीत' में प्रकाशित हुई—

"देशभक्त देहावसान
हा विधि ! क्या सुनाई आज।
देशभारत परम आरत, दुखी दीन समाज,
गोखले की मृत्यु से गई डूब राष्ट्र जहाज।
स्वार्थ त्यागि अनन्य कीन्हो जाति के हित काज,
ईश संग सम्पूर्ण आनन्द पाइ करहि स्वराज।"[1]

यह जानकर बहुतों को आश्चर्य होगा कि साहित्य के क्षेत्र में पहले-पहल सम्पूर्णानन्दजी कवि के रूप में अवतरित हुए। वह प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के लिए छोटी-छोटी, किन्तु सारगर्भित कविताए लिखते और अपने नाम से छपवाते। उनकी कविताओं का विषय प्रायः देशभक्ति और कभी-कभी भक्तिभाव होता।

[1] 'नवनीत', इन्दौर—फरवरी, १९१५

उसी समय का एक और उदाहरण लीजिये—

"प्रभु तुम दीनन के हितकारी !
अशरण शरण, अबल बल अविचल,
आर्त्त दुःख संहारी ।
तव प्रसाद लहि रंकराव गति,
जावत वेद पुकारी ।
कृपा कटाक्ष करिय भारत पर,
निज स्वभाव अनुसारी ।
निज प्राचीन लहहि पद पुनि मह,
होहि धर्मपथ चारी ।
सम्पूर्णानन्द गति यहि दीजै,
एती विनय हमारी ।"[१]

यह तब की बात है जब सम्पूर्णानन्द पचीस वर्ष के भी नहीं थे। प्रयाग से एल. टी. करके उन्होंने अध्यापक की वृत्ति ग्रहण की थी। इनकी पहली नियुक्ति डेली कालिज, इन्दौर में हुई, जहां उनका हिन्दी-प्रेम और भी चमका। उस समय के संबंध में एक 'रेखाचित्र' में बनारसीदास चतुर्वेदी ने, जो वहां उनके साथी थे, लिखा है— "डेली कालेज में सम्पूर्णानन्दजी के साथ जो ढाई वर्ष व्यतीत हुए, उन दिनों की अनेक मधुर स्मृतियां हैं। हम दोनों ही साहित्य-प्रेमी थे और कभी-कभी तो बातें करते हुए रात के बारह भी बज जाते थे। उन दिनों भी वह बड़े अध्ययनशील थे और कालेज में ही नहीं, इन्दौर की पढ़ी-लिखी जनता में भी उनकी धाक जम गई थी।... जब (१९१८ में) इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन महात्मा गांधी के सभापतित्व में होनेवाला था, सम्पूर्णानन्दजी साहित्य-विभाग के सभापति बने और मैं था उनका मंत्री।"[२]

संस्कृत के विद्वान

सम्पूर्णानन्दजी ने संस्कृत का भी अध्ययन किया है। उनके अथाह परिश्रम और लगन के आगे गहन-से-गहन विषय न ठहर सके। वेद-वेदांगों से लेकर इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि सभी कुछ उनकी प्रतिभा ने समेट लिया। विद्वान् मनीषी भगवानदासजी ने आपके संस्कृत-ज्ञान की बड़ी सराहना की है। भगवानदास जैसे उद्भट विद्वान के ये शब्द एक प्रकार से संपूर्णानन्दजी की विद्वत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। उन्होंने लिखा है—"प्रायः १९२०-२१ के आस-पास श्री संपूर्णानन्दजी

[१] 'नवनीत', इन्दौर—फरवरी, १९१५
[२] बनारसीदास चतुर्वेदी—'रेखाचित्र'—पृष्ठ १५९

से मेरी जान-पहचान आरंभ हुई। यद्यपि विद्यार्थी-अवस्था में आपने सायन्स अर्थात् पाश्चात्य नवीन विज्ञान का विषय पढ़ा, पर इधर २० वर्षों में, विशेषकर कारावास में जब-जब आपका दीर्घकालीन निवास हुआ, उन दिनों में, संस्कृत भाषा के और दर्शनादि ग्रन्थों के ज्ञान का बहुत अच्छा संग्रह किया। एक बार उन्होंने मुझसे कहा कि पातंजल योगसूत्रों को वह डेढ़ सौ बार कारावास में पढ़ गये। बंदीगृह के बाहर, सब प्रकार की सुविधाओं में रहकर और पुस्तकों का व्यसनी होकर भी, मैं इतनी बार इन सूत्रों की उद्धरणी नहीं कर सका हूं, यद्यपि सूत्र और व्यासभाष्य का शब्दानुक्रमणिका कोश बनाया और छपाया, जिसके लिए अवश्य ही बहुत बार उनके पन्नों को उलट-पुलट करना पड़ा। संपूर्णानन्दजी ने बहुत-से ग्रन्थ, छोटे भी, मोटे भी, बहुत विषय के ऐतिहासिक, वेद-संबंधी, गणेशादि देवता-विषयक, समाज-शास्त्र-विषयक, दार्शनिक आदि लिखे हैं, जिनके लिए आपको 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' मिला है।"[१]

सार्वजनिक क्षेत्र में

अध्यापन-कार्य संपूर्णानन्दजी अधिक समय तक न-कर सके। उनके अपने बौद्धिक विकास और तज्जन्य राष्ट्रसेवा की भावना ने सन् १९२१ में ही उनसे यह कार्य छुड़वा दिया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने संपूर्णानन्दजी को अध्यापक और लेखक दोनों रूपों में देखा और सराहा है। उनका संस्मरण इस बात को पुष्ट करता है—"यह सन् १९२१ की बात है। उस समय सम्पूर्णानन्दजी ज्ञानमंडल के प्रकाशन-विभाग में काम करते थे। इसके पूर्व वह डेली कालेज, इंदौर में थे और मैं फैजाबाद में वकालत करता था। असहयोग-आन्दोलन के कारण हम लोगों ने अपना-अपना काम छोड़ दिया था। श्री जवाहरलाल नेहरू के कहने पर मैंने अपनी सेवाएं काशी विद्यापीठ को अर्पित कीं। संपूर्णानन्दजी काशी के ही रहनेवाले हैं और स्व. शिवप्रसादजी गुप्त के कहने पर वह ज्ञानमंडल में सम्मिलित हो गये। गुप्तजी हिन्दी के अनन्य भक्त थे और उन्होंने हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित करने की एक विस्तृत योजना तैयार की थी। इसीमें सहयोग देने के लिए उन्होंने संपूर्णानन्दजी को आमंत्रित किया। संपूर्णानन्दजी को पठन-पाठन का पहले से शौक था। उस समय भी उनकी दो-एक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। हम लोगों की प्रेरणा मुख्यतः राजनीतिक थी, किन्तु विद्याव्यसनी होने के कारण हम दोनों की इच्छा यह थी कि राजनीतिक कार्य करते हुए कोई ऐसा काम भी करें, जिससे पढ़ना-लिखना न छूट जाय। . . . उन्होंने प्रकाशन के काम में सहयोग देना स्वीकार कर लिया। ज्ञानमंडल के काम के साथ-

---

[१] 'सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ २

साथ वह राजनीति के काम में भी काफी समय देते थे।"[1]

गहरे चिंतक और लेखक

काशी विद्यापीठ से उनका बाद में वर्षों तक संबंध रहा, किन्तु वास्तव में वह कार्य भी उस सार्वजनिक कार्य का ही एक अंग था, जिसे सम्पूर्णानन्दजी अब सदा के लिए अपना चुके थे। स्वातंत्र्य-संग्राम, कांग्रेस का रचनात्मक कार्यक्रम और हर प्रकार की समाजसेवा में जो उतार-चढ़ाव होते हैं, वे ही सब सम्पूर्णानन्दजी के चिरसाथी हो गये। किन्तु उनका अध्ययन और अनुशीलन बराबर जारी रहा। दर्शन, अध्यात्मवाद आदि में वह पारंगत हो गये और उनकी लेखनी से हिन्दी को अनमोल रत्न मिलने लगे। कुछ पुस्तकें उन्होंने मूलरूप से अंग्रेजी में भी लिखीं। उनका बौद्धिक धरातल बहुत ऊंचा है, इसलिए गंभीर विषयों की ओर वह अधिक आकर्षित होते हैं। इनकी विद्वत्ता और प्रतिभा ने देश की जनता और नेताओं को खूब प्रभावित किया। मंत्रीपद से और अन्यथा शिक्षा तथा राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी, इनकी लेखनी साहित्य-निर्माण में सतत लीन चली आ रही है। गम्भीर दार्शनिक होते हुए भी वह राजनीति, समाजशास्त्र, समाजवाद और गांधीवाद के अद्वितीय लेखक और चिन्तक हैं। हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत में किसी भी गम्भीर-से-गम्भीर विषय पर धाराप्रवाह भाषण देना उनकी विशेषता है। उनकी लेखन-शैली गम्भीर, विचार-प्रधान और पाण्डित्यपूर्ण होते हुए भी सुगम है।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने एक जगह लिखा है—"श्री सम्पूर्णानन्दजी विद्याव्यसनी हैं। कई शास्त्रों के विद्वान हैं। लिखते भी तेज हैं। बोलते भी तेज हैं। कमेटियों में बैठे हुए भी कभी-कभी लेख लिख डालते हैं। मेरे लिए तो यह काम सर्वथा असंभव है। फिर उनकी कई रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं और आज भी यह काम बन्द नहीं हुआ है।... हिन्दी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार है। 'चिद्विलास' इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। आर्यों के आदिम निवास-स्थान पर उनका जो ग्रन्थ निकला है, वह उनके चिन्तन और विद्वत्ता का परिचायक है। हमारी पीढ़ी के जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में हैं, उनमें वह सबसे अधिक विद्वान हैं। इतिहास, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, समाजशास्त्र और साहित्य का अच्छा अध्ययन है।... वह पत्रकार भी रह चुके हैं। कुछ दिनों काशी से समाजवादी दल की ओर से हिन्दी का एक साप्ताहिक सन् १९३५ में निकला था। उसका भी संपादन वही करते थे। पराड़करजी के जेल जाने पर आपने 'आज' को भी संपादित किया। काशी के 'जागरण' और उसकी 'मर्यादा' का भी आपने संपादन किया है।... वह भाषण और लेख द्वारा विचारों का प्रसार कर सकते हैं, किन्तु किसी दल विशेष

[1] 'सम्पूर्णानन्द अभिनंदन-ग्रंथ'—पृष्ठ ३

का संगठन नहीं कर सकते। उनको यह विश्वास है कि चाहे राजनीति में रहें या न रहें, साहित्य की तो सेवा वह कर ही सकेंगे। संपूर्णानन्दजी राजनीतिक और साहित्यिक दोनों हैं।"[१]

उनकी शैली की दृढ़ता और तार्किक प्रवाह का पता सम्पूर्णानन्दजी की किसी भी रचना से लग सकता है। 'आर्यों का आदि देश' में उन्होंने लिखा है—"सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में भारत को कोई विशेष महत्व का स्थान नहीं दिया गया। इसके कई कारण हैं, पर इनमें से मुख्य कारण यह है कि भारत का अपने पश्चिमी पड़ोसियों से राजनीतिक संबंध नहीं के बराबर था। ईरानी, यहूदी, यूनानी, मिश्री, इराक के दूसरे राज्यों के रहनेवाले, जैसे सुमेरी, चैल्डी, हित्ती आदि, आयेदिन एक दूसरे से लड़ते और सन्धि करते थे। एक का राज दूसरे पर होता था, एक की सेना दूसरे के देश में जाती थी, एक के सेनापतियों और नरेशों के नाम दूसरे के इतिहास में जगह पाते थे। भारत सबसे अलग था। गुप्त-साम्राज्य के समय में तो भारत की सीमा मध्य एशिया तक पहुंचाई गई, पर इसके पहले किसी भी योद्धा का ध्यान भारत के बाहर नहीं गया। जो महत्वाकांक्षी राजा हुआ, उसने भारत के विभिन्न प्रान्तों के नरेशों को हराया, अश्वमेध या राजसूय-यज्ञ किया, चक्रवर्ती कहलाया।

"इसका कारण सात्विकता न थी। आपस में तो लड़ते ही रहते थे। इस अलग-अलग रहने का यह परिणाम हुआ कि बौद्ध-देशों में धर्मप्रचारक अशोक की भले ही ख्याति हो, परन्तु तत्कालीन इतिहास न तो किसी पराक्रमी भारतीय नरेश को जानता है, न भारतीयों की वीरता और युद्ध-कौशल से परिचित है। इससे यह धारणा पड़ गई कि भारत का अपने बाहर की सभ्यता के विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। फिर, यूरोपियन विद्वानों ने अपनेको यह भी समझा लिया था कि भारतीय सभ्यता का इतिहास ३५००-४००० वर्ष के भीतर का है। ऐसी दशा में यह उन प्राचीन सभ्यताओं को, जो उससे कहीं पुरानी थीं, प्रभावित कर भी नहीं सकता था।"[२]

ग्रंथ-परिचय

संपूर्णानन्दजी विद्याव्यसनी साहित्यिक तो हैं ही, उन्होंने स्वयं अनेक पुस्तकें लिखी हैं। राजनीति में व्यस्त रहने के कारण अनेक बार अपने ग्रन्थों पर ही उन्हें जीविका के लिए निर्भर रहना पड़ा है। इस प्रकार हिन्दी साहित्यकारों की कठिनाइयों से वह भलीभांति परिचित हैं। इसीलिए उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री

१ 'सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ४
२ 'आर्यों का आदि देश'—पृष्ठ २०४-५

के पद से उन्होंने साहित्यिकों को प्रेरणा देने एवं उनकी प्रतिभा के विकास के लिए ५० हजार रुपये वार्षिक सहायता देने की व्यवस्था की। एक नेता के इस प्रकार का उच्च साहित्यकार बनने से जनता को उसके अमूल्य ग्रन्थों की तो देन मिली ही है, नेता बनकर भी उन्होंने अपनी सहायता और सहानुभूति से साहित्य-सृजन में योगदान दिया है।

संपूर्णानन्दजी उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री रहते हुए भी और हर समय राज-नीति की उलझनों में उलझे रहने पर भी लेखनकार्य के लिए समय निकालते ही रहे। उनके इसी तप का फल है कि हमें इतनी अधिक संख्या में उच्च कोटि के ग्रन्थ प्राप्त हो सके।[1]

सम्पूर्णानन्दजी को आजकल वैज्ञानिक उपन्यास पढ़ने और भूमिहीन खेती करने में बहुत रुचि है। उनके वैज्ञानिक और साहित्यिक व्यक्तित्व का यह संगम हो रहा है। 'पृथ्वी से सप्तर्षि मंडल' और 'अन्तरिक्ष यात्रा' जैसी रचनाएं इस आकाश और धरती के संगम का प्रमाण हैं। उनका विज्ञान कला का एक अंग है। इसीसे उनके बौद्धिक समन्वय का परिचय होता है। अपनी रचनाओं में भी जो विचार उन्होंने सौंदर्यानुभूति पर व्यक्त किये हैं, वे आत्मानुभूति का ही फल हो सकते हैं। उन्होंने लिखा है—"इसीलिए सौंदर्य का सच्चा अनुभव योगी को ही हो सकता है। ज्यों-ज्यों चित्त की वृत्ति रुकती है, त्यों-त्यों अन्तःकरण के दिक्कालादि धर्मों का अति-

[1] सम्पूर्णानन्दजी-लिखित पुस्तकों की सूची —

१. धर्मवीर गांधी
२. महाराजा छत्रसाल
३. भौतिक विज्ञान
४. ज्योतिर्विनोद
५. भारतीय सृष्टि-क्रम-विचार
६. भारत के देशी राष्ट्र
७. चेतसिंह और काशी का विद्रोह
८. सम्राट हर्षवर्धन
९. महादजी सिंधिया
१०. चीन की राज्यक्रांति
११. मिस्र की स्वाधीनता
१२. सम्राट अशोक
१३. अन्तर्राष्ट्रीय विधान
१४. समाजवाद
१५. व्यक्ति और राज
१६. आर्यों का आदि देश
१७. जीवन और दर्शन
१८. ब्राह्मण सावधान!
१९. चिद्विलास
२०. गणेश
२१. भाषाशक्ति
२२. पुरुष-सूक्त
२३. पृथ्वी से सप्तर्षि मंडल
२४. हिन्दू-विवाह में कन्यादान का स्थान
२५. ब्रात्यकांड
२६. भारतीय बुद्धिजीवी
२७. समाजवाद
२८. अन्तरिक्ष यात्रा
२९. स्फुट विचार
३०. अलकनंदा मंदाकिनी के दो तीर्थ
३१. चेतसिंह
३२. देशबन्धु चित्तरंजनदास

रोहण होता है। अन्त में अविद्या के क्षय होने पर भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है और एक अद्वय अखण्ड चितसत्ता अपनी लीला का संवरण करके अपने-आपका साक्षात्कार करती है। उसका स्वरूप परमानन्द है, अतः योगी पर निरन्तर सोम की वर्षा होती है। कबीर के शब्दों में 'रस गगन गुफा में अजर झरै'। योगी के लिए सदा सर्वत्र सौंदर्य का सागर लहराता रहता है।"[1] उनके व्यक्तित्व के इस पहलू और उनके ज्ञान की व्यापकता ने सभीको प्रभावित किया है।

भूतपूर्व स्वराष्ट्रमन्त्री पं. गोविन्दवल्लभ पंत लिखते हैं—"संपूर्णानन्दजी इस (उत्तर प्रदेश) प्रांत के नहीं, किन्तु सारे देश के उन गिने-चुने व्यक्तियों में हैं, जिन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हुए सरस्वती की यथेष्ट उपासना की है। उनकी विद्वत्ता प्रगाढ़ है और उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उनकी लेखनी में ओज व जीवन और उनके विचारों में मौलिकता, विश्लेषण-शक्ति तथा गांभीर्य है। इतिहास, राजनीति, पाश्चात्य-पौर्वात्य दर्शन और विज्ञान, कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसमें उन्होंने उच्च-कोटि का ग्रन्थ न लिखा हो। उनकी कृतियों का हिन्दी-साहित्य में ऊंचा स्थान है। *इस प्रकार के गंभीर विषयों में उन्होंने हिन्दी का स्तर बहुत ऊंचा कर दिया है।"*[2]

संपूर्णानन्दजी ने अपनी विद्वत्ता से हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान बनाया है और इस विशिष्ट स्थान का स्वयं संपूर्णानन्दजी को मान है। श्री श्रीप्रकाश ने उनके संस्मरणों में इसका बड़े ही विनोदपूर्ण और सुंदर शब्दों में उल्लेख किया है। वह लिखते हैं—"विद्या का आपको आग्रह भी है। संभव है, मित्रगण उनमें वह विनय और नम्रता न पावें, जिसकी प्रायः सबसे ही अपेक्षा की जाती है। इसके अभाव में, संभव है, कुछ गलतफहमी भी हो और बहुत-से लोग बिना विचारे यह समझ लें कि इनमें मद है, गर्व है। ऐसे विद्वान को अभिमान होना स्वाभाविक भी है। मुझे स्मरण है कि एक बार पिताजी से (डा. भगवान्‌दास) किसी प्रसंग में इन्होंने कहा था—'मेरा तो यही विचार रहा है कि हिन्दी में लेखक केवल एक है और उनका नाम है संपूर्णानन्द।' पिताजी की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। जब उनसे इन्होंने ऐसा कहा तो कुछ समझकर ही कहा होगा। यह १९२२ की गया-कांग्रेस के समय की बात है। मेरा उनका परिचय थोड़े ही दिन पहले हुआ था। तबतक मैंने उनकी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी। पीछे कई पढ़ीं। अवश्य ही मुझे उनकी विवेचना-शक्ति, उनकी वर्णन-शक्ति और उनके ज्ञान के विस्तार पर आश्चर्य हुआ। यदि अपने संबंध में इतनी छोटी ही अवस्था में उनका ऐसा विचार हुआ, तो कोई आश्चर्य नहीं।"[3]

[1] 'भाषा की शक्ति'—पृष्ठ ५१
[2] 'संपूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रंथ'—पृष्ठ १६
[3] 'संपूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ११

संपूर्णानन्दजी के ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों को किसका प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ या हो सकता। स्वयं लेखक से लेकर उच्च-से-उच्च कोटि के हिन्दी-लेखकों व पाठकों को इसका गौरव है। यह तो 'प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्' सी बात है। फिर राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू के, जो हिन्दी-साहित्य-संसार में भी राजेन्द्र ही है, इन प्रमाण-वाक्यों से संपूर्णानन्दजी की जन-सेवा और साहित्य-सेवा को चार चांद अवश्य लग जाते हैं। राजेन्द्रबाबू कहते हैं—"डा. संपूर्णानन्दजी भारत के उन सपूतों में हैं, जिन्होंने उसकी सेवा केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं की है, पर उसके साहित्यिक उत्थान में भी कम काम नहीं किया है। आप गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन में जोरों से शरीक हुए, पर आपने ऐसा करते समय अपनी पुस्तकों को अलमारियों में बंद नहीं कर दिया और असहयोग-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते हुए कई ग्रंथ देश को और विशेषकर हिन्दी-संसार को भेंट किये। इनमें कई तो अपने विषय के हिन्दी में प्रायः प्रथम ही ग्रंथ थे।"[१]

समाजवाद

राजनीति में प्रवेश के कुछ वर्ष बाद ही संपूर्णानन्दजी समाजवादी विचार-धारा से प्रभावित हो गये थे। तभी उन्होंने इस साहित्य का गहन अध्ययन कर 'समाजवाद' पुस्तक लिखी, जो उनकी सर्वप्रथम रचनाओं में है। यह ग्रन्थ कांग्रेस-समाजवादी दल के लिए मौलिक पुस्तक के समान रही है। इसी पुस्तक पर उन्हें 'मंगलाप्रसाद पारितोषक' मिला था। भाषा और वस्तु-विषय की दृष्टि से आज भी इस पुस्तक की उच्च कोटि के राजनीतिक ग्रंथों में गणना है। 'वर्ग-संघर्ष' अध्याय में उन्होंने धनी और दरिद्र के भेद-भाव का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है और इस विषय में इस प्रकार लिखा है—"जो बात धनवान के लिए भूषण है, वही दरिद्र के लिए दूषण है। पण्डे, पुरोहित, पुजारी भी उसे नहीं पूछते। धर्मग्रन्थों में निर्धनों के लिए निर्वाह कर तो दिया गया है, पर धर्मोपजीवी समुदाय दरिद्र को घृणा की दृष्टि से देखता है। दरिद्र के ऊपर जो सरकारी और गैर-सरकारी अत्याचार होते हैं, उनके विरुद्ध आवाज उठाना किसीका काम नहीं है। उससे बन पड़े तो सन्तोष करके चुपचाप बैठ रहे, नहीं तो अपने मनस्ताप को आंसुओं के रूप में बहा दे। इससे भी आगे बढ़ना चाहता हो तो आकाश की ओर आंखें उठाकर दीनानाथ, दीनबन्धु, करुणासागर, समदर्शी, निर्बल के बल, निर्धन के धन, भगवान् को पुकारे। इससे और तो क्या होना है, अपनेको धोखा देने में सहायता मिल जाती है। ठीक भी है, आखिर मजहब दरिद्र की ओर से क्यों माथा-पच्ची करे? यदि उसके कर्म अच्छे होते या ईश्वर की उसपर कृपा होती तो वह

[१] 'संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ'—पृष्ठ १

दरिद्र होता ही क्यों ? चुपचाप सह लेना ही तो उसका सबसे उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है।

"शोर मचाकर यह दरिद्र नाहक समाज को क्षुब्ध करते, पर समाज ने भी इसका प्रबन्ध कर रखा है। यदि इनका उठाया कोई आन्दोलन जोर पकड़ता है तो सरकार इसको ठीक कर सकती है। निर्धन चाहे बेकार हों, चाहे कृषक, चाहे मजदूर यदि वह अपनी अवस्था को उन्नत करने के लिए कोई सक्रिय आन्दोलन करेंगे तो अवश्य थोड़े ही दिनों के भीतर उनको राजशक्ति से टक्कर लेनी होगी, क्योंकि राजशक्ति धनिक-वर्ग के हाथों में है।"[1]

स्पष्टोक्ति और विचारप्रधान लेखन के लिए संपूर्णानन्दजी की ख्याति का आधार प्रारंभ में यही पुस्तक थी। अपने मन की बात कहने में, यदि उन्हें उसकी सचाई पर विश्वास है तो, उन्हें कभी क्लेश अथवा आपत्ति नहीं होती। इसका सबसे बड़ा प्रमाण 'ब्राह्मण सावधान !' है। इस पुस्तक में उन्होंने तार्किक ढंग से, किन्तु अपूर्व निर्भीकता से ब्राह्मण-समाज को चेतावनी दी है और वर्णव्यवस्था की आलोचना की है। इस आलोचना का आधार सदाशयता और देशप्रेम है। वह लिखते हैं—"पुनरुक्ति अच्छी चीज नहीं होती, परन्तु कभी-कभी उससे काम लेना ही पड़ता है। ब्राह्मणों के प्रति कड़वी भाषा का प्रयोग करना मुझे अच्छा नहीं लगता, परन्तु कटुता के डर से धर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता। जो अपने कर्त्तव्य को भूल गया हो उसे उसका स्मरण दिलाना धर्म है। इसीलिए मैं बार-बार उसी राग को अलापता हूं। मुझे वैदिक धर्म के प्रति जो श्रद्धा है और ब्राह्मण के ऊंचे पद के लिए जो स्नेह और आदर है, वह मेरी धृष्टता का मार्जन कर देगा।"[2]

इस प्रकार स्थिति स्पष्ट करने के बाद वह जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं, वह इस प्रकार हैं—"जब नाव भंवर में पड़ जाती है, आंधी के थपेड़े उसको आपदग्रस्त कर देते हैं तो चतुर नाविक ऐसी वस्तुओं को जो भार बढ़ानेवाली होती हैं, पानी में फेंक देता है। हल्की नाव को बचाना सुगम होता है। किनारे पर लगकर ऊपरी सामान का पुनः संग्रह किया जा सकता है। पुरानी की जगह उनसे अच्छी नई चीजें ली जा सकती हैं। जब घर में आग लगती है तो लोग थोड़ी-सी बहुमूल्य वस्तुओं को लेकर बाहर निकल आते हैं, जीवन रहा तो दूसरी चीजें फिर आ जायंगी। आप भी ऐसा ही करें। आज जब धर्म पर चतुर्दिक् से आक्रमण हो रहा है तो सब कुछ नहीं बचाया जा सकता। सब बचाने के उद्योगों में सब जायगा। आप रत्न और कूड़े में विवेक नहीं करते, यह विपत्ति है। कूड़े को, गौण चीजों को, आचार-व्यवहार को, गौण उपासनाओं को छोड़िये, मूल को पकड़िये। यदि आपके वेद रह गये, तो

[1] 'समाजवाद'—पृष्ठ १५१-२

[2] 'ब्राह्मण सावधान !'—पृष्ठ २६

सब कुछ फिर आजायगा। समय को देखकर वेद की नींव पर नये धर्मशास्त्र की, नये आचार-शास्त्र की, नये न्याय की, सृष्टि कीजिये। यह रचना नई होगी, पर इसकी जड़ प्राचीन से प्राचीन, सनातन, होगी। शाखाओं को काट दीजिये। जड़ रहेगी तो नई शाखाएं फिर निकल आयेंगी। युगप्रवर्तक बनिये। समाज के अनार्यजुष्ट, अस्वर्ग्य, अकीर्तिकर क्लैब्य को दूर करके उसमें आर्योचित स्वावलम्बन, धर्मानुप्राणित स्फूर्ति भरिये। आपके कन्धों पर बहुत बड़ा दायित्व है। उसका बोझ आप दूसरों पर नहीं डाल सकते। मैं फिर कहता हूं, नम्रता से परन्तु दृढ़ता से कहता हूं, आप सावधान हों, मोह-निद्रा से उठें। आपके जागने से हिन्दू-समाज का, भारतवर्ष का, समस्त विश्व का, कल्याण होगा।"[1]

ब्राह्मणों से ही उनको चिढ़ हो ऐसी बात नहीं, उनका बौद्धिक दृष्टिकोण उन्हें वहीं आलोचना पर बाध्य करता है, जहां कहीं भी समाज के किसी अंग में उन्हें त्रुटि अथवा निर्बलता दिखाई दे। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के बारे में उन्होंने एक लेख लिखा था, जो उनके गंभीर मनन और चिन्तन का द्योतक है, किन्तु उसकी विशेषता भी बौद्धिक विश्लेषण और स्पष्टवादिता है। संपूर्णानन्दजी स्वयं बुद्धिजीवी रहे हैं, इसलिए उन लोगों से उन्हें सहानुभूति है, किन्तु परिस्थितियोंवश या किन्हीं कारणों से ये लोग जब दूषित चक्र में फंसकर साधारण-से-साधारण बातों की भी अवहेलना करते हैं, तब संपूर्णानन्दजी उन्हें दोषी ठहराते हैं, यद्यपि यह उनका दोष क्षम्य मानते हैं। अपने 'भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की कुण्ठा' में उन्होंने लिखा है—परस्पर-विरोधी धाराओं के थपेड़े खाते-खाते भारतीय बुद्धिजीवी के मस्तिष्क में यदि स्थायी अनिश्चय और निराशा का भाव घर कर जाय तो क्या यह आश्चर्य की बात होगी? अपने आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास को बनाये रखना उसके लिए कठिन हो गया है और इससे उसके भीतर भय का संचार होता है। जैसा पहले कहा गया है, अपनेको विक्षिप्तावस्था से बचाने का एक ही मार्ग उसके पास रह जाता है कि वह वास्तविकता की ओर से मुख मोड़ ले, सोचना बन्द करदे और हर समय किसी-न-किसी प्रकार के कार्य में लगा रहे। समाज ने उसके प्रति न्याय नहीं किया है, यदि यह अनुभव करनेवाला व्यक्ति ऐसे कार्यों से संतोष का अनुभव करता है, जिनमें उसे अपने प्रति किये गए अन्याय के प्रतिकार का भास होता है तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता है। कोई भी जान-बूझकर अपने ही देश को हानि पहुंचाना नहीं चाहता है, परन्तु बुद्धिजीवियों की एक बड़ी संख्या जिस प्रकार सरकारी योजनाओं पर वाद-विवाद करती है, उसे सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन योजनाओं की असफलताओं में उन्हें एक द्वेषजन्य सुख मिलता है, चाहे

[1] 'ब्राह्मण सावधान!'—पृष्ठ ४८

उससे राष्ट्र को बहुत बड़ी हानि की आशंका ही क्यों न हो।

"यह मानसिक अवस्था स्वास्थ्य की द्योतक नहीं है। अवश्य ही सच्चे हृदय की शंका आधे मत से किये गए विश्वास से अच्छी होती है और समाज में अनास्थावादियों के लिए भी स्थान होता है, परन्तु जब सारा-का-सारा राष्ट्र या उसका प्रबुद्ध अंग (दोनों का तात्पर्य एक ही है) निराशावादी हो जाय तो यह चिंता का विषय हो जाता है। राष्ट्र-निर्माण के बड़े-से-बड़े प्रयत्न इस चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जायंगे। 'संशयात्मा विनश्यति' श्रीकृष्ण के इन शब्दों में एक ठोस सत्य निहित है। जिस मनुष्य को निरन्तर शंकाएं घेरे रहती हैं, उसका नाश अवश्यंभावी है।"[१]

लेखक और विचारक के रूप में संपूर्णानन्दजी की प्रतिभा निस्सन्देह बहुमुखी है। विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति आदि गंभीर विषयों पर ही उन्होंने नहीं लिखा, वह लेखन को मनोरंजन का साधन भी मानते हैं और ऐसे समय में उन्होंने जिस साहित्य की रचना की है, वह वास्तव में मनोरंजन का साधन है। 'धर्मवीर गांधी' और 'महाराज छत्रसाल' मनोरंजन के लिए लिखे ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु इनकी शैली कथा-साहित्य के अनुरूप है। इसी प्रकार जीवनियां लिखने की ओर भी वह प्रवृत्त होते रहे। उसी प्रवृत्ति का फल 'हर्षवर्धन' और 'सम्राट अशोक' हैं। उनके अपने संस्मरण भी कम रोचक नहीं। वास्तव में इन फुटकर संस्मरणात्मक लेखों में उनकी भाषा बहुत ही निखरी है। इधर-उधर हास्य के पुट का भी समावेश इनमें किया गया है।[२] जेल-संस्मरण शीर्षक लेख में वह बंदियों की 'तिकड़म्' के बारे में यों लिखते हैं—"जेल में तिकड़म शब्द बहुत चलता है। अब तो बाहर भी प्रयोग में आ चला है। जेल के नियमों के विरुद्ध जो कोई काम किये जाते हैं, वे तिकड़म के प्रसाद से ही होते हैं। राजनीतिक बंदियों में भी अनेक प्रकार के व्यक्ति थे, स्यात् १००० में १ ऐसा भी होगा, जो तिकड़म के सर्वथा विरुद्ध रहा है। शेष थोड़ी या दूर तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तिकड़म का अनुमोदन कर लेते थे। कम-से-कम अखबारों के लिए तो मैं भी तिकड़म का दोषी रहा हूं। संभव है, सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लेने से अपराध का भार कुछ हल्का हो जाय। जिन दिनों हम लोगों को समाचार-पत्र मिलना बंद था, 'लीडर' या 'आज' की एक-एक प्रति के लिए कभी-कभी एक रुपया तक दिया गया है। रुपया भी तिकड़म की ही देन होता था। तिकड़म की एक रोचक कहानी हमारे १९२१ के लखनऊ जेल-जीवन से संबद्ध है। एक दिन जब सुपरि-

[१] 'भारतीय सृष्टि-[illegible]'—पृष्ठ ११-१२

[२] संपूर्णानन्दजी के संस्मरण [illegible] पुस्तकाकार में शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं।

न्टेन्डेन्ट श्री क्लेमेंट्स बारिक में घूमने आये तो श्री रंगा अय्यर सामने दीवार पर श्रीकृष्ण का चित्र लटकाये ध्यानमुद्रा में बैठे थे। ध्यान तो खैर जैसा था वैसा था, परन्तु सुपरिन्टेन्डेन्ट की ओर उन्होंने दृष्टिपात भी न किया। क्लेमेंट्स ने उस चित्र को हटवा दिया। दूसरे दिन जब क्लेमेंट्स आये तो हम सब जितने हिन्दू बन्दी थे, सबके-सब ध्यानमग्न बैठे थे, सबके सामने दीवार पर श्रीकृष्ण का रंगीन चित्र लटक रहा था। क्लेमेंट्स बेचारे क्या करते, चुपचाप चले गए। रात-रात में इतने चित्रों का आ जाना तिकड़म का चमत्कार था।"[1]

संपूर्णानन्द जैसे गंभीर और कुछ रूखे दिखाई देनेवाले व्यक्ति के लिए ऐसी साधारण घटनाओं का सरस वर्णन अपने-आपसे साहित्यिक अभिरुचि का विषय बन जाता है। लेखक के साहित्यिक विकास का परिचय भी इस प्रकार के लेखन से अधिक मिल सकता है। यही इन संस्मरणों का महत्व है और इसी कारण मैंने 'जेल-संमरण' के एक अंश का उद्धरण दिया है।

प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी की जो सेवा संपूर्णानन्दजी ने की है, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना शेष रहता है। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' से लगभग तीस वर्ष से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और इन दोनों प्रमुख हिन्दी-संस्थाओं को संपूर्णानन्दजी का सक्रिय योगदान मिला है। हिन्दी के लिए अनावश्यक विवाद में पड़ने में उनका विश्वास नहीं। वह हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा और इस देश के अधिकांश लोगों की मातृभाषा मानते हैं और इस स्वतःसिद्ध तथ्य को युक्ति अथवा विवाद से ऊपर समझते हैं। उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री के रूप में और बाद में मुख्यमंत्री के रूप में हिन्दी के प्रचार और विकास के लिए उन्होंने उसी तत्परता से कार्य किया है, जिस तरह पहले वह केवल लेखक और नेता के रूप में करते रहे। हिन्दी को वास्तव में संपूर्णानन्दजी से जो ग्रन्थ-निधि मिली है, शायद अन्य किसी नेता से नहीं मिली। इसलिए हिन्दी-भाषा और साहित्य में संपूर्णानन्दजी का योगदान अतुल और महान् है।

[1] 'समाजवाद'—पृष्ठ ३२-३३

अध्याय : १६

विनोबा भावे

(सन् १८९५)

हिन्दी को आचार्य विनोबा भावे की देन आंकते समय सहसा उस समस्त विकास-क्रम का ध्यान आ जाता है, जो आधुनिक हिन्दी की उत्पत्ति का इतिहास है। एक समय था जब सिद्ध लोग, साधु-सन्त और परिव्राजक देशभर में भ्रमण करते थे और उनके परिव्रजन के कारण 'अवहट्ट' अथवा एक देश-व्यापी अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई। आचार्य विनोबा भावे की यात्राएं, उनके दैनिक प्रवचन, उनके सुलझे हुए विचार और सरल हिन्दी में उनके उपदेश, ये सब उसी पुराने क्रम की कड़ियां हैं। स्व० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के शब्दों में—"विनोबा युग-युग की भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। विनोबा इस देश की सनातन परंपरा की एक कड़ी हैं। समर्थ रामदास, ज्ञानदेव, नामदेव,

विनोबा भावे

तुकाराम, एकनाथ, कबीर, तुलसी, नानक, दादू आदि संतों के समान तो वह हैं ही, पर इसके अतिरिक्त वह और कुछ भी हैं—वह प्रतिवादि भयंकर शंकराचार्य आदि आचार्यों की कोटि के भी हैं।... भारतीय संस्कृति, भारतीय विचारधारा, भारतीय तत्वज्ञान, भारतीय साहित्य, ये सब विनोबा में मानो प्रस्फुटित और पल्लवित हो उठे हैं। [illegible] तो उनकी एक-एक बात में मौलिक चिन्तन के दर्शन होते हैं। साधारण-सी बात कहेंगे, पर, लगेगा मानो युग-युग का भारतीय चिन्तन-सामर्थ्य मुखरित हो उठा है—

'प्रतियुग में पुराण बोला है
सब संतों सब शब्दों में
किन्तु वाक्य आधार वही जो
संचित जन-जन शब्दों में'

"हमारे देशवासियों में अभी भी सन्तवाणी और सन्तचरित्र से प्रतिकृत होने की शुभ इच्छा विद्यमान है। जनगणों के हृदय, मन और विचार मरे नहीं हैं। वे केवल

तन्द्रित-से, सुप्त-से हैं। जो कुछ भी सत्, शिव, सुन्दर, उदात्त और श्रेयस्कर है, उसके प्रति भारतीयजनों की आस्था है। यही कारण है कि हमारे देश के अपढ़ किसान सत्, सुन्दर, शिव और उदात्त के प्रतीक विनोबा को देखकर मंत्रमुग्ध-से उनके पीछे हो लेते हैं।"[1]

भाषा के विस्तार और विचारों के प्रसार का, आज के वैज्ञानिक युग में भी, भ्रमण से बढ़कर प्रभावपूर्ण माध्यम दूसरा कोई नहीं, और जब यह यात्रा पैदल की जाती हो और प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों ग्रामवासियों से भेंट होती हो, तो इस बात की सहज ही कल्पना की जा सकती है कि यह माध्यम कितना प्रभावोत्पादक और शक्तिशाली होगा। जो बात सिद्धान्त रूप से नेता लोग कहते आये हैं कि हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती है, विनोबा इस कथन को प्रतिदिन व्यवहार की कसौटी पर कसकर सत्य का रूप देते हैं। देश और काल से मुक्तप्राय यह सन्त केरल में भी निस्संकोच उसी वाणी का प्रयोग करता है, जिसका काश्मीर अथवा पंजाब में। हिमालय से प्रस्फुटित गंगा की धारा जैसे समानरूप से विभिन्न प्रदेशों में प्रवाहित होती है, वैसे ही विनोबा की वाणी देश-प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं का विचार किये बिना बराबर बहती चलती है। हाल ही में जब विनोबाजी ने मध्यप्रदेश के डाकूग्रस्त क्षेत्र में प्रवेश किया, उस अवसर पर उन्होंने इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये। उन्होंने कहा—"मैं गंगा और यमुना पार कर चुका, अब चंबल पार की है। ये नदियां जन-जन के लिए ऐश्वर्य और सुख का संदेश पहुंचानेवाली हैं। मेरी अभिलाषा है कि मेरी यात्रा भी इन नदियों की धारा के समान ही सुखप्रद हो।"[2]

हिन्दी-प्रेमी

मराठी-भाषी विनोबा का हिन्दी से सम्बन्ध उनके सार्वजनिक जीवन से भी अधिक पुराना है। गांधीजी के अनुयायी और गांधी-विचारधारा के कट्टर समर्थक के रूप में उन्हें हिन्दी-प्रेम उसी परम्परा से प्राप्त हुआ। संस्कृत के प्रति उनका अनुराग बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनकी विचारधारा और प्रशिक्षण साहित्य के अनुरूप थे। संस्कृत से अन्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी तक पहुंचने में उन्हें देर नहीं लगी। फिर गांधीजी के निकट संपर्क ने और उनके विचारों के प्रभाव ने विनोबा की नैसर्गिक प्रवृत्तियों को और भी दृढ़ बना दिया। यह बराबर हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानकर अधिकतर उसीमें बोलते और लिखते रहे हैं। देहातों में घूमते-फिरते समय और सत्याग्रह-आन्दोलन के समय कारावास-

[1] 'विनोबा-स्तवन'—पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—पृष्ठ ४

[2] 'भूदानयज्ञ'—२० मई, १९६० से उद्धृत

दंड की अवधि में, विनोबा ने अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रवचन-प्रणाली को अपनाया। उनके पहले क्रमबद्ध प्रवचन गीता पर हुए, जो मूलरूप से मराठी में थे। किन्तु उनका हिन्दी-रूपान्तर मराठी से भी अधिक लोकप्रिय हुआ। सत्याग्रह, असहयोग-आन्दोलन तथा सर्वोदय के संचालन में इसी प्रवचन-प्रणाली का अनुसरण किया गया और इसके फलस्वरूप कई बहुमूल्य संग्रह हिन्दी-पाठकों को मिले। सन् १९३६-३७ से विनोबा के प्रवचनों का एकमात्र माध्यम हिन्दी हो गया, किन्तु हिन्दी के विकास तथा उसके विस्तार में सबसे बड़ा योगदान विनोबा के भूदान-आन्दोलन का है।

पद-यात्रा का महत्व

सन १९५२ से लेकर आजतक विनोबा प्रायः भारत के सभी राज्यों की पद-यात्रा कर चुके हैं। यह पद-यात्रा क्या है, इसके बारे में स्वयं विनोबा के ही विचार सुनिये—

"जब-जब मैंने इस समस्या के बारे में सोचा तब-तब मुझे यही सूझा कि अपने देश में घूमना चाहिए। लेकिन घूमना हो तो कैसे घूमा जाय। मोटर आदि साधन विचार-शोधक नहीं, ये समय-साधक हैं, फासला काट सकते हैं। जहां विचार ढूंढ़ना है, वहां शान्ति का साधन चाहिए। पुराने जमाने में तो ऊंट, घोड़े आदि थे। लोग उपयोग भी करते थे और रातभर में दोसौ मील तक निकल जाते थे, परन्तु शंकराचार्य महावीर, बुद्ध, कबीर, चैतन्य, नामदेव जैसे लोग भारत में घूमे और पैदल ही घूमे। वे चाहते तो घोड़े या ऊंट पर भी घूम सकते थे, परन्तु उन्होंने त्वरित साधन का सहारा नहीं लिया, क्योंकि वे तो विचार का शोधन करना चाहते थे और विचार-शोधन के लिए सबसे उत्तम साधन पैदल घूमना ही है। इस जमाने में यह साधन एकदम सूझता नहीं, परन्तु शांतिपूर्वक विचार करें तो सूझेगा कि पैदल चले बिना चारा नहीं है।"[१] वह कहते हैं—"इस पद-यात्रा में हमें आनन्द मिला है। कभी कोई कष्ट महसूस नहीं हुआ। मनुष्य की आत्मा में केवल आनन्द-ही-आनन्द है। जितना व्यापक आकाश है, उतना ही यह आनन्द व्यापक है। इस पद-यात्रा में असंख्य सत्पुरुषों के दर्शन हुए, अनेक त्यागी सेवकों का सहवास मिला और अनेक मुख्य क्षेत्रों में जाने का सहयोग हुआ और सबसे बड़ी बात आकाश के समान जो विशाल भारतीय हृदय है, सर्वत्र उसका स्पर्श हुआ। इसलिए इस पद-यात्रा को हम आनन्द-यात्रा कहते हैं।"[२]

विनोबा की इस पदयात्रा से मानव-समाज में मानव के स्थान और मानव-

[१] 'त्रिपथगा'—मई, १९५९

[२] 'त्रिपथगा'—मई, १९५९

योग रहा है। सत्याग्रह-आन्दोलन में वह अग्रणी रहे हैं, अस्पृश्यता-निवारण के लिए सदा प्रयत्नशील हैं और गरीब भारत की हर समस्या पर उनका चिन्तन चलता ही रहता है तथा उनके लिए व्यावहारिक उपायों की खोज में वह रहते हैं।

भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान और जीवनदान के सफल कार्यक्रमों से आचार्य विनोबा भावे ने महात्मा गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वामित्व की निरंकुशता से मुक्ति दिलाने का प्रशस्त मार्ग दिखाया गया है। धन और अधिकार की उनकी भूख शुद्ध की जा रही है। भूदान, सम्पत्तिदान और ग्रामदान के माध्यम से विनोबा ने समाज को व्यक्ति से ऊपर प्रतिष्ठित किया है। भूमि को भगवान की अन्य देनों जैसे वायु, जल, प्रकाश आदि की तरह पूर्ण मुक्त बनाया जा रहा है। इसे व्यक्ति के स्वामित्व से ही नहीं वरन सरकारी स्वामित्व से भी स्वतंत्र करने का प्रयास हो रहा है।

भाषा-संबंधी विचार

सर्वोदय तथा भूदान तो विनोबा के सार्वजनिक कार्यक्रम का अंग हैं ही, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भी गहन विचार किया है और अपने विचारों की सरल किन्तु वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है। विनोबा का यह विश्वास ही नहीं वरन दृढ़ धारणा है कि हर प्रकार के ज्ञान का प्रसार निजी भाषा द्वारा ही हो सकता है, अर्थात् ऐसी भाषा जो या तो मातृभाषा हो अथवा घर के और देश के इतिहास, वातावरण और परम्पराओं के अनुरूप हो। शिक्षा के लिए मातृभाषा का विशेष महत्व है। विनोबा कहते हैं —

"शिक्षा-शास्त्री सूक्ष्म विचार करें तो उन्हें स्वयं ध्यान में आ जायगा कि आरंभ से अन्ततक मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम बननी चाहिए। सिर्फ कालेज में यह सुविधा हो कि दूसरी यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर वहां की मातृभाषा में न बोलकर हिन्दी में बोले तो विद्यार्थी उसे समझ जायं। मेरा तो यह मत है कि जिस तरह मानव दो-दो आंखों से देखता है, उसी तरह हर भारतीय को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों आनी चाहिए।"[1]

इस प्रकार मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने और हिन्दी सीखने में विनोबा किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं देखते। शिक्षण में तो क्या, देश के सार्वजनिक जीवन में भी उनकी दृष्टि में अंग्रेजी अथवा किसी भी विदेशी भाषा का स्थान एकदम सीमित है। भारत में अंग्रेजी के उपयोग को वह भारतीय जन तथा भारतीय समाज दोनों के विकास के लिए घातक समझते हैं। 'अंग्रेजी का

[1] '[illegible] मुंशी अभिनन्दन ग्रंथ'—पृष्ठ ८७

ईश्वरीय देन ही है। इससे विनोबा जन-हृदय के जनगण मन के नेता बन गये। स्व० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने विनोबा को, जो 'सतयुग की स्थापना के अर्थ नित्य प्रति चल रहे हैं', अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में अर्पित की है—

"सच मानिये, इस प्रकार वह हमारे हृदय के प्रमाद-आलस्य-निद्रायुक्त कलियुग को, निरुद्देश्य जागरणमय द्वापर को, गतिशून्य, प्रगति-विहीन उत्थापनमय त्रेता को—इन सबको सत् संचारणशील कृतयुग में परिवर्तित कर रहे हैं।"[1]

भूदान का प्रथम उद्देश्य जन-हृदयों का परिवर्तन ही है। जन-जीवन इससे स्वयं परिवर्तित और प्रगतिशील बन जाता है। इसीलिए यह कहना गलत न होगा कि भूदान की प्रगति जनता के अन्तःकरण के परिवर्तन की गति पर निर्भर है। हृदय की विशालता और आत्म-त्याग के प्राचीन आदर्शों से ओतप्रोत भारतीय जनता इस परिवर्तन का उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करती है।

बहुभाषाविद्

विनोबा बहुभाषाविद् हैं। इसी कारण अपनी यात्रा में भारत के जिस कोने में जाते हैं, उन्हें अपने कार्य में या लोगों से संपर्क रखने में कठिनाई नहीं होती। बम्बई राज्य के कोलाबा जिले में उनका जन्म हुआ। अतः मातृभाषा के रूप में मराठी का ज्ञान बचपन से ही मिला। किशोरवय में बड़ौदा में रहने तथा कई वर्षों तक साबरमती-आश्रम में गांधीजी के सान्निध्य में रहने के कारण गुजराती भी उनके लिए मातृभाषा के जैसी ही बन गई। विनोबा का जीवन सदा ही एक विद्यार्थी का जीवन रहा है। अपने सतत अभ्यास से ही उन्होंने दक्षिण भारत की चारों भाषाएं सीख लीं। एक-दो वर्ष पूर्व ही मैंने देखा था कि वह बंगला भी सीख रहे थे। असमी और ओड़िया का ज्ञान भी उन्हें है। इस प्रकार देश की सभी क्षेत्रीय भाषाओं से परिचित होने के कारण उन्हें अपनी पदयात्रा में बड़ी सुगमता होती है। यद्यपि आधुनिक शिक्षा की उपाधियां उनके पास नहीं हैं,[2] लेकिन धर्म और दर्शन तथा भारतीय संस्कृति का उन्होंने विशद अध्ययन किया है। विनोबाजी अंग्रेजी भी बहुत अच्छी जानते हैं, अतः विदेशियों के साथ वार्तालाप में उन्हें कभी असुविधा नहीं हुई। इस तरह विनोबा के विचारों के प्रसार का विस्तार उनके अपने बहुभाषाविद् होने के कारण अबाध बढ़ता जाता है। इसके अतिरिक्त वह गांधीजी के अनन्य भक्त हैं और गांधीजी के सिद्धान्तों, आदर्शों के अनुरूप भारत के चित्र को बदलने के सतत प्रयत्न में लगे हैं। हस्तकला द्वारा शिक्षा-प्रसार में उनका सक्रिय

[1] 'विनोबा-स्तवन'—पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

[2] विनोबा ने एक बार अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर इंटर तक के अपने सब प्रमाण-पत्र अग्नि को समर्पित कर दिये थे।

योग रहा है। सत्याग्रह-आन्दोलन में वह अग्रणी रहे हैं, अस्पृश्यता-निवारण के लिए सदा प्रयत्नशील हैं और गरीब भारत की हर समस्या पर उनका चिन्तन चलता ही रहता है तथा उनके लिए व्यावहारिक उपायों की खोज में वह रहते हैं।

भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान और जीवनदान के सफल कार्यक्रमों से आचार्य विनोबा भावे ने महात्मा गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वामित्व की निरंकुशता से मुक्ति दिलाने का प्रशस्त मार्ग दिखाया गया है। धन और अधिकार की उनकी भूख शुद्ध की जा रही है। भूदान, सम्पत्तिदान और ग्रामदान के माध्यम से विनोबा ने समाज को व्यक्ति से ऊपर प्रतिष्ठित किया है। भूमि को भगवान की अन्य देनों जैसे वायु, जल, प्रकाश आदि की तरह पूर्ण मुक्त बनाया जा रहा है। इसे व्यक्ति के स्वामित्व से ही नहीं वरन सरकारी स्वामित्व से भी स्वतंत्र करने का प्रयास हो रहा है।

भाषा-संबंधी विचार

सर्वोदय तथा भूदान तो विनोबा के सार्वजनिक कार्यक्रम का अंग हैं ही, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भी गहन विचार किया है और अपने विचारों की सरल किन्तु वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है। विनोबा का यह विश्वास ही नहीं वरन दृढ़ धारणा है कि हर प्रकार के ज्ञान का प्रसार निजी भाषा द्वारा ही हो सकता है, अर्थात् ऐसी भाषा जो या तो मातृभाषा हो अथवा घर के और देश के इतिहास, वातावरण और परम्पराओं के अनुरूप हो। शिक्षा के लिए मातृभाषा का विशेष महत्व है। विनोबा कहते हैं —

"शिक्षा-शास्त्री सूक्ष्म विचार करें तो उन्हें स्वयं ध्यान में आ जायगा कि आरंभ से अन्ततक मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम बननी चाहिए। सिर्फ कालेज में यह सुविधा हो कि दूसरी यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर वहां की मातृभाषा में न बोलकर हिन्दी में बोले तो विद्यार्थी उसे समझ जायं। मेरा तो यह मत है कि जिस तरह मानव दो-दो आंखों से देखता है, उसी तरह हर भारतीय को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों आनी चाहिए।"[१]

इस प्रकार मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने और हिन्दी सीखने में विनोबा किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं देखते। शिक्षण में तो क्या, देश के सार्वजनिक जीवन में भी उनकी दृष्टि में अंग्रेजी अथवा किसी भी विदेशी भाषा का स्थान एकदम सीमित है। भारत में अंग्रेजी के उपयोग को वह भारतीय जन तथा भारतीय समाज दोनों के विकास के लिए घातक समझते हैं। 'अंग्रेजी का

१ 'कन्हैयालाल मुंशी अभिनन्दन ग्रंथ'—पृष्ठ ८७

अभिशाप' शीर्षक लेख में विनोबा ने इन विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"अंग्रेजी शिक्षा के दो परिणाम सामने आये। एक तो अंग्रेजी पढ़ने के बाद व्यक्ति अपने काम को करना नीची बात समझने लगा। श्रम करने को लज्जा और अपमान की वस्तु समझने लगा। इससे श्रम करनेवालों का आदर घटा। दूसरे, सारा शिक्षण अंग्रेजी के माध्यम से होने के कारण संस्कृत और इसी तरह की अन्य भारतीय वाङ्मय की भाषाओं का महत्व खत्म होने लगा। अंग्रेजी के कारण नौकरशाही को भी बहुत महत्व मिला। जो अंग्रेजी पढ़े लोग होते थे, उनको ऊंची-ऊंची तनख्वाहें मिलती थीं। इस तरह अंग्रेजी के कारण जीवन, समाज और शासन, तीनों की व्यवस्था भेद-मूलक बन गई।"[1]

अंग्रेजी की सीमित उपादेयता के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार गांधीजी ने सन् १९१६ में प्रकट किये थे। उन्होंने कहा था कि स्कूल में जानेवाले सभी बच्चों के लिए अंग्रेजी पढ़ना समय और बौद्धिक बल का ह्रास करना है। ज्ञानोपार्जन और आवश्यक बातें सीखने के लिए निजी भाषा का माध्यम पर्याप्त और स्वाभाविक है। जापान का उदाहरण देते हुए गांधीजी ने बताया था कि वहां थोड़े-से आदमी ऊंचे प्रकार का अंग्रेजी-ज्ञान लेकर यूरोप के विचारों से जो कुछ लेने योग्य होता है, प्राप्त कर लेते हैं और तब उसे जापानी भाषा में जनता के आगे रख देते हैं और जनता को अंग्रेजी भाषा की जानकारी प्राप्त करने का व्यर्थ का श्रम बच जाता है। उनके विचारानुसार भारत में भी ऐसा ही होना चाहिए, अर्थात् कुछ लोग अंग्रेजी द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त करके वह सभी ज्ञान अन्य भारतीयों को हिन्दी और अन्य भाषाओं में उपलब्ध करायें। अधिकतर लोग व्यावहारिक शिक्षा और चालू धंधे चलाने की क्षमता प्राप्त करने के लिए शिक्षा का आश्रय लेते हैं। अंग्रेजी का पठन-पाठन एक नये बहाव में ले जाकर लड़कों को पुराने धंधों की ओर से उदासीन बना देता है। अंग्रेजी शिक्षा के विषय में विनोबा के विचार भी इसी प्रकार के हैं। वह लिखते हैं—

"मैंने अंग्रेजी का यह जो वर्णन किया है, वह अतिरंजित नहीं है, बल्कि इससे भी अधिक उसका विश्लेषण किया जा सकता है। अंग्रेजी पढ़े लोगों का एक अलग वर्ग आज भी साफ दिखाई देता है। आज जो बेकारी की समस्या है, उसका भी एक कारण अंग्रेजी की शिक्षा है। आज का युवक अंग्रेजी पढ़ लेने के बाद सिवाय नौकरी के और कोई काम नहीं करना चाहता। जो भाषा हमारे मन में नौकरी की वृत्ति पैदा करती है, जिसके पढ़ने से श्रम, उत्पादन और खेती से नफरत

[1] 'राष्ट्रभाषा-दर्शन'—मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की मुख पत्रिका, १४ सितंबर, १९५९—पृष्ठ ५४

पैदा होती है, उस भाषा से स्वराज्य के बाद भी लोगों को इतना मोह क्यों है, यह बिल्कुल समझ में नहीं आता।"[1]

राष्ट्रभाषा का प्रश्न विनोबा के लिए न पेचीदा है और न विषम। वह समझते हैं कि सारी बात सीधी-सादी है। एक प्रवचन में राष्ट्र-भाषा पर बोलते हुए उन्होंने कहा है—

"प्राचीन काल से 'आ सिंधोः आ पराधतः', यानी समुद्रतट से लेकर हिमालय की गुफा तक हमने भरत-खंड एक माना है। उस वक्त भी प्रांतों में कई जबानें चलती थीं, और एक राष्ट्र-भाषा की जरूरत पड़ी थी। यह काम संस्कृत ने किया। संस्कृत का अर्थ है, संस्कार-प्रचार की भाषा, और प्राकृत यानी प्रकृति की भाषा, जो आम लोगों में बोली जाती है। राष्ट्र-भाषा के ख्याल से ही शंकराचार्य ने अपने ग्रंथ संस्कृत में लिखे। अगर मलयालम में लिखते तो आस-पास के लोगों की शायद वह अधिक सेवा कर लेते, लेकिन उनको हिन्दुस्तानभर में विचार-क्रांति करनी थी, सारे हिंदुस्तान में प्रचार करना था, इसलिए उन्होंने सुबोध पद्धति से संस्कृत में ही लिखा।"[2]

संस्कृत-प्रेमी होते हुए भी इस भाषा का हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन में क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में विनोबा को कोई भ्रम नहीं है। वह लिखते हैं—

"आज राष्ट्र-भाषा के तौर पर संस्कृत नहीं चलेगी। फिर दूसरी कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है? आखिर यही तय पाया कि हिंदुस्तानी हो राष्ट्र-भाषा हो सकती है, क्योंकि पंद्रह-बीस करोड़ लोग उस भाषा को जानते हैं। बंगाली लोग अगर पूछें कि बंगला क्यों राष्ट्रभाषा न हो? क्या उनमें साहित्य की कमी है? मैं कहूंगा, बंगला में तो हिंदुस्तानी से बढ़कर साहित्य है। फिर भी वह राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। उसका एक ही कारण है कि वह भाषा अधिक लोग नहीं जानते। हिंदुस्तानी को गांधीजी ने राष्ट्रभाषा बनाया हो, ऐसी बात नहीं है। जो फकीर और साधु हिंदुस्तान भर में घूमते थे, वे हिंदुस्तानी ही बोलते थे। इस तरह वह सहज ही राष्ट्रभाषा हो चुकी है। उसीको हमने मान्यता दी है।"[3]

इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचारों को सूत्ररूप से इतने स्पष्ट शब्दों में रखा है कि उन्हें राष्ट्रभाषा की समस्या की विस्तृत व्याख्या करने की आवश्यकता कभी महसूस नहीं हुई। फिर उनकी जो धारणा है, उसके व्यावहारिक रूप के वह प्रतिदिन दर्शन करते हैं और औरों को कराते हैं। बात यह है कि राष्ट्रभाषा

[1] 'राष्ट्रभाषा दर्शन'—१४ सितम्बर, १९५९—पृष्ठ ५६,
[2] 'शांति-यात्रा'—पृष्ठ ४७-४८
[3] 'शांति-यात्रा'—पृष्ठ ४७-४८

केवल उच्च साहित्य की ही वाहन नहीं हो सकती; उसमें अन्य गुणों का समावेश भी उतना ही आवश्यक है जितना साहित्यिक अभिव्यक्ति का। हम जानते हैं कि जीवन में साहित्य का स्थान बहुत ऊंचा है, किन्तु कोई समझदार व्यक्ति साहित्य को ही जीवन की एकमात्र आवश्यकता नहीं मान लेगा। इसलिए राष्ट्रभाषा वही भाषा हो सकती है, जो जीवन की दूसरी समस्याओं को दीपक दिखा सके और यह तभी संभव होगा जब राष्ट्र विशेष के अधिकतम लोग उसे समझने और उसका उपयोग करने की क्षमता रखते हों। यही कारण है कि किसी भी सार्वजनिक कार्य-क्रम से औपचारिक सम्बन्ध का विनोबा की दृष्टि में विशेष महत्व नहीं, फिर भी वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा से उनका प्रत्यक्ष लगाव रहा है। हिन्दी-प्रचार और अन्य रचनात्मक कार्यों में उनके लिए कोई भेद नहीं। वास्तव में इन दोनों का आपसी सम्बन्ध बहुत गहरा है। उनका विचार है कि हिन्दी अथवा राष्ट्रभाषा सभी प्रकार के रचनात्मक कार्यों के संचालन का स्वाभाविक माध्यम है। इसलिए हिन्दी-कार्य सभी कार्यों का एक आवश्यक अंग बन जाता है।

विनोबा का हिन्दी की प्रगति में योगदान आंकना असंगत-सा लगता है, क्योंकि हिन्दी गत तीस वर्षों से उनके सार्वजनिक जीवन, उनके राष्ट्रीय विचारों और उनकी कामल भावनाओं की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन रही है। राष्ट्र-भाषा के विस्तार पर संभवतः अब वह विचार ही नहीं करते, क्योंकि चिरकाल से यह उनके चिन्तन तथा उनकी कार्य-प्रणाली का एक अविभाज्य अंग रह चुका है। यदि फिर भी उनके योगदान का मापतोल आवश्यक समझा जाय तो यही कहना होगा कि विनोबा को, जहांतक हिन्दी का प्रश्न है, महात्मा गांधी का व्यवहार-पक्ष कहा जा सकता है। गांधीजी ने सैद्धान्तिक रूप से और कुछ व्यवहार में भी हिन्दी को आगे बढ़ाया, किन्तु विनोबा ने हिन्दी के औचित्य तथा उपादेयता के सम्बन्ध में बात करने की अपेक्षा उसे निजी व्यवहार से वास्तविकता तथा एक ठोस अकाट्य तथ्य का रूप दे दिया।

भाषा-शैली

विनोबा के विलक्षण विचार और उनकी मौलिक सूझ ने एक नवीन शैली को जन्म दिया है। उनकी भाषा-शैली सूत्रमय होते हुए भी सरल है। उनकी भाषा पर प्राचीन परंपरागत संतों की वाणी का प्रभाव है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए और विचारों को श्रोताओं के लिए सुग्राह्य बनाने के लिए वह दृष्टान्त का सहारा लेते हैं। उनके ये दृष्टान्त भी दैनिक जीवन और दैनिक चिन्तन की परिधि से बाहर नहीं होते। इन दृष्टान्तों से जहां अभिव्यक्ति गतिमय होती है, वहां उनमें मनोरंजन का पुट भी आ जाता है। दृष्टान्त की सरलता वक्ता अथवा लेखक

को श्रोताओं अथवा पाठकों के अधिक निकट ले आती है, जिससे विचारों को हृदयंगम करने में आसानी होती है। इसका एक उदाहरण देखिये—

"इस तरह साहित्यकारों को लोक-हृदय के अनुकूल परिपूर्ण शब्द प्रकट करने की कुशलता साधनी चाहिए, अर्थात् सम्यक्, मधुर और कुशल, तीनों तरह की वाणी बोलना, जिसमें न्यून, अतिरिक्त और विपरीत भाव न हों, एक महान साधना है, जो उसीको सधती है, जिसे अपना निज का कोई विकार न हो। जो निज का विकार रखता हो, वह इस तरह की सम्यक् वाणी नहीं प्रकट कर सकता। थर्मामीटर को खुद का बुखार नहीं होता, इसलिए वह दूसरों का बुखार नाप सकता है। जिसको खुद का बुखार होता है, वह दूसरे का बुखार नहीं नाप सकता। इसी तरह जिसे खुद का कोई विकार न हो, वही दूसरों के लिए सम्यक् वाणी दे सकता है। जिसको खुद का विकार हो, वह निर्विकार विचार दे नहीं सकता।"[1]

विनोबा का शब्द-भंडार बहुत विस्तृत है, जिसका कारण उनका पांडित्य और बहुभाषा-विज्ञता है। एक और आधारभूत बात यह है कि विनोबाजी शब्द-विन्यास अथवा भाषा के कलेवर की अपेक्षा विचारों के संचार को कहीं अधिक महत्व देते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे वह मानवमात्र में भेदभाव नहीं करते, वैसे ही व्युत्पत्ति अथवा परिवार के आधार पर शब्दों में भी भेदभाव के वह कायल नहीं। उनकी वाणी तथा भाषा में एक स्वच्छन्दता है और है एक उन्मुक्त निर्लिप्तता, जो पाठक को बरबस कबीर की वाणी की याद दिलाती है।

विनोबा के विचारों की मौलिकता उनके साहित्य को जीवन की वास्तविकताओं के दृढ़ आधार पर निर्माण करने को बाध्य करती है। साहित्य की प्रेरणा का स्रोत उनके लिए पूर्ण विरक्ति अथवा भीतरी लगन है। इसके सामने और सब बातें गौण हैं। विनोबा कबीर को सर्वांग साहित्यिक मानते हैं। उन्होंने लिखा है—

"कबीर बुनकर न होता तो कबीर नहीं बनता। उस जमाने में छापाखाने नहीं थे, फिर भी उसके बिना ही कबीर के काव्य का प्रचार हुआ। वह जनता के उद्योग के साथ एकरूप था, इसलिए जनता के सुख-दुःख को वह समझता था। जनता के हृदय के साथ भी वह एकरूप था। इसलिए मैं मानता हूं कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग करनेवाला हो सकता है। फकीर भी हो सकता है, जो जनता पर निर्भर रहे। ऐसे फकीरों को तो खाना मिले तो भी स्फूर्ति होती है और न मिले तो भी। खाना न मिलने पर हृदय में जो दुःख या करुणा पैदा होती है, वह भी काव्य की प्रेरक बनती है। इस तरह साहित्यिक को पूर्ण विरक्त या सृष्टि

[1] 'साहित्यिकों से'—'साहित्यकारों की साधना का पथ' शीर्षक लेख से—पृष्ठ ८

का उपासक-भक्त, दोनों में से एक बनना चाहिए।"[1]

इस तरह विनोबा सच्चे अर्थों में ऊंचे साहित्यकार हैं। उनका जीवन स्वयं एक काव्य है, जो उनकी वाणी से मुखरित हुआ है। उनकी वाणी में वही सरलता है, जो हमें रामकृष्ण परमहंस और गांधी-वचनामृत में मिलती है—वही सरलता, वही गहनता, वही पैठ, वही अनुभूति। भाषा भी तो दो प्रकार की होती है न? कबीर एक स्थान पर कहते हैं—"तू कहता कागद लेखी, मैं कहता आंखिन देखी।" सो सन्त विनोबा 'आंखिन देखी' कहते हैं। वह 'कागद लेखी' नहीं कहते। उनका पुस्तक-पांडित्य निस्सन्देह अगाध है। पर वह जो कुछ कहते हैं, वह अनुभूत तत्व होता है, केवल पोथी-ज्ञान नहीं।

विनोबा के विचारों का विकास फूलों की तरह और प्रकाश किरणों की तरह होता है। वह स्वयं भी यही मानते हैं कि "फूल जिस स्वाभाविकता से फूलता है उसी स्वाभाविकता से विचारों का भी विकास होना चाहिए।" तथा "अच्छे विचार किरणों के समान होते हैं। किरणें सुस्त नहीं बैठतीं। बाहर जाना, फैलना, उनका सहज स्वभाव है।" संत विनोबा के जीवन-विचारों में भी इन फूलों का-सा पराग और किरणों की-सी नूतन आभा है और इसीलिए उनकी वाहिनी वाणी का संदेश भी सनातन अभिनव संदेश है।

विनोबा के विचारों से हिन्दी-साहित्य सुवासित हुआ है। हिन्दी का साहित्याकाश विनोबा-साहित्य से चमका है। विनोबा-वाणी से हिन्दी की अभिनव-श्री सुन्दर और समृद्ध बनी है। अनेक पुस्तक-रत्न उसे संत विनोबा से भेंट मिले हैं।[2]

राष्ट्रीय, बल्कि यह कहना चाहिए कि सम्यक् दृष्टि से, विनोबा के विचार और उनकी वाणी का अत्यधिक महत्व है, किन्तु हमारे लिए उसका विशेष महत्व इसलिए भी है कि इसका व्यक्त रूप तथा एकमात्र माध्यम हिन्दी है। सूक्ष्म दृष्टि

---

१ 'साहित्यिकों से'—अंतिम पृष्ठ

२ आचार्य विनोबा द्वारा लिखित पुस्तकें—
१. गीता प्रवचन २. ईशावास्य-वृत्ति ३. ईशावास्योपनिषद ४. स्थितप्रज्ञ-दर्शन ५. उपनिषदों का अध्ययन ६. विनोबा के विचार ७. शांतियात्रा ८. गांधीजी को श्रद्धांजलि ९. सर्वोदय-विचार १०. जीवन और शिक्षण ११. शिक्षण-विचार १२. आत्मज्ञान और विज्ञान १३. साहित्यिकों से १४. भूदान-गंगा १५. शांति-सेना १६. सर्वोदय-दर्शन १७. त्रिवेणी १८. हिंसा का मुकाबला १९. कार्यकर्ता वर्ग २०. भूदान-यज्ञ २१. गांव-गांव में स्वराज्य २२. भगवान के दरबार में २३. सर्वोदय का घोषणापत्र २४. जमाने की मांग २५. राजघाट की संनिधि में २६. गांव सुखी हम सुखी २७. स्वराज्य-शास्त्र २८. सर्वोदय-यात्रा।

से देखा जाय तो विनोबा की विचारधारा, उनका कार्यक्रम तथा उसमें हिन्दी का स्थान, हमारी उन सभी पूर्व-धारणाओं को, जिन्हें लेकर हम चले हैं पूर्ण रूप से प्रमाणित करते हैं। सर्वोदय और भूदान-आन्दोलन एक विशुद्ध सार्वजनिक जागरण है। इसके नेता किसी प्रदेश विशेष से ही सम्बन्ध न रखकर देशभर में भ्रमण करते हैं। उनका सम्पर्क सच्चे अर्थों में जनता-जनार्दन से रहता है। जब ऐसे आन्दोलनों का नेता निजी अनुभव के बल पर और व्यावहारिकता के तर्क से राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का उपयोग करता है तो उसके दृष्टिकोण की उपेक्षा करना संभव नहीं। सर्वोदय-विचारधारा का आधार एक समग्र नीति है, किन्तु राष्ट्रभाषा के लिए यह एक अनूठा परीक्षण है। बहुभाषाविद् विनोबा, जो भाषाओं के तथा व्यापकता के पारखी हैं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा तभी कहते हैं जब वह उसे देश के अधिकांश भाग में प्रचलित पाते हैं और वह हिन्दी का निरन्तर उपयोग इसलिए करते हैं, क्योंकि वह इसमें जनजीवन की अविरल धारा को प्रवाहित होता देखते हैं। रमते योगी की तरह जन-जन की वाणी में हिन्दी का साक्षात्कार करते हैं और स्वयं हिन्दी द्वारा अपने विचारों को संचरित करते हैं।

अध्याय : १७

कुछ अन्य नेता-साहित्यकार

उन्नीसवीं शती के मध्य से ही किस प्रकार विभिन्न जन-आन्दोलनों के कारण हमारे नेताओं का ध्यान हिन्दी के महत्त्व की ओर आकृष्ट हुआ, इसका अवलोकन हम कर चुके हैं। किसी भी आन्दोलन को सार्वदेशिक रूप देने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले नेता अथवा दल को प्रचार के माध्यम के रूप में हिन्दी को अपनाना पड़ा। अनेक बाधाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी इस ठोस आधार पर ही हिन्दी के साहित्य का भवन खड़ा किया जा सका। हमने यह भी देखा कि आधुनिक युग में, बीसवीं शताब्दी में, गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलन ने हिन्दी को केवल साहित्यिक परिधि से निकालकर उसे राष्ट्रीय प्रश्न बना दिया। सभी जगह परिस्थितियां अनुकूल होती दिखाई देने लगीं। इस दिशा में सबसे अधिक ठोस कार्य सन् १९२० से १९५७ तक की अवधि में हुआ, जिसे हम *असहयोग-आन्दोलन का समय और स्वाधीनता की प्रथम झलक* कह सकते हैं। इस अवधि में विभिन्न प्रदेशों के नेताओं और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने हिन्दी को लोकप्रिय बनाने और इसके साहित्य को समृद्ध करने में जो योग दिया, वह इस शोध-प्रबन्ध का केन्द्र-बिन्दु माना जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि संक्षेप में हम इस अवधि की गतिविधियों का विवरण दें।

यद्यपि भारतीय जीवन पर धर्म का प्रभाव बराबर रहा, किन्तु साहित्य-निर्माण को प्रमुख प्रेरणा-शक्ति इस काल में राष्ट्रीयता की भावना से मिली, जो विदेशी शासन से मुक्त होने की उत्कट इच्छा के रूप में प्रकट हुई। इस युग के कतिपय प्रमुख नेताओं के सम्बन्ध में हम पृथक-पृथक प्रकरणों में लिख चुके हैं, किन्तु बहुत-से साहित्यिकों के कार्य तथा कृतियों की चर्चा करनी अभी शेष है।

शिवप्रसाद गुप्त

उत्तर प्रदेश हिन्दी-भाषी राज्य है, हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास में उसका सर्वाधिक योग रहना स्वाभाविक है। असहयोग-आन्दोलन आरंभ होने के समय इस राज्य के कतिपय नेताओं ने हिन्दी को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान दिया। इन नेताओं में सबसे पहला नाम वाराणसी के शिवप्रसाद गुप्त का आता है। कांग्रेस में पदार्पण करते ही गांधीजी से इनका परिचय हुआ और गुप्तजी उनके प्रभाव में आये। बाबू शिवप्रसाद हिन्दी के भक्त थे और अपनी

राजनीतिक मान्यताओं के अनुसार उन्होंने हिन्दी को उन्नत करने में अपने प्रचुर भौतिक साधनों का भरपूर उपयोग किया। कांग्रेस की अनुकूल नीति तथा समर्थन के हेतु उन्होंने सन् १९२० में दैनिक 'आज' की स्थापना की। इसके साथ ही हिन्दी लेखकों के प्रोत्साहनार्थ और साहित्य की अभिवृद्धि के हेतु उन्होंने 'ज्ञानमण्डल' नाम की प्रकाशन-संस्था को जन्म दिया। वास्तव में 'आज' का प्रकाशन भी इसी संस्था के तत्वावधान में प्रारम्भ हुआ। 'आज' शीघ्र ही उत्तर प्रदेश और बिहार में सार्वजनिक कार्यकर्ताओं, विशेषकर कांग्रेसजनों का, प्रमुख प्रवक्ता माना जाने लगा। समाचार-प्रसार और जनमत-निर्माण के अतिरिक्त, 'आज' ने हिन्दी पत्र-कारिता के स्तर को ऊंचा करने में भी कम योग नहीं दिया। बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे प्रकाण्ड पंडित और अनुभवी पत्रकार ने इस पत्र का सम्पादन किया। अपनी भाषा और निर्भीक राष्ट्रीय नीति के प्रतिपादन के कारण 'आज' की गणना गत तीस वर्षों से प्रमुख हिन्दी दैनिकों में रही है। इसी प्रकार 'ज्ञानमण्डल' का स्थान भी, इसके शोध-कार्य तथा उत्तम राष्ट्रीय प्रकाशन के कारण हिन्दी-सेवी संस्थाओं में बहुत ऊंचा है। सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे साहित्यिकों और जननायकों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त रहा है।

शिवप्रसाद गुप्त

हिन्दी को शिवप्रसाद गुप्त की एक और बड़ी देन है। जब गांधीजी ने अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की आवाज उठाई और स्वदेशी शिक्षा पर बल दिया, उस समय शिवप्रसादजी के प्रयास और साधनों से ही काशी में विद्यापीठ की स्थापना हुई। इस संस्था ने हिन्दी के विस्तार के लिए कितना काम किया है और कितने अधिक नेता और प्रशासक देश को दिये हैं, इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। गुप्तजी द्वारा स्थापित यह संस्था आज भी जीवित ही नहीं, वरन उसी उत्साह से चल रही है और हिन्दी के माध्यम से उच्चतम शिक्षा दे रही है।

यह सब शिवप्रसाद गुप्त के हिन्दी-प्रेम का द्योतक है। वह स्वयं भी हिन्दी के उच्च कोटि के लेखक थे। उनकी भाषा प्रांजल और सौष्ठवपूर्ण है। 'आज' में वर्षों तक उनके फुटकर लेख राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों पर छपते रहे। उनकी 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' का हिन्दी के यात्रा-साहित्य में ऊंचा स्थान है। यूरोप का

भ्रमण करने के उपरान्त उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा, जो अपनी सुन्दर भाषा और आकर्षक वर्णन-शैली के लिए प्रसिद्ध है।

डा० भगवानदास

दूसरे व्यक्ति, जो कांग्रेस-नेताओं और हिन्दी-प्रेमियों की पंक्ति में शिवप्रसादजी के समान ही अग्रणी माने जाते हैं, वह हैं डा. भगवानदास। इनका निवास-स्थान भी काशी था। जहां शिवप्रसादजी ने संस्थाओं को जन्म दिया और उनके द्वारा हिन्दी को ऊपर उभारा, भगवानदासजी ने निजी विद्वत्ता और असाधारण पांडित्य से उसके साहित्य को समृद्ध किया। इनके अध्ययन और लेखन की परिधि इतनी व्यापक थी कि कई विषयों पर इनके ग्रन्थ हिन्दी में उन विषयों की सर्वप्रथम रचनाएं थीं। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, वैदिकत या पौराणिक वाङ्मय पर इनके ग्रन्थ इतने सारगर्भित हैं कि उनके द्वारा साहित्य की ही सेवा नहीं हुई, बलिक मौलिक चिन्तन का स्तर भी ऊंचा हुआ।

डा० भगवानदास

डा. भगवानदास का आरम्भ से ही थियोसोफिकल सोसाइटी से सम्बन्ध रहा और श्रीमती एनी बेसेंट के वर्षों तक वह निजी सचिव रहे। इस सोसाइटी के सिद्धान्तों में, जिनका मूलाधार समन्वयवाद है, उनकी गहरी आस्था हो गई। अपने 'समन्वय' नामक ग्रन्थ में उन्होंने अपने मनन और चिन्तन का परिचय दिया है और मानव-स्वभाव से लेकर सृष्टि के जड़-चेतन तथा अन्य पदार्थों में और मानव-जाति के रीति-रिवाजों में प्राचीन ग्रन्थों और शास्त्रों की सहायता से, समन्वय-भावना को खोज निकाला है। भगवानदासजी सारे विश्व में समन्वय देखते है और इस भावना को सभी पदार्थों तथा प्राणियों में व्याप्त समझते हैं। उदाहरणार्थ, 'स्त्री-पुरुष-समता-विषमता' शीर्षक प्रकरण में वह लिखते हैं—

"पश्चिम के शिष्टतम और स्वच्छतम समाज में भी यही प्रथा है कि जहां कहीं जाने-आने में किसी प्रकार के तिरस्कार, अपमान, या शरीर-क्लेश का भय हो, वहां, स्त्रियों के साथ, उनकी रक्षा करने के लिए, रिश्तेदार, संगी, या जाने-पहचाने विश्वास-पात्र पुरुष जाते हैं। हां, सब उत्सर्गों के लिए अपवाद होते हैं। जो विशेष स्त्रियां ऐसी हों कि अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हों, उनके लिए यह श्लोक

नहीं है। पश्चिम में यदि कोई-कोई स्त्रियां सिंह का शिकार, उत्तम बंदूक आदि की सामग्री के बल से, कर लेती है, तो भारतवर्ष में भी प्रायः जंगलों में अथवा जंगलों के आस-पास रहनेवाली जातियों में, ऐसी स्त्रियां भी अवसर पाई जाती हैं, जो वन्य पशुओं का सामना, और उनसे अपनी और अपने बालकों की रक्षा, बहुत साधारण हथियारों के बल से कर लेती हैं। ऐसी स्वयं-रक्षित स्वतंत्र स्त्रियों के भाव का अभाव भारतवर्ष के साहित्य और इतिहास में नहीं है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण, पुराणों की सिंहवाहना दुर्गा के रूपक से, तथा राजपूताने के इतिहास से, सिद्ध है। कितने ही अवसरों पर, राजपूत वीरांगनाओं ने सेनानी का कार्य किया है, इन्दौर की महारानी अहल्याबाई के रामराज्य की, अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने, मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, सन् १८५७ के सिपाही-युद्ध में, झांसी की रानी, महारानी लक्ष्मीदेवी ने, स्वयं घोड़े पर सवार होकर, तलवार और भाला लेकर, अंग्रेजी फौज से युद्ध किया, और वीरगति पाई। स्वयं-रक्षितता का तो कहना ही क्या है, जगद्रक्षकता का काम दुर्गादेवी को सुपुर्द, सौंपा, है। महिषासुर और शुंभ-निशुंभादि के वध का जो काम देवों से नहीं बना, वह देवियों ने किया। अपने बालकों की रक्षा के लिए मनुष्य जाति की कोमलतम स्त्रियां भी सिंही हो जाती हैं। अन्यथा, स्त्री का साधारण स्वभाव ही है कि रक्षा चाहती है, रक्षक का आश्रय लेना चाहती है, ("सीक्स प्रोटेक्शन")। यह, पश्चिम के स्त्री-पुरुष-स्वभाव के तत्व के गवेषक वैज्ञानिकों ने भी निश्चय किया है।"[1]

समन्वय प्राप्त करने के मुख्य उपाय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है —

"विचार के विषय में, यह प्रसिद्ध है कि, सब प्रकार के आस्तिक दर्शन और सब प्रकार के नास्तिक दर्शन इस वेद-वेदांग-वेदो-पांग-वेदांत-रूपी ज्ञानसागर में भरे हैं। जब यह सिद्धांत है कि सर्वव्यापक परमात्मा की, परमेश्वर की, चेतना में, उसी की इच्छा से, सबकुछ है, तो इन विविध विचारों को भी उसीने जगत् में स्थान दिया है, यह भी निश्चयेन होगा।"[2]

भगवानदासजी जीवनभर विद्यार्थी, अनुसंधान-कर्ता और लेखक रहे, परन्तु फिर भी वह राजनीति से पृथक नहीं रह सके। कांग्रेस-आन्दोलन के समर्थक होने के नाते उन्होंने असहयोग-कार्यक्रम में सक्रिय भाग लिया। कई वर्ष तक वह कांग्रेस के टिकट पर केन्द्रीय विधान-परिषद के सदस्य रहे। हिन्दी के प्रति उनका विशेष अनुराग होने के कारण, सभी साहित्यिक संस्थाएं उनके सहयोग के लिए लालायित रहती थीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और अ० भा० हिन्दी साहित्य

१. 'समन्वय'—पृष्ठ १२४-५
२. 'समन्वय'—पृष्ठ ७०

सम्मेलन से स्वभावतः उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वह सन् १९२० में सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति भी रहे। 'भारतीय हरिजन महासम्मेलन' और 'भारतीय संस्कृति सम्मेलन' के अध्यक्ष-पद से दिये गए उनके भाषण अपूर्व हैं। वह दोनों पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। जिस किसी विषय पर वह बोलते या लिखते थे, उस विषय में फिर दूसरे के लिए कुछ शेष नहीं रहने देते थे। लिखते-बोलते समय एक ही शब्द के अनेक पर्याय कहते, एक ही वाक्य को विविध प्रकार से अभिव्यक्त करते और एक ही बात की पुष्टि में अनेक प्रमाण संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य से देते चलते थे। जैसे, मानवधर्म के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा है —

"एक परमात्मा में सब भूतों को प्रतिष्ठित, तथा सब भूतों का उसी एक से विस्तार, जब मनुष्य पहचान लेता है, तभी उसका ब्रह्म, वेद, ज्ञान सम्पन्न होता है, और वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। पश्चिम के शब्दों में पहले अंश को "मैटा फिजिक" और दूसरे को साइंस कहते हैं। पर दोनों ही साइंस कहे जायं तो भी उचित है।"...[1]

इस प्रकार पाश्चात्य विचारों के संदर्भ के बिना वह किसी विचार का स्पष्टीकरण नहीं करते। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विषयों पर भगवानदासजी जो कुछ लिख देते थे, उसपर उन क्षेत्रों के नेताओं का तो ध्यान आकृष्ट होता ही था, उन विषयों का सुलझा हुआ निदान भी सुलभ हो जाता था। शास्त्रीय विवेचनों से भरे उनके लेख और भाषण भी बड़े सुबोध होते थे। 'जन्मना-कर्मणा-ब्राह्मण'—विषय पर 'आज' में उन्होंने वर्णाश्रमधर्म-सम्बन्धी कई लेख लिखे थे, जो बड़े-बड़े पंडितों को भी चकित करनेवाले थे। अंग्रेजी में तो उनका दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है, हिन्दी में भी 'दर्शन का प्रयोजन' अपने ढंग का अकेला ही है। 'समन्वय' उनकी सबसे प्रथम हिन्दी-कृति है।

डा. भगवानदास की शैली विचार-प्रधान है और उनके विचारों का सहज प्रवाह दार्शनिकता की ओर है। उनकी रचनाओं के कारण हिन्दी का क्षेत्र अधिक व्यापक हुआ है और दार्शनिक तथा तात्त्विक विषयों के चिन्तन तथा विवेचन की क्षमता भाषा को मिली है।

श्रीप्रकाश

डा. भगवानदासजी के सुपुत्र, श्रीप्रकाशजी आजकल महाराष्ट्र के राज्यपाल और भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री तथा भारत के पाकिस्तान में उच्चायुक्त, भी सार्वजनिक कार्य के साथ हिन्दी-साहित्य की सेवा में बराबर दिलचस्पी लेते रहे हैं। वह हिन्दी के अच्छे लेखक हैं और इनकी चार हिन्दी पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं।

1. समन्वय—पृष्ठ ११३

ये हैं—(१) 'भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार', (२) 'गृहस्थगीता', (३) 'हमारी आन्तरिक गाथा' और (४) 'नागरिक शास्त्र'। इनकी शैली की विशेषता सरलता और भावों की सहज गति है। अंग्रेजी का प्रभाव इनके वाक्य-विन्यास और विचारधारा पर एकदम स्पष्ट है। विचारों की अभिव्यक्ति इनका सर्वप्रथम ध्येय होता है, शब्दों का चयन और परम्परा का निभाव इनके लिए गौण है। इनकी कसौटी व्यावहारिकता है, अर्थात् भाषा का वही रूप वह सर्वोत्तम मानते हैं, जिसे अधिक-से-अधिक लोग समझ सकें और जिसके द्वारा बाह्य-जगत के वर्णन के साथ-साथ मनुष्य की भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त किया जा सके। शिक्षा पर एक लेख में उन्होंने लिखा है—

श्रीप्रकाश

"शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक विद्वान ने कहा है कि हमें इसके द्वारा अपनी आन्तरिक शक्तियों को व्यक्त करने का साधन मिलता है। दूसरे ने कहा है कि इसके द्वारा हम अपनेको अपने लिए, अपने कुटुम्ब के लिए और अपने समाज के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बना सकते हैं। शिक्षा का मामला कोई छोटा मामला नहीं है। एक शिक्षक ने तो यहांतक कह डाला है कि मुझे आप यह बतला दीजिये कि आप किस प्रकार की सभ्यता का निर्माण करना चाहते हैं और मैं आपको बतला दूंगा कि आपको किस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। आज की जो शिक्षा है, उसीके अनुसार कल का समाज बनेगा। इन सभी विद्वानों की बातें उपयुक्त हैं। हमें अपनी निहित शक्तियों का विकास करना है और ऐसा करने के लिए हमें शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है, जिससे हम अपने-आपको समझ सकें और संसार में अपना स्थान निर्धारित कर सकें। हमें अपनेको उपयोगी सिद्ध करना है, जिससे हम स्वयं ही अपना जीवन निरर्थक न समझें, जिससे हमारे कुटुम्बीजन भी हमसे प्रसन्न रहें, जिससे हम समाज के उपयोगी अंग बन सकें और सब मिलकर संसार की विचार-शैली और कार्यप्रणाली को वह रूप दे सकें, जिसकी हम अभिलाषा रखते हैं।"[१]

इसी विचारधारा का परिचय हमें उनके 'नागरिक शास्त्र' से मिलता है।

[१] 'त्रिपथगा', जनवरी, १९५६

'भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार'-में सांस्कृतिक विषयों को लेकर उनका विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया है। 'जन्मना वर्ण की दुर्दशा' के शीर्षक से वह वर्णव्यवस्था के बारे में कहते हैं—

"हमारे मन में इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि विवाह और भोजन के सम्बन्ध में वर्ण की कोई भी कैद नहीं थी। यदि होती तो अवश्य ही पुरानी कथाओं में इसकी चर्चा रहती। दशरथ के यज्ञ के समय के बड़े भोजों का भी जो वर्णन वाल्मीकि की रामायण में मिलता है, उसमें वर्ण-भेद का कोई संकेत नहीं है। भीमसेन ने अज्ञातवास में जब विराट के यहां रसोई बनाने का काम उठाया और जिसकी चर्चा महाभारत में विस्तार से है, उस समय उनका वर्ण नहीं पूछा गया था, यद्यपि वह स्वयं पुकार-पुकारकर कह रहे थे 'मैं शूद्र हूं', 'मैं शूद्र हूं।' "[1] 'गृहस्थगीता' में श्रीप्रकाशजी की शैली और विचार पूर्णरूप से विकसित हुए हैं। विषय घरेलू और साधारण हैं, जैसे, छाता, नारंगी और नागरिकता, लोटे का पानी इत्यादि। साधारण विषय होते हुए भी प्रत्येक अध्याय रोचक है और उसमें पाश्चात्य ढंग के निबन्ध की लोच है। 'मांगे की चीज' शीर्षक से वह लिखते हैं—

"पुस्तकें हम यदि मंगनी लेते हैं तो उन्हें वापस नहीं करते। बहुत याद-देहानी के बाद वापस करते हैं तो झुंझलाकर, दो-चार अपशब्द सुनाकर, और उसे फाड़कर, गन्दाकर, दूसरे के लिए अयोग्य बनाकर। यदि दरी-चांदनी लेते हैं तो कभी साफ करके वापस नहीं करते, बल्कि विवाह-शादी के बाद उसमें पत्ते-पुरवे बटोरकर वापस करते हैं। यदि बरतन लेते हैं तो उन्हें मांजकर नहीं वापस करते, पर झूठे-गन्दे ही वापस करते हैं। यदि मकान मंगनी लेते हैं तो ऐसी दशा में छोड़ते हैं कि उसका वर्णन न करना ही उचित होगा। बिना मंगनी लिये काम नहीं चलता, बिना मंगनी दिये सामाजिक सम्बन्ध ही टूटता है, तो कोई ऐसा तरीका निकालना चाहिए, जिससे 'सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे'। मंगनी की चीजें आप अवश्य लीजिये पर रानीकुआंवाले हमारे मायका का भाव कदापि न रखिये। लेने और देनेवाले दोनों की ही शोभा है। पर मंगनी की चीजों की अपनी चीजों से अधिक फिकर करनी चाहिए। उसका ठीक तरह से सदुपयोग कर उसे उसी अवस्था में वापस करना चाहिए, जिस अवस्था में लिया था। यदि लंप की चिमनी टूट गई हो तो दूसरी लगाकर वापस भेजना चाहिए, चांदनी, बर्तन आदि अच्छी तरह साफ कराकर वापस करना चाहिए, और मकान में अच्छी तरह झाड़ू देकर ही मकान मालिक को फिर सिपुर्द कर देना चाहिए। यदि इन सब बातों का ख्याल रखा जाय तो एक दूसरे की शिकायत बहुत कम हो जाय और मनुष्य-समाज के सुदृढ़ सुसंघटन

[1] 'भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार'—पृष्ठ २१-२२

के साथ-ही-साथ मनुष्यों के परस्पर-संबंध की शोभा और सौन्दर्य बढ़ जाय। उसूल बहुत छोटा-सा है, कार्यान्वित करने में न जाने क्यों बड़ी ही कठिनाई होती है।"[1]

यही श्रीप्रकाशजी की वास्तविक शैली है और यही ढंग उनके बात करने का है। कृत्रिमता इसमें नाम को नहीं है। यह शैली आधुनिक निबन्ध की है और लेखक पर अंग्रेजी के प्रभाव की द्योतक है, किन्तु यह प्रभाव हितकर है, इससे गद्य-शैली का परिमार्जन होता है और रस-वैभिन्य का समावेश भी होता है।

पं० गोविन्दवल्लभ पंत

पंतजी ने उच्च शिक्षा प्राप्त कर १९०७ में जबसे नैनीताल में वकालत आरंभ की तभी से राजनीति में भी सक्रिय भाग लेते रहे। स्थानीय समस्याओं के निराकरण के लिए १९१७ में 'कुमायूं परिषद्' की स्थापना की और कुमायूं के जिलों को मोंटफोर्ड शासन-सुधारों के अन्तर्गत शामिल करवाया। उसी वर्ष अ. भा. कांग्रेस कमेटी के और १९२३ में यू. पी. लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य चुने गये। सात वर्ष तक यू. पी. कौंसिल की स्वराज्य पार्टी के लीडर रहे। सन् १९२७ में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बने। पंतजी को साइमन-कमीशन विरोधी-आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू के साथ लाठीमार पड़ी और एक प्रकार से नेहरूजी की ढाल बनकर उनकी रक्षा की, जिसका प्रभाव नेहरूजी के

गोविन्दवल्लभ पंत

हृदय पर आज तक है। पंतजी कार्य के साथ-साथ आजीवन उत्तरोत्तर प्रगति करते रहे। कई वर्ष उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री और बाद में केन्द्रीय स्वराष्ट्र-मन्त्री रहे। जिस प्रकार पंतजी देश के मजबूत स्तम्भ थे, हिन्दी की प्रगति के लिए भी सदा एक दृढ़ आधार बने रहे।

आधुनिक युग में, विशेषकर सन् १९३७ के पश्चात्, जब शासन का सूत्र राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में आया, हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रसार में उत्तर प्रदेश का प्रमुख स्थान रहा है, और इस प्रदेश के मुख्यमंत्री होने के नाते इस साहि-

[1] 'गृहस्थ-गीता'—पृष्ठ ७५ से ७७

त्यिक गतिविधि में पं० गोविन्दवल्लभ पंत का बहुत हाथ रहा है। हम अन्यत्र कह चुके हैं कि कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के निर्माण से हिन्दी के प्रसार और साहित्य-निर्माण को अपूर्व प्रोत्साहन मिला। उत्तर प्रदेश में प्रशासन के कामकाज में तथा शिक्षा-विभाग में हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने का सर्वप्रथम श्रेय पंतजी को है। सबसे पहले सन् १९३८-३९ में पारिभाषिक शब्दकोश बनाने की दिशा में पंतजी के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश सरकार ने ही पग उठाया था। यह स्वाभाविक था कि ऐसे विशाल परिवर्तन के साथ अनेक नई समस्याएं उत्पन्न हो जायं। पंतजी की व्यवहार-बुद्धि और उनका हिन्दी-स्नेह इन सब समस्याओं को सुलझाने में सफल रहा। परिणामतः विभिन्न राजकीय विभागों में और विशेषकर जिला-स्तर के प्रशासन-कार्य में आंशिक अथवा पूर्णरूप से अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का उपयोग होने लगा। सन् १९३९ में सहसा कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पद-त्याग के परिणामस्वरूप यह परीक्षण उस समय अधूरा रह गया, किन्तु सन् १९४५ में पद-ग्रहण के कारण पंतजी को वही अवसर फिर से प्राप्त हुआ और उन्होंने उसका जैसा सदुपयोग किया, वह सर्वविदित है। उन्होंने सचिवालय में ही हिन्दी के कार्य का प्रसार नहीं किया, बल्कि हिन्दी-सम्बन्धी सार्वदेशिक समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया। राजकीय प्रकाशन-विभाग का विस्तार कर उन्होंने आधारभूत पारिभाषिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थों के हिन्दी-रूपान्तर की योजना बनाई। यह कार्य एक विशेष अनुवाद-समिति के सुपुर्द किया गया। कृषि, वन्य-विज्ञान और अन्य सम्बन्धित वैज्ञानिक विषयों पर पहली बार हिन्दी-ग्रंथों का प्रकाशन हुआ। प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक ग्रियर्सन के ग्रंथों का हिन्दी-अनुवाद भी इसी योजना के अन्तर्गत था। हिन्दी-समिति ने अभी तक तीस से अधिक मौलिक ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित किया है। यह कार्य, जिसकी नींव पंतजी ने डाली थी, बराबर प्रगति कर रहा है। राजकीय तत्त्वावधान में इस महत्त्वपूर्ण कार्य को आरंभ करने की दूरदर्शिता का श्रेय पंतजी को है।

देवनागरी लिपि-सुधार और टाइप राइटर तथा टेलीप्रिन्टर के लिए देवनागरी को उपयुक्त बनाने के प्रयत्न उत्तर प्रदेशके मुख्यमंत्रीके रूपमें पंतजी द्वारा सन् १९४८ में आरंभ किए गये थे। यद्यपि इस काम में यथोचित सफलता अभी तक नहीं मिल पाई है, किन्तु विभिन्न शासनों तथा हिन्दी के हितैषियों का ध्यान बराबर इस ओर रहा है और अब भी है। उन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश सरकार के तत्वावधान में ही हिन्दी-शीघ्रलिपि में सुधार तथा उसके मानकीकरण (Standardisation) की दिशा में भी बहुत-कुछ किया गया है और ये प्रयत्न अधिक सफल हुए हैं। केन्द्रीय स्वराष्ट्रमंत्री के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् पंतजी के सुझाव पर संविधान की धारा के अनु-

सार राष्ट्रपति ने भाषा-आयोग (Language Commission) की नियुक्ति की थी। आयोग के और तत्पश्चात् वैधानिक समिति के प्रतिवेदनों पर स्वराष्ट्र-मंत्रालय की ओर से पंतजी हिन्दी के पक्ष का सोत्साह समर्थन करते रहे। पिछले कुछ वर्षों में उनका सबसे बड़ा योगदान सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी-शिक्षा की सुविधा उपलब्ध कराना था। उन्होंने सभी अहिन्दी हिंदी-भाषी केन्द्रीय कर्मचारियों के हिंदी-शिक्षण के लिए बृहत् योजना का निर्माण किया और उसके अनुसार सहस्रों व्यक्ति हिन्दी सीख चुके हैं और सीख रहे हैं। उन्हींके मंत्रालय द्वारा समय-समय पर हिन्दी-विद्यापीठों द्वारा दिये गए प्रमाण-पत्रों की स्वीकृति पर सहानुभूतिपूर्वक विचार होता रहा है, जिसके फलस्वरूप गुरुकुल कांगड़ी, कन्या गुरुकुल (देहरादून), हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि के प्रमाण-पत्रों तथा उपाधियों को केन्द्रीय परीक्षाओं और सरकारी नौकरियों में भर्ती के लिए स्वीकृत किया गया। भाषा-आयोग के प्रतिवेदन पर वाद-विवाद के समय पंतजी ने लोकसभा में जो उद्गार प्रकट किये थे, उनकी हिन्दी-क्षेत्रों में व्यापक प्रशंसा हुई थी। हिन्दी द्वारा केन्द्र में अंग्रेजी का स्थान लेने का कार्यक्रम चाहे किसी स्थिति में हो, पंतजी के प्रयास से केन्द्रीय कर्मचारियों में हिन्दी-शिक्षण का कार्यक्रम बराबर पूर्व योजनानुसार चलता रहा है। पंतजी हिन्दी के अच्छे लेखक और प्रभावशाली वक्ता थे। उनकी वक्तृताओं तथा भाषणों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और काशी नागरी प्रचारिणी सभा को पंतजी से आवश्यकतानुसार सदा सहयोग मिलता रहा है। इन तीनों संस्थाओं के मंच से वह हिन्दी के समर्थन में अनेक बार बोले। अपने कर्मठ सार्वजनिक जीवन में नेता के रूप में तथा सत्तारूढ़ होकर हिन्दी का प्रत्यक्ष समर्थन करके तथा अनेक अवसरों पर प्रतिकूल हवाओं से हिन्दी की रक्षा करके पंतजी ने संकट के समय राष्ट्रभाषा की इतनी अधिक सेवा की कि उनकी निजी रचनाओं का अभाव नहीं खटकता। अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने कार्यक्षेत्र में रहते हुए उनके योगदान के लिए हिन्दी चिर कृतज्ञ रहेगी।

पं० कृष्णकान्त मालवीय

जिन नेताओं और साहित्य-सेवियों का अभी हमने उल्लेख किया है, उन्हींके समकालीन कृष्णकान्त मालवीय थे। उन्होंने भी अपना सार्वजनिक जीवन हिन्दी पत्रकारिता से आरंभ किया। सन् १९०९ से आरम्भ करके लगभग पच्चीस वर्षों तक इन्होंने 'अभ्युदय' का संपादन किया, जो अपने समय का प्रमुख राजनीतिक और साहित्यिक साप्ताहिक था। हिन्दी-पत्रकारिता में कृष्णकांत मालवीय ने एक नवीन शैली को जन्म दिया। उनकी वर्णन-शैली अद्भुत थी, जिसमें यथार्थता

के साथ कुछ कल्पना और कुछ शृंगार का पुट रहता था। इन्हींके संपादकीय और दूसरे लेखों के कारण 'अभ्युदय' अपने भाषा-लालित्य के लिए विख्यात हो गया था। ठोस राजनीतिक घटनाओं और जनता द्वारा सरकार से असहयोग के समाचार 'अभ्युदय' में बहुत रोचक ढंग से छपते थे और इनपर टीका-टिप्पणी की भाषा तो और भी हृदयस्पर्शी होती थी।

पं० कृष्णकान्त मालवीय

कृष्णकान्त मालवीय की रचनाओं में 'सुहागरात' नाम की उनकी सामाजिक रचना बड़ी प्रसिद्ध थी। इसके कई संस्करण छपे और अनेक भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध पर वैज्ञानिक और सांस्कृतिक ढंग से प्रकाश डाला है और वस्तुस्थिति के साथ-साथ सुन्दर सीख भी दी है। निश्चय ही इस पुस्तक की प्रसिद्धि का सर्वप्रमुख कारण केवल इसका विषय ही नहीं, बल्कि लेखक की प्रवाहयुक्त भाषा भी थी।

उत्तर प्रदेश के अन्य नेताओं में, जिन्होंने हिन्दी की उन्नति में योगदान दिया, कमलापति त्रिपाठी, गोविन्द मालवीय, जगदम्बाप्रसाद हितैषी, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सोहनलाल द्विवेदी, रामनाथ 'सुमन' आदि उल्लेखनीय हैं।

कमलापति त्रिपाठी

कमलापति त्रिपाठी प्रमुख हिन्दी दैनिक 'आज' के सम्पादक रहे हैं और उन्होंने भाषा का स्तर उतना ही ऊंचा रखा, जितना पराड़करजी के संपादकत्व-काल में था। उन्हींसे इन्होंने पत्रकारिता की शिक्षा ली और उन्हींके आदर्शों से वे प्रेरणा लेते रहे।

आरम्भ से ही काशी विद्यापीठ में शिक्षा पाकर शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। स्वाधीनता-आन्दोलन में भाग लिया और कई बार जेल गए। तभीसे राज-नीति के मंच पर भी रहे। उत्तरप्रदेश विधान-सभा के सदस्य, सूचनामंत्री, शिक्षामन्त्री तथा गृहमंत्री-पद का गौरव प्राप्त किया।

कमलापति त्रिपाठी हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान हैं। इन्होंने गांधी-दर्शन का विशेष अध्ययन किया है और इसी विषय पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी पाया है।

कमलापति त्रिपाठी जीवनभर कांग्रेस के सदस्य और गांधीजी के प्रभाव में रहे हैं। उन्होंने गांधीजी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के निमित्त 'गांधीजी' नामक पत्रिका का संपादन किया। यह पत्रिका काशी विद्यापीठ ने "बापू के विचारों को कम-से-कम व्यय में भारत के कोने-कोने में पहुंचा देने के लिए" प्रकाशित की थी। इसमें देश-विदेश के महान व्यक्तियों तथा संस्थाओं की श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त गांधीजी के लेख, प्रवचन, भाषण इत्यादि का समावेश किया गया। संपादक के रूप में कमलापति त्रिपाठी इसमें अपने कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार करते हैं—

कमलापति त्रिपाठी

"देश रोया, विदेश रोया, मानव के हृदयों में लहरें उठीं और शांत हो गईं। अब हमारा कर्त्तव्य हो गया कि उस देवदूत की अमर वाणी सुलभ, सुन्दर और सत्य रूप में संसार के अंतस्तल तक पहुंचाने का प्रयत्न करें। महात्माजी का व्यक्तित्व इतना व्यापक था कि सैकड़ों लेखक उनके गौरव का गान करके अपनी लेखनी को पवित्र बनायेंगे।" *

त्रिपाठीजी एक सफल संपादक रहे हैं। उन्होंने 'आज' के साथ 'संसार' का भी संपादन किया है। उनकी 'हिन्दी पत्र और पत्रकार' पुस्तक इस विषय में सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। हिन्दी पत्रों का विकास और इतिहास तथा अन्य सामग्री, जिसका समावेश इस पुस्तक में किया गया है, प्रामाणिक समझी जाती है। अपनी वक्तृत्वकला के लिए कमलापति त्रिपाठी विशेष प्रसिद्ध हैं। विधान-सभा में और सार्वजनिक सभाओं में वह धाराप्रवाह विशुद्ध हिन्दी में बोलते हैं और उनके भाषण का श्रोताओं पर समुचित प्रभाव पड़ता है। 'बापू और मानवता' कमलापति त्रिपाठी की दूसरी मौलिक रचना भी गांधीजी पर ही है।

सन् १९४२ में वह प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने थे। इस प्रकार हिन्दी की प्रगति में उन्होंने सदा रुचि ली है और पूरा योगदान दिया है। सफल पत्रकार, उत्तम वक्ता और निपुण लेखक के रूप में उन्होंने हिन्दी भाषा की शैली और उसके रूप को सुन्दर बनाया है।

---

* 'गांधीजी' (श्रद्धांजलियां)—भाग २, खण्ड १—पृष्ठ 'ई'

साल बाद तक यह देश ज्ञान, विज्ञान, धन-धान्य, दस्तकारी और तिजारत सबके लिए मशहूर था। लेकिन मोहम्मद साहब के वक्तों में वह कुस्तुनतुनिया के ईसाई सम्राट के हाथों में था और ईसाई धर्म का एक खास अड्डा माना जाता था।"[१]

इस प्रकार भाषा और विचार दोनों के समन्वय से उन्होंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी भाषा के विकास में योग दिया है।

८ रविशंकर शुक्ल

जीवन के कार्यक्षेत्र में शुक्लजी ने वकील के रूप में प्रवेश किया था। उसी समय उन्होंने सार्वजनिक कार्य में भी दिलचस्पी लेना आरंभ किया। फलस्वरूप सन् १९१४ से १९३३ तक रायपुर की नगरपालिका के सदस्य रहे। इसी बीच सन् १९१५ में राजनीतिक परिषद में गोखले के अनिवार्य शिक्षा-बिल का समर्थन भी किया। शिक्षा और भाषा के प्रश्न पर उनका ध्यान बराबर बना रहता था और तद्विषयक चिन्तन का लाभ देश को भी मिला, जब वह १९३७ में मध्यप्रदेश के शिक्षा-मंत्री बने। अपनी सेवाओं और ओजस्वी व्यक्तित्व के कारण शुक्लजी ने तीन बार मुख्य-मंत्री का गौरव प्राप्त किया।

पं० रविशंकर शुक्ल

अपने पचास वर्ष से अधिक के सार्वजनिक जीवन में पं० रविशंकर शुक्ल ने जो कुछ राजनीति के क्षेत्र में और प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से सामाजिक तथा शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया, उससे हिन्दी भाषा और साहित्य को पर्याप्त बल मिला। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर-अधिवेशन में उत्साहपूर्वक भाग लिया था और वर्षों तक 'कान्यकुब्ज' नामक पत्र का संपादन करके हिन्दी की सेवा करते रहे। वह स्वयं हिन्दी के विद्वान थे और उनकी वक्तृता तथा लेखन-शैली में सही सूझ-बूझ और सरलता थी, जो सदा उनके विचारों की विशेषता रही। साहित्य-सृजन के लिए विशेष रूप से बैठने और साहित्य के किसी विधा की आराधना करने का न उन्हें कभी अवकाश मिला और न शायद इस ओर उनकी अभि-

[१] 'हजरत मुहम्मद और इस्लाम' —पृष्ठ २५-२६

रुचि थी, किन्तु अपने दीर्घ जीवनकाल में उन्होंने साहित्य की जो ठोस सेवा की, वह सदा स्मरणीय रहेगी। उसीके सम्बन्ध में कुछ कहना यहां उचित होगा।

शुक्लजी लगभग चौदह वर्ष तक मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री रहे। उस समय मध्यप्रदेश द्विभाषी राज्य था, जहां हिन्दी और मराठी भाषाएं बोली जाती थीं। जहां-जहां भी उस समय ऐसी स्थिति थी, भाषा के प्रश्न को लेकर काफी मनमुटाव और वैमनस्य तक देखने में आता था। यदि कहीं यह समस्या पूर्णरूप से, सर्वसम्मति से सुलझाई जा सकी, तो वह केवल मध्यप्रदेश में। इसका कारण शुक्लजी की सूझबूझ और विलक्षणता थी। उन्होंने दोनों भाषाओं को समान स्थान दिया, किन्तु वास्तव में उनकी नीति का परिणाम यह हुआ कि मराठी-भाषी सन्तुष्ट रहे और विदर्भ में हिन्दी के व्यापक प्रचार को प्रोत्साहन मिला। अपनी भाषा-नीति से उन्होंने मराठी का अहित किये बिना मध्यप्रदेश में हिन्दी की स्थिति को दृढ़ बनाया। यह बात उनकी सफलता की द्योतक है कि तत्कालीन मद्रास, बम्बई, पंजाब आदि राज्यों की सरकार ने मध्यप्रदेश की भाषा-नीति का गंभीर अध्ययन किया और अपने-अपने राज्यों में भी उसे अपनाने का यत्न किया।

सरकारी कामकाज के लिए सचिवालय और छोटे-बड़े दफ्तरों में हिन्दी के प्रयोग पर मध्यप्रदेश में विशेष जोर दिया गया और तुलनात्मक दृष्टि से स्वीकार करना पड़ेगा कि यह प्रयोग अन्य हिन्दी-भाषी प्रांतों की अपेक्षा मध्यप्रदेश में अधिक सफल रहा। इसका भी श्रेय शुक्लजी की व्यवहार-बुद्धि और हिन्दी-प्रेम को है। कामचलाऊ पारिभाषिक शब्दकोश सबसे पहले वहीं तैयार हुआ। इसके अतिरिक्त संविधान में राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी अनुच्छेद का प्रारूप सर्वसम्मति से विधान-परिषद् द्वारा स्वीकृत कराने में अन्य प्रमुख नेताओं के साथ शुक्लजी का भी विशेष हाथ था।

खोज तथा अनुसंधान के क्षेत्र में और विलुप्तप्राय ग्रंथों के प्रकाशन की दिशा में भी मध्यप्रदेश सरकार की 'भारतीय हिन्दी-परिषद्' का काम असाधारण महत्व का रहा है। इस योजना के पीछे भी शुक्लजी का ही उत्साह और पथप्रदर्शन था। इन सभी प्रश्नों पर उन्होंने अपने विचार सुन्दर और स्पष्ट भाषा में व्यक्त किये हैं, जो एक संग्रह के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। सबसे श्रेयस्कर बात, जो शुक्लजी के सम्बन्ध में कही जा सकती है, वह यह है कि यद्यपि वह हिन्दी के सदा कट्टर समर्थक और निर्भीक प्रवक्ता रहे, किन्तु किसी भी अन्य भाषा के विरुद्ध उन्होंने कभी एक शब्द भी नहीं कहा। हिन्दी को इस प्रकार वह अधिक लोकप्रिय बना सके। हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण उनके उस भाषण से स्पष्ट

होता है, जो उन्होंने नागपुर में भारतीय हिन्दी-परिषद् के उद्घाटन के अवसर पर दिसम्बर, १९५५ में दिया था—

"संविधान द्वारा अंग्रेजी के स्थान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के बाद हिन्दी के ऊपर एक बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है। हिन्दी अब केवल साहित्य-क्षेत्र की ही भाषा नहीं रही, वरन् अब वह कानून, विज्ञान और अनेक क्षेत्रों की भाषा भी हो गई है। उसके प्रयोग के क्षेत्र का विस्तार होते ही हमारे सामने अनेक गंभीर समस्याएं उपस्थित हो गई हैं। इन विविध आवश्यकताओं के लिए हमें हिन्दी की अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ानी है।...इसका भार आज हिन्दी के साहित्यकारों, अध्यापकों और विद्वानों के कन्धों पर आ पड़ा है। हिन्दी के लेखकों को एक शक्ति-शाली बहुमुखी साहित्य का निर्माण करना है। हिन्दी के अध्यापकों को विद्यार्थियों में हिन्दी-साहित्य और भाषा के प्रति श्रद्धा और अध्ययन की वृत्ति उत्पन्न करना है एवं हिन्दी के विद्वानों को उसके रूप, उसके व्याकरण, उसकी पारिभाषिक शब्दावली आदि से सम्बन्धित सभी समस्याओं को गंभीर चिंतन और अन्वेषण द्वारा शीघ्रातिशीघ्र सुलझाना है।"[1]

जब संविधान-सभा में भाषा के प्रश्न पर विचार हो रहा था, शुक्लजी ने एक भाषण दिया, जिसका सभी ओर से स्वागत हुआ। इस लम्बे भाषण में उन्होंने कहा—

"मैं सदन के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूं। विश्व-इतिहास में इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण है। वह आयरलैण्ड में है। ब्रिटिश सरकार से संधि के बाद सन् १९२१ में पहली बात जो अपने संविधान में उन्होंने रखी, वह यह थी कि आयरिश राष्ट्रभाषा होगी और अंग्रेजी द्वितीय शासकीय भाषा। मैं इसका कारण बताऊंगा। अंग्रेज सरकार ने अपने शासनकाल में आयरलैण्ड में आयरिश भाषा सीखना प्रतिबन्धित कर दिया था और परिणाम यह हुआ कि प्राथमिक से महाविद्यालयीन स्तर तक अंग्रेजी भाषा ही पढ़ाई जाती थी और पूरी १९वीं शताब्दी के लिए आयरिश भाषा लुप्त प्रायः हो गई थी और प्रत्येक आयरलैण्डवासी अंग्रेजी ही बोलता था। सन् १९१० की जनगणना में ३० से ४० लाख की जनसंख्या में केवल २१ हजार व्यक्ति ही आयरिश भाषा जानते थे। संविधान में आयरिश भाषा को राष्ट्रभाषा उन्हीं आयरलैण्डवासियों ने घोषित किया, जो कि आयरिश भाषा नहीं जानते थे। केवल २१ हजार ही आयरिश जानते थे और शेष अंग्रेजों से भी अधिक अंग्रेज थे। अंग्रेजी को एकदम बहिष्कृत करना सम्भव नहीं होने के कारण उन्हें अंग्रेजी को द्वितीय भाषा के रूप में रखना पड़ा। किन्तु प्रस्तुत किये जानेवाले सभी विधेयक

[1] 'राष्ट्र-निर्माण की घड़ी में'—रविशंकर शुक्ल के भाषणों का संग्रह—पृष्ठ ४८

देश की भाषा आयरिश में ही पेश किये जाते थे और उसका एक अनुवाद साथ रहता था। दोनों के बीच विवाद की स्थिति में आयरिश भाषा का मूलपाठ ही प्राधिकृत और प्रामाणिक माना जाता था। इसीलिए मैंने अपने संशोधन में प्रावधित किया है कि हमें अपने राज्य की भाषा हिन्दी अथवा मराठी में अधिनियम बनाने दिये जायं और उसके साथ ही एक अंग्रेजी भाषा में भी प्रामाणिक पाठ हो। विवाद की स्थिति में जहां अंग्रेजी आवश्यक हो, अंग्रेजी का मूल पाठ ही प्रामाणिक माना जाय, शेष सभी कार्यों के लिए राज्य-भाषा का मूलपाठ ही प्रामाणिक माना जाय, इसलिए मैं समझता हूं कि हमें स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। इस उद्देश्य के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करने से प्रान्तों को नहीं रोका जाना चाहिए। यदि हम हिन्दी चाहते हैं तो हमें हिन्दी का प्रयोग करने दिया जाना चाहिए। हमारी स्वतन्त्रता कम न कीजिये।"[1]

स्वतंत्र भारत को स्व० रविशंकर शुक्ल ने ऐसी नीति का दर्शन कराया है, जिसमें हिन्दी भाषा के साथ देश का भी कल्याण निहित है।

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास उन व्यक्तियों में हैं, जिन्होंने अपना सारा समय मन, वचन और कर्म से मातृभूमि की सेवा में ही लगाया है। एक अभिजातवर्गीय प्रसिद्ध परिवार में जन्म लेकर अपनी पारिवारिक परम्परा के विरुद्ध अर्थ-आराधना करने के बजाय होश संभालते ही वह सरस्वती की उपासना में लीन हो गये और प्रसाद रूप अपनी जन्मभूमि जबलपुर में एक संस्था की स्थापना कर 'शारदा' नामक मासिक पत्रिका के सचालन, शारदा-ग्रंथमाला के प्रकाशन, हिंदी दैनिक 'लोकमत' और 'जयहिन्द' के प्रकाशन आदि के रूप में एक साहित्यिक चेतना अपने नगर और

सेठ गोविन्ददास

प्रान्त में लाने में समर्थ हुए। इन्हीं दिनों महात्मा गांधी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरंभ हुआ और बापू के इस आह्वान पर युवक गोविन्ददास देश के स्वातंत्र्य-आन्दोलन में कूद पड़े। आजादी के आन्दोलन के आरम्भ से लेकर आजादी की

[1] 'राष्ट्र-निर्माण की घड़ी में'—पृष्ठ २२-२३

प्राप्ति तक सेठजी ने सदा सक्रिय रूप से कांग्रेस के हर कार्यक्रम और आन्दोलन में भाग लिया। इसके फलस्वरूप अनेक बार कारावास भी किया। सेठजी उन व्यक्तियों में नहीं हैं, जो स्वातंत्र्य-संग्राम के दिनों में उसमें भाग न लेकर केवल साहित्य-साधना में लीन रहे अथवा उसमें भाग लेनेपर कारावास में एकांत सेवन करते रहे। गोविन्ददासजी आन्दोलनों के दिनों में जब जेल से बाहर रहते तो कांग्रेस-संगठन और आन्दोलन को आगे बढ़ाने के कार्य में दत्तचित्त रहते तथा जब वह जेल-जीवन व्यतीत करते तो एकांत का लाभ उठा साहित्य-सृजन करने से नहीं चूकते। सेठजी का अधिकांश साहित्य उनके जेल-जीवन का ही लिखा गया है।

यों तो सेठजी ने नाटक, उपन्यास, काव्य, आत्मचरित, यात्रा-वर्णन तथा निबंध आदि साहित्य की सभी विधाओं पर लिखकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है, किंतु सेठजी प्रधान रूप से नाटककार ही हैं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, समस्यात्मक, सभी प्रकार के पूरे और एकांकी नाटक लिखे हैं। उनके नाटकों की संख्या १११ है। इतने नाटक किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी भारतीय भाषा में ही नहीं कदाचित किसी भी भाषा में नहीं लिखे गए हैं। उनके नाटकों में ऐतिहासिक काल से आधुनिक काल का सारा इतिहास आ जाता है। इसी प्रकार उनके सामाजिक और समस्यात्मक नाटकों में आधुनिक काल की अभी समस्याएं प्रस्तुत हुई हैं। शायद ही कोई ऐसी समस्या हो, जिसे उन्होंने न लिया हो।

गोविन्ददासजी की गणना यद्यपि प्रमुख नाटककारों में आती है, किन्तु यहां उनके नाम का उल्लेख करने का उद्देश्य उन्हें एक नाटककार के रूप में चित्रित करना नहीं है। यहां मेरा अभिप्राय सेठजी के साहित्य की समीक्षा करना न होकर उनकी हिन्दी-सेवा और उसे देश की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने में उनका जो योग है, उसका उल्लेख करना है। हिन्दी के प्रश्न पर क्या संसद में, क्या संसद के बाहर सभी जगह उनके नेतृत्व को सब स्वीकार करेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

सेठ गोविन्ददास ने साहित्य के क्षेत्र में गांधीजी के राजनीतिक आन्दोलन के साथ ही प्रवेश किया है और तबसे उनकी दोनों दिशाओं की गति-विधियां साथ-साथ चलती रही। जेल-जीवन हो या जेल से बाहर, स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले हो अथवा बाद में, गोविन्ददासजी देश के साथ-साथ हिन्दी की प्रगति में दिलचस्पी लेते रहे हैं। राजनीति के मंच पर जैसे उन्होंने अपने जीवन-नाटक खेले हैं, वैसे ही नाटक उनकी लेखनी ने पत्र-पटल पर किये हैं। दोनों को ही एक दूसरे का सहारा रहा है और इस प्रकार शब्द-चित्रण के लिए गोविन्ददासजी को पर्याप्त सामग्री मिल गई है। किन्तु उनकी हिन्दी-सेवा साहित्य-

रचना तक ही सीमित नहीं। उन्होंने हिन्दी-प्रचार तथा प्रसार की दिशा में अनेक प्रयत्न किये हैं, जिनके कारण समस्त हिन्दी-जगत उनका ऋणी है। भारत ही नहीं देश के बाहर भी फौजी आदि देशों में उन्होंने हिन्दी की दुन्दुभी बजाई है। गोविन्ददासजी की गणना हिन्दी के सर्वप्रमुख समर्थकों में होती है। वास्तव में हिन्दी से बढ़कर शायद उन्हें कुछ भी प्रिय नहीं। जिस समय हिन्दी के प्रश्न को लेकर संविधान-सभा में मतभेद पैदा हो गया था और तज्जन्य संदिग्ध स्थिति हिन्दी-जगत में गम्भीर चिन्ता का विषय बनी हुई थी, उस संकट के समय गोविन्ददासजी ने जो सुझाव दिये और जो विचार प्रकट किये, उनसे समस्या के सुलझने में सहायता मिली। गोविन्ददासजी ने कहा —

"अंग्रेजी हमारे देश की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। लगभग दो सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन के अनन्तर इस देश के कितने प्रतिशत लोग अंग्रेजी जानते हैं? हिन्दुस्तानी कोई भाषा ही नहीं। उसका न कोई व्याकरण है, न साहित्य। जिस भाषा का अस्तित्व ही नहीं, वह राष्ट्रभाषा कैसे बनाई जा सकती है? ... इस हिन्दुस्तानी कही जानेवाली भाषा में बाजारों में बोले जानेवाले शब्दों के अतिरिक्त वैज्ञानिक और शास्त्रीय शब्दों का न निर्माण हुआ और न हो सकता है।... झगड़ा हिन्दुस्तानी नाम का नहीं है, झगड़ा है हिन्दुस्तानी नाम में जो अर्थ निहित हो गया है, उसका। हिन्दुस्तानी का अर्थ वह भाषा है, जिसमें इतने प्रतिशत शब्द संस्कृत, इतने फारसी, इतने अरबी के हों, फिर वह नागरी और अरबी लिपियों में लिखी जानेवाली भाषा हो।... हिन्दुस्तानी का समर्थन करनेवाले उसका समर्थन साम्प्रदायिकता की भावना से करते हैं। जो देश में एक संस्कृति चाहते हैं, वे भला दो लिपियों में लिखी जानेवाली भाषा का समर्थन कैसे करेंगे?"[1]

किन्तु इस सम्बन्ध में सेठ गोविन्ददास का सबसे बड़ा योगदान 'राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद्' के आयोजन में प्रमुख भाग लेना और इसे सफल बनाना है। इस परिषद् में भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं के प्रमुख विद्वान, भाषा-शास्त्री, कवि, नेता और विश्वविद्यालयों के कुलपतियों ने भाग लिया था और भाषा तथा लिपि की समस्या पर गंभीर विचार-विमर्श किया था। परिषद् ने सबकी ओर से एक स्वर से यह घोषणा की कि हमारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी है। इस मत के कारण संविधान-सभा में हिन्दी का विरोध मध्यम पड़ गया और इस प्रकार हिन्दी के पक्ष में निर्विरोध निर्णय का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस 'राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद्' की सम्पूर्ण योजना गोविन्ददासजी ने की थी और इसकी सफलता का श्रेय भी बहुत-कुछ उन्हींको है।

१. 'सेठ गोविन्ददास-अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ६६

गोविन्ददासजी वास्तव में हिन्दी के परम हितैषी हैं और नई दिल्ली के अनिश्चित वातावरण में हिन्दी के प्रहरी भी कहे जा सकते हैं। राष्ट्रभाषा के कोमल पौधे की रक्षा के लिए उन्होंने समय-समय पर होनेवाले आन्दोलनों में तो भाग लिया ही है, लोकसभा और नई दिल्ली के प्रशासनिक क्षेत्रों में यदाकदा चलनेवाली प्रतिकूल हवाओं से भी हिन्दी को बचाने के हेतु वह तत्पर रहे हैं। जवाहरलालजी ने भी उनके विषय में कहा है कि "आजादी की लड़ाई में हमेशा यह आगे रहे और हिन्दी-साहित्य की इन्होंने बड़ी सेवा की है।"[1]

घनश्यामसिंह गुप्त

यह शुक्लजी के पुराने सहयोगियों में से हैं। शुक्लजी की भाषा-नीति के पीछे जो सूझबूझ और बल रहा है, उसका आधार एक सीमा तक गुप्तजी को माना जा सकता है। वह भी हिन्दी के सदा प्रबल समर्थक और हिन्दी-आन्दोलन के नेता रहे हैं। गुप्तजी का सबसे बड़ा योग हिन्दी में वैधानिक शब्दावली तैयार कराना था। इसके तैयार होने के उपरान्त ही भारतीय गणराज्य के संविधान का हिन्दी-रूपान्तर तैयार किया जा सका। इस कार्य के लिए संविधान-परिषद् के अध्यक्ष द्वारा समस्त भारतीय भाषाओं के प्रतिनिधियों की जो समिति बनाई गई थी, गुप्तजी उसके सभापति थे। मध्यप्रदेश राज्य की भाषा-संबंधी समस्या को सुलझाने के लिए जब-जब प्रयत्न करने पड़े, गुप्तजी का उन प्रयत्नों से सदा निकट का सम्बन्ध रहा।

घनश्यामसिंह गुप्त

गुप्तजी हिन्दी के अच्छे विद्वान हैं और मध्य प्रदेश-विधान सभा में (जिसके वह कई वर्ष तक अध्यक्ष रहे) तथा सार्वजनिक अवसरों पर उनके भाषणों के संग्रह छपे हैं, जो हिन्दी-साहित्य का अंग हैं।

द्वारिकाप्रसाद मिश्र

द्वारिकाप्रसाद मिश्र 'कृष्णायन' महाकाव्य के रचयिता हैं। वह एक कुशल प्रशासक और अच्छे पत्रकार भी हैं। गत महायुद्ध के दिनों में जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल

---

[1] 'सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ'

तोड़ दिये गए थे, मिश्रजी ने सन् १९४२ में 'सारथी' नामक साप्ताहिक निकाला, जो कई वर्षों तक चलता रहा। इस पत्र की राजनीति और साहित्य दोनों में ही दिलचस्पी थी और उस समय के प्रमुख पत्रों में इसकी गिनती थी। मिश्रजी 'सारथी' के सम्पादक थे और जनता के पथ-प्रदर्शनार्थ यदा-कदा विशेष लेख भी लिखा करते थे। इससे पूर्व मिश्रजी ने सन् १९२२-२३ में 'श्री शारदा' मासिक का सम्पादन किया, जो उस समय 'सरस्वती' के समान प्रमुख साहित्यिक पत्रिका थी। सन् १९३० में वह दैनिक 'लोकमत' के सम्पादक नियुक्त हुए, जो नागपुर से प्रकाशित होता था। 'सरस्वती' जैसी पत्रिकाओं में वह लेख भी लिखते रहे। किन्तु मिश्रजी की हिन्दी को सबसे बड़ी देन निस्सन्देह उनका महाकाव्य 'कृष्णायन' है। इसमें उन्होंने सम्पूर्ण 'कृष्णचरित' को अपने प्रबन्धकाव्य का विषय बनाया है। पुस्तक की भाषा अवधी है, और तुलसीदास की भांति मिश्रजी ने भी दोहा, चौपाई और सोरठा छन्द को अपनाया है। मिश्रजी ने राजनीति और सामाजिक विषयों पर भी बहुत-कुछ लिखा है, जिसमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुका है।

द्वारिकाप्रसाद मिश्र

अपने प्रकाशन के बाद से 'कृष्णायन' बराबर साहित्यिकों की आलोचना का विषय रही है। यह सत्य है कि यह ग्रन्थ तुलसीदास के 'रामचरित मानस' को आदर्श मानकर लिखा गया है।[१] यह भी सात काण्डों में विभाजित है। इसमें भी दोहा-चौपाई का वही क्रम है, इसकी भी भाषा अवधी है। साहित्य के क्षेत्र में इस ग्रन्थ को अभी वह मान्यता नहीं मिली, जो मिलनी चाहिए थी। इसमें से कुछेक उद्धरण रसास्वादन की दृष्टि से दे देना समीचीन होगा। मथुरा-काण्ड में श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए व्रजनारियों की व्याकुलता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"अस कहि व्यथा-विकल व्रजनारी। सकीं न सहि हरि-विरह-दवारी॥
बाष्प कण्ठ, मुख फुरति न वाणी। उद्धव-चरण विलखि लपटानी॥

---

[१] 'कृष्णायन' की भूमिका—डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा लिखित—पृष्ठ ७

"आनहु व्रज अब वेगि कन्हाई,
बूड़त व्रज तुम लेहु बचाई ।
इन्द्र-कोप ते श्याम उबारा,
श्याम-कोप तुम होहु सहारा ।"
लखि करुणा उद्धव अकुलाने,
ज्ञान, ध्यान, श्रुति, शास्त्र भुलाने ।
गये समुझि समुझाय न पावा,
धैर्य देत निज धैर्य गंवावा ।
आये पोंछन व्रजजन-आंसू,
छलकेउ दृग जल, उष्ण उसासू ।
बहे आपु दुख-पारावारा,
अतल, अकूल, अगम्य, अपारा ।"[1]

मिश्रजी की सबसे पहली रचना एक ऐतिहासिक निबन्ध है—'हिन्दू जाति का स्वातंत्र्य-प्रेम', जो सन् १९२० में प्रकाशित हुई थी। जेलजीवन में रामचरितमानस के अध्ययन के फलस्वरूप, विदेशियों के द्वारा शेक्सपीयर के चरित्र-नायकों का जिस प्रकार अध्ययन किया गया है, उसी रीति से उन्होंने "तुलसी के राम" नामक पुस्तिका लिखी, जो सन् १९४२ में प्रकाशित हुई। इससे ज्ञात होता है कि उनके विचार करने की पद्धति भी मौलिक है और वह गद्य और पद्य दोनों में रुचि रखते हैं। हिन्दी-साहित्य के दोनों ही क्षेत्रों को उन्होंने अपने विचारों से विकसित और रचनाओं से समृद्ध किया है।

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी पुराने खेवे के उन वयोवृद्ध कर्मठ साहित्य-सेवियों में हैं, जिनकी गणना आज हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक उन्नायकों में की जाती है। गत पच्चीस वर्षों से वह 'कर्मवीर' (खंडवा) के सम्पादक हैं। इस क्षेत्र में जनमत के निर्माण में तथा जनसाधारण के मार्ग-निर्देशन की दिशा में इस साप्ताहिक का प्रमुख स्थान रहा है। गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन का जिन हिन्दी-लेखकों और

[1] 'कृष्णायन'—पृष्ठ २२४

कवियों पर यथार्थ प्रभाव पड़ा, माखनलाल की गिनती उन्हींमें की जाती है। 'एक भारतीय आत्मा' उपनाम से लिखित उनकी कविताएं इतनी लोकप्रिय हुईं कि चतुर्वेदीजी राष्ट्रीय जागृति के गायक प्रसिद्ध हो गये। आत्मोत्सर्ग और त्याग की भावना को उच्चतम आदर्श का रूप देनेवाली कविता—'पुष्प की अभिलाषा' उन्हींकी है।

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊं,
चाह नहीं, प्रेमीमाला में विंध प्यारी को ललचाऊं,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊं,
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूं, भाग्य पर इठलाऊं,
मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।"[१]

इसके हर शब्द से राष्ट्रीय भावना की आभा निकल रही है और स्वदेश-भक्ति की चाह ने उनके इन शब्द-पुष्पों में भी सौरभ भर दी है। उनके प्रबन्धकाव्य 'हिमकिरीटिनी' पर साहित्य-अकादमी का पांच हजार रुपये का प्रथम हिन्दी पुरस्कार सन् १९५६ में दिया गया। कवि, नाटककार, पत्रकार, निबन्ध-लेखक सभी रूपों में माखनलालजी ने हिन्दी की सेवा की है। उनका 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक भारतेन्दु-परम्परा के निरन्तर विकासशील रूप का द्योतक है। यह नाटक रंगमंच के उपयुक्त होने के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ और जगह-जगह इसका अभिनय हुआ।

माखनलाल चतुर्वेदी अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हरिद्वार-अधिवेशन (सन् १९४३) के सभापति भी रहे। 'कर्मवीर' कार्यालय और नागपुर का कारागार दोनों ही उनकी लेखनी के लिए समान रूप से अनुकूल रहे हैं। माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी के राष्ट्रीय साहित्य की विभूति हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान मध्यप्रदेश की विख्यात समाज-सेविका और कांग्रेस कार्यकर्त्री रहीं। किन्तु फिर

[१] 'कवि कौमुदी'–पृष्ठ २५४

भी उनका भव्य व्यक्तित्व हिन्दी-प्रदेश में साहित्यकार के नाते ही गौरव को प्राप्त हुआ। वह बुन्देलखण्ड की निवासी थीं और उस प्रदेश का कण-कण वीरभूमि है, जिसकी पुण्य गरिमा सुभद्राजी ने जन्म-घुट्टी में पी थी। कहानी और कविता दोनों ही माध्यम उन्होंने अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अपनाये थे। एक बुन्देला लोकगीत "खूब लड़ी मर्दानी, अरे झांसीवाली रानी!" की टेक लेकर और उसीके आधार पर उन्होंने खड़ी बोली में जो कविता 'झांसी की रानी' लिखी, वह हिन्दी-साहित्य की अमर रचना हो गई। वीर और प्रसाद गुण दोनों ही उनके काव्य के अलंकार हैं। 'झांसी की रानी' के हर शब्द में वीर रस की झंकार और प्रेरणा भरी है। घटना पुरानी हो गई, किन्तु घटना-क्रम को बांधनेवाला भाव अमर बनकर हिन्दी-साहित्य में प्रवेश कर गया। जिस भाव से प्रेरित होकर यह कविता लिखी गई, सुननेवाला भी उसी भाव में बह जाता है। एक-दो पद देखिये—

> 'सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
> बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी।
> गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
> दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।
>
> चमक उठी सन सत्तावन में,
> वह तलवार पुरानी थी,
> बुन्देले हरबोलों के मुंह
> हमने सुनी कहानी थी—
> खूब लड़ी मर्दानी वह तो
> झांसीवाली रानी थी।
>
> ... ...
>
> महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
> यह स्वतन्त्रता की चिनगारी, अन्तरतम से आई थी।
> झांसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं,
> मेरठ, कानपुर, पटना ने भारी धूम मचाई थी,
>
> जबलपुर कोल्हापुर में भी
> कुछ हलचल उकसानी थी,
> बुन्देले हरबोलों के मुंह
> हमने सुनी कहानी थी—

खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसीवाली रानी थी ।

... ...

इस स्वतन्त्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना धुन्धूपन्त, तांतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुंवरसिंह सैनिक अभिमान,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम ।

लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरबानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसीवाली रानी थी ।'[1]

जहां इनके काव्य में युद्ध की रणभेरी का निनाद है, वहां इनकी वाणी में मां की ममता की मधुर मिठास भी है। 'बचपन' पर इनकी पंक्तियां देखिये—

"मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी,
नन्दनवन-सी फूंक उठी
यह छोटी-सी कुटिया मेरी ।
'मां ओ' कहकर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आई थी,
कुछ मुंह में कुछ लिपट हाथ में
मुझे खिलाने आई थी ।"[2]

उनके कविता-संग्रह 'मुकुल' और कहानी-संग्रह 'बिखरे मोती' पर उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सेकसेरिया पुरस्कार मिला था। इस प्रकार श्रीमती चौहान का व्यक्तित्व भारतीय नारी-जागरण और साहित्य के इतिहास में चिर-स्मरणीय है।

ब्रिजलाल बियाणी

ब्रिजलाल बियाणी गत तीस वर्षों से मध्यप्रदेश की राजनीतिक हलचलों में भाग लेते आ रहे हैं। वह स्थानीय और केन्द्रीय विधान-सभाओं के सदस्य रहे हैं

[1] 'कवि-भारती'—सं. सुमित्रानंदन पंत तथा अन्य—पृष्ठ २०१, २०५ और २०६ ।
[2] 'कवि-भारती'—पृष्ठ २१२

और कई वर्षों तक मध्यप्रदेश के वित्तमंत्री। वियाणीजी साहित्यिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। अकोला में उन्होंने 'प्रवाह' नामक मासिक पत्र निकाला, जो साहित्यिक दृष्टि से ऊंचे स्तर की पत्रिका मानी जाती थी। वियाणीजी सिद्धहस्त निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में आत्म-कथात्मक गद्य-काव्य की छटा रहती है। जेल-जीवन में उन्होंने जो निबन्ध लिखे, उनके दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—उनके नाम हैं १. कल्पना-कानन और २. कल्पना-कुंज। इनकी भाषा साहित्यिक है। 'नर्तकी' शीर्षक अध्याय में ब्रिजलालजी लिखते हैं—

ब्रिजलाल वियाणी

"नृत्य का चढ़ाव उतरने लगा। गति मन्द होने लगी। नर्तकी दिखाई देने लगी। गति की सम्पूर्ण समाप्ति। नृत्य का अन्त। जड़वत् नर्तकी दर्शकों के मध्य फिर खड़ी। वन्दन किया। दर्शकों की तालियों ने स्वागत किया। नृत्य के पूर्व की अपेक्षा नृत्य के पश्चात् की नर्तकी अधिक सुंदर दिखाई दे गई। नृत्य के सौंदर्य से उत्पन्न भावनाओं ने नर्तकी के रूप में भी किंचित परिवर्तन किया। नृत्य की गति की थकावट से किंचित म्लान मुख भी लावण्य की ज्योति फैलाता दिखाई दिया। आकृति पर कृति का कितना असर, कितना अनजान प्रभाव पड़ता है, इसका मैं अनुभव कर सका। परदा गिरा। नर्तकी विश्राम और दूसरे नृत्य की तैयारी में लगी। दर्शकों में चर्चा चली। दूसरे नृत्य की उत्सुकता से प्रतीक्षा होने लगी।"[१]

उनकी भाषा गद्य-काव्य की भाषा है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है।

हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी लगभग सभी संस्थाओं से इनका संबंध रहा है और विदर्भ साहित्य-सम्मेलन के तो वह संबल हैं।

जयप्रकाश नारायण

जयप्रकाश नारायण समाजवादी दल के सैद्धान्तिक पक्ष के प्रतिनिधि रहे हैं। समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों पर उन्होंने अनेक लेख लिखे हैं और कुछ पुस्तकें भी। दलीय राजनीति से कुछ विरक्त से होकर उन्होंने आचार्य विनोबा को गुरु

[१] 'कल्पना-कानन'—पृष्ठ ६

के रूप में स्वीकार किया और उनकी भूदान-गंगा में स्नानकर भूदान-यज्ञ की वेदी पर सर्वोदय की दीक्षा ली। जयप्रकाशजी ने भूदान के आजीवन सदस्य बनकर देश के कोने-कोने में यात्रा आरंभ की और सर्वोदय के विचारों का प्रचार किया और आज भी कर रहे हैं। सर्वोदय-विचार पर उन्होंने 'सर्वोदय' नामक एक पुस्तक भी लिखी है, जिसकी गणना मौलिक सर्वोदय-साहित्य में होती है। शिक्षा और छात्रों की समस्याओं में जयप्रकाशजी की विशेष रुचि है, जिसका प्रमाण 'छात्रों के बीच' नामक पुस्तिका है।

जयप्रकाश नारायण

जयप्रकाशजी गंभीर विचारक और चिन्तक हैं और यही गुण उनके लेखों व उनकी लेखन-शैली में प्रतिबिम्बित होते हैं। उनके विचार युक्ति-संगत होते हैं, जिसकी झलक उनकी शैली में स्पष्ट झलकती है। जयप्रकाशजी लेखन को विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं, इसलिए वह तभी लिखते हैं, जब कुछ कहने को बाध्य हों। यद्यपि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल में वह अधिकतर अंग्रेजी में लिखते थे, तथापि सर्वोदय और विनोबाजी के प्रभाव में आने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया है। 'छात्रों के बीच' के अतिरिक्त 'जीवन-दान', 'मजदूरों से', 'मेरी विदेश यात्रा', और 'समता की खोज में (अनूदित)' इत्यादि इनकी तीन-चार पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं। जयप्रकाशजी में हिन्दी लिखने की क्षमता तो पहले ही थी, लिखने के माध्यम से उन्होंने अच्छी शैली का विकास किया है। उनकी भाषा सरल, अलंकाररहित, किन्तु सारगर्भित है। सीधी उक्ति उनकी शैली की विशेषता है। जीवन-दान का रहस्य समझाते हुए उन्होंने लिखा है—

"जीवन-दान का आन्दोलन उठाकर हमने अभी जीवन-शुद्धि की साधना में पहला ही कदम बढ़ाया है। अभी तो हमें बहुत दूर जाना है। हमें अहंकारशून्य होकर काम करना होगा। जीवन-दान देकर भी जो अपनेको किसी विशिष्ट जाति के समझें और कहें कि 'हम तो जीवन-दानी हैं', तो उनका यह कहना अहंकार ही होगा। जीवन-दान का गर्व भी नहीं होना चाहिए। पहले भी ऐसे लोग थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन भूदान-यज्ञ के कार्य में देने का संकल्प किया था। इसलिए अब

हम लोगों ने जो जीवन-दान दिया, उसपर अहंकार करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। अहंकार-रहित होकर हम इस बात को समझें कि हम जो कर रहे हैं, ईश्वर को अर्पित कर रहे हैं। वास्तव में हम उसकी वस्तु उसीको सौंप रहे हैं। उसीकी पूजा में जीवन लगाने का हमने निश्चय किया है, इस वृत्ति से कार्य करना होगा। रास्ते में बाधाएं आयेंगी, तकलीफें आयेंगी, प्रलोभन भी आयेंगे, पर उनसे हमारी परीक्षा ही होगी।"[1]

खरी बात कहना शुरू से जयप्रकाशजी की आदत रही है। शिष्टता और निजी सिद्धान्तों की मर्यादा में रहते हुए वह किसीकी भी कटु-से-कटु आलोचना कर सकते हैं। उनके शब्द किसे सुख पहुंचाते और किसे बेधते हैं, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं होती। यह बात उनके वक्तव्यों और भाषणों से भी स्पष्ट हो जाती है। 'छात्रों के बीच' में उन्होंने देश की शिक्षा-संबंधी समस्याओं का ही विश्लेषण तथा विवेचन नही किया, अपितु दूसरे संबंधित सामाजिक प्रश्नों और उनसे उत्पन्न स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। आधुनिक आयोजन और सरकारी निर्माण के काम की कड़ी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—

"आज हमारे मूल्य ही बिगड़ गये हैं। नई दिल्ली में जाता हूं, तो दिल बैठ जाता है। क्या है यह भारत की राजधानी ! सारे सूट-बूट पहनकर बड़ी-बड़ी मोटरों में दौड़ते हैं ! बड़े-बड़े बंगले हैं ! हमारी सभी बहनें निकलती हैं जार्जेट की, खूब कीमती विदेशी साड़ियां पहने हुए और ओंठ रंगे हुए—फैशन में चूर ! क्या हालत है यह भाई ! क्या यही गरीब देश की राजधानी है ? हमारे सारे मूल्य पलट गये। जब आवड़ी में कांग्रेस ने प्रस्ताव किया कि 'समाजवादी ढांचा हमारा उद्देश्य है,' तो विनोबा ने कहा, मुझे बड़ी खुशी हुई कि कांग्रेस जैसी एक बड़ी पार्टी ने, जिसके हाथों में सत्ता है, 'ऐसा निश्चय किया।' लेकिन पहला सवाल जो हमारे मन में उठा, वह यह था कि समाज का समाजवादी ढांचा आपने कैसा बनाया ? आपने अपने घर में कैसा समाजवादी ढांचा बनाया ? आपने इन बड़े-बड़े महलों को छोड़ा या नहीं ? या उन्हींमें बैठकर इस गरीब देश का शासन कर रहे हैं ?

"हममें से हरकोई दोषी है, हरकोई इस पाप का भागी है। हम मध्यम-वर्ग के भाइयों में हरेक कम-बेशी दूसरों का हक छीन रहा है। देश में इतनी कमी है कि जो हम खा और पहन रहे हैं, उसमें भी दूसरों का हिस्सा है। हमारी रोटियों पर उन गरीबों के दांत लगे है, जिन्हें एक दाना मयस्सर नहीं। लेकिन आज अगर हमारी यह शक्ति नहीं कि हम गांधी और विनोबा की तरह त्याग कर सकें, तो

[1] 'जीवन-दान'—पृष्ठ २६

जितना भी त्याग कर सकें, करें। यह साधना हमें करनी है। हमें ऊपर ऊंचे-ऊंचे महलों की तरफ देखना नहीं है, बल्कि झोंपड़ियों की तरफ देखना है। अपने जीवन को हम जितना भी झुका सकते हों, नीचे को ले जा सकते हों, उतना झुकाना आज हमारा कर्तव्य है। यह देश की सबसे बड़ी सेवा है।"[१]

सन् १९५८ में जयप्रकाशजी ने इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, हॉलैंड, डेन्मार्क, बेल्जियम, नार्वे, स्वीडन, आस्ट्रिया, इटली, ग्रीस, पोलैंड और युगोस्लाविया आदि देशों की यात्रा की तथा सर्वोदय-विचार का वहां प्रचार किया। सर्वोदय-विचार को व्यापक बनाने के लिए अपने अनुभव और चिन्तन के आधार पर जो विचार उद्भूत हुए उनके संकलन से 'मेरी विदेश-यात्रा' नामक पुस्तक की रचना हुई। वह इजराइल की सफल लोक-शक्ति के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

"शिक्षा की व्यवस्था ने तो मुझे बहुत ही प्रभावित किया। नई तालीम की बात बापू ने बताई थी। काम के साथ शिक्षा और ऐसी शिक्षा कि जो हमें शिक्षा प्राप्त करने के बाद उद्योगशील बनाये, परिश्रमी बनाये, ऐसी ही शिक्षा इन गांवों में दी जाती है। नई तालीम का ही यह नमूना है। यहां की शिक्षा सरकार के हाथों में नहीं है, यह एक बहुत बड़ी बात है। हमारे देश के बहुत-से नेताओं ने और शिक्षाशास्त्रियों ने बार-बार यह आवाज उठाई है कि शिक्षा को सरकारी सीखचों से मुक्त किया जाय, पर ऐसा हुआ नहीं। किन्तु इजराइल के गांवों में मैंने देखा कि यहां अठारह वर्ष तक अनिवार्य शिक्षा देते हैं और उस शिक्षा की सारी व्यवस्था 'किबुत्स' अपने ही संगठन से करते हैं।"[२]

शिक्षा के साथ-साथ वह वहां के शासकों के जीवन का उदाहरण देते हैं तथा गांधी और विनोबा के विचारों का स्मरण दिलाते हैं। उन्होंने दोनों देशों की स्थिति की तुलना करते हुए लिखा है—

"सब लोग मिलकर समानतापूर्वक जीवन बिताते हैं। इजराइल के प्रधानमंत्री बेंगूरियो भी किबुत्स के मेम्बर हैं। वह किबुत्स में आकर स्वयं ट्रैक्टर भी हांकते हैं। बूढ़े हैं, इसलिए काम हल्का दिया जाता है, पर काम करना हर आदमी अपना कर्तव्य मानता है। बापू कहते थे कि भारत का राष्ट्रपति भी हल चलायेगा। इसी तरह आजकल विनोबाजी भी कहते हैं कि भारत के प्रधान-

---

[१] 'छात्रों के बीच'—पृष्ठ २६-२७

[२] 'मेरी विदेश-यात्रा'—पृष्ठ ५६

मंत्री को भी दो घंटे खेत पर काम करना चाहिए। पर हम यहां कहते-ही-कहते हैं! वास्तव में भारत में अनुत्पादकों की संख्या बढ़ती जा रही है।... हम लोग काम करना शर्म की बात समझते हैं। किन्तु मैंने देखा कि इजराइल की मिनिस्ट्री में अधिकांश लोग किबत्सू के मेंबर हैं। इजराइल के उद्योगमंत्री तो मुझे किबत्सू में ही मिले। वह वहीं काम करते हैं और मिनिस्ट्री से हटने के बाद वहीं रहकर एक साधारण नागरिक की तरह श्रम और मजदूरी से अपना जीवन चलायेंगे।"[1]

जयप्रकाशजी ने भारतीय जनता को भी उतने ही स्पष्ट और सरल शब्दों में अपने अनुभव के द्वारा चेतावनी दी है। वह रचनात्मक कार्य में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति हैं। विनोबाजी की लोक-शक्ति ही उनके जीवन की नीति है। अतः वह जनता को भी कहते हैं—

"मैंने आपको बताया कि किस प्रकार विदेशों में लोगों ने अपने राष्ट्र का निर्माण किया है—समाजवादी ढंग से, साम्यवादी ढंग से या और किसी ढंग से। खासकर पिछले युद्ध के बाद तेजी के साथ हर राष्ट्र उठ रहा है, किन्तु यह याद रखने की बात कि इस सारे विकास का उत्तरदायित्व या श्रेय वहां की जनता को ही है। वास्तव में देखा जाय, तो बिना जनता के सहयोग के सरकार किसी भी नये समाज की रचना नहीं कर सकती। कानून से क्रांति नहीं हो सकती, केवल व्यवस्था बदली जा सकती है।"[2]

इतने विदेशों में घूमकर भी जयप्रकाशजी अन्त में इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि सर्वोदय का मार्ग ही सबसे उत्तम मार्ग है और इसीमें लोक-कल्याण निहित है। वह लिखते हैं—

"विदेशों की बढ़ती हुई तरक्की को और भौतिक विकास को देखने के बाद भी मेरा यह दृढ़ निश्चय हुआ है कि दुनिया में जितने रास्ते हैं, उनमें सबसे अच्छा और श्रेष्ठतम रास्ता गांधीजी का है, जिसपर आज विनोबाजी चलकर सर्वोदय-आन्दोलन को बढ़ावा दे रहे हैं। सारी दुनिया को आखिर इसी रास्ते पर आना होगा। मैं पूरी ईमानदारी और विनयपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि बिना सर्वोदय के अब दूसरा ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जो संसार में समता, बंधुता और स्वतन्त्रता की स्थापना कर सके।"[3]

---

[1] 'मेरी विदेश-यात्रा'—पृष्ठ ५४

[2] 'मेरी विदेश-यात्रा'—पृष्ठ ५६

[3] 'मेरी विदेश-यात्रा'—पृष्ठ ७६

जयप्रकाशजी के विचारों के साथ उनके इन शब्दों में दृढ़ता भी है। अपने भाव और विचार को सरल किन्तु प्रभावोत्पादक भाषा में व्यक्त करना ऊंचे लेखक तथा विचारक का ही काम है। इस दृष्टि से जयप्रकाशजी की वाणी और लेखनी ने बड़ी सफलता पाई है। इनके पीछे उनके चिन्तन, मनन तथा क्रियात्मक जीवन की प्रेरणा और दृढ़ता है, इसमें सन्देह नहीं। वह गांवों में रहते हैं और भारत के ग्रामीण अभी भी अंग्रेजी से बहुत दूर हैं। उनके बीच भाषण इत्यादि हिन्दी भाषा में ही देने होते हैं, अतः हिन्दी के प्रयोग से सहज ही भाषा का विकास होता है। जयप्रकाशजी सात वर्ष तक (सन् १९२२ से १९२९) अमरीका में विद्याध्ययन के लिए रहे। वहां से जो स्वातंत्र्य-प्रेरणा उन्होंने पाई, वही दिन-प्रतिदिन घनी होती गई और सतत चिन्तनानुभूति तथा जनजीवन से उसे अभिव्यक्ति मिली। इसीको उन्होंने गांव के जनजीवन में भरने का यत्न किया है। उनतक पहुंचने के लिए उन्हें सदा हिन्दी का ही सहारा लेना पड़ा है, अतः सहज ही हिन्दी उनके विचारों से पुष्ट हुई है।

संविधान द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति से पहले ही वह हिन्दी के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ लेखों द्वारा हिन्दी के पक्ष का समर्थन भी किया है। इसलिए जयप्रकाशनारायण के योगदान का मूल्यांकन करते समय इन बातों का विशेष ध्यान रखना होगा—सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी स्थिति तथा इस जीवन का उनका अनुभव, उनकी भाषा में विचारतत्व और उनके विचारों तथा व्यक्त मत की लोकप्रियता। इन सभी बातों की दृष्टि से उनकी प्रकाशित पुस्तकें सर्वोदय-साहित्य का महत्वपूर्ण अंग हैं और हिन्दी-भाषी जनता में उनका व्यापक प्रचार है।

भवानीदयाल सन्यासी

१० सितम्बर १८९२ में दक्षिण अफ्रीका के जोहन्सबर्ग में आपका जन्म हुआ। पिता बिहार के रहनेवाले थे। कठिन परिस्थितियों में अफ्रीका गये थे या उन्हें जाना पड़ा था। दक्षिण अफ्रीका में ही उन्होंने शिक्षा पाई। सन् १९०३ में महात्मा गांधी की प्रेरणा से अफ्रीका में 'इंडियन ओपीनियन' निकला, जो अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती और तमिल, इन चार भाषाओं में प्रकाशित होता था। भवानीदयाल उसका हिन्दी-संस्करण आदि से अन्त तक पढ़ जाते। इसी तरह उन्होंने अपने हिन्दी भाषा के ज्ञान को बढ़ाया। भारत आकर उसका विशेष रूप से अध्ययन किया।

भवानीदयाल सन्यासी

तुलसीकृत रामायण के प्रति सहज अनुराग होने से उसके सैकड़ों दोहे और चौपाई याद कर लिये, और संपूर्ण किष्किन्धा और सुन्दरकांड तो कंठाग्र हो गया। सूरदास के पदों से भी उनमें बड़ी भक्ति और भावप्रवणता पाई। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—"मैं बड़े प्रेम से सूर की कृतियां पढ़ता और उनकी भावप्रवणता पर मुग्ध हो उठता, पर तुलसी की रचनाओं में मुझे जो आनन्द आता, वह अन्य किसी रचना में नहीं। रामायण पढ़ते समय मेरे हृदय-सितार के तार-तार बज उठते थे और मेरी आत्मा भगवद्भक्ति में तल्लीन हो जाती।"[१]

उनमें बाल्यावस्था से ही अखबार पढ़ने की रुचि थी, अतः बम्बई के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' को मंगाकर पढ़ते और उसके लिए गांव की खबरें भी लिखकर भेजते। आगे चलकर 'हिन्दी केसरी' और 'कर्मयोगी' की क्रांतिपूर्ण ओजस्वी भाषा ने इन्हें आकर्षित किया। तभी बंगभंग की हलचल ने मानस पर अपना प्रभाव डाला। भवानीदयाल फकीर बनकर गांव-गांव में स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार करने लगे। जहां एक ओर स्वराज्य की पुकार ने हृदय को खींचा, वहां दूसरी ओर गांवों में फैली अन्धश्रद्धा ने मन पर प्रहार किया और तब भवानीदयाल ने सत्यार्थप्रकाश, भास्करप्रकाश, दिवाकरप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, संस्कारविधि आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर आर्यसमाज की दीक्षा ली और उसके सिद्धान्तों को अपनाया। सहसराम गांव में आर्यसमाज की स्थापना के साथ-साथ 'वैदिक पाठशाला' भी खोली। तब बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्य संभाला और भागलपुर से प्रकाशित होनेवाली 'आर्यावर्त्त' मासिक पत्रिका के सहकारी सम्पादक भी बने। सात-आठ साल भारत में कार्य करने पर भवानीदयालजी पुनः अफ्रीका चले गये और वहां गांधीजी के साथ कार्य किया। गांधीजी के हिन्दुस्तान लौट आने पर भी वह सार्वजनिक कार्य में लगे रहे। गांधीजी के सत्याग्रह का प्रभाव जीवन में रम

१ 'प्रवासी की आत्मकथा'—पृष्ठ ५६

चुका था। उन्हीं भावनाओं से अभिभूत होकर उन्होंने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' पुस्तक लिखी, जो सरस्वती सदन के श्री द्वारिकाप्रसाद 'सेवक' द्वारा प्रकाशित की गई। इसमें सत्याग्रह के सिद्धान्त और उसके क्रियात्मक प्रयोग पर प्रकाश डाला गया है तथा हिन्दी-जगत् में इसका अच्छा स्वागत हुआ। हिन्दी में सत्याग्रह के संबंध में उनकी यह पहली पुस्तक थी। इससे भवानीदयाल को बहुत प्रोत्साहन मिला और इससे उनके लेखन-कार्य को प्रगति मिल गई। सन १९१७ में डरबन से निकलनेवाले 'धर्मवीर' साप्ताहिक का संपादन किया। उसे रुचिकर बनाने के लिए उन्होंने उसमें हास्यविनोद से ओतप्रोत एक लेखमाला लिखी, जिसका नाम था 'त्रिलोकी का पोथा'। इसका हिन्दी-भाषी अफ्रीकी भाइयों में काफी प्रचार हुआ और दिन-दिन इस पत्र की लोकप्रियता प्राप्त होती गई। 'धर्मवीर' अमर शहीद पं. लेखराम की पुण्यस्मृति में आरंभ हुआ था और इसके दो सुन्दर विशेषांक भी निकले थे। इससे वैदिक धर्म और संस्कृति का अफ्रीका में व्यापक प्रचार हुआ और हिन्दी भाषा के ज्ञान का भी विकास हुआ। किन्तु इसी 'त्रिलोकी का पोथा' लेखमाला के कारण भवानीदयालजी को इस पत्र से अलग हो जाना पड़ा। तब भी उनका हिन्दी-लेखन जारी रहा। उन्होंने 'हमारी कारावास कहानी', 'शिक्षित और किसान' तथा 'नेटाली हिन्दू' नामक पुस्तकें लिखीं जो, इन्दौर के सरस्वती सदन से प्रकाशित हुई। पहली पुस्तक में उनके जेल-जीवन का वर्णन है, दूसरी में भारतीय किसानों की स्थिति का दिग्दर्शन और तीसरी में नेटाल में हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति का चित्रांकन है। गांधीजी की जीवनी 'सत्याग्रही गांधी' के नाम से लिखी, जो प्रयाग के ओंकार प्रेस से प्रकाशित हुई तथा एक और पुस्तक 'वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता' के नाम से मेरठ के भास्कर प्रेस से प्रकाशित हुई। इस प्रकार उनकी लेखनी को पोषण मिलता गया और उनकी भाषा भी परिष्कृत होती गई। इन पुस्तकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनकी भाषा आकर्षक और शैली परिमार्जित है। अफ्रीका में रहते हुए भवानीदयालजी की हिन्दी-साहित्य की यह सेवा चिरस्मरणीय है।

उन्होंने केवल लेखन-कार्य से ही हिन्दी की सेवा नहीं की है, क्रियात्मक रूप से भी हिन्दी के प्रचार में योग दिया है। उन्होंने अफ्रीका में 'ट्रांसवाल हिन्दी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य प्रवासी भारतीयों में हिन्दी-प्रचार-कार्य था। इस सभा का साप्ताहिक अधिवेशन भवानीदयालजी के घर पर ही होता और उन भारतीयों को हिन्दी सिखाने के लिए 'हिन्दी रात्रि-पाठशाला' भी वह अपने घर पर ही चलाते। प्रतिदिन संध्या को करीब पचास बच्चे उनके घर पर हिन्दी भाषा सीखते। इन बच्चों में अधिकांश बच्चे गुजराती-भाषी थे। उन्होंने

एक 'हिन्दी-क्लब' की भी स्थापना की, जिससे वहां के नवयुवकों में हिन्दी का प्रचार होता था। उस समय वहां के हिन्दी-भाषी लोगों के लिए हिन्दी एक विदेशी भाषा के समान बन गई थी। ऐसे समय में भवानीदयालजी की इस हिन्दी-सेवा का बहुत मूल्य है। उन्होंने न केवल हिन्दी भाषा का प्रचार किया, किन्तु भारत के प्रवासी भाइयों में, जिनमें सभी प्रकार की बोली बोलनेवाले व्यक्ति थे, हिन्दी की शिक्षा से राष्ट्रीय एकता के भाव भी भरे। तमिल, तेलुगु और गुजराती इत्यादि विभिन्न भाषा बोलनेवाले सभी भाइयों ने हिन्दी सीखी और इसे अपनी राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। इन प्रयत्नों की छाया में हम जब भवानीदयालजी के योगदान को आंकते हैं तो मानना पड़ता है कि उनकी हिन्दी-सेवा बहुमूल्य है।

अपने जीवन में भवानीदयाल न केवल देश के महान नेताओं के सम्पर्क में आये, अपितु साहित्य-महारथियों के सान्निध्य का सुअवसर भी उन्हें मिला और उससे उनको हिन्दी-सेवा को संबल मिला। अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे और मूलचन्द्र अग्रवाल जैसे संपादकों से उन्हें दक्षिण अफ्रीका से निकलनेवाले 'हिन्दी' पत्र के लिए बड़ा उत्साह मिला। 'हिन्दी' के जन्म और प्रकाशन की कहानी भी बड़ी हृदय-स्पर्शी है। 'हिन्दी' का जन्म वास्तव में उनकी पत्नी की अन्तिम घड़ी में हुआ। एक प्रकार से उनकी पत्नी जगरानी इसे 'जन्म' देकर चल बसीं और उनकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करके भी भवानीदयालजी ने 'हिन्दी' को पाला और पोषित किया। बढ़ते-बढ़ते इसकी ख्याति भी बहुत फैली और अनेक उपनिवेशों में यह पहुंचने लगे। इसके लिए भवानीदयालजी ने अनथक परिश्रम किया, जो सदा के लिए उनके स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव छोड़ गया। इसी 'हिन्दी' के लिए कानपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पांच सौ रुपये का पुरस्कार दिया गया और इस प्रकार उसकी सेवाओं पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। किन्तु 'हिन्दी' की सेवा भवानीदयाल अधिक न कर सके, क्योंकि १९२५ में ही उन्हें अफ्रीका छोड़कर देश के कार्य के लिए भारत आ जाना पड़ा और वहा 'हिन्दी' को कोई सम्भाल न सका।

भारत में आकर वह देश-सेवा के कार्य में लग गये। स्वाधीनता-आन्दोलन में भाग लेने पर जेल भी गये। हजारीबाग जेल में वह राजेंद्रबाबू के साथ थे और वहां भी उन्होंने हिन्दी का कार्य किया। जेल से ही एक हस्तलिखित पत्र निकाला। इसका पहला अंक 'कृष्णांक' दूसरा 'दीवाली अंक' और तीसरा 'सत्याग्रह-अंक' था। वहां के कैदियों से, जिसमें राजेन्द्रबाबू से लेकर बिहार के प्रायः सभी नेता थे, लेख-कविताएं आदि लेते और हाथ से लिखकर सारे वार्ड में घुमाते। इस प्रकार बारहसौ पृष्ठ की साहित्यिक सामग्री कारागार में संकलित हो गई थी।

यह हजारीबाग जल की अनुपम स्मृति थी, जो बाद में बिहार विद्यापीठ को दे दी गई।

इन्होंने राष्ट्र की एकता के लिए राष्ट्रभाषा के उपयोग पर सदा जोर दिया। कानपुर के कांग्रेस-अधिवेशन में गांधीजी अध्यक्ष थे और वहां सरोजिनी नायडू उनकी उत्तराधिकारिणी चुनी गई थीं। जब वह अधिवेशन के लिए अपना भाषण तैयार कर रही थी, उस समय भवानीदयालजी ने उन्हें राष्ट्रभाषा में ही भाषण का मंगलाचरण करने का आग्रह किया और उन्हीकी प्रेरणा से सरोजिनी नायडू ने हिन्दी में ही भाषण दिया।

सन् १९३१ में अखिल भारतीय हिन्दी सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष भवानीदयाल सन्यासी थे और उसी साल देवघर में हुए बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दशम अधिवेशन के सभापति भी वही बनाये गए थे। इसी वर्ष पटना से 'आर्यावर्त' नामक साप्ताहिक निकला, जिसके प्रधान सम्पादक भवानीदयालजी बने। आर्यसमाज की 'सार्वदेशिक' पत्रिका में भी वह लेख लिखते रहते थे।

उन्होंने 'दक्षिण अफ्रीका के अनुभव' और 'वैदिक संस्कृति' नामक पुस्तकें भी लिखीं और इतनी साहित्य-रचना के बाद जीवन के उत्तरकाल में उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' भी लिख डाली, जो 'प्रवासी की आत्मकथा' के नाम से प्रकाशित हुई है। इसकी भूमिका में राजेन्द्रबाबू ने लिखा है कि 'स्वामी जी की शैली, जैसाकि हिन्दी-संसार जानता है, बहुत ही सुन्दर, मनोग्राही और भावपूर्ण है।"[१] वास्तव में भवानीदयालजी की भाषा में प्रवाह है और शैली प्राजल है। जीवन के अनेकविध अनुभवों ने उनकी लेखन-शैली को सरस बना दिया है। अपने जीवन में उन्हें अनेक बड़े-बड़े भारतीय नेताओं और साहित्यकारों से परिचय पाने का अवसर मिला है। इन महापुरुषों के जो 'रेखाचित्र' उन्होंने खींचे हैं, वे बड़े ही सजीव बने हैं। उदाहरणार्थ राजेन्द्रबाबू का रेखाचित्र उन्होंने ऐसा खींचा है—"स्वागत-समिति के दफ्तर में एक व्यक्ति पर मेरी दृष्टि जा गड़ी। लम्बा डील-डौल, दुबला-पतला गात, पिचके गाल, घनी भृकुटी, ऊंचा ललाट, लम्बी नाक, मूंछ के बाल बिखरे हुए और आंखें ओजमयी, वस्त्र अस्त-व्यस्त, देह पर धोती, कुर्ता और गमछा, पांव में मामूली पनही और सिर पर सफेद गांधीनुमा टोपी। चेहरे पर न विद्या की झलक, न अहंकार की रेखा और न नेतृत्व की निशानी। सरल स्वभाव, बे-तकल्लुफ सबसे बातचीत और स्नेहपूर्ण व्यवहार। . . . उसी समय मुनिराजी आ गये।

१ 'प्रवासी की आत्मकथा'—भूमिका

उन्होंने बताया—'आप ही राजेन्द्रबाबू हैं।' मैं चौंक पड़ा। मैंने राजेन्द्रबाबू के रंग-रूप और वेशभूषा की जैसी कल्पना कर रखी थी, वह हवा हो गई। . . . उनमें न बड़प्पन का गर्व था, न नेतृत्व का नशा। सादगी, सचाई और साधुता का सजीव स्वरूप।" यह उनके प्रथम दर्शन का रेखा-चित्र है और बाद में उनके संपर्क में आने के बाद इसी चित्र का रंग गहरा बना। उन्होंने जो अनुभव किया, वही लेखबद्ध कर दिया—"मैंने इस विभूति में पाया—एक दर्दभरा दिल, दिग्गज-दिमाग, दूरदर्शिनी दृष्टि, चारु चरित्र एवं नेतृत्व की निशानी।"[१] आज भी लेखक का यह चित्र धुंधला नहीं पड़ा है। स्व. जमनालाल बजाज का चित्र उन्होंने इस प्रकार खींचा है—"यहां सामने बैठी हुई एक दिव्य मूर्ति पर मेरी दृष्टि ठहरी। कद लम्बा, रंग गेहुंआ, और ललाट ऊंचा। आला दिमाग, दयार्द्र दिल और मीठी बोली। नेत्रों में प्रतिभा का प्रकाश और चेहरे पर चतुराई की चमक।"[२] और आचार्य कृपालानी की ओर देखकर भवानीदयाल के शब्द-चित्र से उनके पुराने रूप का चित्र खीचना बड़ा ही आसान है। उन्होंने लिखा है—"कांग्रेस-मंत्री आचार्य कृपलानी की वेशभूषा और क्रियाशीलता देखकर दंग रह जाना पड़ा। पैरों में पनहीं नहीं, पर सिर पर साहबी टोप (हैमलेट), बदन में ढीली-ढाली धोती और बेडौल कुर्ता। बात-बात में विनोद की बहार।"[३] इस प्रकार जिसका भी चित्र उन्होंने खीचा, उसके बाहरी लिबास के साथ-साथ आन्तरिक चित्रांकन भी उन्होंने अपनी भाषा की तूलिका से किया है। इससे शैली स्वयं आकर्षक बन गई है।

स्वामी भवानीदयाल जीवनभर सार्वजनिक कार्यकर्त्ता रहे और एक प्रकार से सेवा ही उनके जीवन की चिर-सहचरी रही। जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्होंने इस एक व्रत को नही तोड़ा। किन्तु सेवाव्रती भवानीदयाल ने जीवन में सबसे अधिक कार्य हिन्दी की उन्नति और प्रवासी भारतीयों के लिए किया। वह लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवी और सफल पत्रकार रहे तथा हिन्दी की उन्होंने अनन्य सेवा की। हिन्दी-जगत् उनकी इस सेवा को कभी नही विसरा सकता।

स्वामी सहजानंद और जमुना कार्जी

कांग्रेस-समाजवादी दल के दो बिहारी नेताओं ने भी हिन्दी के लिए परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से बहुत-कुछ किया है। स्वामी सहजानन्द, जो बिहार के किसान-आन्दोलन के नेता थे, हिन्दी के अच्छे लेखक और वक्ता माने जाते थे। किसानों

---

१ 'प्रवासी की आत्मकथा'—पृष्ठ २२६-७

२ 'प्रवासी की आत्मकथा'—पृष्ठ २५०

३ 'प्रवासी की आत्मकथा'—पृष्ठ ४४७

को संगठित करने के लिए उन्होंने 'कृषक' और अन्य पत्रों की स्थापना की थी और इसका संपादन भी आरंभ में उन्होंने ही किया। सहजानन्द उग्र विचारों के व्यक्ति थे, इसलिए उनकी शैली में दृढ़ता है और कुछ अक्खड़पन भी। बिहार के गांव-गांव में अपने विचारों के प्रचार के लिए उनके पत्र और प्रकाशित सामग्री पहुंचती थी, जो सभी हिन्दी में होती थी। उग्र विचारों के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'हुंकार' की स्थापना में भी उनका ही हाथ था। किसानों की समस्याओं और भूमि-कानून के सुधार के सम्बन्ध में सहजानन्द ने कई छोटी-बड़ी किताबें लिखीं। स्वामी सहजानन्द के बाद इस पत्र के संपादक जमुना कार्जी हुए। 'हुंकार' में जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव व जयप्रकाश नारायण आदि नेताओं के लेख भी देखने को मिलते थे।

स्वामी सहजानन्द

आचार्य बद्रीनाथ वर्मा

आचार्य बद्रीनाथ वर्मा बिहार के लोकप्रिय नेताओं में हैं। उन्होंने आरंभ से ही राजनीति के साथ-साथ पत्रकारिता के क्षेत्र में भी कार्य किया और दोनों ही क्षेत्रों में सफलता पाई। स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते हुए उसी आन्दोलन को सफल बनाने और जनता में देश-भक्ति की भावना का प्रचार करने के निमित्त 'देश' नामक पत्र का संपादन कई वर्षों तक करते रहे, जिसकी स्थापना सन् १९२० में राजेन्द्रबाबू ने की थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बद्रीनाथजी बिहार के शिक्षामंत्री रहे और अपने कार्यकाल में शिक्षा की प्रगति के साथ उन्होंने हिन्दी के प्रसार का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा और हिन्दी को बहुत प्रोत्साहित किया। किन्तु सफल शिक्षा-मंत्री से भी पहले वह सफल हिन्दी-पत्रकार माने जायंगे। वह पत्रकार पहले हैं, राजनीतिज्ञ बाद में। बिहार से निकलनेवाले दैनिक अंग्रेजी पत्र 'सर्चलाइट' और पहले 'देश' हिन्दी-पत्र में उन्होंने जो संपादकीय लेख लिखे थे, वे आज भी याद किये जाते हैं। उन लेखों में देश को जगाने की पुकार

आचार्य बद्रीनाथ वर्मा

comparision with Bacon and Aristotle.

की 'सरस्वती' में छपी, जिसकी प्रेरणा भी उन्हें द्विवेदीजी से ही मिली थी। फिर जालन्धर के 'पांचाल पंडितों' लाहौर के 'चांद' और 'सद्धर्म-प्रचारक' आदि में लेख लिखे और १९१४ में हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से ही 'ऊषा' नामक पत्र निकाला। १९१९ में कन्या महाविद्यालय की पत्रिका 'भारती' के और १९३२ में जातपांत-तोड़क-मंडल के पत्र 'युगान्तर' के संपादक रहे। वर्तमान काल में 'विश्वज्योति' पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। सन् १९१२ में इन्हें 'हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों की उन्नति के उपाय' नामक लेख पर काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'राधाकृष्णदास स्मारक रजत पदक' दिया गया था और 'स्कूलों के छात्रों की स्वास्थ्य-रक्षा' लेख पर इसी सभा से 'छन्नूलाल स्मारक पदक' प्रदान किया गया। संयुक्त पंजाब की सरकार द्वारा संतरामजी को 'अलबरुनी का भारत' पर १२०० और 'इत्सिंग की भारत यात्रा' पर ६०० रुपये के पुरस्कार प्राप्त हुए। भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने भी 'अलबरुनी के भारत' पर १२०० रुपये पुरस्कार स्वरूप दिये। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने भी १५०१ रुपये का महात्मा गांधी पुरस्कार देकर उनकी राष्ट्रभाषा की सेवा पर मोहर लगाई। इन सब सेवाओं के फलस्वरूप ही सन् १९४२ में संतरामजी ने अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन की साहित्य-परिषद के सभापति-पद का सम्मान भी पाया।

उन्होंने जो कुछ कहा, उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर बताया। उर्दू-फारसी में शिक्षा और दीक्षा लेकर भी हिन्दी का प्रचार किया और उसके प्रचारार्थ सारा लेखन-कार्य हिन्दी में ही किया। पंजाब सरकार ने मार्च १९६१ में इनका सम्मान करते हुए अपने अभिनन्दन-पत्र में लिखा था, "हिन्दी-प्रचार, साहित्य-सेवा और समाज-सुधार का तिरंगा झंडा लेकर आप सदा अपने पथ पर बढ़ते ही रहे, और आज तक बढ़ते चले आ रहे हैं। आपकी इस सत्यनिष्ठा और कर्त्तव्य-परायणता से प्रभावित होकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सिद्धान्त रूप में आपसे पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए कहा था कि मैं आपका ही काम कर रहा हूं।"[1]

वस्तुतः संतरामजी ने हिन्दी की जो सेवा की है[2] और सतत कर रहे हैं, उसे हिन्दी-जगत् कभी नहीं भूल सकता।

---

[1] 'श्री सन्तरामजी'—पृष्ठ ७८

[2] सन्तरामजी-लिखित पुस्तकें—

१. हिमालय-निवासी महात्माओं के अन्तिम दर्शन, २. मानसिक आकर्षण द्वारा व्यापारिक सफलता (अनूदित); ३. अलबरुनी का भारत (अनूदित) भाग १, २, ३; ४. एकाग्रता और दिव्य शक्ति (अनूदित); ५. गुरुदत्त-लेखावली (अनूदित); ६. कौटुम्ब

के कांग्रेसी नेताओं में सर्वप्रथम हिन्दी-लेखक अमरनाथ विद्यालंकार थे, जो आजकल पंजाब-मंत्रिमंडल के सदस्य हैं। अमरनाथजी किसानों और मजदूरों की समस्याओं के विशेषज्ञ हैं और अधिकतर इसी विषय पर लिखते रहे हैं, यद्यपि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषयों पर भी उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। पंजाब में हिन्दी-प्रचार के कार्य में गोस्वामी गणेशदत्त के साथ अमरनाथजी का भी काफी सहयोग रहा है।

संतराम

श्री संतराम ऐसे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं में हैं, जिनका क्षेत्र राजनीति न रहकर सामाजिक कार्य ही रहा है। यह हिन्दी-लेखक के रूप में देशभर में प्रसिद्ध हैं। गत पच्चीस वर्षों से अधिक से संतराम 'जात-पात तोड़क मंडल' के प्रधानमंत्री हैं और वर्णव्यवस्था के विरुद्ध उन्होंने अनेक प्रामाणिक लेख तथा पुस्तकें लिखी हैं। उनका विषय समाज-सुधार, इतिहास और कथा-साहित्य रहा है। सदा से लेखन ही उनकी जीविका का एकमात्र साधन रहा है। सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों पर ही अधिकतर संतराम लिखते हैं और हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा पत्र अथवा पत्रिका हो, जिसमें उन्होंने न लिखा हो और अब भी न लिखते हों।

संतराम

उनकी रचनाओं में 'हमारा समाज', 'महापुरुषों के उपदेश', 'व्यावहारिक सभ्यता', 'सुखी जीवन' और 'जियो जागो' प्रमुख हैं। कुल मिलाकर उनके सत्तर से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। अधिकतर उन्होंने सामाजिक, विशेषकर वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध प्रश्नों पर लिखा है। उनके विचार उग्र हैं और उनमें खंडन की प्रचण्डता और एक उत्साही सुधारक का जोश भरा है। 'हमारा समाज' का भी यही विषय है। अपने पक्ष की ऐतिहासिक सत्यता सिद्ध करते हुए एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

"स्मृतियों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रमाणों के अतिरिक्त ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं, जो सिद्ध करते हैं कि उस काल में जात-पांत-तोड़क विवाह प्रचलित थे। ईसा के दो शताब्दी पूर्व ब्राह्मण राजा अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया। इसी शताब्दी के एक लेख से प्रकट होता है कि श्रुतियों और स्मृतियों

comparision with Bacon and Aristotle.

के माननेवाले एक कट्टर ब्राह्मण ने एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया। चौथी शताब्दी में एक ब्राह्मण-परिवार की कन्या वैश्य के घर में ब्याही गई। प्रतिहार राजपरिवार के प्रवर्तक की दो पत्नियां थीं—एक ब्राह्मण और दूसरी शूद्र। दोनों पत्नियों की सन्तान एक ही घर में रहती थी। नवीं शताब्दी के राजा शेखर (ब्राह्मण) ने एक सुशिक्षित क्षत्रिय स्त्री से विवाह किया था। 'क्षत्रिय सागर' की कथाओं में हम पाते हैं कि आरम्भ में माता-पिता अपनी कन्या के लिए चारों वर्णों के घरों का चुनाव करते थे। फिर अपनी कन्या से पूछते थे कि वह किसको पसंद करती है। एक कहानी में अशोकदत्त नामक एक ब्राह्मण का एक राजकुमारी से विवाह होता है। इस विवाह का वर्णन करते हुए कथाकार कहता है, मानो विद्या और शील का सम्बन्ध हुआ हो। नवीं शताब्दी के आरम्भ तक जात-पांत-तोड़क विवाहों की आज्ञा थी। श्रुतियों और स्मृतियों में दृढ़ विश्वास रखनेवाले ब्राह्मण तक जात-पांत-तोड़कर विवाह करते थे। यह न समझना चाहिए कि आन्तरजातीय विवाह उस समय की साधारण प्रथा थी। साधारणतः विवाह अपनी ही जाति में होता था, पर यदि किसी विषय में समझा जाता था कि आन्तरजातीय विवाह अधिक उपयुक्त है तो स्मृतिकार कोई आपत्ति न करते थे। वे ऐसे विवाह के लिए अनुमति दे देते थे और सन्तानों को वही धार्मिक और सामाजिक अधिकार मिलते थे, जिनका पिता अधिकारी था।"[1]

संतराम सिद्धान्त के पक्के और कर्मठ लेखक हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के विभिन्न रूप हैं और सार्वजनिक कार्य तथा साहित्य-सेवा उनके बहुमुखी जीवन के ऐसे पक्ष हैं, जिनके कारण उनकी गणना समाज-सुधारक नेता और साहित्यकार दोनों में होती है। एक प्रकार से ये दोनों साधन और साध्य भी माने जा सकते हैं, क्योंकि संतरामजी ने साहित्य की रचना समाज-सुधार के लिए की और एक प्रकार से समाजोन्नति उनके साहित्य की बुनियाद बनी। उदाहरणार्थ जांतपात-विरोधी आन्दोलन के लिए उन्होंने 'जातपात तोड़ दो—क्यों ?' 'युगधर्म', 'हिन्दुओं संभलो', 'हमारा निराकार दानु', 'हमारी यह जातपात', 'वास्तविक उपाधि क्या ?', 'कौन जात ?', 'जातपात की समस्या और उसका समाधान', 'भारत का भविष्य', जातपात के बारे में कुछ कड़वे-मीठे अनुभव', 'अन्तर्जातीय विवाह ही क्यों ?', इत्यादि अनेक ग्रंथों की रचना समाज-सुधार के लिए ही की। लेखन के अतिरिक्त समाज-सुधार की दिशा में उन्होंने क्रियात्मक रूप से भी कार्य किये। सन् १९२९ के लाहौर कांग्रेस-अधिवेशन में संतरामजी के अथक प्रयत्नों से जातपांत तोड़ने के

[1] 'हमारा समाज'—पृष्ठ ४६

संबंध में एक विशेष सम्मेलन किया गया था, जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू और डा. प्रफुल्लचन्द्र राय के भाषण भी हुए थे। ऐसे परिश्रम और प्रयत्नों के कारण ही देश के प्रमुख नेताओं ने इन्हें क्रान्तिकारी साहित्यिक माना है। उनके इस रूप में हमें सामाजिक विषमता, बौद्धिक अन्धता और सांप्रदायिक संकीर्णता से उत्पन्न हुई व्यथा दिखाई देती है, जिसने विचारों में क्रान्ति जगा दी। इसी क्रान्ति की चिंगारियां हिन्दी को मिलीं, जिससे हिन्दी-साहित्य चमक उठा।

संतरामजी की गणना भले ही देश के मूर्धन्य नेताओं में न होती हो, किन्तु उनके कार्य का प्रकाश दीपक के जैसा अवश्य है। उन्होंने स्वयं कहा है—"समाज-सुधारक का जीवन एक दीपक के समान होता है। दीपक का प्रकाश बहुत बड़ा नहीं होता, यह दूर-दूर तक नहीं पहुंचता, परन्तु उसमें बैठकर आप काम कर सकते हैं।"[1]

समाज-सुधार की लगन के साथ हिन्दी-सेवा की धुन भी उनमें वैसी ही तीव्र है। साहित्य-निर्माण में संतरामजी का लक्ष्य 'स्वान्तः सुखाय' या मनोरंजन नहीं रहा है। सामाजिक चेतना ही उसका लक्ष्य रहा। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'हमारा समाज' और 'हमारे बच्चे' जैसी पुस्तकें लिखीं। 'क्रांति' और 'युगान्तर' पत्रों का प्रकाशन भी इसी निमित्त से हुआ था। सन् १९४१ में अबोहर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—"साहित्य का जो अर्थ आजकल लिया जाता है, उस अर्थ में मैं साहित्यिक नहीं हूं। मेरा कार्य-क्षेत्र अधिकतर समाज-सुधार है। मैंने स्कूल, कालेजों में उर्दू-फारसी पढ़ी थी। पीछे से जब राष्ट्रीय भावना जागृत हुई तो हिन्दी सीखी। कहने का अभिप्राय यह कि मैंने ब्रजमाधुरी का रसास्वादन करने अथवा सूर या तुलसी की, या बिहारी और मतिराम की कविता का आनन्द लूटने के लिए हिन्दी नहीं सीखी। इस विषय में मुझे ऋषि दयानन्द से प्रेरणा मिली है। मेरी धारणा है कि हिन्दी हमारी राष्ट्र-भाषा है। यह समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांध सकती है। यह हमें भारत-भूमि से प्रेम करना सिखाती है।"[2] इससे संतरामजी के विचार और उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। महर्षि दयानन्द और पुरुषोत्तमदास टंडन की तरह ही वह भी हिन्दी को राष्ट्र की एकता का प्रतीक मानते हैं और उसके प्रचार के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने पांच सौ से भी अधिक लेख लिखे और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराये। इनकी पहली रचना महावीरप्रसाद द्विवेदी

[1] 'श्री सन्तरामजी'—पृष्ठ ११
[2] 'श्री सन्तरामजी'—पृष्ठ ४६

comparision with Bacon and Aristotle.

की 'सरस्वती' में छपी, जिसकी प्रेरणा भी उन्हें द्विवेदीजी से ही मिली थी। फिर जालन्धर के 'पांचाल पंडितों' लाहौर के 'चांद' और 'सद्धर्म-प्रचारक' आदि में लेख लिखे और १९१४ में हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से ही 'ऊषा' नामक पत्र निकाला। १९१९ में कन्या महाविद्यालय की पत्रिका 'भारती' के और १९३२ में जातपांत-तोड़क-मंडल के पत्र 'युगान्तर' के संपादक रहे। वर्तमान काल में 'विश्वज्योति' पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। सन् १९१२ में इन्हें 'हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों की उन्नति के उपाय' नामक लेख पर काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'राधाकृष्णदास स्मारक रजत पदक' दिया गया था और 'स्कूलों के छात्रों की स्वास्थ्य-रक्षा' लेख पर इसी सभा से 'छन्नूलाल स्मारक पदक' प्रदान किया गया। संयुक्त पंजाब की सरकार द्वारा संतरामजी को 'अलबरुनी का भारत' पर १२०० और 'इत्सिंग की भारत यात्रा' पर ६०० रुपये के पुरस्कार प्राप्त हुए। भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने भी 'अलबरुनी के भारत' पर १२०० रुपये पुरस्कार स्वरूप दिये। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने भी १५०१ रुपये का महात्मा गांधी पुरस्कार देकर इनकी राष्ट्रभाषा की सेवा पर मोहर लगाई। इन सब सेवाओं के फलस्वरूप ही सन् १९४२ में संतरामजी ने अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन की साहित्य-परिषद के सभापति-पद का सम्मान भी पाया।

उन्होंने जो कुछ कहा, उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर बताया। उर्दू-फारसी में शिक्षा और दीक्षा लेकर भी हिन्दी का प्रचार किया और उसके प्रचारार्थ सारा लेखन-कार्य हिन्दी में ही किया। पंजाब सरकार ने मार्च १९६१ में इनका सम्मान करते हुए अपने अभिनन्दन-पत्र में लिखा था, "हिन्दी-प्रचार, साहित्य-सेवा और समाज-सुधार का तिरंगा झंडा लेकर आप सदा अपने पथ पर बढ़ते ही रहे, और आज तक बढ़ते चले आ रहे हैं। आपकी इस सत्यनिष्ठा और कर्तव्य-परायणता से प्रभावित होकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सिद्धान्त रूप में आपसे पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए कहा था कि मैं आपका ही काम कर रहा हूं।"[१]

वस्तुतः संतरामजी ने हिन्दी की जो सेवा की है[२] और सतत कर रहे हैं, उसे हिन्दी-जगत् कभी नहीं भूल सकता।

---

[१] 'श्री सन्तरामजी'—पृष्ठ ७८

[२] सन्तरामजी-लिखित पुस्तकें—

१. हिमालय-निवासी महात्माओं के अन्तिम दर्शन, २. मानसिक आकर्षण द्वारा व्यापारिक सफलता (अनूदित); ३. अलबरुनी का भारत (अनूदित) भाग १, २, ३; ४. एकाग्रता और दिव्य शक्ति (अनूदित); ५. गुरुदत्त-लेखावली (अनूदित); ६. कौतूहल

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

पंजाब के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में, जिन्होंने हिन्दी को अपनाया और बढ़ाया, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का स्थान बहुत ऊंचा है। यात्रा-सम्बन्धी साहित्य प्रस्तुत करनेवालों में स्वामी सत्यदेव प्रथम पंक्ति के लेखकों में थे। इंग्लैंड, जर्मनी और यूरोप के अन्य देशों के भ्रमण पर उन्होंने जो पुस्तक लिखी, उसे काफी ख्याति मिली। धार्मिक और सामाजिक विषयों पर तो उन्होंने एक दर्जन से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी-प्रचार और प्रसार के लिए उनका त्याग प्रशंसनीय है, क्योंकि उन्होंने अपनी समस्त संपत्ति अपने जीवनकाल में ही नागरी प्रचारिणी सभा को दे डाली थी। हिन्दी के लिए उनका यह सचमुच महान त्याग था। उनकी भाषा-शैली वर्णनात्मक और उपदेशात्मक है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम गांधीजी ने स्वामी सत्यदेव के जिम्मे किया और सन् १९१८ में स्वामी सत्यदेव ने देवदास गांधी के साथ दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के कार्य का श्रीगणेश किया और इस प्रकार उस बीज का वपन हुआ, जिसको अन्य कार्यकर्ताओं ने सींचा और आज जो विशाल वृक्ष के रूप में अपनी शाखा-प्रशाखाओं और फलफूलसहित हमारे सामने है। सत्यदेवजी की रचनाओं में 'स्वतंत्रता की खोज में—मेरी आत्मकथा', 'मेरी जर्मन-यात्रा', 'जर्मनी में मेरे

भण्डार; ७. मानव-जीवन का विधान (अनूदित); ८. आदर्श पत्नी; ९. आदर्श पति; १०. विवाहित प्रेम (अनूदित); ११. कर्मयोग (अनूदित); १२. इत्सिंग की भारत-यात्रा (अनूदित); १३. पंजाबी गीत; १४. दम्पत्ति मित्र; १५. शिशुपालन; १६. रति-विज्ञान; १७. रसीली कहानियां; १८. भारत में बाइबिल; १९. कामकुंज; २०. स्वर्गीय संदेश; २१. दयानन्द; २२. अतीत कथा; २३. नीरोग कैसे; २४. रति-विलास (अनूदित); २५. सद्गुणी बालक; २६. बाल सद्बोध; २७. वीर बाजीराव (अनूदित); २८. दयालु माता; २९. सद्गुणी पुत्री; ३०. बच्चों की बातें; ३१. रचना-प्रदीप; ३२. वीर गाथा; ३३. सुन्दरी-सुबोध; ३४. जान-जोखिम की कहानियां; ३५. विश्व की विभूतियां;

आध्यात्मिक प्रवचन', 'अमरीका-दिग्दर्शन', 'अनन्त की ओर', 'भारतीय समाजवाद की रूपरेखा', 'ज्ञान के उद्यान में', 'वेदान्त का विजय-मंत्र' प्रमुख हैं।

स्वामी केशवानन्द

प्राचीन काल से भारत में कई ऐसे सन्त संप्रदाय रहे हैं, जिनके सभी अनुयायी गृहस्थ का पूर्ण परित्याग कर संन्यास-जीवन व्यतीत करते थे। इनमें प्रमुख उदासीन, दादूपंथी, कबीरपंथी, रैदासपंथी संप्रदाय थे, जो आज भी विद्यमान हैं। अधिकतर ये संप्रदाय मध्यकालीन संतों की लिखी हुई वाणी को ही अपना धर्म-ग्रन्थ मानते हैं। साधारणतः आधुनिक काल में इन संत-संप्रदायों का साहित्य-सृजन अथवा काव्य-निर्माण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है, किन्तु ये सभी लोग अपने दैनिक जीवन और प्रचार आदि के कार्य में हिन्दी का प्रयोग करते हैं। इन संप्रदायों में उदासीन संप्रदाय अधिक विस्तृत और संपन्न है। यह संप्रदाय गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द्र को अपना आदिगुरु मानता है। पंजाब के विभिन्न भागों में उसका विशेष प्रभाव है, यद्यपि उसकी शाखाएं उत्तर प्रदेश और दक्षिण (आन्ध्र-प्रदेश) में भी हैं। यह संप्रदाय इस शोध-प्रबन्ध के लिए उल्लेखनीय इसलिए है कि इसकी एक शाखा के महन्त स्वामी केशवानन्द हैं, जिन्होंने पंजाब और राजस्थान

स्वामी केशवानन्द

३६. स्वदेश-विदेश-यात्रा; ३७. लोक-व्यवहार (अनूदित); ३८. महिला-मणिमाला; ३९. रणजीत-चरित; ४०. भारत के महापुरुष; ४१. सुशील कन्या; ४२. हरिसिंह नलवा; ४३. हमारा समाज; ४४. सुखी परिवार; ४५. हमारे बच्चे; ४६. उद्बोधिनी; ४७. व्यावहारिक ज्ञान; ४८. देश-देशान्तर की कहानियां; ४९. पंजाब की कहानियां; ५०. फलाहार; ५१. सफलता के सिपाही; ५२. लोक-विजय; ५३. चमत्कारों की दुनिया; ५४. सेवा-कुंज; ५५. रसभरी कहानियां; ५६. स्काउट बच्चों की कहानियां; ५७. जादू की नाव; ५८. मन-बहलाव की कहानियां; ५९. नदी की कहानी; ६०. सुनहली कहानी; ६१. नदी-किनारे की कहानी; ६२. आनन्द का जीवन; ६३. दादी की कहानियां; ६४. महाजनों की कहानियां; ६५. बड़े लोग; ६६. शिष्टाचार; ६७. जीने की कला; ६८. पहाड़ी प्रदेशों की कहानियां; ६९. सफल विक्रेता; ७०. आनन्दमय विचार; ७१. मेरे जीवन के अनुभव; ७२. अच्छी-अच्छी कहानियां।

में हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवा की है। स्वामी केशवानन्द फाजिल्का (पंजाब) की 'उदासीन' गद्दी के महन्त थे। आरंभ से ही सार्वजनिक कार्य, विशेषकर साहित्य-सेवा में उनकी रुचि थी। गद्दी की सारी सम्पत्ति उन्होंने हिन्दी पाठशालाओं, वाचनालयों आदि के खोलने में लगा दी। राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता होने के नाते सन् १९२० के सत्याग्रह-आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया और जेल भी गये। जेल से छूटने के बाद उन्होंने सन् १९२४ में अबोहर (पंजाब) में 'साहित्य-सदन' की स्थापना की। गत चालीस वर्षों से यह पंजाब में हिन्दी-प्रचार का प्रमुख केन्द्र माना जाता है। स्वामी केशवानन्द ने अबोहर में हिन्दी पाठशाला की स्थापना से कार्य आरंभ किया था। धीरे-धीरे यह पाठशाला अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं का केन्द्र बन गई और प्रतिवर्ष यहां से कई सौ विद्यार्थी हिन्दी की परीक्षा देने लगे। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन सन् १९४१ में स्व० अमरनाथ झा की अध्यक्षता में यहीं हुआ था। यह इस स्थान के महत्व का द्योतक है और इसका श्रेय स्वामी केशवानन्द को ही है।

अबोहर अपने हिन्दी पुस्तकालय, संग्रहालय और प्रकाशन-केन्द्र के लिए भी प्रसिद्ध है। इस संग्रहालय में हस्तलिखित कृतियों और प्राकृत, अरबी, फारसी, संस्कृत, गुरुमुखी, हिन्दी आदि की पुस्तकों को सुरक्षित रक्खा हुआ है। इस प्रकार यह संग्रह अबोहर के पुस्तकालय की अमूल्य निधि है। इसका कारण भी केशवानन्दजी की हिन्दी के विकास और शिक्षा के प्रसार में रुचि ही है। वह कला को शिक्षण में अनुपम तत्व मानते हैं और इसीलिए उन्होंने इन पच्चीस हजार हस्तलिखित पुस्तकों को चयन किया।[१] यहां का प्रकाशन-विभाग भी हिन्दी-साहित्य की अच्छी सेवा कर रहा है। बालोपयोगी तथा ग्राम-साहित्य को यहां विशेष महत्व दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उल्लेखनीय बात यह है कि यहां से 'सिख-इतिहास' नामक ग्रन्थ, जो १४०० पृष्ठों का है, निकल चुका है, जिससे हिन्दी-जगत् को एक नई वस्तु प्राप्त हुई है और मराठी संतों की तरह सिख सन्तों की वाणी से हिन्दी लाभान्वित हुई है। उसमें बहुत बड़ा भाग ऐसा है, जो देवनागरी लिपि में पहली बार प्रकाशित हुआ है और इसलिए हिन्दी-जगत् के सामने प्रथम बार आया है। स्वामी केशवानन्दजी ने स्वयं भी 'मरुभूमि सेवा-कार्य' नाम की एक पुस्तक लिखी है तथा हिन्दी में अनेक लेख भी लिखे हैं। स्वयं कुशल साहित्यकार न होने पर भी साहित्यकारों के लिए उनके मन में सदा आदर और सहानुभूति रहती है और आर्थिक संकट के समय उन्हें

१. 'स्वामी केशवानन्द अभिनंदन ग्रन्थ' (संस्मरण खण्ड)—पृष्ठ ४१

वह यथाशक्ति सहायता भी करते रहते हैं। इस प्रकार केशवानन्दजी मन, वचन और कर्म से हिन्दी-सेवा में तत्पर हैं।

अबोहर की तरह ही उन्होंने संगरिया, राजस्थान में भी एक ग्रामोत्थान विद्यापीठ की स्थापना करके हिन्दी-शिक्षा की बुनियाद रखी। यहां भी अबोहर के समान ही पुस्तकालय और वाचनालय के साथ-साथ संग्रहालय तथा प्रकाशन विभाग भी है। इसके प्रकाशन-विभाग से पुस्तकों के अतिरिक्त 'ग्रामोत्थान' नामक मासिक पत्रिका निकलती है। इस विद्यापीठ का सबसे महत्वपूर्ण कार्य स्त्री-शिक्षा है। यहां बालिकाओं तथा महिलाओं के लिए प्रौढ़-शिक्षा की विशेष व्यवस्था है। उनके इन सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों से हिन्दी को विशेष लाभ पहुंचा है। अतः हिन्दी भाषा के विकास में स्वामी केशवानन्द की सेवाओं का मूल्य गौण नहीं है।

जमनालाल बजाज

जमनालालजी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि बहुत कम पढ़े-लिखे होते हुए भी वह साहित्यिक थे और कभी कानून की किताब न देखे-भाले भी वह, सरदार पटेल के शब्दों में, 'कांग्रेस कार्यकारिणी के वकील थे।' उनका व्यक्तित्व ऐसा अद्भुत था कि साधारण न्यूनता उसमें लिप्त हो अपना अस्तित्व खो बैठती थी। यद्यपि यह बात उनके जीवन की सभी गतिविधियों पर लागू होती है, पर हिन्दी भाषा और साहित्य की जो सेवा उन्होंने की उसपर विशेषरूप से ठीक उतरती है। हिन्दी के प्रति उनका स्नेह इतना अधिक था कि निजी अभिव्यक्ति के लिए उसे लिपिबद्ध रचनाओं की अपेक्षा न थी। उनके पास इस स्नेह के प्रदर्शन के लिए और मार्ग थे, जो उन्हें सुलभ थे और जो

जमनालाल बजाज

भाषाओं के लिए साधारणतः दुर्गम होते हैं। उनका स्नेह भावनाओं से उमड़कर प्रायः भाषा का रूप ले लेता था और कभी उनका सेवा-व्रत और दृढ़ संकल्प उनके पत्रों और औपचारिक वक्तव्यों में साहित्यिक तत्व आरोपित कर देता था। इस प्रक्रिया के वर्णन में अथवा किसीको समझाने में कठिनाई हो सकती है, किन्तु जमनालालजी के योगदान को आंकना सहल है। इसी प्रकार उनके जीवन से सम्बन्धित किन्हीं घटनाओं के बारे में मतभेद हो सकता है, किन्तु उनके साहित्य-प्रेमी होने के विषय में सब एकमत हैं। इसका श्रेय जमनालालजी के सच्चे हिन्दी-प्रेम, उनकी व्यापक सहानुभूति और अचूक उदारता को है।

जमनालालजी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रहे, राष्ट्रभाषा प्रचार-सभा के मुख्य संचालकों में रहे और हिन्दी-साहित्य के प्रकाशनार्थ उन्होंने दो संस्थाओं की स्थापना की, एक बम्बई में (गांधी हिन्दी पुस्तक भंडार) और एक अजमेर में (सस्ता साहित्य मंडल)। सन् १९१८ में गांधीजी के सुझाव पर जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने दक्षिण में हिन्दी-प्रचार करने का निर्णय किया, उस कार्य के लिए साधन भी जमनालालजी के दान द्वारा ही जुटाये जा सके और स्वयं सक्रिय रूप से हिन्दी-प्रचार के लिए राजाजी के साथ सन् १९२९ में दक्षिण का दौरा किया। यही नहीं, अपने जीवन में उन्होंने आर्थिक सहायता द्वारा कई हिन्दी पत्रों को जन्म दिया और अनेक प्रचलित पत्रों को मरने से बचाया। पहली श्रेणी में आनेवाले पत्रों में 'हिन्दी नवजीवन' उल्लेखनीय है और दूसरी श्रेणीवालों में 'कर्मवीर', 'प्रताप', 'राजस्थान केसरी' आदि। "इन्हीं अथवा इस प्रकार के अनेक गुणों और सेवाओं के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्था ने आपको, बहुत शिक्षित न होने पर भी, अपने मद्रास-अधिवेशन का सभापति बनाया।"[१] उनके इसी व्यक्तित्व के कारण हिन्दी को 'श्रेयार्थी जमनालालजी', 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' और 'स्मरणांजलि', जैसी पुस्तकें प्राप्त हो सकीं।

इन सब सुअवसरों से जमनालालजी ने निजी भाषा के सुधारने में भी लाभ उठाया। शुरू में जब उनका गांधीजी से परिचय हुआ, उनका पत्र-व्यवहार बहुत सरल और कहीं-कहीं अशुद्ध हिन्दी में मिलता है। ४ अक्तूबर, १९२२ को यरवदा-जेल में गांधीजी से भेंट के पश्चात् अपनी डायरी में जो 'नोट' लिखा, उसका एक अंश इस प्रकार है—

"कौंसिल के बारे में उनसे कहा कि नागपुर प्रान्त अब हमारे ताबे में आ गया है। (हँसे) उन्होंने पूछा—दास का क्या मत है? मैंने कहा—अभी उन्होंने डिक्लेयर तो नहीं किया है, परन्तु वह जाना पसन्द करते हैं। उन्होंने पूछा—पंडितजी (मोतीलालजी) का क्या मत है? मैंने कहा—यह जाना पसंद नहीं करते। आपका क्या मत है? तब उन्होंने कहा—मेरा मत पहले से भी अब अधिक दृढ़ होता जाता है। अगर मुझे कुछ भी फेर-बदल करना आवश्यक मालूम होगा तो मैं यह खबर तुम लोगों के पास सुपरिन्टेन्डेन्ट की परवानगी से भिजवा दूंगा। परन्तु तुम लोग अब परिस्थिति देखकर अपना विचार करो। मेरे इस विचार का प्रचार मत करो। दास से मिलो तो उन्हें कहना, मेरा तो यही निश्चय है, जो मेरी उनसे खानगी बात हुई थी, सब था।"..[२]

[१] 'श्रेयार्थी जमनालालजी'—हरिभाऊ उपाध्याय—पृष्ठ १७९
[२] 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद'—पृष्ठ २४

इसमें भाषा भले ही इतनी अशुद्ध न हो, किन्तु शिथिल है। लेखक का अभिप्राय मन की बात कहना ही है, भाषाभिव्यंजना की ओर उसका ध्यान नहीं है। अब देखिये उनके इस अभिभाषण की भाषा, जो उन्होंने सन् १९३१ में मद्रास में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दिया—

"ये सारी प्रवृत्तियां ऐसी हैं कि इनमें साहित्य का अध्ययन करने या उसके रसास्वादन के लिए बहुत कम समय रह जाता है। देश की शक्ति बढ़ाने में साहित्य और शिक्षा का स्थान कितना महत्वपूर्ण है, इसका मुझे ख्याल है, इसलिए शिक्षा-शास्त्री और साहित्य-सेवियों के साथ प्रेम और मित्रता का संबंध जोड़ने की मैं हमेशा कोशिश करता आया हूं। लेकिन, साहित्य न तो मेरा क्षेत्र है और न साहित्य-सम्मान हासिल करने की मुझे कभी इच्छा या आशा ही रही है।"[१]

किन्तु ये साहित्यिक उक्तियां, जिनका उपयोग उन्हें यदा-कदा करना पड़ा, जमनालालजी की साहित्यिक प्रतिभा की द्योतक नहीं कही जा सकतीं। उनकी प्रतिभा वास्तव में उनके पत्रों में झलकती है। गांधीजी, महादेवभाई देसाई तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं के नाम लिखे गए उनके पत्रों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' में एक पत्र छपा है, जो जमनालालजी ने अपनी पचासवी वर्षगांठ के अवसर पर गांधीजी को लिखा था। भूमिका-लेखक काकासाहेब, कालेलकर के मतानुसार 'दुनियाभर के पत्र-साहित्य में यह पत्र एक अनोखा स्थान प्राप्त करेगा'। जमनालालजी लिखते हैं—

"मेरी कमजोरी मुझे इस प्रकार दिखाई दे रही है। अहिंसा व सत्य का आचरण कम होता दिखाई दे रहा है। डर है कि कहीं इसपर से श्रद्धा भी कम न हो जाय। इसी कारण असहनशीलता भी बढ़ रही है। क्रोध की मात्रा भी बढ़ती जा रही है। कामवासना बढ़ती हुई मालूम हो रही है। लोभ की मात्रा भी। इतने सब दुर्गुण या कमजोरी, जो मनुष्य अपने में बढ़ती हुई देख रहा है, फिर उसे जीने का मोह कैसे रह सकता है ? याने मानसिक कमजोरी के विचार तक की बात होती तो भी फिर प्रयत्न के लिए उत्साह रहता परन्तु जब शरीर की इन्द्रियों को भी मैं काबू में न रख पाता हूं यानी प्रत्यक्ष शरीर से पाप होता दिखाई देता है तब लाचार बन जाता हूं। ऊपरी हिम्मत तो बहुत ज्यादा रख रहा हूं, रखने का प्रयत्न भी करता रहूंगा, परन्तु मुझे आज यह अनुभव हो रहा है कि कहीं यही दशा रही तो या तो पागल की स्थिति पर पहुंच जाना संभव है या पतन के मार्ग पर जाने का भय है। इसलिए आज अगर स्वाभाविक मृत्यु का निमंत्रण आये तो मेरी आत्मा कहती है कि मुझे समाधान, शांति मिलेगी, क्योंकि मेरा भविष्य अंधेरे में दिखाई

१ 'श्रेयार्थी जमनालालजी'—पृष्ठ २७६

दे रहा हूं। मुझे आज यह विश्वास हो जाय कि मेरा पतन कभी नहीं होवेगा, मैं सत्य के मार्ग से नहीं हटूंगा, तो मुझमें फिर नवजीवन, उत्साह आना संभव है। मुझे इन वर्षों में बहुत-सी मानसिक चोटें लगी हैं, कुटुम्बियों द्वारा, मित्रों द्वारा, जिसके लिए मेरी तैयारी न थी। अगर इसी प्रकार चोटें लगती ही रहीं तो पागल होने के सिवा दूसरा क्या होवेगा ? मृत्यु तो मेरे हाथ की बात नहीं है। आत्महत्या में तो कायरता व पाप दिखाई देता है। क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आता। मेरे दिल का दर्द किसे कहूं ? कौन ऐसा है, जो प्रेम से मेरी मानसिक स्थिति को सुधार सकता है ? मेरा भरोसा तो आपपर व विनोबा पर ही था। परन्तु आपसे तो अब आशा कम होती जा रही है। शायद कोई समाधानकारक मार्ग निकल जाय।"[१]

ऐसी स्पष्टोक्ति और संकोचरहित आत्म-विश्लेषण वही व्यक्ति कर सकता है, जिसकी सत्य में अडिग आस्था हो और ऐसा पत्र ऐसे ही व्यक्ति को लिखा जा सकता है, जिसे लेखक सद्गुरु के समान मानता हो और उससे किसी भी प्रकार का दुराव न रखता हो।

यह स्पष्ट है कि अन्य साहित्यिकों की तरह जमनालालजी ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी की सेवा नहीं की, फिर भी सर्वसम्मति से वह हिन्दी के सेवक माने गए और उन्हें अपने जीवन में सभी सम्मान मिले, जो इस मान्यता के सूचक हैं। इसके कारणों पर कुछ प्रकाश डाल चुकी हूं, फिर भी काका कालेलकर के ये शब्द बहुत ही उपयुक्त हैं—

"गांधीजी को रचनात्मक कार्यक्रम के लिए पैसे तो कई लोगों ने दिये हैं। बिड़ला-बंधु, अहमदाबाद के व्यापारी, रंगूनवाले डा० प्राणजीवन मेहता, उत्कल के जीवराम कोठारी आदि से लेकर डा० रजबअली पटेल तक असंख्य लोगों ने गांधीजी को आर्थिक सहायता दी है, किन्तु गांधीजी के कार्य को अपना ही कार्य बनाने की शक्ति तो जमनालालजी ने ही दिखाई। खादी हो या इतर ग्रामोद्योग, गुजरात विद्यापीठ हो या राष्ट्र-भाषा-प्रचार, अस्पृश्यता-निवारण हो या गो-रक्षा, सब कार्यों में जो कुछ भी जोश या जिन्दापन आया, उसमें जमनालालजी के व्यक्तित्व का भाग कमोबेश अवश्य था। गांधीजी के इन सब पत्रों में इतना विश्वास पाया जाता है कि राष्ट्र-हित की हर बात में जमनालालजी उनके साथ हैं ही।"[२]

हरिभाऊ उपाध्याय

हरिभाऊ उपाध्याय ने भी गणेशशंकर विद्यार्थी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की भांति ही हिन्दी-सेवा से जीवन आरंभ किया और पहले-पहल

[१] 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद'—(प्रस्तावना)—पृष्ठ २४-२५
[२] 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद'—(प्रस्तावना)—पृष्ठ २७

'औदुम्बर' मासिक के प्रकाशन द्वारा हिन्दी-पत्रकारिता जगत में पदार्पण किया। सबसे पहले सन् १९११ में वह 'औदुम्बर' के सम्पादक बने। पढ़ते-पढ़ते ही उन्होंने इसके संपादन का कार्य आरंभ किया। एक प्रकार से 'औदुम्बर' से कई लेखकों व कवियों को प्रारंभिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सोहनलाल द्विवेदी की पहली 'फांसी' नामक कहानी इसीमें प्रकाशित हुई थी। डा० भगवानदास द्वारा 'भागवत का पद्यानुवाद' भी इसमें पहले-पहले क्रमशः प्रकाशित हुआ। डा० केसकर के हिन्दी-लेख भी इसमें प्रकाशित हुए तथा हिन्दी में वैज्ञानिक लेखों की परिपाटी का सूत्रधार भी यही पत्र कहा जा सकता है। डा० लक्ष्मीचन्द्र अग्रवाल ने, उस समय जिनके पास सबसे बड़ी और कई देशों की साइन्स की

हरिभाऊ उपाध्याय

डिग्रियां थीं, 'औदुम्बर' में हिन्दी में लेख लिखे। डा० प्रियवरुण ने भी, जिन्होंने अमरीका से डाक्टर की उपाधि पाई थी, प्राणतत्व पर हिन्दी में लेख लिखे। स्वामी सत्यदेव भी उन दिनों 'औदुम्बर' में लेख लिखते थे। इस प्रकार 'औदुम्बर' में विविध विद्वानों के विविध विषयों में लेखमाला निकली, जिससे हिन्दी भाषा की स्वाभाविक प्रगति हुई। इसका श्रेय हरिभाऊजी के उत्साह और लगन को ही है। सन् १९१५ में वह महावीरप्रसाद द्विवेदी के सान्निध्य में आये। हरिभाऊजी स्वयं लिखते हैं—"'औदुम्बर' की सेवाओं ने मुझे आचार्य द्विवेदीजी की सेवा में पहुंचाया।"[१] द्विवेदीजी के साथ 'सरस्वती' में कार्य करने के पश्चात् हरिभाऊजी ने 'प्रताप', 'हिन्दी नवजीवन' (सन् १९२१), तथा 'प्रभा' के सम्पादन में योग दिया और स्वयं 'मालव मयूर' (सन् १९२२) नामक पत्र निकालने की योजना बनाई, किन्तु यह पत्र अधिक दिन नहीं चल सका। सारांश यह कि एक अनुभवी और देशभक्त हिन्दी-पत्रकार होने के नाते हरिभाऊजी का ऐसा सौभाग्य रहा कि उन्हें पत्रकारिता और राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वप्रमुख नेताओं से निकट-सम्पर्क का अवसर मिला। महावीरप्रसाद द्विवेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी से तो उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो ही गया था, प्रथम सत्याग्रह-आन्दोलन के समय उनकी भेंट गांधीजी से भी हो

[१] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ३५

चुकी थी और निजी पत्रों के हिन्दी-संस्करण निकालने की योजनाओं में गांधीजी उपाध्यायजी पर विश्वास करने लगे थे। इसीलिए 'हिन्दी नवजीवन' के सम्पादन का भार उन्हें सौंपा गया था। गांधीजी के निकट के साथियों से भी उपाध्यायजी का परिचय होना स्वाभाविक था। इनमें प्रमुख थे जमनालाल बजाज, जो राजस्थान के मूल निवासी होने के कारण उपाध्यायजी की ओर अधिक आकृष्ट हुए, क्योंकि इनका भी उसी प्रदेश से सम्बन्ध था।

कालान्तर में इस सम्बन्ध के कारण उपाध्यायजी के जीवन में ऐसे परिवर्तन आये, जिन्होंने उन्हें पत्रकारिता की अपेक्षा राजनीतिक संगठन की ओर अधिक धकेला। यही कारण है कि हम उपाध्यायजी को पत्रकार महारथियों की श्रेणी में न रखकर उन्हें राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही मानते हैं। उनके जीवन का मध्य और प्रौढ़काल अधिकतर राजस्थान में बीता, जहां जमनालालजी और गांधीजी की देखरेख में वह भूतपूर्व देशी रियासतों में कांग्रेस के पक्ष में जनमत संगठित करने के कार्य में संलग्न रहे। उस समय के उनके संस्मरण और नेताओं से पत्र-व्यवहार ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रवृत्ति और स्वभाव से हरिभाऊ उपाध्याय लेखक हैं। उन्होंने कुछ भी किया हो और जो भी उनका कार्यक्षेत्र रहा हो, अपने संस्मरण तथा अनुभव लेखनी-बद्ध किये बिना वह नहीं रह सके हैं। यही कारण है कि वह कई ग्रन्थों के रचयिता हैं और अब भी बराबर लिखते रहते हैं। यद्यपि उन्होंने प्रायः सभी रचनाएं किसी उद्देश्य से और परिस्थितियों के दबाव के कारण की है, पर उनकी शैली में परिमार्जन और स्वाभाविक प्रवाह के दर्शन होते हैं। उनके लिए लेखन जीवनभर अनिवार्य रहा है। एक तो उनकी मातृभाषा हिन्दी है, तिसपर प्रमुख हिन्दी-पत्रिकाओं के सम्पादन से उनका सम्बन्ध रहा है और धुरन्धर आचार्यों से उन्होंने दीक्षा ली है, इसलिए उनके लेखन की भाषा अथवा अभिव्यक्ति पक्ष तो सबल होना ही था। जहांतक विचारों और सामग्री का प्रश्न है, उसके अभाव की पूर्ति भी सहज ही हो गई। राष्ट्रीय कार्यों की ओर उनकी प्रवृत्ति और गांधीजी तथा जमनालालजी जैसी विभूतियों से उनका निकट संपर्क उनके विचारों के विकास के लिए पर्याप्त था। उनकी रचनाओं में विचार-तत्त्व और सार्वजनिक जीवन के अनुभवों की प्रधानता है। स्वाधीनता के बाद से उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासनिक कार्यों के साथ सम्बन्ध रहने के कारण शिक्षा, ग्रामसुधार, सामाजिक तथा नैतिक उत्थान आदि समस्याओं पर हरिभाऊजी ने उपयोगी सुझाव दिये है। अहिंसा और सर्वोदय पर भी इधर उन्होंने काफी लिखा है। अभी तीन वर्ष पूर्व प्रकाशित 'सर्वोदय की बुनियाद : शान्ति-स्थापना' में हरिभाऊजी ने शान्ति-स्थापना का एक नया विचार देश के

सामने रक्खा है। एक प्रकार से यह पुस्तक विनोबाजी के शान्ति-सेना के प्रस्ताव के समर्थन में लिखी गई है। इसमें हिंसा का मुकाबला कैसे करें?—इसका उत्तर भी मिल जाता है। वह लिखते हैं —"परिवार हमारे ग्राम, समाज या राष्ट्र की इकाई हैं। अनेक परिवारों से मिलकर ग्राम, समाज या राष्ट्र का निर्माण होता है, अतः यदि परिवारों में शांति की स्थापना की जा सके, तो हमारा बहुत-सा काम सरल-सा हो जाता है। शांति की दिशा में यह एक बुनियादी कदम होगा।...इसीलिए तो 'शांति-सेवा-दल' का आन्दोलन अहिंसक समाज के निर्माण का आन्दोलन है, जीवन के नवीन मूल्यों की स्थापना का आन्दोलन है। यह व्यक्ति, परिवार, संस्था या ग्राम को इतना शक्तिशाली, इतना पवित्र और इतना उज्ज्वल बना देना चाहता है कि उनके आधार पर विश्व-शांति का महल बड़ी सरलता से बनाया जा सके।"[1] इसी विचार को गांधीजी ने भी कई वर्ष पूर्व व्यक्त किया था और 'शान्ति-सेना' के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये थे, किन्तु उन्हें वह बहुत व्यावहारिक नहीं लगे थे, इसीलिए गांधीजी ने उन विचारों को बहुत नहीं बढ़ाया। उनके अहिंसा-सम्बन्धी विचारों में ही ये विचार मिल गये।[2] अब जब विनोबाजी ने इस विचार को पुनः जगाया तब हरिभाऊजी ने उस सूत्र को पकड़कर अपने विचारों को पुस्तकरूप में लेख-बद्ध किया।

हरिभाऊ उपाध्याय की 'युग-धर्म' नामक पुस्तक भी, सर्वोदय-विचारधारा के अनुकूल वर्तमान युग में हमारा क्या कर्त्तव्य है, इन्हीं विषयों पर आधारित लेखों का संग्रह है। उपाध्यायजी लिखते हैं—"शाश्वत या सनातन धर्म मनुष्य के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही युग-धर्म भी, जोकि उसीका एक महत्वपूर्ण अंग है।... शाश्वत धर्म जब देश, काल, पात्र की मर्यादा में बंधता है तब वह युग-धर्म हो जाता है।"[3] 'भागवत-धर्म' तथा 'हिन्दी गीता' जैसी पुस्तकें धार्मिक विषय पर लिखी गईं उनकी सुन्दर रचनाएं हैं। उनका साहित्य बहु-पठनीय है, जिसमें बच्चों, विद्यार्थियों, प्रौढ़ों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के लिए पठनीय सामग्री है। 'हिन्दी-नवजीवन' का संपादन करते समय उन्हें कई नये अनुभव हुए, जिनके सम्बन्ध में उन्होंने सविस्तार लिखा है। एक स्थल पर वह लिखते हैं—

"स्वामी आनन्द[4] एक भूत की तरह काम करनेवाले आदमी थे। बाल-

---

[1] 'सर्वोदय की बुनियाद : शांति स्थापना'—पृष्ठ १६-२०।

[2] गांधी-सेवा-संघ के छठे अधिवेशन (१६४०) का विवरण—पृष्ठ १८-१६

[3] 'युगधर्म'-'दो शब्द' से

[4] 'नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद के तत्कालीन प्रधान व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी, गायत्री पुरश्चरण किये हुए, एक तेजस्वी ब्राह्मण हैं। उन्होंने जब कोई आज्ञा किसीको दी तो उसका पालन होना ही चाहिए। कार्य-तत्पर व कार्यदक्ष ऐसे कि मिनटों में महल खड़े कर दें व तेज मिजाज भी ऐसे कि मिनटों में उसे ढहा भी दें। खुद महात्माजी भी इसमें उनकी दाद देते थे।... स्वामीजी का आर्डर हुआ कि एक स्लिप में सात सतरें, एक सतर में पांच-छः शब्द साफ-साफ अलग-अलग लिखा कीजिये। फिर भी शुरू में प्रूफ संशोधन करते-करते मेरी नाकों दम आ जाता। 'पेपर' के दिन तो दिन-रात ही जागना पड़ता। फिर मेरा स्वास्थ्य तो खराब रहता ही था। मगर मैं न हारने का प्रण कर चुका था। पहला अंक निकलते ही स्वामीजी से टक्कर होने का अवसर आ गया।"[1]

'हिन्दी नवजीवन' के संपादन का कार्य गांधीजी की देखरेख में तथा उन्हींके निर्देशानुसार चलता था। गांधीजी के निजी विचार और उनके साथ घटनेवाली कोई भी घटना ऐसी नहीं हो सकती थी, जिसका सीधा प्रभाव नवजीवन के संचालन पर न पड़े। इसलिए हरिभाऊजी सदा सभी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करने के लिए उद्यत रहते थे। हरिभाऊजी जब 'मालव मयूर' के संपादक बने तो उसके लिए रातदिन जागकर बड़े परिश्रम से लेख लिखते। 'प्राचीन मालव' नामक लेखमाला ने हिन्दी पाठकों को विशेषरूप से आकर्षित किया। कुछ लोगों की ऐसी कल्पना हुई मानो लेखमाला के रूप में मेघमाला को देख मयूर नाच उठा हो और इस दृश्य को देख पाठक मुग्ध हो रहे हों। इन लेखों के सम्बन्ध में प्यारेलालजी ने लिखा था कि "यह शैली बिल्कुल नई है और इसके 'स्वगत' पाठकों में नवीन स्फुरण पैदा करते हैं।"[2] हरिभाऊजी के बापू-सम्बन्धी लेख भी बहुत लोकप्रिय हुए। उनके लेखों की समालोचना में एक पत्र ने लिखा था—"मालूम होता है महात्माजी ही जेल से लेख लिखकर भेज देते हैं।"[3] 'मालव-मयूर' निकालने की अपनी योजना के सम्बन्ध में हरिभाऊजी ने गांधीजी को लिखा, जिसका यह उत्तर आया था—"यदि साबरमती या वर्धा से पत्र निकालना चाहते हो तो श्री जमनालालजी से लिखा-पढ़ी करो। उनसे मेरी बातचीत हो गई है।" इस पत्र से हरिभाऊजी को जितनी खुशी हुई, उसका अनुमान उनके निम्न संस्मरण से लग सकता है—

"मैं तो उछल पड़ा। रोटी मांगी और अमृत मिला। न जाने कितने जन्मों का, किन-किन पूर्वजों का यह पुण्य उदय हुआ, जो साबरमती में पूज्य बापू के पास

[1] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ७६-८०

[2] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ८७

[3] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ८७

रहकर पत्र निकालने का अवसर प्राप्त हुआ। पत्र-व्यवहार करने की बजाय मैंने खुद ही जमनालालजी से मिल लेना अधिक पसन्द किया और मेरी इस मुलाकात में 'हिन्दी नवजीवन' की नींव पड़ी व बाद में, मेरे साबरमती रहते हुए भी, 'मालव मयूर' भी काशी से निकला।"[१]

जब वह 'मालव मयूर' और 'हिन्दी नवजीवन' का संपादन कर रहे थे, उनके लेखों से प्रभावित होकर कई लोगों ने उनसे संपादन अथवा लेखन-कार्य के लिए मांग की। इन मांग करनेवालों में एक मालवीयजी भी थे। उन्होंने हरिभाऊजी से कहा, "तुम मेरे पास क्यों नहीं रहते? जैसे गांधीजी के पास महादेवभाई हैं, वैसे मैं भी अपने पास किसीको रखना चाहता हूं। तुम्हारा काम व स्वभाव मुझे पसन्द है।"[२]

हरिभाऊजी ने मालवीयजी को उत्तर दिया, जो महादेवभाई के जैसा ही था। उन्होंने कहा—"महाराज, आपकी आज्ञा तो मुझे शिरोधार्य होगी, पर मैं 'हिन्दी नवजीवन' के लिए बापूजी को वचन देकर निश्चित कर चुका हूं।"[३]

हरिभाऊ उपाध्याय की हिन्दी-साहित्य को विशेष देन उनके द्वारा बहुमूल्य पुस्तकों का रूपान्तरण है। कई मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने जवाहरलालजी की 'मेरी कहानी' और पट्टाभि सीतारमैया द्वारा लिखित 'कांग्रेस का इतिहास' का हिन्दी में अनुवाद किया है।[४] संख्या में इतनी अधिक और ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तकों का हिन्दी-अनुवाद शायद ही और किसी ने किया हो। हरिभाऊजी का प्रयास हमें भारतेन्दु-काल की याद दिलाता है। तब प्रायः सभी हिन्दी-लेखक बंगला से हिन्दी में अनुवाद करके साहित्य की अभिवृद्धि करते थे। अनुवाद करने में भी उन्होंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि पुस्तक की भाषा लेखक

---

[१] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ७१

[२] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ६४

[३] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ६५

[४] हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित ग्रन्थ—
१. 'काबूर' (मराठी से—१६१८), २. 'मेरे जेल के अनुभव' (गांधीजी—१६२०), ३. 'जीवन का सद्व्यय' (अंग्रेजी—१६२०), ४. 'रागिणी' (वामन मल्हार जोशी—मराठी—१६३२), ५. 'आत्मकथा' (गांधीजी—१६२८-३०), ६. 'कांग्रेस का इतिहास'—प्रथम खण्ड (डा० पट्टाभि सीतारमैया—१६३५), ७. 'जीवन-शोधन' (कि. घ. मशरूवाला—१६३२), ८. 'मेरी कहानी' (जवाहरलाल नेहरू—१६३६), ६. 'गीता-प्रवचन' (विनोबा—१६४५), १०. 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' (विनोबा—१६५०), ११. 'सेवाधर्म' (अप्पासाहब पटवर्धन—१६४५), १२. 'आधुनिक भारत' (आचार्य जावडेकर—१६४५)।

की भाषा और उसके व्यक्तित्व के अनुरूप हो। अनुवाद पढ़ने से यह प्रतीत नहीं होता कि हम पुस्तक का अनुवाद पढ़ रहे हैं। यही अनुभव होता है मानो स्वयं मूल-लेखक की ही वाणी और विचारधारा अविरल रूप से उसी मूल स्रोत से बह रही हैं। इस प्रकार हरिभाऊजी ने अपने साथी जननायकों के ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य को व्यापकता प्रदान की है। निस्सन्देह हिन्दी को उनका योगदान अमूल्य है।

जिस प्रकार हरिभाऊजी मूक सेवक के रूप में अपने कार्यों द्वारा जनता के नेता बने, उसी तरह इन रचनाओं की साधना द्वारा साहित्यकार भी बने। साहित्यिक जगत में उन्होंने कभी नाम या यश के लोभ से नहीं लिखा। इसीलिए अपने संस्मरणों में वह लिखते हैं—

"मैंने अभी तक कहीं भी अपने नाम का प्रचार नहीं चाहा है। लेख-कवितादि छद्मनाम 'मालवमयूर', 'भारतभक्त' आदि नामों से देता रहता हूं। मेरा मत यह है कि मनुष्य को अपना नाम तब देना चाहिए जब उसके कार्यों से लोग उसे जानने के लिए उत्सुक हो उठें।"[१]

इसी आदर्श पर चलकर हरिभाऊजी में हिन्दी-सेवा और देश-सेवा का जो समन्वय हुआ, उसने उन्हें साहित्यकार और जननायक दोनों उपाधियों से विभूषित किया। गांधीजी के आशीर्वाद तथा स्व० जमनालाल बजाज की प्रेरणा से राजस्थान में रचनात्मक कार्यक्रम को गति देने तथा उसका संचालन करने के लिए जब वह गये तो हिन्दी की प्रमुख राष्ट्रीय एवं सार्वजनिक प्रकाशन-संस्था 'सस्ता साहित्य मंडल' की स्थापना भी उनके द्वारा हुई। उनके संपादकत्व में उससे हिन्दी की सुप्रसिद्ध तथा जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका 'त्याग-भूमि' निकली। साहित्य-क्षेत्र में आज भी उसकी याद की जाती है। उस पत्रिका ने आज के अनेक लेखकों, कवियों तथा राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को प्रेरणा, प्रोत्साहन दिया तथा प्रसिद्धि दी। हरिभाऊजी की अनेक पुस्तकें आज हिन्दी-साहित्य-जगत् को प्राप्त हो चुकी है। उनके नाम ये हैं—'बापू के आश्रम में' 'स्वतंत्रता की ओर', 'सर्वोदय की बुनियाद', 'श्रेयार्थी जमनालालजी', 'साधना के पथ पर', 'भागवत-धर्म', 'मनन', 'विश्व की विभूतियां', 'पुण्य-स्मरण', 'प्रियदर्शी अशोक', 'हिंसा का मुकाबला कैसे करें?', 'दूर्वादल (कविता-संग्रह)', 'स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य' और 'युगधर्म'। इन रचनाओं से हिन्दी-साहित्य निश्चय ही समृद्ध हुआ है। हरिभाऊजी की रचनाएं भाव, भाषा, और शैली की दृष्टि से बड़ी आकर्षक है। इनमें रस, मधुरता और उज्ज्वलता है।

[१] 'साधना के पथ पर'—पृष्ठ ८६

इनमें सत्य और अहिंसा की शुभ्रता है, धर्म की समन्वय-बुद्धि है और लेखनी की सतत साधना व प्रेरणा है।

घनश्यामदास बिड़ला

घनश्यामदास बिड़ला जैसे प्रसिद्ध व्यापारी और धनवान व्यक्ति में साहित्य-रुचि और लेखन-प्रतिभा का संयोग देखकर कुछ आश्चर्य अवश्य होता है। दिन-रात व्यापार के देन-लेन में और हिसाब-किताब में लगे रहनेवाले व्यक्ति में एक सुलेखक का समन्वय कदाचित् गांधीजी की समन्वयात्मक बुद्धि की देन हो। आरंभ से ही घनश्यामदासजी गांधीजी के संपर्क में रहे और उनकी देशभक्ति तथा पार-दर्शी विचारों को, गहरी तड़पती भावनाओं को उन्होंने निकट से देखा। उस सान्निध्य के कारण उन भावनाओं ने उनके हृदय में भी भावों का संचार किया। इसी आवेग में लेखनी को सहज ही गति मिल गई, ऐसा उनकी पुस्तकें देखने से ज्ञात होता है। वह स्वयं लिखते हैं—"गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यन्त निकट से, सूक्ष्मदर्शक यंत्र की भांति उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया।"[1] इसके साथ ही घनश्यामदासजी को स्वयं भी सतत जागरूक रहना पड़ा होगा, इसमें सन्देह नहीं। तभी वह उनके जीवन के हर पहलू को सूक्ष्मदर्शक यंत्र की तरह देख सके।

घनश्यामदास बिड़ला

उनकी सभी पुस्तकें गांधीजी से संबंधित या गांधीजी की प्रेरणा से लिखी गई हैं। संस्मरण उनका प्रमुख विषय है। सबसे पहले हिन्दी-संसार को उनसे 'बापू' और 'डायरी के पन्ने' मिली। बापू ने स्वयं इस पुस्तक के संबंध में लिखा है—"'बापू' अभी पूरी की। भाषा मधुर है। कोई जगह अश्लील की पुन-रुक्ति हो गई है। उससे भाषा के प्रवाह में कुछ क्षति नहीं आती।"[2] इसी पुस्तक के 'आदि-वचन' में महादेवभाई देसाई ने लिखा है—'सारी पुस्तक बिड़लाजी की तलस्पर्शी परीक्षण-शक्ति का सुन्दर नमूना है।[3] यह संपूर्ण पुस्तक ही उनकी भाषा-शैली के सुन्दर नमूनों से भरी हुई है। बिड़लाजी की पुस्तकों के अध्ययन से उनकी भाषा-शैली की सीधगता के साथ उनके धर्म-चिन्तन और धर्म-ग्रन्थों

[1] 'बापू'—पृष्ठ ६

[2] 'बापू'—पृष्ठ ४

[3] 'बापू'—पृष्ठ ११

के अध्ययन का ज्ञान भी होता है। स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए धर्म-ग्रन्थों की सूक्तियां दी है, गीता के श्लोकों से अपनी बात का मर्म बताया है तो आदर्श की व्याख्या के लिए तुलसी के दोहे भी आंके हैं। उदाहरणार्थ वह लिखते हैं—"गांधीजी के निर्णय-तर्क के आधार पर नहीं होते। तर्क पीछे आता है, निर्णय पहले बनता है। दरअसल शुद्ध बुद्धिवालों को निर्णय में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना पड़ता। एक अच्छी बंदूक से निकली हुई गोली सहसा तेजी के साथ निशाने पर जाकर लगती है। इसी तरह स्थितप्रज्ञ का दर्शन भी यंत्र की तरह झटपट बनता है, क्योंकि 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'।"[१] गांधीजी की श्रद्धा और अहिंसा की व्याख्या उन्होंने स्थान-स्थान पर की है। उसके विवेचन के लिए चुना एक दोहा देखिये। वह लिखते हैं कि "ऐसी गांधीजी की श्रद्धा और अहिंसा है—

"जो तोको कांटा बुवे, ताहि बोय तू फूल
तोको फूल को फूल है, वाको है तिरसूल।

"गांधीजी की यह मनोवृत्ति एकधार, अखंडित, शुरू से आखिर तक जारी है।"[२]

घनश्यामदासजी एक मौलिक विचारक हैं। उनकी रचनाओं को पढ़कर आश्चर्य होता है कि अभी तक लेखक-श्रेणी में इन्हें जो ऊंचा स्थान मिलना चाहिए वह क्यों नहीं मिला। इनमें वे सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जो एक सफल लेखक में होने चाहिए, अर्थात् सुन्दर भाषा, विचार-तत्व और कोमल कल्पना के साथ भावों की अनुभूति। यही कारण है कि तीस वर्ष से अधिक हुए जब बिड़लाजी अपने जीवन के अनुभवों को लेखनीबद्ध करने पर विवश हुए। सभी प्रकार की परिस्थितियां तथा मनोभाव इन्हें अभिव्यक्ति की ओर ले गये हैं। गांधीजी के साथ उन्होंने जब यूरोप-यात्रा की तो उसका वर्णन किये बिना न रह सके और वर्णन भी कैसा रोचक और सजीव किया है! जिस जहाज से वह गये उसीसे पं. मदनमोहन मालवीय भी गये थे। खानपान में छुआछूत के कारण उनकी जो दशा हुई, उसके बारे में बिड़लाजी लिखते हैं—"पंडितजी ने खाने में काफी कष्ट उठाया है। पंडितजी की प्रकृति के मनुष्य को ऐसे सफर में बहुत कष्ट है, किन्तु देश के लिए पंडितजी सबकुछ सहन कर लेते हैं। सच पूछिये तो पंडितजी की दृष्टि में यह जहाज नरक है, इंग्लिस्तान रौरव है। आज कहते थे—तुमने अच्छी-सी केबिन मेरे लिए सुरक्षित की, किन्तु यह है तो केबिन (कोठरी)

---

[१] 'बापू'—पृष्ठ १२०
[२] 'बापू'—पृष्ठ ११२

ही। यदि स्वदेश का काम न हो तो पंडितजी ऐसा सफर करने की स्वप्न में भी इच्छा न करें।"[१] वह आगे लिखते हैं —"महात्माजी की प्रार्थना रोज सुबह-शाम होती है। हिन्दुस्तानी आते हैं। अंगरेज दूर से ही नजर बचा के देखते रहते हैं। पंडितजी कहते थे कि 'जहाज कैदखाना है। देखो, कैसी लीला है! हम पैसे भी देते हैं और कैद में भी रहते हैं।' कल बेचैन होकर कहने लगे—

सीतापति रघुनाथजी, तुम लगि मेरी दौर;
जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर।

और ठौर यहां कहां सूझे।"[२] यह है बिड़लाजी के वर्णन का एक नमूना। सीधी-सरल भाषा में असली चित्र खींचा है। इसी पुस्तक में उन्होंने तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

बिड़लाजी के मानस तथा उनके लेखन के पीछे जो प्रेरणा है, उसे जानने के लिए 'गांधीजी की छत्रछाया में' को पढ़ना आवश्यक है। इस पुस्तक में अधिकतर लेखक का गांधीजी के और कुछ अन्य लोगों के साथ का पत्र-व्यवहार दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में की गई मुलाकातों आदि का विवरण भी है। लेखक के राजनीतिक विचार और गांधीजी में उनकी अगाध श्रद्धा का परिचय इससे मिलता है। किन्तु साहित्य की दृष्टि से सबसे अधिक मूल्यवान संभवतः घनश्यामदासजी के विचार-प्रधान निबन्ध हैं, जो 'बिखरे विचार' और 'रूप और स्वरूप' में संकलित किये गए हैं। ये निबन्ध-शैली की सजीवता और विषय-सम्पादन की हृदय-ग्राहकता के उत्तम नमूने हैं। लेखक का दृष्टिकोण आधुनिक है। उसमें यथार्थता है किन्तु आदर्शवाद की चाशनी का माधुर्य भी। रूप ही सबकुछ है और स्वरूप कुछ नहीं अथवा स्वरूप के सामने रूप की बात निरर्थक है, इस दलील को अव्यावहारिक मान बिड़लाजी लिखते हैं—"यह मान भी लें कि चाहे किसी भी नाम से पुकारो, गुलाब की गन्ध में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो भी यह मानना होगा कि गुलाब को यदि हम नरक के नाम से पुकारें तो अवश्य एक घृण पैदा होगी, चाहे उसमें सुगन्ध कितनी ही आती रहे। इसलिए साधारण मनुष्य गन्ध के साथ-साथ नाम और रूप पर भी मोहित है और उसने गुलाब का नाम गुलाब ही रखकर रूप की पूजा की और स्वरूप का तिरस्कार भी नहीं किया।"[३] इसी प्रकार 'लोक परलोक' शीर्षक निबन्ध में स्वर्ग और नरक के रूप-स्वरूप का वर्णन इस तरह करते हैं—"दूसरी ओर गीताकार ने भी

[१] 'डायरी के पन्ने'—पृष्ठ १४
[२] 'डायरी के पन्ने'—पृष्ठ १५
[३] 'रूप और स्वरूप'—पृष्ठ ६

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्' कहकर स्वर्ग की महिमा बढ़ाई है। पर उपयुक्त स्वर्ग और गीता का स्वर्ग दोनों एक ही प्रान्त की राजधानी हों, ऐसा नहीं लगता। गीता का स्वर्ग, पुनर्जन्म और मुक्ति समालोचना की कसौटी पर कसे जाने लायक मसाला है। पर इन सबका अर्थ स्पष्ट नहीं है। असलियत क्या है, इसकी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कल्पना ही की जा सकती है।"[1] बिड़लाजी अपने मन के भावों के अनुसार और अपनी रुचि तथा कल्पना की अनुभूति के आधार पर स्वर्ग और नरक का रूप देखते हैं। वह पुनः लिखते हैं—"मुझे तो लगता है कि गीता के स्वर्ग और नरक शायद इसी संसार में और अक्सर इसी शरीर में ही हमें मिल जाते हैं। तबीयत फुर्तीली होती है तो स्वर्ग का सुख अनुभव करते हैं और रोग में नरक का दुःख झेलते हैं। क्रोध या लोभ का भूत सवार हो गया तो समझिये कि नरक में पड़ गये; दया, उदारता की भावना उठती है तो स्वर्ग-सा लगता है।"[2] इतने कठिन विषय को बिड़लाजी ने इतनी सरल भाषा में व्यक्त किया है कि विषय सजीव और आकर्षक बन गया है। हिन्दी-निबन्धों में इस तरह की सरल भाषा और सजीव शैली कम ही मिलती है।

इस प्रकार घनश्यामदासजी गहरे चिन्तक, उत्तम लेखक और मौलिक विचारक के रूप में हमारे सामने है। वह केवल राजनीति में राष्ट्रीय और व्यापार में चतुर नहीं; सामाजिक विचारों में भी वह प्रगतिशील हैं। आदर्श गृहिणी और परदे की प्रथा पर उनके विचार देखिये—

"आदर्श गृहिणी कैसी हो इस सम्बन्ध में कहा है—

"कार्येषु मंत्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रंभा।
मनोनुकूला क्षमया धरित्री गुणैश्च भार्या कुलमुद्धरंती॥

"हमारी देवियों में चाहे और अनेक गुण आज भी विद्यमान हों, निश्चय ही वे 'कार्येषु मंत्री' की उपमा के योग्य नहीं हैं। और इसका सारा दायित्व पुरुषों पर ही है, जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए स्त्रियों का कर्त्तव्य केवल 'करणेषु दासी' और 'शयनेषु रम्भा' तक ही परिमित कर दिया है। परदे के कट्टर थल मिस्र और तुर्की में स्त्रियों को उन्नत बनाने की चाह और हिन्दुओं का लकीर के फकीर होना, यह हिन्दू संस्कृति पर एक कड़ा धब्बा है, जिसे धो डालना प्रत्येक विचारशील मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है।"[3]

घनश्यामदासजी ने 'ध्रुवोपाख्यान' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी

[1] 'रूप और स्वरूप'—पृष्ठ १६
[2] 'रूप और स्वरूप'—पृष्ठ १६
[3] 'बिखरे विचार'—पृष्ठ २६६

हो। यदि स्वदेश का काम न हो तो पंडितजी ऐसा सफर करने की स्वप्न में भी इच्छा न करें।"[१] वह आगे लिखते हैं —"महात्माजी की प्रार्थना रोज सुबह-शाम होती है। हिन्दुस्तानी आते हैं। अंगरेज दूर से ही नजर बचा के देखते रहते हैं। पंडितजी कहते थे कि 'जहाज कैदखाना है। देखो, कैसी लीला है! हम पैसे भी देते हैं और कैद में भी रहते हैं।' कल बेचैन होकर कहने लगे—

सीतापति रघुनाथजी, तुम लगि मेरी दौर;
जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर।

और ठौर यहां कहां सूझे।"[२] यह है बिड़लाजी के वर्णन का एक नमूना। सीधी-सरल भाषा में असली चित्र खींचा है। इसी पुस्तक में उन्होंने तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

बिड़लाजी के मानस तथा उनके लेखन के पीछे जो प्रेरणा है, उसे जानने के लिए 'गांधीजी की छत्रछाया में' को पढ़ना आवश्यक है। इस पुस्तक में अधिकतर लेखक का गांधीजी के और कुछ अन्य लोगों के साथ का पत्र-व्यवहार दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में की गई मुलाकातों आदि का विवरण भी है। लेखक के राजनीतिक विचार और गांधीजी में उनकी अगाध श्रद्धा का परिचय इससे मिलता है। किन्तु साहित्य की दृष्टि से सबसे अधिक मूल्यवान संभवतः घनश्यामदासजी के विचार-प्रधान निबन्ध है, जो 'बिखरे विचार' और 'रूप और स्वरूप' में संकलित किये गए हैं। ये निबन्ध-शैली की सजीवता और विषय-सम्पादन की हृदय-ग्राहकता के उत्तम नमूने हैं। लेखक का दृष्टिकोण आधुनिक है। उसमें यथार्थता है किन्तु आदर्शवाद की चाशनी का माधुर्य भी। रूप ही सबकुछ है और स्वरूप कुछ नहीं अथवा स्वरूप के सामने रूप की बात निरर्थक है, इस दलील को अव्यावहारिक मान बिड़लाजी लिखते हैं—"यह मान भी लें कि चाहे किसी भी नाम से पुकारो, गुलाब की गन्ध में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो भी यह मानना होगा कि गुलाब को यदि हम नरक के नाम से पुकारें तो अवश्य एक घृणा पैदा होगी, चाहे उसमें सुगन्ध कितनी ही आती रहे। इसलिए साधारण मनुष्य गन्ध के साथ-साथ नाम और रूप पर भी मोहित है और उसने गुलाब का नाम गुलाब ही रखकर रूप की पूजा की और स्वरूप का तिरस्कार भी नहीं किया।"[३] इसी प्रकार 'लोक परलोक' शीर्षक निबन्ध में स्वर्ग और नरक के रूप-स्वरूप का वर्णन इस तरह करते हैं—"दूसरी ओर गोलाकार में भी

[१] 'डायरी के पन्ने'—पृष्ठ १४
[२] 'डायरी के पन्ने'—पृष्ठ १५
[३] 'रूप और स्वरूप'—पृष्ठ ६

प्रेमी होने के नाते उन्होंने हिन्दी को अपनी लेखनी का माध्यम बनाया।

केवल लेखनी से ही नहीं, उससे भी अधिक धन से बिड़लाजी ने हिन्दी की अभिवृद्धि में सहायता की है। नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन को तो उनसे भरपूर सहायता मिली ही है, अन्य हिन्दी-संस्थाओं, प्रकाशकों तथा प्रचारकों की भी सहायता करके उन्होंने हिन्दी को आगे बढ़ाया है। वह दो बार अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष भी बने हैं। सन् १९३४ में हुए सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में, जिसके अध्यक्ष बड़ोदा-नरेश सयाजीराव गायकवाड़ चुने गए थे, स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए घनश्यामदासजी ने कहा था—"अगर हमें हिन्दी का भंडार भरना है और इस प्रकार इसे सब भाषाओं की चोटी पर पहुंचना है तो हमें प्रान्तीय भाषाओं से बहुत-कुछ लेना होगा।. . . . हिन्दी का हित इसीमें है कि उसे इस बात की स्वतंत्रता दे दी जाय कि वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, बंगला, तमिल, तेलुगु आदि सबसे व्यावहारिक और उपयुक्त शब्दों का आदान-प्रदान कर सके।"[1]

घनश्यामदासजी की अपनी रचनाओं से ही ज्ञात होता है कि वह कृत्रिम भाषा नापसन्द करते हैं और सरल, सीधी, सुन्दर भाषा ही उन्हें प्रिय है। इसी विचार को उन्होंने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था—"हर प्रकार की कृत्रिमता से हमें अपनी भाषा को बचाना चाहिए, चाहे उस कृत्रिमता का आधार पंडितों की संस्कृत हो, चाहे मौलवियों की अरबी या फारसी।"[2] उनकी भाषा इस दोष से मुक्त है और यह हम देख ही चुके हैं कि उनकी शैली कितनी हृदयग्राही और सरल है। रुपये की तरह भाषा में भी उन्होंने काफी किफायती वृत्ति से ही काम लिया है जैसे—"गन्दे कपड़े की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं, तो पानी और साबुन का क्या काम? वहां तो कीचड़ की जरूरत है।" "इतना ही कहा जा सकता है कि 'अधिकस्याधिकं फलम्' और स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—इसलिए ऐसी बात नहीं है कि बन्दूक की गोली दुश्मन के शरीर पर लगी तो सफल, वरना बेकार। यहां तो हार जैसी कोई चीज ही नहीं है। जितनी भी आत्मशुद्धि हुई, उतना ही फल।" यह है अहिंसा के फल का वर्णन। उन्होंने एक जगह और लिखा है—"आखिर जो भावातीत है, उसको कोई क्या समझावे? . . . सूर्य का प्रतिबिम्ब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं।" धर्म जैसे विषय के सम्बन्ध में भी उन्होंने कितने संक्षेप में लिखा है—'धर्म-धारण के माने

[1] 'बिखरे विचार'—पृष्ठ १८६

[2] 'बिखरे विचार'—पृष्ठ १८८

हैं जिसमें ध्रुव-चरित का सुन्दर आख्यान है। एक प्रकार से यह हमारे प्राचीन इतिहास-प्रणाली और भारतीय शैली का परिचायक है। इसमें "एक सुन्दर आख्यान के रूप में इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है।"

बिड़लाजी के इस साहित्य को पढ़कर शायद ही किसीके सामने उनका व्यापारी रूप प्रकट हो। वह रूप और परिचय हमें उनकी दो ही पुस्तकों से मिलता है। एक तो 'कर्जदार से साहूकार', जो उनकी अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है और दूसरी 'रुपये की कहानी'। इस पुस्तक के पीछे भी गांधीजी की ही प्रेरणा थी। गांधीजी हिन्दी भाषा का प्रवेश हर क्षेत्र में चाहते थे और इसीलिए उन्होंने बिड़लाजी से कहा था कि "हिन्दी में हुंडी और चलन पर एक ऐसी सरल पुस्तक लिखो, जो हर कोई आसानी से समझ ले।"[१] यह पुस्तक उसी आज्ञा, आग्रह और आशीर्वाद का फल है। इसमें एक सफल उद्योगपति के कौशल और चतुराई का दर्शन हम कर सकते हैं। व्यापार-उद्योग का जो ज्ञान उन्हें है, उसका क्रियात्मक परिणाम तो हम उनके जीवन में देखते ही हैं, इस पुस्तक में उसके सिद्धान्तों का दर्शन कर सकते हैं।

यहां मेरा अभिप्राय घनश्यामदास बिड़ला के उस जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना नहीं है। उनसे हिन्दी को कितना और कैसा योगदान मिला, यह बताना ही मेरा उद्देश्य है। उनकी ख्याति एक कुशल व्यापारी, एक देशभक्त तथा शिक्षा-प्रेमी के रूप में है। जिस व्यक्ति ने अपने प्रयास से और अपने ही जुटाये साधनों के बल पर अनेक सार्वजनिक संस्थाओं, विशेषकर शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं को जन्म दिया हो, यह आश्चर्य की बात होती, यदि उसकी प्रेरणा केवल बहिर्मुखी ही रहती और उसे अपने समृद्ध जीवन के विविध अनुभवों को व्यक्त करने की लालसा न होती। इस लालसा तथा प्रेरणा के दर्शन घनश्यामदासजी में आरम्भ से ही होते हैं। उन्होंने अपने प्रयत्नों को फलीभूत होते देखा है, इसलिए परिश्रम और अध्यवसाय तथा आत्मविश्वास की महिमा से अभिभूत होकर उनकी विचारधारा एक दर्शन के रूप में प्रस्फुटित होती दिखाई देती है। स्वभावतः अपनी असाधारण सफलता की कहानी वह समुचित गौरव के साथ प्रस्तुत करते हैं। विश्वविख्यात अमरीकी व्यापारी तथा मोटर-निर्माता हेनरी फोर्ड ने जब अपनी आत्मकथा लिखी तो बहुत कम लोगों का विश्वास था कि यह पुस्तक लोकप्रिय तो क्या पठनीय भी होगी। किन्तु जिस किसीने उस पुस्तक को देखा और पढ़ा, वह उससे अत्यधिक प्रभावित हुआ। इसी प्रकार बिड़लाजी के अनुभव तथा संस्मरण साहित्य और व्यापार-जगत में अपना विशेष स्थान रखते हैं। स्वयं अध्ययनशील और हिन्दी-

[१] 'रुपये की कहानी'—'समर्पण' से

और १९२५ में टंडनजी के साथ प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की। इन कार्यों के साथ भी वह साहित्य-साधना निरन्तर करते रहे। सन् १९२८ में अपनी 'वीर सतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी पाया। 'वीर सतसई' वीररस से पूर्ण कविताओं का सुन्दर संकलन है, जिसमें कवियों का परिचय और वीररस के काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है।

वियोगी हरि की विशेष रुचि हिन्दी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के सन्त-काव्य में है। उनकी 'संतवाणी', 'श्रद्धाकण', 'संत-सुधासार', आदि कृतियां इसके उत्तम उदाहरण हैं। वीर काव्य तथा संत-काव्य-संबंधी रचनाओं में, दोनों की रस-विभिन्नता के कारण, वियोगीजी की भाषा-शैली भी पृथक-पृथक है। वीररस के ग्रन्थों में भावों का गर्जन है तो सन्त-काव्य में श्रद्धा और आराधना की शांति तथा अलौकिक संतोष का शांत प्रवाह है। वियोगीजी ऐसे साहित्यिक हैं, जिनकी रुचि खोज और अनुसंधान के कार्य में सदा रही है। हरिजन-कार्य में जैसे नये-नये प्रयोग और खोज करते रहे, उसी प्रकार साहित्य में भी वह नये विचार और नई खोज सदा करते रहे हैं। इसीलिए इनके गद्य में एक विशेष गहराई है तथा इनके निबन्धों, लेखों, कहानियों और नाटकों आदि की पृष्ठभूमि साहित्यिक और ऐतिहासिक है।

वियोगीजी की हिन्दी-सेवा के माध्यम काव्य, कथा-साहित्य और पत्रकारिता रहे हैं। पत्रकार के रूप में इन्होंने 'हरिजनसेवक' के अतिरिक्त 'पतित-बन्धु' (पन्ना स्टेट) का संपादन १९३०-३१ में किया तथा आज दस वर्षों से हरिजन सेवक संघ के मुखपत्र 'हरिजन-सेवा' का संपादन कर रहे हैं। उनका दृष्टिकोण पूर्णरूप से राष्ट्रीय और सुधारवादी है, और इन्हीं गुणों से उनकी लेखनशैली प्रभावित हुई है। इनकी भाषा प्राजल और संस्कृतगर्भित है। उसमें एक संवेदनशील व्यक्ति की वेदना है और एक सुधाराकांक्षी विचारक का अर्मर्ष है। इनके साहित्य पर बौद्ध-साहित्य और भारतीय दर्शन के अध्ययन का प्रभाव है।

इस कठोर साहित्य-सेवा के लिए इन्हें १९४९ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि मिली। समाज की सेवा के साथ-साथ वियोगी हरि सदा साहित्य-सृजन में भी लगे रहे। उनकी प्रकाशित रचनाओं की संख्या भी काफी है।[1]

---

[1] वियोगी हरि-लिखित पुस्तकें—

१. वीर सतसई, २. संक्षिप्त सूरसागर, ३. ब्रजमाधुरी-सार, ४. शिवाबावनी (सटीक), ५. सूरदास विनयपत्रिका, ६. छद्मयोगिनी नाटिका (भारतेन्दु की चन्द्रावली

इन पुस्तकों के नामों से ही ज्ञात होता है कि इनमें नाटक, कहानियां और गद्यकाव्य के साथ-साथ संस्मरण-साहित्य का भी समावेश है। संतों की वाणी का संकलन है तो अस्पृश्यता और सर्वोदय-संबंधी-साहित्य भी । इस प्रकार वियोगी हरि की समाज-सेवा और साहित्य-सेवा दोनों ही एक-दूसरे की पूरक बनी हैं, जिससे हिन्दी को शक्ति मिली है।

शैली पर), ७. अन्तर्नाद ८. साहित्य-विहार, ९. प्रार्थना, १०. कवि-कीर्तन, ११. प्रबुद्ध यामुन नाटक, १२. विश्वधर्म, १३. पगली, १४. विनय-पत्रिका (सटीक), १५. अनुराग-वाटिका, १६. भावना, १७. वीरविरदावली. १८. तुलसी-सूक्ति-सुधा, १९. सूरदास-सुधा, २०. बुद्धवाणी, २१. संतवाणी, २२. मंत-सुधासार, २३. यों भी तो देखिये, २४. अनुराग-मंजरी, २५ श्रद्धाकण. २६. उद्यान, २७. बड़ों के प्रेरणादायक पत्र, २८. बापू, बाबा और सरदार, २९. सान्ध्य मनसई, ३०. ना पर मेरा, ३१. क्या कभी भूल सकता हूं! ३२. हरिजन-सेवक संघ से हरिजन-सेवा पर २५ लघु पुस्तिकाएं ।

अध्याय : १८

पत्रकार महारथी

हिन्दी-गद्य के विकास को सबसे अधिक सहायता हिन्दी पत्र और पत्रिकाओं से मिली। हमने देखा कि उन्नीसवीं शती के अन्त तक दो दैनिक और अनेक साप्ताहिक तथा मासिक कलकत्ता, प्रयाग, बनारस (वाराणसी) और अन्य स्थानों से निकलने आरम्भ हो चुके थे। बीसवीं शती के प्रथम दशक में तो पत्रों की स्थिति में और भी सुधार हो गया था। नागपुर से 'हिन्दी केसरी' (१९०३), कलकत्ता से 'भारतमित्र', (१९०५) काशी से 'इन्दु', (१९०४) प्रयाग से 'अभ्युदय', (१९०७) और 'मर्यादा' तथा दो वर्ष बाद ही कानपुर से 'प्रताप' (१९१०) का प्रकाशन होने लगा। उन्नीसवीं सदी में आर्यसमाज द्वारा उत्पन्न की गई समाज-सुधार की भावना और स्वामी दयानन्द के विचारों के व्यापक प्रचार की लगन इस उन्नति का कारण थी। बीसवीं सदी में समाज-सुधार के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। वास्तव में भारतेन्दु-युग में ही इस भावना के अंकुर दिखाई देने लगे थे, किन्तु देश की परिस्थितियों ने, विशेषकर वंगभंग आन्दोलन ने, राष्ट्रीय भावना को बीसवीं सदी के आरम्भ में अत्यधिक बल दिया।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के इस देशव्यापी आन्दोलन के पीछे कुछ कर्मठ और देशभक्त पत्रकार थे, जिनके त्याग और योगदान से हिन्दी परिमार्जित हुई और पत्रों द्वारा इसका देशभर में प्रचार हुआ। ये सभी पत्रकार महारथी राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थे और देश तथा हिन्दी की सेवा के हेतु इन्होंने अनेक कष्ट और यातनाएं सहीं। इसलिए हम इन्हें सच्चे अर्थों में जननायक कह सकते हैं और कुछ विस्तार से हिन्दी को उनके योगदान की चर्चा कर सकते हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी का प्रथम समाचारपत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' साप्ताहिक था, जो सन् १८२६ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। किन्तु हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र आज से प्रायः नव्वे वर्ष पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका था। 'समाचार-सुधावर्षक' नामक द्विभाषिक दैनिक पत्र सन् १८५४ ईस्वी में बड़ा बाजार कलकत्ता से श्री श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता था। यह पत्र हिन्दी और बंगला दोनों में प्रकाशित होता था। इसका प्रथम अंक उक्त सन् के जून में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसका जीवन-काल अत्यन्त ही अल्प रहा, पर हिन्दी पत्रों के इतिहास में प्रथम दैनिक होने का श्रेय यह अवश्य

प्राप्त कर गया। इसके फुटकर अंक बंग-साहित्य परिषद्, कलकत्ता, इम्पीरियल लाइब्रेरी तथा ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में सुरक्षित हैं।

"हिन्दी का दूसरा दैनिक पत्र सन् १८८५ ईस्वी में कानपुर से प्रकाशित हुआ। इस पत्र का नाम 'भारतोदय' था। जबतक 'समाचार-सुधावर्षक' का पता नहीं चला था, तबतक यही समझा जाता था कि हिन्दी का प्रथम दैनिक कानपुर का यह 'भारतोदय' ही था। इसके संस्थापक श्री सीताराम थे। यह पत्र सालभर से अधिक नहीं चल सका। तीसरा दैनिक 'हिन्दोस्थान' था, जिसे प्रकाशित करनेवाले कालाकांकर के प्रसिद्ध तथा प्रगतिशील राजा रामपालसिंह थे। राजासाहब इस पत्र को हिन्दी और अंग्रेजी में पहले इंग्लैण्ड से प्रकाशित करते रहे। भारत लौटने पर उन्होंने (१८८६ में) हिन्दी दैनिक के रूप में उसका प्रकाशन आरम्भ किया। पूज्यपाद मालवीयजी महाराज कुछ समय तक इसके सम्पादक थे।"[१]

बालमुकुंद गुप्त

राष्ट्रीय पत्रकारों की श्रेणी के प्रथम हिन्दी-पत्रकार स्वयं पं. मदनमोहन मालवीय थे। उनके व्यक्तित्व ने देशभक्त पत्रकारों की राष्ट्रीय परम्परा की नींव रखी। किंतु मालवीयजी अधिक समय तक सम्पादक न रहे। अपने स्थान पर उन्होंने बालमुकुन्द गुप्त को नियुक्त किया। जब 'हिन्दुस्तान' का प्रकाशन बंद हो गया तो गुप्तजी ने कलकत्ता के 'भारतमित्र' का सम्पादन करना आरम्भ कर दिया। गुप्तजी अपनी भाषा की चुस्ती और लोच के लिए प्रसिद्ध थे। उनके 'शिव शम्भु के चिट्ठे' हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। यह एक उर्दू पत्र के सम्पादक रहे थे, इसलिए उनकी भाषा में हिन्दी-उर्दू दोनों शैलियों के शब्दों का सुन्दर समावेश है। इसीके कारण बालमुकुन्दजी की भाषा में प्रवाह है, एक चटकीलापन है और एक विशेष लोच है, जो गम्भीर विषयों के विवेचन के साथ-साथ उनकी भाषा को हँसी-मजाक और चुटकी लेने की क्षमता भी प्रदान करती है। देखिये बंगभंग पर उन्होंने तत्कालीन भारत

बालमुकुंद गुप्त

१ 'भारतीय पत्रकारिता का विकास'—पृष्ठ ११८-९

के लाट को वया पत्र लिखा, जो अक्तूबर १९०५ के 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने लिखा था—

"आपके शासनकाल में बंगविच्छेद इस देश के लिए अन्तिम विषाद और आपके लिए अन्तिम हर्ष है। इस प्रकार के विषाद और हर्ष, इस पृथिवी के सबसे पुराने देश की प्रजा ने बारम्बार देखे हैं। महाभारत में सबका संहार हो जाने पर भी घायल पड़े हुए दुर्मद दुर्योधन को अश्वत्थामा की यह वाणी सुनकर अपार हर्ष हुआ था कि मैं पांचों पाण्डवों के सिर काटकर आपके पास लाया हूं। उसी प्रकार सेना-सुधार रूपी महाभारत में जंगी लाट किचनर रूपी भीम की विजय-गदा से जर्जरित होकर पदच्युति-हृदय में पड़े इस देश के माई लार्ड को इस खबर ने बड़ा हर्ष पहुंचाया कि अपने हाथों से श्रीमान् को बंग-विच्छेद का अवसर मिला—इसी महाहर्ष को लेकर माई लार्ड इस देश से विदा होते हैं, यह बड़े सन्तोष की बात है! अपनों से लड़कर श्रीमान् की इज्जत गई या श्रीमान् ही गये, उसका कुछ ख्याल नहीं है, भारतीय प्रजा के सामने आपकी इज्जत बनी रही, यही बड़ी बात है। इसके सहारे स्वदेश तक श्रीमान् मूछों पर ताव देते चले जा सकते हैं।

"श्रीमान् के खयाल के शासक इस देश ने कई बार देखे हैं। पांच सौ से अधिक वर्ष हुए तुगलक-वंश के एक बादशाह ने दिल्ली को उजाड़कर दौलताबाद बसाया था। पहले उसने दिल्ली की प्रजा को हुक्म दिया कि दौलताबाद में जाकर बसो। जब प्रजा बड़े कष्ट से दिल्ली को छोड़कर वहां जाकर बसी तो उसे फिर दिल्ली को लौट आने का हुक्म दिया। इस प्रकार दो-तीन बार प्रजा को दिल्ली से देवगिरि और देवगिरि से दिल्ली अर्थात् श्रीमान् मुहम्मद तुगलक के दौलताबाद और अपने वतन के बीच में चकराना और तबाह होना पड़ा। हमारे इस समय के माई लार्ड ने केवल इतना ही किया है कि बंगाल के कुछ जिले आसाम में मिलाकर एक नया प्रान्त बना दिया है। कलकत्ता की प्रजा को कलकत्ता छोड़कर चटगांव में आबाद होने का हुक्म तो नहीं दिया। जो प्रजा तुगलक जैसे शासकों का खयाल बरदाश्त कर गई, वह क्या आजकल के माई लार्ड के एक ख्याल को बरदाश्त नहीं कर सकती है?

"सब ज्यों-का-त्यों है। बंगदेश की भूमि जहां थी वहीं है और उसका हरेक नगर और गांव जहां था वहीं है। कलकत्ता उठाकर चीरापूंजी के पहाड़ पर नहीं रख दिया गया और शिलांग उड़कर हुगली के पुल पर नहीं आ बैठा। पूर्व और पश्चिम बंगाल के बीच में कोई नहर नहीं खुद गई और दोनों को अलग-अलग करने के लिए बीच में कोई चीन की-सी दीवार नहीं बन गई है। पूर्वी बंगाल, पश्चिम बंगाल से अलग हो जाने पर भी अंग्रेजी शासन ही में बना हुआ है और पश्चिम बंगाल भी पहले की भांति उसी शासन में है। किसी बात में कुछ फर्क नहीं पड़ा।

खाली ख्याली लड़ाई है। बंगविच्छेद करके माई लार्ड ने अपना एक खयाल पूरा किया है। इस्तीफा देकर भी एक खयाल ही पूरा किया और इस्तीफा मंजूर हो जाने पर इस देश में रहकर भी श्रीमान् का प्रिन्स आफ वेल्स के स्वागत तक ठहरना एक खयाल मात्र है।"[1]

'शिवशम्भू का चिट्ठा' का विषय सदा राजनीतिक ही नहीं होता था। इसकी परिधि में सामाजिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के विषय आते थे। वास्तव में साहित्य-जगत में 'भारतमित्र' के इस स्तम्भ की ख्याति उस समय ही हुई थी जब गुप्तजी के 'सरस्वती' में प्रकाशित पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुछ व्याकरण-संबंधी संशोधन प्रकाशित हुए थे। उन संशोधनों के उत्तर में कुछ लेख गुप्तजी ने लिखे और इस प्रकार 'सरस्वती' और 'भारतमित्र' में एक विवाद चल पड़ा था, जिससे हिन्दी पत्रों के पाठकों का बहुत मनोरंजन हुआ। 'शिवशम्भू का चिट्ठा' सम्पादकीय स्तम्भ नहीं था, किन्तु बालमुकुन्द गुप्त यह लेख अधिक सजीव और रोचक भाषा में लिखते थे और यह अग्रलेख के सहायक स्तम्भ के रूप में प्रकाशित होता था। गुप्तजी की शैली और निजी विचारों का परिचायक यही स्तम्भ माना जाता है। 'शिव शम्भू का चिट्ठा' ने हिन्दी पत्रकारिता में एक नई परिपाटी को जन्म दिया, जो 'चौबेजी का चिट्ठा' और 'पंडितजी का पत्र' आदि शीर्षकों से विभिन्न पत्रों में चलती रही।

किन्तु बालमुकुन्द गुप्त का रेखा-चित्र उनके हास्य और व्यंग से परिपूर्ण लेखों बिना अधूरा रहेगा। ये व्यंग गद्य और पद्य दोनों में लिखे गए हैं। गुप्तजी की गद्य-शैली का दिग्दर्शन हम कर चुके हैं और उनकी हल्की-फुल्की भाषा का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। अब उनके पद्यमय हास्य देखिये। 'भैंस का मरसिया' उनका प्रसिद्ध व्यंग है—

"बढ़े दिल की क्योंकर न "य बेकरारी
जो मर जाय यों भैंस लाला तुम्हारी ?
.. .. ..
"बता तो सही भैंस तू अब कहां है,
तू लाला की आंखों से अब क्यों निहां है ?"[2]

कोरे व्याकरण के ज्ञाता का भी उन्होंने खूब खाका खींचा है :

"कलयुगदास कहे कर जोरे, यह सिद्धान्त हमारा
अपनी आप गाय के महिमा, हो भवसागर पारा।"[3]

---

[1] 'बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली'—पृष्ठ २१७-८
[2] 'बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली'—पृष्ठ ७२३-४
[3] 'बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली'—पृष्ठ ७२३

ऐसे व्यंगों और हास्योक्तियों ने गुप्तजी की सम्पादन-कला को व्यापक और रोचक रूप दे दिया था।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर

बालमुकन्द गुप्त के बाद हिन्दी-पत्रकारिता के नभमंडल में कुछ महाराष्ट्रीय सज्जन आये, जिनके कारण हिन्दी-पत्रों का स्तर ऊंचा उठा और जिन्होंने अपने परिश्रम से इस वृत्ति को ऊंचा उठाया और भाषा को ओज प्रदान किया। इन महानुभावों में सर्वप्रथम गोविन्द शास्त्री दुगवेकर हैं। ये हिन्दी के विद्वान् थे और इन्हींकी प्रेरणा और सक्रिय सहायता से बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा लक्ष्मणनारायण गर्दे ने हिन्दी-पत्रकारिता में प्रवेश पाया और इसे लोक-सेवा-वृत्ति के रूप में अपनाया।

मराठी भाषा-भाषी दुगवेकर हिन्दी-पत्रकारों में अग्रणी थे। पत्रकारिता, समाज-सेवा तथा देशभक्ति का प्रथम पाठ इन्होंने लोकमान्य तिलक से सीखा था। आरम्भ से ही सार्वजनिक कार्यों की ओर प्रवृत्त होने के कारण इन्होंने पत्रकार बनने का निश्चय किया। उनकी मातृभाषा मराठी थी, किन्तु इन्होंने हिन्दी के माध्यम से जनसेवा का व्रत लिया। सबसे पहली पत्रिका, जिसका सम्पादन इन्होंने सम्भाला—'हिन्दूपंच' थी। यह पत्रिका पहले मराठी में निकलती थी। दुगवेकरजी ने इसका हिन्दी-संस्करण निकालना आरम्भ किया। यहीं से इनके पत्रकार जीवन का आरम्भ होता है। तत्पश्चात जैसे ही इनका कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र से काशी में स्थानान्तरित हुआ, इनकी हिन्दी-सेवा की भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। वहां रहते हुए इन्होंने कई पत्रों का सम्पादन किया, जिनमें प्रमुख थे—'गृहस्थ', 'भारतेन्दु', 'आर्य महिला', 'अरुणोदय', 'बालबोध', तथा 'भारत धर्म'। इनकी यह दृढ़ धारणा थी कि हिन्दी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है और हिन्दी-साहित्य की सेवा राष्ट्र की सच्ची सेवा है। कई हिन्दी-पत्रों का सम्पादन करने के अतिरिक्त दुगवेकरजी की हिन्दी-पत्रकारिता को एक और बड़ी देन है। इनके सम्पर्क
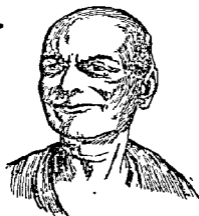
गोविन्द शास्त्री दुगवेकर

से तथा इनकी प्रेरणा से कई और पत्रकार तैयार हुए, जैसे बाबूराव विष्णु पराड़कर, माधवराव सप्रे, लक्ष्मणनारायण गर्दे और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी। दुगवेकर इन सबके एक प्रकार से गुरु बने।

दुगवेकर यदि वृत्ति से पत्रकार थे तो स्वभाव और प्रतिभा से कुशल नाटककार और नाट्य-लेखक। भारतेन्दु-नाटक-मंडली की स्थापना १९०६ में हुई थी। तबसे दुगवेकर ही उसके सबसे अधिक सक्रिय कार्यकर्ता रहे। इन्होंने भारतेन्दु और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों का अभिनय किया और स्वयं अनेक नाटक हिन्दी में लिखे। इस प्रकार हिन्दी-रंगमंच की प्रतिष्ठा की। इनके नाटकों में सबसे प्रसिद्ध हैं—'सुभद्रा-हरण', 'हर हर महादेव', और 'मालविकाग्निमित्र'।

अपने साठ वर्षों के सार्वजनिक जीवन में दुगवेकरजी ने पत्रकारिता और रंगमंच के माध्यम से राष्ट्रीय और प्रगतिशील विचारधारा का प्रचार किया तथा हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति और उसके प्रसार में भी योगदान दिया।

बाबूराव विष्णु पराड़कर

श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर का नाम हिन्दी-सम्पादकों की प्रथम श्रेणी में आता है। उनका अधिकांश समय 'आज' का सम्पादन करते बीता। "पराड़करजी जैसे प्रौढ़, गम्भीर तथा आदर्शवादी सम्पादक के नेतृत्व में 'आज' ने भाषा, भाव और शैली, विचार, विवेचन तथा विविधता, मौलिकता, नवीनता तथा गम्भीरता, आदर्शवादिता, जनसेवा तथा निर्भीकता की दृष्टि से दैनिक पत्रों के सामने नये धरातल की सृष्टि कर दी।"[१] इसका अधिकतर श्रेय पराड़करजी को ही था। 'आज' का सम्पादक नियुक्त होने से कुछ ही दिन पहले वह भागलपुर में नजरबन्द थे। कलकत्ता में कई वर्ष रह चुकने और क्रान्तिकारी युवकों से सम्पर्क रखने के कारण उनपर सरकार की सदा कड़ी नजर रही।

बाबूराव विष्णु पराड़कर

पराड़करजी ने हिन्दी-पत्रकारिता-जगत में १९०६ में प्रवेश किया। उनकी नियुक्ति कलकत्ता के 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादनार्थ हुई। वहां से दो साल बाद वह 'हितवार्ता' चले गए, जहां उन्होंने कुछ नये प्रयोग किये। सम्पादकीय

[१] 'पत्र और पत्रकार'—पृष्ठ १२१

नीति में राजनीति को प्रधानता दी और एक सामाजिक पत्रिका को राजनीतिक पत्रिका का रूप दे डाला। इसके बाद वह 'भारतमित्र' में चले गए और वहां अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के साथ काम करने लगे। यहां उन्हें दैनिक के सम्पादन तथा संचालन का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ। वह पत्रकार कैसे बने, इस संबंध में निजी संस्मरणों में पराड़करजी ने लिखा है—

"पत्रकारिता मैंने अपनाई नहीं, बल्कि मेरे गले पड़ी। पचास वर्ष पहले की बात है। सन् १९०५ में कांग्रेस बनारस में हुई थी। इसी अवसर पर मुझे लोकमान्य तिलक के दर्शन और निकट सम्पर्क का सौभाग्य मिला था। उन्हीं दिनों मेरे मामा, श्री सखाराम गणेश देउस्कर भी काशी आये थे। श्री देउस्कर की बातचीत तथा उनकी राष्ट्रीय विचारधारा ने मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया। हृदय में उदय होती राष्ट्रीय भावना को बल और विस्तार मिला। देश को स्वाधीन देखने की आकांक्षा के कारण ही मैंने डाक-तार-विभाग की सरकारी नौकरी का नियुक्ति-पत्र आ जाने पर भी वहां जाना अस्वीकार कर दिया।

"इसी बीच उस समय कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी बंगवासी' में सहायक सम्पादक की आवश्यकता का विज्ञापन निकला था। मैंने देखा, अवसर अच्छा है। अतः एक कार्ड पर आवेदन-पत्र लिखकर भेज दिया। आवेदन-पत्र की शैली से प्रसन्न होकर हिन्दी बंगवासी के सम्पादक, श्री हरेकृष्ण जौहर ने मुझे नियुक्ति-पत्र भेज दिया।

"सन् १९०६ में कलकत्ता गया था और १९११ में मैं संयुक्त सम्पादक बन गया।...पत्रकारी में बहुत जल्द सफल हुआ। कलकत्ता में मैं गुप्त समितियों में काम करने गया था, पत्रकार होने नहीं। पत्रकारिता तो मेरे गले पड़ी।"

पराड़करजी विचारक थे और स्वभाव से अध्ययनशील। अपनी हिन्दी-सेवा और विद्वत्ता के कारण ही अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन (१९३८) के अध्यक्ष बनाये गए और उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि दी गई। १९५३ में वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा आयोजित अभिनन्दन-समारोह के अवसर पर अहिन्दी-भाषी महान हिन्दी-साहित्य-सेवियों को दिया जानेवाला १५०१ रुपये का 'महात्मा गांधी पुरस्कार' पराड़करजी को भेंट किया गया। इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी उन्हें सम्मानित किया गया।

पराड़करजी ने हिन्दी पत्रों की भाषा का स्तर ऊंचा किया। उनका सम्पादकत्व काल हिन्दी पत्रों के गौरव का युग था।

लक्ष्मणनारायण गर्दे

लक्ष्मणनारायण गर्दे को भी पराड़करजी की तरह परिस्थितियों ने पत्रकारिता की ओर अनायास धकेल दिया। ये भी उसी प्रकार कट्टर देशभक्त, विचारक और सुन्दर लेखक थे। भेद केवल इतना था कि पराड़करजी की अपेक्षा यह अधिक फक्कड़ और विनोद-प्रिय थे। लगभग चालीस वर्ष तक गर्देजी बराबर किसी-न-किसी हिन्दी-पत्र का सम्पादन करते रहे। इस कला की दीक्षा इन्होंने 'भारतमित्र' में ली और वहां कुछ समय तक सम्पादक भी रहे। उसके बाद वर्षों तक गर्देजी का जीवन अनिश्चित-सा रहा। वह कहीं एक साल तक टिक पाये और कहीं इससे भी पहले काम छोड़ नौकरी की खोज करनी पड़ी। पर उन्हें दैनिक अथवा साप्ताहिक मिलते सदा रहे। लखनऊ के 'नवजीवन' में वह टिक सके और इस दैनिक को पांव पर खड़ा करना उन्हींका काम था। इसके बाद काशी से प्रकाशित 'सन्मार्ग' दैनिक का उन्होंने सम्पादन किया, जो वह जीवन के अन्तिम दिनों तक करते रहे।

लक्ष्मणनारायण गर्दे

गर्देजी को लोकसेवा की भावना और हिन्दी के प्रति अनुराग और सम्पादन-कार्य से विशेष अनुराग था।

अपने सम्बन्ध में 'विशाल भारत' में (अक्तूबर, १९३१) गर्देजी ने लिखा था—

"सन् १९०८ के अन्त की ओर जब मैं फर्स्ट ईयर में पढ़ता था, थाने के मराठी 'हिन्दू पंच' के हिन्दी संस्करण के निकलने की बात चली। मेरे मित्र पं. गोविन्द शास्त्री दुगवेकर ने पत्र-व्यवहार से मेरे लिए यह उपाय किया कि मैं ही इस हिन्दी संस्करण का सम्पादक बनूं। मैं कालेज छोड़कर बम्बई से कुछ स्टेशन इधर थाने पहुंचा। ... शायद एक या दो दिन 'हिन्दू पंच' आफिस में रहा। ... मेरा उस समय का आदर्शवादी और साथ ही चंचल मन यहां से चलायमान हुआ और मैं, न पास में पैसा न किसीसे जान-पहचान की हालत में, पूना का एक चक्कर लगाकर बम्बई पहुंचा।"

गर्देजी की हिन्दी-सेवाएं प्रशंसनीय हैं। इनके लेखों आदि का संग्रह हाल ही में छपा है। हिन्दी-पत्रकारिता के द्वारा उन्होंने इस भाषा का मान-दण्ड ऊंचा किया और हिन्दी के विकास में योगदान दिया।

माधवराव सप्रे

माधवराव सप्रे भी उन पुराने हिन्दी-पत्रकारों में थे, जो लोकमान्य तिलक के प्रभाव में आये थे और देशसेवा को ही जिन्होंने जीवन का ध्येय बना लिया था। सप्रेजी मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं के अच्छे विद्वान थे। जब लोकमान्य तिलक ने पूना से 'केसरी' का प्रकाशन आरम्भ किया और कुछ ही समय में यह पत्र चल निकला, तो लोकमान्य के विचारों के प्रचार के लिए 'केसरी' के हिन्दी-संस्करण की मांग होने लगी। तब माधवराव सप्रे के सम्पादकत्व में नागपुर से 'हिन्दी केसरी' साप्ताहिक निकाला गया। १९०७ में इसका प्रकाशन शुरू हुआ और एक वर्ष में ही पत्र की धाक जम गई। हिन्दी केसरी में अधिकतर लोकमान्य तिलक के मराठी में प्रकाशित लेखों का हिन्दी-रूपान्तर रहता था। उस समय यद्यपि हिन्दी-क्षेत्रों से कई पत्रिकाएं छप रही थीं, किन्तु सबसे अधिक लोकप्रिय हिन्दी पत्र 'हिन्दी बंगवासी' और 'हिन्दी केसरी' थे। 'हिंदी केसरी' को चलाने और इसकी भाषा का स्तर ऊंचा रखने का श्रेय सप्रेजी को है।

माधवराव सप्रे

आज से करीब साठ वर्ष पहले सप्रेजी ने भाषा के प्रश्न पर वही विचार प्रकट किये थे, जो लोकमान्य तिलक के थे। एक लेख में सप्रेजी ने लिखा था—

"हिन्दी अवश्य राष्ट्रभाषा बनाई जाय। भारतवर्ष की कोई भी दूसरी भाषा राष्ट्रभाषा बनने का दावा नहीं कर सकती।"[१]

उनकी शैली का एक नमूना मई, १९०३ की 'सरस्वती' से मिलता है। इसमें सप्रेजी ने 'तिब्बत में एक जापानी' शीर्षक से एक लेख लिखा था। वह यात्री कवागुची था। उसने अपने प्रवास का जो वर्णन लिखा, उसीके आधार पर सप्रेजी ने अपना लेख लिखा है। मानसरोवर का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं—

[१] 'राष्ट्र-भाषा'—पृष्ठ ६८

'भारतवर्ष के अनेक लोगों ने अपने प्राचीन ग्रन्थों में इस अनुपम सरोवर का वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। यह पवित्र सरोवर जिस प्रकार भारतवासियों को वन्दनीय है, उसी प्रकार तिब्बती लोगों को भी है। उस प्रदेश की सीमा अवर्णनीय है। केवल वनश्री को देखते ही मनुष्य की चित्तवृत्ति मोहित हो जाती है। इस सरोवर के पास ही ब्रह्मपुत्र नदी का उद्गम स्थान है। समीप ही 'रावणहृद' नाम का एक और सरोवर है। यहां से सतलज नदी निकलती है। उस पार कैलाश पर्वत है। उसकी ऊंची-ऊंची चोटियां हिम से आच्छादित रहने के कारण उज्ज्वल और मनोहर दीख पड़ती हैं। इस प्रदेश में जो बड़ी-बड़ी नदियां हैं, उनमें से लाल, नीले, पीले, हरे, बैंगनी आदि भिन्न-भिन्न रंग की मिट्टी बहकर आती है। किनारों पर उसकी एक पतली रंग-बिरंगी चादर बिछ जाती है। जब उसपर सूर्य के किरण गिरते हैं तब वहां इन्द्रधनुष की अपूर्व शोभा दिखाई देती है। सतलज नदी के किनारे एक बौद्ध मंदिर है। वहां प्रकृति की शोभा ऐसी सुन्दर और मोहक है कि उस स्थान को छोड़कर दूसरी जगह जाने को जी नहीं चाहता। यहां शीत की तो सीमा ही नहीं है। . . . इस प्रदेश में भी बहुत-से भिक्षु दिखाई देते हैं। यथार्थ में वे सभी याचक नहीं हैं, कोई-कोई तो वस्तुतः योग-साधन के लिए वहां जाते हैं और कोई-कोई याचक के वेश में वहां का हाल जानने के लिए जाते हैं। हिमालय के अत्युच्च स्थान पर समुद्र के समान विस्तृत तथा गंभीर मानसरोवर को और चारों ओर बड़े-बड़े पर्वतों की गगनभेदी चोटियों को देखकर प्रवासियों को विस्मयानन्द हुए बिना कभी नहीं रहता।"[1]

माधवराव सप्रे भी दुगवेकर, पराड़कर और गर्दे के समान काशी के निवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इन चारों सज्जनों ने, जिनकी मातृभाषा मराठी थी, हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिए और हिन्दी-पत्रकारिता का स्तर ऊंचा करने के लिए अपना जीवन दे दिया। चारों जीवन-भर आर्थिक संकट में ग्रस्त रहे, तो भी संपादन-कार्य के अतिरिक्त उन्हें और कोई कार्य न सुहाया। हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता के इतिहास में इन अहिन्दी-भाषी मराठी देशभक्तों की सेवा अक्षुण्ण रहेगी।

अन्य पत्रकारों में, जिन्हें हम जननायक और हिन्दी-सेवियों की श्रेणी में रख सकते हैं, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, वेंकटेशनारायण तिवारी, रामनरेश त्रिपाठी, सत्यदेव विद्यालंकार आदि हैं।

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी पराड़करजी के साथियों में से हैं। पहले दैनिक 'हिन्दुस्थान' (कालाकांकर) और फिर दैनिक 'भारत-मित्र' तथा 'स्वतन्त्र' साप्ताहिक

[1] 'सरस्वती'—इलाहाबाद—मई, १९०३

का सम्पादन उन्होंने योग्यता से किया और राष्ट्र-सेवा और जनहित के आदर्श को सदा सामने रखा। वाजपेयीजी सिद्धहस्त लेखक हैं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वह विभिन्न पत्रों में लेख लिखते रहते हैं।

वेंकटेशनारायण तिवारी

वेंकटेशनारायण तिवारी इस सदी के पहले दशक में ही पत्रकारिता की ओर आकर्षित हुए। सबसे पहले इनका सम्बन्ध 'अभ्युदय' से जुड़ा। जब १९२१ में साप्ताहिक 'भारत' प्रयाग से निकलने लगा, तिवारीजी उसके सम्पादक हुए। सक्रिय कांग्रेस कार्यकर्त्ता होने के कारण वह प्रायः नजरबन्द या जेल में रहे। संसद के सदस्य होकर जब वह दिल्ली में थे, तो दैनिक 'जनसत्ता' के सम्पादक बने।

तिवारीजी बहुत ही अध्ययनशील और खोजी प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। लोग इन्हें बाल की खाल निकालनेवाला कहते हैं। अपने परिश्रम से इन्होंने कई अज्ञात विषयों पर हिन्दी में लिखा है और इस प्रकार हिन्दी पत्रों के पाठकों के ज्ञान में वृद्धि की है। इस शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में इनके साहित्यिक विवाद विख्यात हैं।

रामनरेश त्रिपाठी साहित्यिक और पत्रकार दोनों ही हैं। अपनी कई राष्ट्रीय कविताओं के लिए ये प्रसिद्ध हैं। बच्चों के साहित्य और शिक्षण में इनकी विशेष रुचि है और वर्षों से यह 'वन्दामामा' मासिक निकालते रहे हैं। इन्होंने बालकोपयोगी साहित्य के सृजन और प्रकाशन के क्षेत्र में अग्रणी कार्य किया है। त्रिपाठीजी अपने लोक-गीतों के संग्रह और खण्ड-काव्यों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके 'पथिक', 'स्वप्न' और 'मिलन' खण्डकाव्य उच्चकोटि के हैं। तीनों काव्यों का कथानक काल्पनिक है और चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर है। प्रकृतिवर्णन इन काव्यों की दूसरी विशेषता है। हाल ही में इनकी 'ग्राम-साहित्य' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें हमारे ग्राम-साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया है और ग्रामीण जीवन तथा साहित्य के मध्य समन्वय द्वारा देहाती जीवन को

रामनरेश त्रिपाठी

"भारतवर्ष के अनेक लोगों ने अपने प्राचीन ग्रन्थों में इस अनुपम सरोवर का वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। यह पवित्र सरोवर जिस प्रकार भारतवासियों को वन्दनीय है, उसी प्रकार तिब्बती लोगों को भी है। उस प्रदेश की सीमा अवर्णनीय है। केवल वनश्री को देखते ही मनुष्य की चित्तवृत्ति मोहित हो जाती है। इस सरोवर के पास ही ब्रह्मपुत्र नदी का उद्गम स्थान है। समीप ही 'रावणहृद' नाम का एक और सरोवर है। वहां से सतलज नदी निकलती है। उस पार कैलाश पर्वत है। उसकी ऊंची-ऊंची चोटियां हिम से आच्छादित रहने के कारण उज्ज्वल और मनोहर दील पड़ती हैं। इस प्रदेश में जो बड़ी-बड़ी नदियां हैं, उनमें से लाल, नीले, पीले, हरे, बैगनी आदि भिन्न-भिन्न रंग की मिट्टी बहकर आती है। किनारों पर उसकी एक पतली रंग-बिरंगी चादर बिछ जाती है। जब उसपर सूर्य के किरण गिरते हैं तब वहां इन्द्रधनुष की अपूर्व शोभा दिखाई देती है। सतलज नदी के किनारे एक बौद्ध मंदिर है। वहां प्रकृति की शोभा ऐसी सुन्दर और मोहक है कि उस स्थान को छोड़कर दूसरी जगह जाने को जी नहीं चाहता। वहां शीत की तो सीमा ही नहीं है।... इस प्रदेश में भी बहुत-से भिक्षु दिखाई देते हैं। यथार्थ में वे सभी याचक नहीं हैं, कोई-कोई तो वस्तुतः योग-साधन के लिए यहां जाते हैं और कोई-कोई याचक के वेश में वहां का हाल जानने के लिए जाते हैं। हिमालय के अत्युच्च स्थान पर समुद्र के समान विस्तृत तथा गंभीर मानसरोवर को और चारों ओर बड़े-बड़े पर्वतों की गगनभेदी चोटियों को देखकर प्रवासियों को विस्मयानन्द हुए बिना कभी नहीं रहता।"[1]

माधवराव सप्रे भी दुगवेकर, पराड़कर और गर्दे के समान काशी के निवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इन चारों सज्जनों ने, जिनकी मातृभाषा मराठी थी, हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिए और हिन्दी-पत्रकारिता का स्तर ऊंचा करने के लिए अपना जीवन दे दिया। चारों जीवन-भर आर्थिक संकट में ग्रस्त रहे, तो भी संपादन-कार्य के अतिरिक्त उन्हें और कोई कार्य न सुहाया। हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता के इतिहास में इन अहिन्दी-भाषी मराठी देशभक्तों की सेवा अमूल्य रहेगी।

अन्य पत्रकारों में, जिन्हें हम जननायक और हिन्दी-सेवियों की श्रेणी में रख सकते हैं, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, वेंकटेशनारायण तिवारी, रामनरेश त्रिपाठी, सत्यदेव विद्यालंकार आदि हैं।

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी पराड़करजी के साथियों में से हैं। पहले दैनिक 'हिन्दुस्थान' (कालाकांकर) और फिर दैनिक 'भारत-मित्र' तथा 'स्वतन्त्र' साप्ताहिक

[1] 'सरस्वती'—इलाहाबाद—मई, १६०२

लेखनी से नवजागरण और स्वातंत्र्य-युद्ध को ही बल नहीं मिला, बल्कि हिन्दी-गद्य का परिमार्जन और भाषा का यथोचित प्रसार भी हुआ।

गणेशशंकर विद्यार्थी

गणेशशंकर विद्यार्थी अपने समय के प्रमुख जननायकों में से थे। स्वयं महात्मा गांधी ने उनके निधन पर लिखा था—"इस देश में दूसरा गणेशशंकर नहीं हुआ। उसकी परंपरा समाप्त हो गई। लेकिन वह इतिहास में अमर हो गया। उसकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी। उसीकी तरह कुल्हाड़ी के प्रहार सहते हुए मैं शांतिपूर्वक मरूं तो मेरी भी अहिंसा सिद्ध होगी। मेरा भी यह सुख-स्वप्न है कि मैं उसीकी तरह मरूं।"[1] अपने सार्वजनिक जीवन के बीस वर्षों में शायद ही ऐसा कोई पद हो जो उन्हें न मिला हो और कोई ऐसा आदर-सत्कार हो, जो जनता ने उन्हें न दिया हो। प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन के वह सभापति रहे,

गणेशशंकर विद्यार्थी

उत्तर प्रदेश कांग्रेस कार्यकारिणी के वर्षों तक सदस्य रहे और १९२५ में कानपुर में अखिल भारतीय कांग्रेस महासम्मेलन की स्वागत-समिति के प्रधान-मन्त्री रहे। १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन से पूर्व भारतीय क्रांतिकारी दल की हलचलें बढ़ चली थीं। कुछ देशभक्त नौजवान अहिंसा के सिद्धान्त पर सन्देह करने लगे थे और उनमें नेताओं की आलोचना करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो रही थी। इस घटना के संदर्भ से गणेशजी ने अहिंसा-वृत्ति को जगाते हुए लिखा था—"देश के नौजवान देश के खातिर और अपनी नौजवानी की खातिर इस कुटेव से बचें। वे बढ़-बढ़कर बातें न मारें, वे बढ़-बढ़कर काम करें। वे अपनी बात पर अटल रहें, किन्तु नम्रता के साथ, दूसरों पर बाण-प्रहार करते हुए नहीं।... यह काम किया तो आसानी से जाता है, किन्तु वह इस योग्य नहीं है कि ऐसे सहज ढंग से किया जाय। हिंसा और अहिंसा की विवेचना छोड़ दीजिये, विज्ञान ने वर्तमान रण-शैली को बेहद भयंकर बना दिया है, उसमें वीरता नहीं रही, उसमें पशुता और हत्या का राज्य है।... हमारे लिए तो अहिंसा ही परम अस्त्र है, उसीसे हम दुनिया में किसीका मुकाबला कर सकते हैं। आगे बढ़नेवाले युवक सबसे विद्रोह करें, किन्तु वे एक भावना से विद्रोह करने की इच्छा को हृदय में न आने दें। उनके मन में ऊंचे चरित्र के प्रति

१ '२० फरवरी, १९४० के गांधी-सेवा-संघ के विवरण' से—पृष्ठ १६

कभी प्रताड़ना या उपेक्षा का भाव उदय न हो। वे स्वयं चरित्रवान हों, उनका सिर भी जब झुके तब चरित्रवान के लिए। यदि चरित्र के प्रति उनमें आदर-भाव रहा तो उनका विद्रोह, चाहे कितनी ही कटुता क्यों न धारण कर ले, देश के लिए अन्त में, अमृत-फल ही सिद्ध होगा।"[१]

गणेशजी के इन विचारों का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता था। वह जीवन के हर क्षेत्र में, चाहे वह सार्वजनिक हो अथवा साहित्यिक, आचरण की श्रेष्ठता पर जोर देते थे। हिन्दी-पत्रकारिता के लिए भी उनके ऐसे ही विचार थे। उन्होंने हिन्दी-पत्रकारिता के मानदण्ड को ही ऊंचा नहीं किया, अपने पत्रकार साथियों के जीवन में भी वे आदर्श की स्थापना करना चाहते थे। इसीलिए पत्रकारिता के आदर्श पर उन्होंने लिखा था—"हिन्दी के समाचार-पत्र भी उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। मैं हृदय से चाहता हूं कि उन्नति उधर हो या न हो, किन्तु कम-से-कम वे आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें, और जो सज्जन इन पंक्तियों को पढ़ें, वे आचरण-संबंधी आदर्श को सदा ऊंचा समझें। पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष के किसी भी नये पत्रकार को ऊंचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।"[२] पत्रकारिता के क्षेत्र में गणेशशंकर विद्यार्थी ने गांधीजी के आदर्श का कि "समाचार-पत्रों का संचालन सेवा-भाव से ही होना चाहिए" अक्षरशः पालन किया और अपनी लेखनी को संयम का पाठ सिखाया। गांधीजी उनके इस गुण का बड़ा आदर करते थे। गणेशशंकर विद्यार्थी जितने कर्मठ और निःस्वार्थ नेता थे, उतने ही प्रतिभाशाली हिन्दी-पत्रकार और लेखक भी थे। १९३१ में कानपुर के कुख्यात साम्प्रदायिक दंगों में २५ मार्च को अपने प्राणों का बलिदान करके वह भारत की आजादी की लड़ाई में अमर शहीद हो गये।

मैट्रिक्युलेशन तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद १९०७ में वह कायस्थ पाठशाला कालेज, इलाहाबाद में प्रविष्ट हो गये। कालेज में कुछ महीने ही पढ़ पाये थे कि घर की कठिनाइयों के कारण उन्हें कालेज छोड़ देना पड़ा। पर कालेज छूटने से पढ़ाई की लौ नहीं छूटी। सुन्दरलालजी के साथ मिलकर 'कर्मयोगी' में सम्पादन में हाथ बंटाने लगे और इस प्रकार कमाई और पढ़ाई दोनों जारी रहीं। कुछ समय बाद इलाहाबाद से कानपुर आकर उन्होंने कई दिशाओं में हाथ-पांव मारने का प्रयत्न किया। कुछ दिन करेंसी आफिस में काम किया। फिर अध्यापक भी रहे। पर वहीं ठीक से जम नहीं पाये।

---

[१] 'प्रताप'—१ दिसम्बर, १९२६ के सम्पादकीय से

[२] 'गणेशशंकर विद्यार्थी—पृष्ठ ६१

बचपन से ही पत्र-पत्रिकाएं-पढ़ने का उन्हें शौक था। यद्यपि स्कूल में उर्दू और फारसी पढ़े थे, अब उन्हें हिन्दी का चस्का हो चला। 'भारतमित्र' और 'बंगवासी' पढ़ने की उन्हें धुन हो चली। इसलिए जिस समय 'कर्मयोगी' में काम किया, तो उन्हें सम्पादन-कार्य ही अपनी इच्छा के अनुकूल लगा। १९११ में केवल २५ रुपये मासिक पर महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास आकर 'सरस्वती' के सम्पादन में सहायता करना उन्होंने खुशी से मंजूर किया। दो सालों से ऊपर वह 'सरस्वती' के सम्पादन में सहायता करते रहे। गणेशशंकर को अगर द्विवेदीजी की शिष्य-मंडली में सर्वप्रथम स्थान दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गुरु और शिष्य एक दूसरे पर रीझ गये और एक दूसरे को बहुत चाहने लगे। पत्र-कार-कला की ओर गणेशशंकर की स्वाभाविक अभिरुचि तो थी ही, द्विवेदीजी के सत्संग और पथ-प्रदर्शन ने उन्हें उत्कृष्ट पत्रकार बना दिया। किन्तु 'सरस्वती' साहित्यिक पत्रिका थी और गणेशजी की रुचि राजनीति-प्रधान थी। शायद इसीलिए वह 'सरस्वती' से 'अभ्युदय' में चले गए।

गणेशशंकरजी को 'सरस्वती' के सम्पादन से जो अनुभव हुआ, उससे उनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। अपने मित्र कानपुर-निवासी शिवनारायण मिश्र की सहायता से उन्होंने नवम्बर १९१३ में 'प्रताप' को जन्म दिया। 'प्रताप' के आविर्भाव के साथ ही गणेशशंकरजी के सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। राजनीति बातों की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी, इसलिए मुख्यतः अब वह राजनैतिक कामों में ही भाग लेते थे। आरम्भ से ही 'प्रताप' द्वारा वह अधिकारियों के अत्याचारों का जोरदार विरोध करने लगे और उसी समय से उनपर सरकार की वक्र दृष्टि रहने लगी।

गणेशशंकरजी लोकमान्य तिलक को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे और उन्हींके पद-चिन्हों पर चलते थे। तिलक द्वारा लिखित ग्रन्थों का उन्होंने बहुत ध्यान से अध्ययन किया और उनके प्रति गणेशशंकर की प्रगाढ़ श्रद्धा थी। कई सालों के बाद जब उनकी गणना कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में होने लगी और वह गांधीजी के संसर्ग में आये, तो गणेशशंकर के व्यक्तित्व पर गांधीजी की छाप पड़ी और फिर वह लोकमान्य के भक्त होने के साथ-साथ गांधीजी के भी सच्चे अनुयायी हो गये।

पहले सात वर्षों तक 'प्रताप' देश की राजनीतिक और सामाजिक हलचलों के प्रवक्ता के रूप में बराबर आगे बढ़ता रहा। कारखानों के मजदूरों, किसानों और गरीबों के पक्ष का समर्थन करने में 'प्रताप' कभी नहीं चूका। पत्र के साथ-साथ सम्पादक का व्यक्तित्व भी बढ़ता रहा। सन् १९१७-१८ में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट

का होमरूल आन्दोलन चला। गणेशशंकरजी ने उसमें खूब दिलचस्पी से काम किया। उन्हीं दिनों कानपुर में कई कारखानों के करीब पच्चीस हजार मजदूरों ने हड़ताल कर दी। 'प्रताप' और उसके सम्पादक मजदूरों की तरफ से खूब लड़े। इस प्रकार गणेशशंकरजी की प्रतिष्ठा और ख्याति बहुत बढ़ गई। इस सफलता से प्रोत्साहित होकर विद्यार्थीजी ने १९२० में 'प्रताप' को, जो अभी तक साप्ताहिक था, दैनिक पत्र का रूप दे दिया और इसके साथ ही मासिक 'प्रभा' का प्रकाशन भी शुरू किया।

चंपारन में वहां के किसानों को नीलवरों द्वारा जो कष्ट पहुंचता था, उस संबंध में उन्होंने 'प्रताप' में काफी लिखा और इस प्रकार वहां के पीड़ित किसानों की व्यथा को जनता में पहुंचाकर उन्होंने एक सबल लोकमत तैयार कर दिया और इस प्रकार लेखनी के कर्म के फलस्वरूप किसानों को नीलवरों से छुटकारा दिलाने में भी पूरा प्रयत्न किया।

वह समय संघर्ष और मुठभेड़ का था। कोई भी देशभक्त और स्वतन्त्र पत्रकार सत्ता के प्रहार से नहीं बच सकता था। १९२१ में ही गणेशशंकरजी की पहली जेलयात्रा हुई। सालभर की यातना के बाद जेल से निकलते ही एक जिला-कांफ्रेंस में भाषण देने के कारण सालभर के लिए फिर जेल में बन्द कर दिये गए। उनके परिवार और मित्रों को उनके बिगड़ते हुए स्वास्थ्य के कारण चिन्ता होने लगी। मित्रों ने सद्भावना से उन्हें माफी मांगने को कहा, जिससे कि उन्हें दोबारा जेल न जाना पड़े। पर गणेशशंकर टस-से-मस नहीं हुए। जेल जाने से पहले उन्होंने माफी मांगने के खिलाफ अपने विचार अपनी पत्नी से प्रकट किये थे। दो वर्षों के बाद एक पत्र में श्रीमती विद्यार्थी ने अपने पति को बधाई देते हुए लिखा था—"मैं कर्त्तव्य पालन करते हुए तुम्हारी मृत्यु भी पसन्द करूंगी और इस निश्चय के लिए तुम्हें बधाई देती हूं।"[१] इस पत्र के जवाब में जो चिट्ठी गणेशशंकरजी ने अपनी पत्नी को लिखी, वह हमारे प्रेरणादायक साहित्य का एक अविच्छिन्न अंग है। वह पत्र इस प्रकार है—"कल तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ। तुमने जो कुछ लिखा है, वह बिलकुल ठीक है। माफी मांगने से अच्छा यह है कि मौत हो जाय। तुम विश्वास रखो, मैं बेइज्जती का काम नहीं करूंगा। तुमने जो साहस दिलाया, उससे मेरे जी को बहुत बल मिला। मुझे तुम्हारी और बच्चों की बहुत चिन्ता है। परन्तु तुम्हारा हृदय जितना अच्छा और ऊंचा है, इससे मेरे मन को बहुत सन्तोष हो रहा है। ईश्वर तुम्हारे मन को दृढ़ रखे। अगर तुम दृढ़ रहोगी, तो मेरा मन कभी न डिगेगा। मैं तुमसे कोई बात छिपाना नहीं चाहता।

१ 'गणेशशंकर विद्यार्थी'—पृष्ठ २०

"मैं खुशी से तैयार हूं। जो मुसीबतें आयेंगी मैं उन्हें हंसते-हंसते झेल लूंगा। लेकिन मेरी हिम्मत को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि तुम अपना जी न गिरने दो। हां, माखनलालजी के साथ मैं उनके घर जा रहा हूं। होली के बाद दूज या तीज को कानपुर पहुंचूंगा और उसी दिन दोपहर तक मैं अपनेको पुलिस के हाथों में सौंप दूंगा। मैं सीधे ही पुलिस के हाथों में अपनेको दे देता, मगर एक बार तुम लोगों को देख लेना धर्म समझता हूं। देखो, ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखो। आज कष्ट के दिन सिर पर हैं, कल सुख के दिन भी आयेंगे। धर्म के लिए सहे जाने-वाले कष्ट के दिनों के बाद जो दिन आयेंगे, वे परमात्मा की कृपा से अच्छे सुख के दिन होंगे।"[1]

सार्वजनिक जीवन में जितनी भी किसीको अधिक-से-अधिक मान्यता मिल सकती है, वह गणेशशंकरजी को मिली। राजनैतिक कार्यक्षेत्र में उनका पदार्पण पत्रकार के नाते हुआ और अपने पत्र की महत्ता से ही जहां उन्हें ख्याति मिली, वहां हिन्दी की भारी सेवा करने में भी वह समर्थ हुए।

यद्यपि गणेशशंकरजी से पहले बालमुकुन्द गुप्त, पराड़कर, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी आदि अनेक प्रमुख सम्पादक हिन्दी-पत्रों का सम्पादन कर रहे थे, किन्तु राजनीतिक जन-आन्दोलन के ठीक अनुरूप और आधुनिक काल की परिस्थितियों के अनुसार भाषा को सरल बनाने और परिष्कृत करने का बहुत-कुछ श्रेय गणेशशंकरजी को ही है। उन्होंने 'प्रताप' के सम्बन्ध में अपने सहयोगियों से इस बात की खास ताकीद की थी कि वे ऐसी भाषा का प्रयोग करें, जो पाठक सहज ही समझ सकें। वह अपने ढंग के अकेले हिन्दी लेखक और पत्रकार थे। 'हिन्दुस्तानी' के बारे में हिन्दुस्तानी अकादमी में भाषण देते हुए अध्यापक रामरत्न ने कहा था—"आप लोग हिन्दुस्तानी जबान की सृष्टि कर रहे हैं, पर क्या आपको मालूम है कि जबान की सृष्टि हो चुकी है और उसके सृजनहार हैं गणेशशंकर विद्यार्थी। अगर आपको मेरी बात का यकीन न हो, तो आप एक बार 'प्रताप' में लिखे गणेशजी के लेखों को पढ़ जायं। आप शुद्ध हिन्दुस्तानी जबान उन लेखों में पढ़कर आनन्द-मग्न हो जायंगे।"[2]

गणेशशंकर विद्यार्थी अपनी सहल किन्तु आकर्षक लेखनशैली के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। यह जो कुछ लिखते उसमें मानों अपना हृदय निकालकर रख देते। बिल्कुल साधारण बोल-चाल की भाषा लिखते, ठेठ प्रचलित शब्दों का अधिक उप-

---

[1] 'गणेशशंकर विद्यार्थी'—पृष्ठ २१-२२

[2] 'गणेशशंकर विद्यार्थी'—पृष्ठ ५२

योग करते और इसपर भी उनकी रचना इतनी सुन्दर और सुपाठ्य होती कि सभी पढ़नेवालों को पसन्द आती। बनारसीदास चतुर्वेदी ने कहा है—"गणेशशंकर की भाषा में ऐसे नये-नये शब्द, ऐसे चुभते हुए मुहावरे इस्तेमाल होते, ऐसी लोचभरी शैली होती, वर्णन का ढंग इतना आकर्षक होता, और होता उनमें ऐसा ओज कि उनकी लिखी हुई लकीरें पाठकों के हृदय में बिजली की-सी रेखा करती चली जाती थीं। पढ़नेवाले बाग-बाग हो जाते। उनकी भाषा उनकी अपनी थी। हिन्दी में ऐसी भाषा लिखनेवाले, वैसे प्रतिभाशाली लेखक मुश्किल से दो-एक निकलेंगे।"[१]

कोई आश्चर्य नहीं कि 'प्रताप' साप्ताहिक और दैनिक दिनोंदिन उन्नति करते गये। उनकी ग्राहक-संख्या बढ़ी और उससे भी कहीं बढ़कर समस्त हिन्दी-भाषी संसार में गणेशजी की प्रतिभा की धाक जमी और उनके कारण हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों को यथेष्ट बल मिला।

एक व्यस्त पत्रकार और सार्वजनिक कार्य में उलझे हुए नेता होते हुए भी गणेशशंकर विद्यार्थी दूसरी प्रकार की साहित्य-रचना के लिए भी समय निकाल लेते थे। अठारह वर्ष की उम्र में ही उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी—'हमारा आत्मोत्सर्ग'। 'प्रताप' निकालने से पहले उनके लेख विभिन्न उपनामों से 'सरस्वती', 'अभ्युदय', 'हितवार्ता' आदि पत्रों में निकलते रहे। जिन दिनों वह 'सरस्वती' में काम करते थे, उन्होंने अपनी बाल-कहानियों का भी एक संग्रह प्रकाशित कराया, जिसका शीर्षक 'शेखचिल्ली' था। इण्डियन प्रेस से प्रकाशित यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि कुछ ही वर्षों में उसके बीस से अधिक संस्करण निकले। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना उनका अनुवाद-कार्य है। अपने सहयोगियों को अनुवाद के सम्बन्ध में वह सदा ही समझाते-बुझाते रहते थे। शायद इस दिशा में आदर्श प्रस्तुत करने की इच्छा से ही प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर करने की ओर गणेशजी का ध्यान गया। संसार-प्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो के 'नाइण्टी थ्री' और 'ला मिजरावल्स' का उन्होंने हिन्दी-अनुवाद किया।

विद्यार्थीजी ने इतनी अधिक हिन्दी-सेवा की, किन्तु फिर भी वह अपने को कभी साहित्य-सेवी नहीं कहते थे। १९२९ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन के सभापतित्व के लिए जब वह निर्वाचित हुए, तो किसी भी प्रकार उस पद को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते थे। कहते थे,

---

[१] 'गणेशशंकर विद्यार्थी'—पृष्ठ ५३

"मैं तो राजनैतिक क्षेत्र का एक सिपाही हूं, मुझे साहित्य-क्षेत्र में क्यों घसीटते हो। मैंने साहित्य की सेवा ही क्या की है?"[१] बड़ी मुश्किल से उन्हें सभापति बनने को तैयार किया गया। अपने अभिभाषण में हिन्दी के भविष्य पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि "हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्य बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यताएं इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसारभर के रंगमंच पर एक विशेष अभिनय करानेवाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य-जाति को इतना ऊंचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई, जितनी कि आगे चलकर हिन्दी भाषा होनेवाली है।... मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हिन्दी-साहित्य अपने सौष्ठव के कारण जगत-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी, भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्रभाषा की हैसियत से न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में, किन्तु संसारभर के देशों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान न केवल बोली भर जायगी, किन्तु अपने बल से संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी और उसके कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे।"[२]

गणेशजी के इन उद्गारों से जाहिर होता है कि उनकी दृष्टि में हिन्दी के भविष्य की कितनी उज्ज्वल कल्पनाएं थीं और हिन्दी को वह कहां पहुंचाना चाहते थे! इसीलिए वह हिन्दी के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे और हिन्दी के निर्माण की उन्हें सदा चिन्ता रहती थी। अपने इसी भाषण में उन्होंने पुनः कहा था कि—"जितनी द्रुत गति के साथ हम अपनी भाषा की त्रुटियों को दूर करेंगे और उसे ३२ करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्रभाषा के समान बलशाली और गौरवयुक्त बनायेंगे, उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियां दूर-दूर तक समस्त देशों में पड़कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का संदेश पहुंचायेंगी, उतने ही शीघ्र हमारी भाषा में दिये गए भाषण संसार की विविध रंग-स्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उससे मनुष्य-जाति मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा, और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार, जिस प्रकार आयरलैंड के प्रतिनिधियों ने इंग्लैंड से अंतिम संधि करते और स्वाधीनता प्राप्त करते समय अपने विस्मृत भाषा गैलिक में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी

[१] 'गणेशशंकर विद्यार्थी'—पृष्ठ ६८

[२] हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गोरखपुर (१६२६) अधिवेशन के भाषण से

स्वाधीनता-पत्र पर हिन्दी-भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे।"[१]

हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में गणेशशंकर विद्यार्थी का यह कथन प्रचलित राष्ट्रीय विचारधारा और राष्ट्र की भावी नीति से इतना मिलता-जुलता है कि इसे हम अपने सार्वजनिक जीवन में हिन्दी की सार्वभौम मान्यता का उदाहरण कह सकते हैं।

हिन्दी के प्रमुख पत्रकार और जननायक के रूप में गणेशशंकर विद्यार्थी के संबंध में कुछ चर्चा हो चुकी है। भाषा के प्रसार और साहित्य की समृद्धि की दिशा में उनका व्यक्तिगत योगदान यद्यपि असाधारण महत्त्व का है, फिर भी उससे कहीं बढ़कर उनकी साहित्य-सेवा का प्रमाण इस बात से सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने सहयोगियों को इतने परिश्रम के साथ प्रशिक्षण दिया कि वे हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता-जगत में कालान्तर में बहुत प्रसिद्ध हुए। इस दिशा में गणेशशंकर और भारतेन्दु में बहुत-कुछ साम्य दिखाई देता है। भारतेन्दु की तरह वह भी साहित्य-सेवी और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की कार्यशैली और लेखनशैली पर बहुत ध्यान देते थे।

स्वयं गणेशशंकरजी लिखने को सदा समय-साध्य काम समझते थे और शब्दों का चयन पूरी मेहनत से करते थे। इस बात का परोक्ष प्रभाव उनके साथियों पर पड़ना स्वाभाविक था। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा और श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने विद्यार्थीजी के चरणों में बैठकर ही पत्रकारिता सीखी थी। दैनिक पत्र का साधारण कामकाज, अग्रलेख तैयार करना, समाचारों के संपादन आदि की ट्रेनिंग तो इनकी गणेशशंकरजी की देखरेख और पथप्रदर्शन से हो गई। सबसे बड़ी बात जो इन शिष्यों ने अपने संपादक गुरु से सीखी वह निःस्वार्थ सेवा थी, चाहे वह साहित्य की हो या पीड़ित जनता की। गणेशशंकर स्वयं उनके लिए आदर्श थे। किसी भी व्यक्ति के लिए, जो उनके निकट रहता हो, यह संभव नहीं था कि वह उनकी जनसेवा और देशभक्ति की उदात्त भावना से अनुप्राणित न हो। तभी उनकी मृत्यु पर नेहरूजी ने लिखा—"शान से वह जिये और शान से वह मरे और मरकर जो उन्होंने सबक सिखाया वह हम बरसों जिन्दा रहकर क्या सिखायेंगे।"[२] और गांधीजी ने लिखा—"उनकी मृत्यु हम

[१] हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गोरखपुर (१६२६) अधिवेशन के भाषण से, श्री हरगोविन्द गुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव के सौजन्य से प्राप्त

[२] 'गणेशशंकर विद्यार्थी'—प्रस्तावना

सबकी स्पर्धा के योग्य थी।"[1] इस प्रकार अपने आत्मबल, सच्चरित्रता, त्याग, देशभक्ति, मधुर स्वभाव और प्रतिभा से गणेशशंकर विद्यार्थी ने राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा की जो सेवा की, वह युग-युग के लिए स्थायी आदर्श है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

बालकृष्ण शर्मा शाजापुर जिले (मध्य प्रदेश) में अपना गांव छोड़ कानपुर उच्च शिक्षा के लिए गए थे, किन्तु विधि को कुछ और ही मंजूर था। प्रथम असहयोग-आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने कालेज छोड़ा और गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क से वह पत्रकारिता और जनसेवा की ओर प्रेरित हुए। एक मासिक पत्रिका का दो वर्ष तक सम्पादन कर उन्होंने 'प्रताप' दैनिक में कार्य आरम्भ किया। अपनी साहित्यिक प्रतिभा, लगन और कांग्रेस-आंदोलन में प्रमुख भाग लेने के कारण कुछ ही वर्षों में बालकृष्णजी की गणना कानपुर के प्रमुख नेताओं में होने लगी। नगर और प्रांत की कांग्रेस-समिति में वह आगे बढ़कर भाग लेने लगे। नागरिक मामलों में, विशेषकर मिल-मजदूरों की समस्याओं में, नवीनजी दिलचस्पी लेते। उच्चकोटि के साहित्यिक और कवि होने के नाते भी उनकी ख्याति फैलने लगी। गणेशशंकर विद्यार्थी के जीवनकाल में ही लोग बालकृष्णजी को उनका उत्तराधिकारी कहने लगे थे। मार्च १९३१ में कानपुर के दंगे में जब विद्यार्थीजी की हत्या हो गई, उसके बाद नवीनजी 'प्रताप' के संपादक और कानपुर के एकछत्र नेता स्वीकार कर लिये गए।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

कवि के रूप में नवीनजी की साहित्यिक प्रतिष्ठा बहुत पहले हो चुकी थी। उनकी घनिष्ठ मित्रमण्डली में राजनेताओं की अपेक्षा हिन्दी के उच्च साहित्यकार ही अधिक थे। १९४६ में कानपुर छोड़कर दिल्ली आने तक नवीनजी का स्थान हिन्दी के प्रमुख पत्रकारों में रहा। इनकी लेखनशैली में बल है, साहस है और बहुमूल्य उद्गार हैं, किन्तु उसमें वह ओज नहीं और वह मधुर लोच भी नहीं, जो गणेशशंकरजी की भाषा में है। ये सब गुण बालकृष्णजी ने अपने पद्य में भर दिये। एक आदर्शवादी सफल कवि के रूप में बालकृष्णजी का मूल्यांकन अभी भी

[1] 'मेरे समकालीन'—पृष्ठ ५५७

नहीं हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यह एकदम मस्त जीव थे और उन्होंने वर्षों तक अपनी कविताओं को संग्रहीत नहीं किया। 'उर्मिला' की भूमिका में यह स्वयं लिखते हैं—

"यह ग्रन्थ वर्षों के उपरान्त प्रकाशित हो रहा है। इस विलम्ब को मैं क्या कहूं ? अपना बहुधन्धीपन ? अपना प्रमाद ? प्रकाशन के प्रति मेरा अपना विराग ? मेरा नैष्कर्म्य भाव ? बड़ा कठिन है यह स्व-विश्लेषण-कार्य।...समाप्त तो यह ग्रंथ १९३४ में हो चुका था, पर प्रकाशित अब हो रहा है। प्रशंसा कीजिये, यह है मेरा योगः कर्मसु कौशलम्।"

बालकृष्ण की कविता में दार्शनिकता है, ऊंचे-से-ऊंचा आदर्शवाद है और एक भावुक प्रेमी की उड़ान है, जो कल्पना के पंखों के सहारे नीलगगन में विचरने को उत्सुक है। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने एक-दो महाकाव्य भी लिखे हैं। इधर तीन वर्षों में 'उर्मिला' के अतिरिक्त 'रश्मिरेखा' और 'कुंकुम' भी प्रकाशित हुए हैं।

नवीनजी सशक्त गद्य-लेखक भी थे। उनके कितने ही निबन्ध और विशेष लेख 'प्रताप', 'माधुरी', और 'सरस्वती', आदि में छपे हैं। उनकी शैली की स्वाभाविक स्पष्टता और प्रवाहयुक्त अभिव्यक्ति ने उनकी शैली को 'यौवनपूर्ण' बना दिया है। उनकी भाषा-शैली की भावप्रवणता, निर्भीकता और उद्दाम प्रवाह से साहित्य के विद्यार्थी सुपरिचित हैं।

अपने प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"मेरी माताजी कहा करती है कि गायों के बांधने का एक बाड़ा मेरे ताऊजी के घर में था। उसीमें अपने राम ने जन्म लिया। वहां कई गायों ने बछड़े ब्याये होंगे। मेरी जननी ने उसी गोशाला में मुझे भी जना। मेरे पिता बहुत गरीब थे—निःसाधन, किन्तु भगवद्भक्त ब्राह्मण। अतः जन्म के वक्त सिवा थाली बजाने के कुछ धूमधाम न हुई। गांव का सादा जीवन, गरीबी और अर्थाभाव मेरे चिरपरिचित मित्र हैं। मेरे परिवार के लोग चार आने महीने के मकान में रहते थे, फिर शायद आठ आने महीने के में रहने लगे। बरसात में मकान टपकता था। रात भर सोना दूभर था। मैं खूब खाता था। कुछ दूध की भी जरूरत महसूस होती थी, पर दूध के लिए पैसे कहां से आयें ? तब माता राम ने अनाज पीसना शुरू किया। इससे जो पैसे मिलते थे, उससे मैं दूध पीता था।"[१]

स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में उनकी कविताओं की धूम थी। उनकी देशभक्ति काव्य के नैसर्गिक झरने में फूट पड़ी और उसने सोतों को जगाया—

[१] 'रेखाचित्र'—पृष्ठ १६८-९

"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये !
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये;
प्राणों के लाले पड़ जायें,
त्राहि त्राहि ! रव नभ में छाये ।
नाश और सत्यानाशों का
धुंआधार नभ में छा जाये !"[1]

यह कविता तो वर्षों हिन्दी-प्रदेश के नौजवानों के मुंह पर रही है। जाने कितनों का खून इसे सुनकर उबला है। अब उन्हें एक अधीर प्रेमी के रूप में देखिये। अधीरता और भावुकता शब्द बनकर वह निकली है—

"आज तुम्हारी आंखों में आंसू देखे, तड़पन देखी,
अमित चाह देखी, रिस देखी, लोक-लाज, अड़चन देखी,
आज तुम्हारे नयन-पुटों में सपनों को जगते देखा,
आज अचानक, सजनि, तुम्हारे हिय की सब धड़कन देखी,
मेरे धीरज की भी कोई सीमा है कुछ सोचो तो,
देख अश्रु तो भड़क उठेगी, मेरी भावुक नादानी ।"[2]

इसके अतिरिक्त, बालकृष्ण 'नवीन' की दार्शनिक कविताएं हैं, जिनमें उन मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की गई है, जिनसे समस्त धर्मों और दर्शनों की खोज का आरम्भ होता है—जैसे, सृष्टि का आरम्भ और अन्त क्या है, मानव का विकास कैसे और किसलिए हुआ, क्या कोई ऐसी शक्ति भी है, जो इस क्रिया-व्यापार का संचालन कर रही है, आदि। अणु और परमाणु पर लिखी कविताएं इसी श्रेणी में आती हैं। 'कस्त्वं कोऽहम्' भी इन्हीं दार्शनिक कविताओं में एक है। इसमें नवीनजी ने नाश और उत्पत्ति, जन्म और मरण को एक माना है अथवा एक ही क्रिया के दो रूप कहा है—

"है कौन अरे अज्ञानी यह
जो नाश सृजन को अलग कहे,
तत्त्वार्थ दीपिका बुद्धि व्यर्थ
विश्लेषण का क्यों भार सहे।"[3]

---

[1] 'वीणा'—अगस्त, १९६० (नवीनजी की 'विप्लव गायन' नामक कविता)
[2] 'कवि भारती'—पृष्ठ २९६
[3] 'विशाल भारत'—जुलाई, १९३७

कवि और पत्रकार के रूप में ही नवीनजी द्वारा हिन्दी की सेवा नहीं हुई, अखिल भारतीय और प्रांतीय साहित्य-सम्मेलनों से तीस वर्षों तक इनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। इन सम्मेलनों तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं के कार्यकर्त्ता अथवा पदाधिकारी के रूप में वह हमेशा कुछ-न-कुछ सक्रिय रूप से कार्य करते रहे। हिन्दी के वह कट्टर समर्थक रहे और हिन्दुस्तानी अथवा खिचड़ी भाषा के घोर विरोधी। इनमें इतना साहस था कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर उन्होंने अपने आराध्य महात्मा गांधी का भी खुला विरोध किया। राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव को लेकर संविधान-सभा में जो वादविवाद हुआ, उसे सुलझाने में और हिन्दी के पक्ष का प्रतिपादन करने में नवीनजी की सेवाएं चिर-स्मरणीय रहेंगी।

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

गणेशशंकर विद्यार्थी के शिष्यों में, जिन्होंने पत्रकारिता की वृत्ति को अपने सार्वजनिक कार्य का साधन बनाया, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल उत्साह और उग्र विचारों की दृष्टि से अग्रणी हैं। गत चालीस वर्षों से, जबसे उन्होंने सम्पादन-कार्य की दीक्षा ली, वह पूर्णरूप से राष्ट्रीय आन्दोलन या किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक हलचल में व्यस्त रहे हैं। पालीवालजी जैसे अक्खड़ और स्वतंत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति के लिए किसी दूसरे के पत्र में केवल एक वेतनभोगी कर्मचारी के रूप में कार्य करना सम्भव न था। इसलिए वह अपने ही पत्र निकालते रहे हैं। इनमें सर्वप्रथम 'सैनिक' है, जो आगरा से गत तीस वर्षों से दैनिक और साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित हो रहा है। 'सैनिक' के माध्यम से पालीवालजी ने जनता का पथप्रदर्शन करने के साथ-साथ हिन्दी की असाधारण सेवा की है। उनकी भाषा में उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब मिलता है। भाषा में बल है, कठोरता भी, और स्पष्टवादिता इतनी है कि किसीको उनके शब्द चुभ सकते हैं। परन्तु लेखक इतना दुर्बल नहीं कि इसकी चिन्ता करे। आलोचना में यदि कठोरता और कटुता का पुट भी आजाय, तो पालीवालजी इसे अस्वाभाविक नहीं समझते। स्थिति विशेष का स्पष्ट वर्णन और अपनी आत्मगत भावनाओं का संकोचरहित अंकन उनकी प्रवृत्ति ही नहीं, सदा से आदत रही है। इसलिए उनकी शैली में एक विचित्र बल

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

है, एक तीखापन है, जो तीर की तरह लक्ष्य को भेद कर ही रहता है।

पालीवालजी ने अपने निबन्धों और फुटकर लेखों द्वारा हिन्दी गद्य को परिमार्जित किया है और अधिक व्यापक बनाया है। उनकी लेखन-शक्ति अद्भुत है। उनके परममित्र बनारसीदास चतुर्वेदी के अनुसार "यदि वह (पालीवालजी) अपनेको राजनीतिक झंझटों से अलग रखकर साहित्यिक निर्माण में लगाते, तो वह भारत के अप्टन सिनक्लेयर बन जाते। अपने साहित्यिक भविष्य को राजनीति की बलिवेदी पर कुर्बान कर देना, एक ऐसे आदमी के लिए, जो अपनी लेखनी के प्रभाव को जानता है, अत्यन्त कठिन है।"[1]

हिन्दी भाषा और साहित्य को पालीवालजी के योगदान का मूल्यांकन करते हुए बनारसीदासजी आगे लिखते हैं —

"पालीवालजी के विषय में फैसला देते हुए लोग एक बात भूल जाते हैं, वह यह कि वह क्रान्तिकारी हैं। चुंगी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, कौंसिल और असेम्बली में पदार्पण उनके जीवन का लक्ष्य न कभी था और न कभी होगा। ये सब अन्तिम लक्ष्य के साधनमात्र हैं। सरकार (उस समय भारत में अंग्रेजों का शासन था) इस बात को अच्छी तरह जानती है, और उसने पालीवालजी, उनके 'सैनिक' और उनके साथियों को दमन करने में कभी रियायत नहीं की। स्वर्गीय गणेशजी के 'प्रताप' को छोड़कर स्वार्थ-त्याग तथा बलिदान का 'सैनिक' जैसा दृष्टान्त हिन्दी-जगत में कोई दूसरा न होगा।"[2]

पालीवालजी को पुस्तक-रचना का अवकाश कभी नहीं मिला, यद्यपि दो-तीन ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के वह प्रकाण्ड पंडित हैं। उन्होंने इतना लिखा है कि उससे कई ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं।

बनारसीदास चतुर्वेदी

बनारसीदास चतुर्वेदी

बनारसीदास चतुर्वेदी की गणना भी अग्रगण्य पत्रकार-साहित्यिकों में की जाती है, यद्यपि हिन्दी-साहित्य के प्रति अनुराग और लेखन में अभिरुचि के

[1] 'रेखाचित्र'—पृष्ठ २१५
[2] 'रेखाचित्र'—पृष्ठ २१५

लक्षण इनमें पत्रकार बनने से पहले ही दिखाई दे चुके थे। साहित्य-सृजन और सार्वजनिक सेवा ही ने इन्हें सुखी और सम्पन्न जीवन के प्रति उदासीन बना दिया और राजकुमार कालेज, इन्दौर की स्थायी नौकरी छोड़कर अस्थिर और अल्पवेतन-वाले काम करने पर बाध्य किया। बनारसीदासजी की इन प्रवृत्तियों को यथेष्ट आश्रय पत्रकारिता ही में मिला। यह इनका सौभाग्य था कि ऐसे ही समय जब ये साहित्य-सेवा के आदर्श से अनुप्राणित हुए, इनका सम्पर्क गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार और जननायक से हो गया। उनसे बनारसीदासजी ने जो कुछ सीखा और जो प्रेरणा पाई, उस ऋण से उऋण वह गणेशशंकरजी की जीवनी तथा संस्मरण प्रकाशित करके ही हो सके।

बनारसीदासजी का पत्रकारिता-जीवन 'विशाल भारत' के सम्पादन से आरम्भ होता है। स्व० रामानन्द चटर्जी, जो 'प्रवासी' 'माडर्न रिव्यू' और 'विशाल भारत' के मालिक थे, बनारसीदासजी की सेवा-भावना और लगन से बहुत प्रभावित थे। कलकत्ता में रहते हुए उनका अनेक प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं से परिचय हुआ। प्रवासी भारतीयों की समस्या में इनकी विशेष दिलचस्पी थी। इसके कारण ही वह महात्मा गांधी, सी० एफ० एंड्रूज और श्रीनिवास शास्त्री के कृपापात्र बन गये। इन तीनों महानुभावों का प्रवासी भारतीयों की समस्या से विशेष सम्बन्ध था। बनारसीदासजी ने 'विशाल भारत' को एक साहित्यिक और सामान्य जानकारी से परिपूर्ण मासिक पत्रिका बना दिया। इसके स्तम्भों में प्रायः सभी तत्कालीन प्रमुख लेखकों की रचनाएं प्रकाशित होती थीं।

'विशाल भारत' छोड़ने के बाद बनारसीदासजी ने टीकमगढ़ से 'मधुकर' का सम्पादन करना आरम्भ किया। ओरछा-नरेश, जो इनके शिष्य थे, इनका विशेष आदर करते थे और हिन्दी-प्रेमी थे। चतुर्वेदीजी ने वास्तव में जीवन भर पढ़ने और लिखने के सिवाय कुछ नहीं किया। उनका अध्ययन हिन्दी, संस्कृत और भारतीय साहित्य तक ही सीमित नहीं है। अंग्रेजी के माध्यम से उन्होंने पाश्चात्य साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया है। वह चौबे अवश्य हैं, पर उनका दृष्टिकोण इतना व्यापक है कि उसमें जाति-पांत ही नहीं, राष्ट्रीय भेदभाव के लिए भी स्थान नहीं। गांधीजी की विचारधारा का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा है, इसलिए सरल भाषा ही इनका आदर्श है। साहित्यिक और सामाजिक विषयों पर उनके निबन्ध प्रगतिशील और विचारपूर्ण होते हैं। चतुर्वेदीजी की अपनी शैली है, जो बातचीत की भाषा के निकट होते हुए भी ओजपूर्ण तथा प्रांजल है और अत्यधिक आकर्षक है। निबन्ध, रेखा-चित्र, वर्णन आदि के लिए इनकी लेखन-शैली विशेष रूप से उपयुक्त है। इनकी रचनाओं में 'रेखाचित्र', 'साहित्य

और जीवन', 'हमारे आराध्य', 'संस्मरण','गणेशशंकर विद्यार्थी'-(संपादित) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने लेखों और सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा इन्होंने अनेक तरुण लेखकों को प्रोत्साहित किया है। इस दृष्टि से बनारसीदास चतुर्वेदी ने महावीरप्रसाद द्विवेदी की परम्परा का अनुसरण किया है।

रेखाचित्र के बारे में बनारसीदासजी ने लिखा है—

"रेखाचित्र खींचना एक कला है। थोड़ी-सी रेखाओं के द्वारा एक सजीव चित्र बना देना किसी कुशल कलाकार का ही काम हो सकता है।. . . थोड़े-से शब्दों में किसी घटना को चित्रित कर देना अथवा किसी व्यक्ति का सजीव चित्र उपस्थित कर देना अत्यन्त कठिन कार्य है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आंखें खोलकर दुनिया नहीं देखी, जिसे कभी जीवन-संग्राम में जूझने का मौका नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिन्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है।"[1]

बनारसीदासजी ने निश्चय ही यह सबकुछ देखा-बरता है। इसलिए उनके रेखाचित्र सजीव हैं, वे चलते-फिरते दिखाई देते हैं और बोलते-से सुनाई पड़ते हैं।

राष्ट्रभाषा के प्रति बनारसीदास चतुर्वेदीजी का अनन्य प्रेम है। वह सदा से इस समस्या पर विचार करते आये हैं और इसका हल खोजने के सदा यत्न में रहे हैं। उन्होंने बहुत पहले 'राष्ट्रभाषा' नामक पुस्तक भी लिखी, जिसमें तिलक, गांधीजी, मालवीयजी इत्यादि के राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विचार समाविष्ट हैं।

इस पुस्तक के लेखक के रूप में अपना परिचय 'एक भारतीय हृदय'[2] के नाम से दिया है। अपने हृदय के भावों को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"सच पूछो तो राष्ट्रभाषा के लिए वास्तविक आंदोलन अब आरम्भ हुआ है।. . .अबतक महात्मा गांधी, महात्मा तिलक, इत्यादि विद्वान पुरुषों ने एतदर्थ जो-जो उपाय बतलाये हैं, यदि वे प्रयोग में लाये जायं तो थोड़े ही वर्षों में राष्ट्रभाषा हिन्दी को वह स्थान प्राप्त हो सकता है, जो आजकल अंग्रेजी को हमारे देश में प्राप्त है। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि दोनों प्रश्न एक दूसरे पर अधिकांश में निर्भर हैं। एक के हल हो जाने से दूसरे के हल होने में बड़ी भारी सहायता मिलेगी।"[3]

---

[1] 'रेखाचित्र'—बनारसीदास चतुर्वेदी—पृष्ठ ७

[2] प्रायः बीस वर्ष तक बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसी उपनाम से लिखा।

[3] राष्ट्रभाषा—पृष्ठ १

चतुर्वेदीजी नियमित रूप से अपने विचार लिखते रहते हैं, जिसका सम्पूर्ण प्रकाशन हिन्दी-साहित्य में अवश्य ही महत्वपूर्ण होगा। हाल में ही वह रूसी लेखक-संघ के आमंत्रण पर सोवियत देश की भी सैर कर आये हैं और वहां से लौटकर उन्होंने सुन्दर लेखमाला लिखी है। आजकल दिल्ली में वह अनेक साहित्यिक संस्थाओं से किसी-न-किसी रूप से संबद्ध हैं। वह लेखकों और कलाकारों के सम्मानार्थ सबकुछ करने को तैयार रहते हैं। कला ही उनकी आराध्या नहीं, कलाकारों के भी वह पुजारी हैं। राज्यसभा के सदस्य का सम्मान उन्हें अपनी हिन्दी-सेवा के कारण मिला है। संसद-सदस्य के रूप में दिल्ली-निवास की अवधि में भी वह अनेक साहित्यिक हलचलों के प्रमुख सूत्रधारों में हैं। संसदीय हिन्दी-परिषद्, हिन्दी-पत्रकार-संघ आदि संस्थाओं के संचालन में रुचि लेने के साथ-साथ बनारसीदासजी को दिल्ली में 'हिन्दी भवन' खोलने का भी श्रेय है। 'हिन्दी भवन' राजधानी की साहित्यिक गतिविधि का केन्द्र बनता जा रहा है। किसी भी विषय को लेकर संकलन अथवा प्रकाशन के कार्य में जहां-कहीं कोई कठिनाई होती है, वहां बनारसीदास चतुर्वेदी सदा सहायक के रूप में तैयार रहते हैं। इसका उदाहरण स्वातंत्र्य-संग्राम के शहीदों की जीवनियों का प्रकाशन है। सामग्री का संकलन बनारसीदासजी ने किया और इस काम का कार्यालय उनका घर ही है। इस प्रकार वह अहर्निश हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण में संलग्न हैं।

अध्याय : १९

अहिन्दी-भाषी नेता

सामान्य परिचय

भारतीय नेताओं द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा का इस शताब्दी का सबसे महान और सक्रिय प्रमाण अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार है। उन्नीसवीं शताब्दी में एक अखिल भारतीय भाषा की अनिवार्यता अनुभव की गई। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानन्द के मत से उसे प्रोत्साहन मिला, बल्कि यह कहना चाहिए कि स्वामी दयानन्द और उनके साथियों ने इस विचार को पूरे उत्साह के साथ कार्यान्वित करना भी शुरू कर दिया। किन्तु हिन्दी-प्रचार को राजनीति का एक अंग मानकर और राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यक्रम में उसे खादी के समान ही ऊंचा स्थान देकर हिन्दी के लिए देश-व्यापी आन्दोलन सबसे पहले गांधीजी ने आरंभ किया। गांधीजी के विचार अखिल भारतीय कांग्रेस के विचार बन गये और देखते-ही-देखते दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य जोरों से आरंभ कर दिया गया। यह कार्य गत चालीस वर्षों से बराबर आगे बढ़ रहा है। अब सौभाग्य से स्थिति ऐसी है कि हिन्दी-सेवियों और साहित्यिकों में अनेक अहिन्दी-भाषी भी शामिल हैं। इस अध्याय में हम उनके योगदान पर विचार करेंगे। इसके लिए संक्षेप में अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रसार करनेवाली संस्थाओं पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

दक्षिण अफ्रीका में काम करते हुए ही महात्मा गांधी की यह धारणा हो चुकी थी कि हिन्दी ही सारे भारत की भाषा बन सकती है। जैसा हमने अन्यत्र कहा है, सन् १९१४ में भारत आने से पहले ही इस विचार को वह अपने लेखों में व्यक्त कर चुके थे। किन्तु इस संबंध में एक पूरी योजना जनता के सामने प्रस्तुत करने का अवसर उन्हें सन् १९१७ में ही मिला, जब भारत लौटने के दो वर्ष बाद ही इंदौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वह सभापति चुने गए। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में, विशेषकर दक्षिण भारत में तत्काल हिन्दी-प्रचार आरंभ करने पर बहुत जोर दिया। सम्मेलन ने गांधीजी के विचार को सधन्यवाद स्वीकार किया और उनके पथप्रदर्शन में इस काम का भार अपने ऊपर लेने का निश्चय किया। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने सम्मेलन के प्रवक्ता के नाते गांधीजी को आश्वासन दिया। उसी समय से हिन्दी-प्रचार का कार्य

दक्षिण में आरंभ हुआ। इसके पीछे गांधीजी का नैतिक बल और राजनीतिक तर्क तो था ही, उन्होंने भौतिक साधन भी जुटाने में संकोच नहीं किया। इस प्रकार सन् १९१८ में ही गोखले हाल, मद्रास में प्रथम हिन्दी-कक्ष खोला गया।

गांधीजी इस काम को कितना महत्वपूर्ण समझते थे, इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने पुत्र देवदास को सबसे पहले हिन्दी-अध्यापक के रूप में भर्ती किया। बिहार और उत्तर प्रदेश से और बहुत-से अध्यापक नियुक्त किये गए, जिनमें लगन और त्यागभावना थी। दक्षिण भारत की ओर से प्रतिनिधि के रूप में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने इस प्रस्ताव का जोरों से समर्थन किया और तभी से हिन्दी के प्रचार-कार्य को उनका निरन्तर सहयोग प्राप्त रहा। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का यह एक उज्ज्वल पहलू है कि उत्तर की भाषा हिन्दी के पठन-पाठन का दक्षिण में उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। यद्यपि हिन्दी-भाषी अध्यापक नियुक्त कर दिये गए थे, किन्तु गांधीजी के सुझाव पर यह निर्णय किया गया कि इस कार्य के लिए दक्षिण के ही कुछ तरुणों को तैयार किया जाय। इसलिए मद्रास से युवकों का एक दल उत्तर भारत भेजा गया। इस दल में जो व्यक्ति थे, दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के कार्य में वे ही आगे चलकर अग्रणी कहलाये। कहना न होगा कि यह कार्य देशभक्ति की भावना और राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर ही किया गया था। इसलिए आरंभ से ही प्रत्येक हिन्दी अध्यापक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी था।

नौ वर्ष तक यह कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन की देखरेख में चलता रहा। गांधीजी की नीति के अनुसार यह प्रयत्न बराबर जारी रहा कि दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का कार्य धीरे-धीरे दक्षिण के लोगों के हाथों में ही सौंपा जाय। जब कार्य काफी आगे बढ़ गया और हिन्दी परीक्षाओं में बैठनेवालों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी, तब सन् १९२७ में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की स्थापना हुई, जिससे यह समस्त कार्य स्वतंत्र रूप से इस संस्था को सौंप दिया गया। दक्षिण के जिन नेताओं ने इस आन्दोलन का समर्थन किया और इसमें सब प्रकार की सक्रिय सहायता देने का यत्न किया, उनमें राजगोपालाचारी के अतिरिक्त पट्टाभि सीतारमैया, नागेश्वर राव, रंगस्वामी आयंगर, स्वामी सीताराम, काशीश्वर राव, वेंकटप्पैया, वेंकट सुब्बाराव और मोटूरि सत्यनारायण प्रमुख थे। इन्हीं नेताओं ने दक्षिण भारत प्रचार-सभा का कार्यभार अपने कंधों पर ले लिया।

सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन सन् १९३५ में फिर इन्दौर में हुआ और इसके अध्यक्ष भी महात्मा गांधी ही चुने गए। इस बार गांधीजी ने सम्मेलन के सामने यह विचार रखा कि दक्षिण के अतिरिक्त अन्य अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में भी हिन्दी-प्रचार किया जाय। महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, उड़ीसा आदि प्रान्तों

में अभी तक हिन्दी-प्रचार की कोई व्यवस्था न थी। इन्दौर में इस विषय पर बातचीत हुई और आगामी वर्ष नागपुर में राजेन्द्रबाबू की अध्यक्षता में सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में इस काम के लिए एक विशेष संस्था की स्थापना हुई, जिसका नाम 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' रखा गया। इसका कार्यालय वर्धा में रखा गया और समिति के सभापति स्वयं राजेन्द्रबाबू हुए। देशभर में हिन्दी-प्रचार के काम का बंटवारा अब इन दो संस्थाओं में हो गया—दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा और राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति। इस प्रकार दक्षिण में और दूसरे अहिन्दी-भाषी प्रांतों में हिन्दी-प्रचार का काम बराबर आगे बढ़ता गया। सन् १९३७ में जब कई प्रान्तों में कांग्रेस-मंत्रिमंडलों का निर्माण हुआ, तब उससे हिन्दी को और भी बढ़ावा मिला। देश के अनेक अहिन्दी स्कूलों में हिन्दी का पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया।

अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार और साहित्यिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ, विषय वस्तु को व्यापकता मिली और साहित्य के कुछ अंग विशेष रूप से विकासोन्मुख हुए। दक्षिण भारत ने स्वयं कई हिन्दी लेखक पैदा किये, जिनकी लेखनी से साहित्य समृद्ध हुआ और हिन्दी लेखकों का दृष्टिकोण उदार तथा उदात्त बना। इन लेखकों में प्रमुख रांगेय राघव, सोमसुन्दरम्, विद्याभास्कर, चिंतामणि बालकृष्ण राव आदि हैं। इन साहित्यिकों के अतिरिक्त, जिनका कार्यक्षेत्र केवल लेखन है, अहिन्दी क्षेत्रों के ऐसे साहित्यिक भी हैं, जो जननायकों की कोटि में आते हैं, जैसे मोटरू सत्यनारायण, बाबूराव विष्णु पराड़कर, माधवराव सप्रे, लक्ष्मणनारायण गर्दे आदि हैं। इन सब गतिविधियों के कारण ही यह संभव हुआ कि सन् १९४९ में भारत जैसे बहुभाषी देश की संविधान-सभा ने सर्वसम्मति से हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। यह ऐतिहासिक निर्णय भाषा के गौरव की दृष्टि से हमारे राजनीतिक प्रेय की प्राप्ति थी और राजनीतिक उत्कर्ष की दृष्टि से हिन्दी श्रेय की उपलब्धि थी।

यह उल्लेखनीय है कि उस समय के सभी प्रमुख कांग्रेस नेता और कार्यकर्त्ता हिन्दी सीखना और इस भाषा का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझते थे। यही कारण है कि दक्षिण भारत प्रचार-सभा और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में राजगोपालाचारी, डा. पट्टाभि सीतारमैया, रं. रा. दिवाकर, मो. सत्यनारायण, काकासाहेब कालेलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, गणेश वासुदेव मावलंकर, बी. जी. खेर, देवदास गांधी, दादा धर्माधिकारी, हरेकृष्ण महताब, गोपीनाथ बारदोलाई आदि नेतागण रहे हैं। इनमें से बहुतेरों ने हिन्दी-प्रचार-कार्य में सक्रिय भाग लिया और हिन्दी-संस्थाओं को प्रोत्साहित किया। प्रचार-संस्थाओं

के उत्सवों में भाग लेना, छात्रों का मार्ग-दर्शन करना और इस प्रचार-कार्य में आनेवाली बाधाओं को दूर करने का यत्न करना—इन कामों में इन सभी नेताओं ने प्राणपण से योग दिया है। इन्होंने चाहे हिन्दी में साहित्य-रचना न की हो, किन्तु भाषा-प्रसार में इनके योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ऐनी बेसेन्ट

जिस प्रकार अहिन्दी-भाषी होने पर भी हमारे कई नेताओं ने हिन्दी के उन्नयन में पूर्ण सहयोग ही नहीं दिया, उसकी सक्रिय सेवा की है, उसी प्रकार विदेशी होने पर भी श्रीमती बेसेन्ट सुप्रसिद्ध भारतीय नेता रही हैं और इसी रूप में उन्होंने राष्ट्र की सेवा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी के पक्ष का भी समर्थन किया है। आरंभ में हिन्दी के प्रचार का बहुत-कुछ श्रेय श्रीमती बेसेन्ट को भी है। सन् १९१८ से १९२१ तक उन्होंने गांधीजी के साथ दक्षिण में भ्रमण किया और हिन्दी का प्रचार किया। इस कार्य को वह राष्ट्र-निर्माण का कार्य ही मानती थीं। उन्होंने अपनी 'नेशन बिल्डिंग' नामक पुस्तक में लिखा है—

ऐनी बेसेन्ट

"भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में जो अनेक देशी भाषाएं बोली जाती हैं, उनमें एक भाषा ऐसी है, जिसमें शेष सब भाषाओं की अपेक्षा एक बड़ी भारी विशेषता है, वह यह कि उसका प्रचार सबसे ज्यादा है। वह भाषा हिन्दी है। हिन्दी जाननेवाला आदमी सम्पूर्ण भारतवर्ष में यात्रा कर सकता है और उसे हर जगह हिन्दी बोलनेवाले मनुष्य मिल सकते हैं। . . . हिन्दी सीखने का कार्य एक ऐसा त्याग है, जिसे दक्षिण भारत के निवासियों को राष्ट्र की एकता के हित में करना चाहिए।"[१]

यही विचार उन्होंने अनेक बार सार्वजनिक सभाओं में व्यक्त किये हैं। मद्रास में आंध्र हिन्दी सम्मेलन (१९२८) को अपना सन्देश भेजते हुए श्रीमती ऐनी बेसेंट ने अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया था कि यह हिन्दी को भारत की

[१] "Among the various varnaculars that are spoken in the different parts of India, there is one that stands out strongly from the rest, as that which is most widely known. It is Hindi. A man who knows Hindi can travel all over India and find everywhere Hindi-speaking people.....The learning of Hindi is a sacrifice that southern India might well make to the unification of the Indian nation."

राष्ट्र-भाषा के स्थान पर आसीन देख सकेंगी। उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का शिक्षण भारत भर के स्कूलों में अनिवार्य कर देना चाहिए, यदि दोनों भाषाओं का पढ़ना सम्भव न हो।[1]

श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के इन विचारों से इस देश के प्रति उनके जो भाव हैं, उनका आभास होता है, और साथ ही हिन्दी के प्रति उनकी भावना का भी दर्शन होता है। जब उन्होंने इस शती के आरम्भ में काशी में सेंट्रल हिन्दू स्कूल और बाद में सेंट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, तो इन संस्थाओं में शिक्षण के कार्यक्रम में हिन्दी को उच्च स्थान दिया। उन्हींके प्रभाव और विचारधारा का यह फल था कि थियोसोफिकल सोसाइटी की काशी-स्थित प्रकाशन-शाखा में हिन्दी की पुस्तकों के प्रकाशन का क्रम आरम्भ हुआ। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का यह बुनियादी काम हिन्दी के निर्माण में बहुत लाभदायक हुआ है। बुनियादी पत्थर दिखाई नहीं देते, श्रीमती बेसेन्ट का यह कार्य हिन्दी-भवन की इमारत में ऐसा ही बुनियादी पत्थर बनकर छिपा हुआ है। उनके इस योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। हिन्दी ही नहीं पूरा देश उनके इस योगदान के लिए कृतज्ञ है और रहेगा।

सरदार वल्लभभाई पटेल

सरदार कांग्रेस-आन्दोलन में शामिल होने से पहले ही, स्वभाव से, भारतीयता के पक्षपाती थे। अहमदाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के रूप में और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के कार्यकर्ता के नाते उन्होंने अंग्रेजी की अपेक्षा गुजराती का अधिक उपयोग करना आरंभ किया था। जैसे-जैसे वह गांधीजी के प्रभाव में आये और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे, उन्होंने हिन्दी में भाषण देने प्रारम्भ किये। व्यावहारिक और दृढ़-संकल्प के होने के कारण सरदार को इस नई भाषा को सीखने अथवा निस्संकोच इसका व्यवहार करने में कभी कठिनाई नहीं हुई। कांग्रेस कार्यकारिणी और महासमिति की बैठकों में सरदार पटेल की उन नेताओं में गणना थी, जो अंग्रेजी से भली प्रकार परिचित होने

सरदार वल्लभभाई पटेल

---

[1] "I do hope to see that Hindi becomes the common language of India; and I do think that the teaching of Hindi should be made compulsory in Indian schools instead of the compulsory knowledge of English, if you cannot have both."

—'हिंदी प्रचारक'—मद्रास, आश्विन-कार्तिक—सं० १९८५

पर भी अधिकतर हिन्दी में बोलना पसन्द करते थे। वह अपने-आपको किसान कहते थे, इसलिए सीधी-सादी ग्रामीण भाषा में बोलना उन्हें रुचता था। १९४० में जब वह कराची-अधिवेशन के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने अपना अभिभाषण पहले हिन्दी में पढ़ा और बाद में अंग्रेजी में। गांधीजी की हिन्दी-सम्बन्धी नीति से वह पूर्णरूप से सहमत थे और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को इतना उपयुक्त मानते थे कि इस सम्बन्ध में वह कभी युक्ति देना अथवा वाद-विवाद में पड़ना ठीक नहीं समझते थे और इस विचार को स्वतःसिद्ध सत्य मानते थे।

आरम्भ से ही राजनीति में अत्यधिक उलझ जाने के कारण सरदार को साहित्य के क्षेत्र में आने का अवसर नहीं मिला और न ही उन्होंने किसी पुस्तक विशेष की रचना की, किन्तु जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में उनका कर्म अधिक प्रखर रहा, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी अल्पभाषी सरदार की वाणी में सूत्रों की-सी मार्मिकता और अर्थ की शक्ति रही। उनकी वाणी में अग्नि की-सी ज्वाला और तेज था। सरदार ऊपर से जैसे सागर के-से गंभीर और शांत थे, किन्तु हृदय में बड़वानल छिपाये थे, वैसे ही उनकी सरल-सीधी भाषा में प्रभावशाली शब्दों की सृष्टि थी। सरदार पटेल के शब्द-सूत्र देखिये—"शत्रु का लोहा गरम भले ही हो जाय, पर हथौड़ा तो ठंडा रहकर ही काम दे सकता है।"[1] सरदार स्वयं एक किसान थे और उनके जीवन की हर कठिनाई को समझते थे। उसी जीवन की उपमा उन्होंने देश-भक्तों के सामने भी सरल भाषा में इस प्रकार रक्खी—"किसान होकर यह मत भूल जाना कि वैशाख-जेठ की भयंकर गर्मी के बिना आषाढ़-श्रावण की वर्षा नहीं होनेवाली है।"[2] इससे स्पष्ट है कि तपस्या और त्याग के बाद ही स्वाधीनता का वरदान भारतवासियों को मिल सकता है। इसी प्रकार "यदि राजसत्ता अत्याचारी हो तो किसान का सीधा उत्तर है—'जा-जा, तेरे जैसे कितने ही राज मैंने मिट्टी में मिलते देखे हैं।"[3] सरदार सदा अपनेको एक सिपाही या सेवक मानते थे, किन्तु उनको महत्व कितना अधिक देते थे, वह इस उदाहरण से स्पष्ट होता है। बारदोली-सत्याग्रह में किसानों को भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "मिट्टी के बड़े घड़े से असंख्य ठीकरियां बनती हैं, फिर भी उनमें से एक ही ठीकरी मिट्टी के सारे घड़े को फोड़ने के लिए काफी होती है। घड़े से ठीकरी किसलिए डरे? वह घड़े को अपने जैसी ठीकरियां बना सकती है। फूटने का डर किसीको

---

[1] 'हमारे नेता और निर्माता'—पृष्ठ ८४
[2] 'हमारे नेता और निर्माता'—पृष्ठ ८४
[3] 'हमारे नेता और निर्माता'—पृष्ठ ८४

रखना चाहिए तो उस घड़े को रखना है, ठीकरियों को क्या डर हो सकता है ?"[1] सत्याग्रही सिपाही के लिए मरने की तालीम पाना कितना आसान है, यह भी उनकी वाणी ही समझा सकती है। उन्होंने कहा था, "मरने मारने की तालीम सिपाहियों को देने में सरकार को छः महीने लगते हैं। हमें तो सिर्फ मरना ही सीखना है, इसमें तीन महीने भी क्यों लगने चाहिए ?"[2] सरदार कर्म के धनी थे, कोरी पंडिताई उन्हें कभी नहीं भाती थी। यह सीधी-सादी भाषा ही पसन्द करते और उसीका प्रयोग भी। सुन्दर और अलंकृत भाषा का उनकी नजरों में शायद कोई मूल्य न था। इसीलिए उन्होंने लिखा, "विद्वान वह जो भाषा को अटपटी और कुभंगी बना दे।"[3] मानना होगा कि सरदार की भाषा सरल, सीधी और प्रभावशाली है। उसमें विद्वत्ता का टेढ़ापन नहीं, किसान का अक्खड़पन है। उनकी भाषा में कंचन की चमक भले ही न हो, लोहे की शक्ति अवश्य है। अतः इतिहास में सरदार वल्लभभाई पटेल जैसी ठोस लकीरें खिंच गये, हिन्दी-साहित्य में भी उनकी भाषा का प्रभाव अवश्य पड़ा है, यह मानना होगा।

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

राजाजी दक्षिण हिन्दी-प्रचार-सभा के सदस्य रहे हैं।[4] हिन्दी के प्रचार में उन्होंने योग दिया है और हिन्दी का समर्थन भी किया है। कई अधिवेशनों में सभा के अध्यक्ष रहे हैं और हिन्दी के प्रति उन्होंने लोगों को आकर्षित किया है तथा सभा का मार्गदर्शन किया है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

राजाजी ने जमनालाल बजाज के साथ सन् १९२९ में हिन्दी-प्रचारार्थ दौरा किया और इसी दौरान में ९ फरवरी, १९२९ को अर्नाकुलम में हिन्दी पुस्तकालय का उद्घाटन किया। इस अवसर पर उन्होंने अपने जो विचार व्यक्त किये, उससे ज्ञात होता है कि वह हिन्दी के कितने बड़े हिमायती थे। उस समय कोचीन को उन्होंने हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन में अग्रणी रहने के लिए बधाई दी थी और हिन्दी के लिए भारत की सर्वमान्य भाषा बनने की

---

[1] 'सरदार पटेल के भाषण'—पृष्ठ १४५

[2] 'हमारे नेता और निर्माता'—पृष्ठ ८४

[3] 'हमारे नेता और निर्माता'—पृष्ठ ८४

[4] 'हिन्दी प्रचारक'—दक्षिण हिन्दी-प्रचार-सभा का विवरण—३-३-१९२९—पृष्ठ ४८

आशा व्यक्त की थी। इससे भी आगे बढ़कर तत्कालीन राज्य सरकार से हिन्दी को अनिवार्य विषय बना देने की प्रार्थना और घोषणा की थी।[१]

मदुरा में 'मदुरा टीचर्स एसोसियेशन' के सम्मेलन में राजाजी ने हिन्दी का समर्थन करते हुए कहा था, "राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा व्यापारिक सभी दृष्टियों से हिंदी दक्षिण भारत के स्कूलों के पाठ्य-क्रम का एक अनिवार्य अंग होनी चाहिए। दक्षिण भारत के लिए संभव नहीं कि वह आनेवाले स्वराज में मताधिकार से वंचित रहे। सभी दक्षिणवालों को हिंदी सीखनी ही चाहिए, क्योंकि अगर भारत में किसी भी प्रकार की जनतांत्रिक सरकार बनेगी, तो हिंदी ही केवलमात्र राजकीय भाषा हो सकेगी।"[२]

अपनी इसी यात्रा में विसदनगर का सार्वजनिक सभा में बोलते हुए भी राजाजी ने अपने इन विचारों को दोहराया था, "हिंदी भावी भारत की राज्यभाषा है, हमें अभी से उसे जरूर सीख लेना चाहिए।"[३] भारतीय शिक्षा में हिन्दी का क्या स्थान है, इस विषय पर बोलते हुए राजाजी ने 'इंटरनेशनल फेलोशिप' के सम्मेलन में निश्चित रूप से दक्षिण भारत में हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया था और कहा था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद गणराज्य की राष्ट्रभाषा एकमात्र हिन्दी ही हो सकती है।[४]

---

१ 'हिन्दी प्रचारक'—मार्च, १९२९—पृष्ठ ६७

२ "Hind should be a necessary part of the South Indian School curriculum from the political, solcial and commercial points of view. South India could not afford to be disfranchised in the coming Swaraj. They should all learn Hindi, which alone could be the state language if India should have any form of democratic Government."

—'हिन्दी प्रचारक'—मार्च, १९२९—पृष्ठ ७०

३ "Hindi will be the State language of coming India and we must learn it from now" —'हिन्दू'—४ फरवरी, १९२९

४ इस अवसर पर व्यक्त किये हुए राजाजी के कुछ विचार इस प्रकार थे—

"English is necessarily the language of the administration so long as it is conducted by Englishmen. But when power is transferred to the people of this country, the continuance of English would serve to weaken the control of the people over their representatives and servants, and give exclusive power to a caste of mandarins.

"It is one of the essentials of good Government in democratic forms that the authorities should be in touch with the people. We must choose some Indian language as the language of the Government of India. It is obvious that the choice must be Hindustani. This the Congress has indicated and the Nehru Report embodies it in the draft constiution. Hindustani is the language spoken and understood by the largest number in India, and is more or less

वर्तमान काल में किन्हीं राजनीतिक कारणों से राजाजी हिन्दी के विरोधी बन गये मालूम होते है, किन्तु उनका पुराना हिन्दी-प्रेम टूट गया हो, यह नहीं माना जा सकता। राजनीति समय के अनुसार मनुष्य के विचारों को बदल दे सकती है किन्तु भाषा और साहित्य की स्थिरता विचारों को पूर्ण रूप से हिला नहीं सकती। आज भी राजाजी का योग हिन्दी को मिल रहा है, इसमें तनिक भी सन्देह करने की गुंजाइश नहीं। उनके द्वारा लिखित रामायण की कथा का अनुवाद हिन्दी में उनकी पुत्री लक्ष्मी देवदास गांधी ने 'दशरथ नन्दन श्रीराम' के नाम से किया है। पुस्तक का यह हिन्दी-संस्करण बहुत लोकप्रिय हुआ है। इस प्रकार राजाजी आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में योगदान दे रहे हैं, यह सत्य भुलाया नहीं जा सकता।

विनायक दामोदर सावरकर

सावरकरजी का जीवन क्रांतिकारी घटनाओं से परिपूर्ण है और राष्ट्र-भक्ति एवं हिन्दुत्व उनके सार्वजनिक जीवन का मूलाधार है। बंग-भंग-आन्दोलन से सबंधित जो प्रतिक्रियाएं इस शताब्दी के आरंभ में देशभर में हुईं, उनसे उन्हें प्रेरणा मिली। उनके जीवन की घटनाएं रोमांचकारी हैं और किसी उपन्यास के घटनाक्रम से कम रोचक नहीं; किन्तु उस घटनाक्रम के केवल साहित्यिक पक्ष का सिंहावलोकन ही इस स्थान पर उपयुक्त होगा। उत्साह, साहस तथा वीरता जैसे मानवोचित गुणों

already the Lingua Franca.....The alternative which may be very alluring to the present educated classes is to make English the language of the Central Government. This, however, would practically make power and public services the close preserve of a couple of millions scattered all over India, and would put the entire population out of touch with public administration. This would mean most probably bad Government, and is certainly not democracy. The number of people that can read and write English, even according to the very low standard adopted for census purposes, is $2\frac{1}{2}$ million persons; whereas even Malayalam is the mother-tongue of $7\frac{1}{2}$ millions.

"Fourteen crores speak Hindi or closely allied dialects of Hindi. Bengalee, Assamese and Ooriya count six crores; Marathi and Gujarati are spoken by three crores; the Dravidian group including Tamilm, Telugu, Kannada, Malayalam and Tulu are spoken by six crores. It must also be remembered that those who speak Bangalee, Marathi, Gujarati and such other languages can easily learn to follow Hindi.....

".....In fact a compulsory programme of Hindi in South India would be a double blessing, in that it would help indirectly to relieve unemployment among educated youngmen in Upper India."

—'इन्टरनेशनल फेलोशिप' नामक संस्था में श्री राजगोपालाचारी द्वारा पठित एक पत्र से—मद्रास, जनवरी १६२६। ('हिंदी-प्रचारक'—फरवरी, मार्च, १६२६—पृष्ठ १०२ से १०५ तक)

के अतिरिक्त सावरकर ने जन्मजात बौद्धिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। गत चालीस वर्ष हुए उन्होंने मराठी में लिखना आरम्भ किया था। उनके लेखों के कारण मराठी के साहित्यिक क्षेत्रों में काफी हलचल मची, क्योंकि वह भाषा की विशुद्धता और शैली की गरिमा के कट्टर समर्थक थे। किन्तु सावरकर का दृष्टिकोण अखिल भारतीय था, इसलिए आरंभ से ही जो प्रयत्न उन्होंने मराठी को उन्नत करने के लिए किये, वे ही हिन्दी की प्रगति के हेतु भी किये। भाषा के सम्बन्ध में वह प्रसिद्ध लेखक फ्रैंक केलन[१] के अनुयायी रहे हैं और उनका यह विश्वास रहा है कि किसी भी देश के लिए निजी भाषा के विशुद्धरूप को बनाये रखना और विजातीय तत्वों तथा विदेशी आक्रमणों से उसके शब्द-भंडार की सुरक्षा करना अत्यंत आवश्यक है।

विनायक दामोदर सावरकर

सावरकर की यह धारणा रही कि स्विफ्ट, गिबन, जोनसन और कारलाइल जैसे प्रतिभासंपन्न लेखकों ने विदेशी साहित्यों से प्रभावित होकर अंग्रेजी साहित्य में विजातीय प्रवृत्तियों तथा लेटिन, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के शब्दों को स्थान दिया और केवल शेक्सपीयर तथा चार्ल्स लैम्ब ही ऐसे लेखक थे, जिन्होंने अंग्रेजी की परंपरागत मर्यादा को सुरक्षित रक्खा और अंग्रेजी-भाषा को प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार वह चाहते रहे कि मराठी और हिन्दी के विशुद्ध रूप को सुरक्षित रक्खा जाय और इन दोनों भाषाओं को ऐसे तत्वों से मुक्त किया जाय, जो इनके प्राचीन स्वरूप के साथ आत्मसात् नहीं हो पाये हैं। 'राष्ट्रभाषा हिन्दी का नया स्वरूप' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है—"संस्कृत-निष्ठ हिन्दी को ही हर हालत में राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए। मुसलमान लोगों को प्रसन्न करने के लिए हिन्दी को विकृत करने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी से संस्कृत

१ "As we naturally and rightly resent and stand against all foreign incursions that may injure and corrupt the land of our birth and the scene of our infancy and childhood, desiring nothing so much as to preserve their integrity and familiar attractiveness, so in like manner we ought to guard nothing more jealously than the primitive purity and individuality of our language."
Frank H. Callan in 'Excellence in English'—Page 370.

शब्दों का बहिष्कार उचित नहीं।"[1] इससे भाषा तथा लिपि के सम्बन्ध में सावरकरजी के विचार स्पष्ट हो जाते हैं। उनकी शैली इसी विचार के अनुरूप है और हिन्दी के लिए भी, जिसे उन्होंने सदा राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है, इसी मत का अवलम्बन किया है। सन् १९३७ में हुए अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के रत्नागिरि-अधिवेशन में सावरकरजी के प्रयत्न से अखिल भारतीय भाषा के संबंध में जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसके अनुसार देवनागरी लिपि को राष्ट्रलिपि और संस्कृतगर्भित हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत किया गया।[2] इस अवसर पर उन्होंने अपने भाषण में समस्त देश के साहित्यिकों से अनुरोध किया कि वे सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखना आरम्भ करें। स्वयं सावरकरजी ने हिन्दी-भाषी क्षेत्रों मे हिन्दी में भाषण देने की परिपाटी को अपनाया। उन्होंने संस्कृत को देवभाषा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिया था। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है—"हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा स्वीकार करने में अन्य प्रान्तों की भाषा के संबंध में कोई अपमान की भावना या ईर्ष्यालु भावना नहीं है। हमें अपनी प्रांतीय भाषाओं से भी उतना ही प्रेम है, जितना कि हिन्दी से। ये सब भाषाएं अपने-अपने क्षेत्र में उन्नत होती रहेंगी। वास्तव में कुछ प्रांतीय भाषाएँ हिन्दी भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हैं, परन्तु फिर भी हिन्दी अखिल हिन्दुत्व की राष्ट्रभाषा होने के लिए सब प्रकार से सर्वश्रेष्ठ है।"[3] अपने एक लेख में सावरकरजी ने हिन्दी की प्रगति का सिंहावलोकन करते हुए लिखा था—"आयरलैंड जैसे राष्ट्र को अपनी राष्ट्रभाषा को पुनरुज्जीवित करने का कार्य करते सौ वर्ष हो गये और अभी यह पूर्ण नहीं हो रहा, यह देखकर पच्चीस वर्ष में कुछ तो हुआ, इतना ही समाधान ! हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्र-लिपि बनाने का प्रश्न आज सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में एक आवश्यक प्रश्न और देशव्यापी जीवित आन्दोलन हो गया है, यही थोड़ी-बहुत संतोष की बात समझनी चाहिए।"[4] इसी संतोष और समाधान के साथ सावरकरजी सदा हिन्दी की सेवा करते रहे हैं और हिन्दी के प्रचार में योगदान देते रहे हैं। उनकी प्रायः सभी पुस्तकों[5] का हिन्दी में अनुवाद

---

[1] 'वीणा' इन्दौर—अगस्त, १९३७

[2] 'सावरकर साहित्य नवनीत'—पृष्ठ ३७८

[3] 'हमारी समस्याएं'—पृष्ठ ३०

[4] 'आर्यमित्र'—२६ दिसम्बर, १९३५

[5] सावरकरजी की अनूदित पुस्तकें—
१. कालापानी, २. आत्मवृत्त (दो खण्ड), ३. भारतीय स्वातंत्र्य समर, ४. संन्यस्त खड्ग, ५. उत्तरक्रिया, ६. सावरकर की कविताएं, ७ हमारी समस्याएं, ८. सावरकर के भाषण, ९. हिन्दूराष्ट्र-दर्शन, १०. हिन्दुत्व।

हो चुका है, जिसे उनकी हिन्दी-साहित्य को एक देन मान सकते हैं। अहिन्दी-भाषी होते हुए हिन्दी में मौलिक लेख लिखकर भी उन्होंने हिन्दी की सेवा की है। अतः हिन्दी के विशुद्ध रूप को बनाये रखने में उनके योगदान का मूल्य अवश्य है।

काका कालेलकर

जिन नेताओं ने राष्ट्रभाषा-प्रचार के कार्य में विशेष दिलचस्पी ली और अपना समय अधिकतर इसी काम को दिया, उनमें प्रमुख नाम काकासाहेब कालेलकर का आता है। उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रचार को राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत माना है। दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के अधिवेशन में (१९३८) भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "हमारा राष्ट्रभाषा-प्रचार एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है। यह पक्ष-निरपेक्ष है।... जिन लोगों को हिन्दुस्तान की एकता अभीष्ट है, उन्हें राष्ट्र-संगठन आज का युगधर्म-सा मालूम होता है। स्वराज्य जिनके लिए प्राण-स्वरूप है, ऐसे सब लोग राष्ट्रभाषा-प्रचार के आन्दोलन में शरीक हो सकते हैं।... प्रांतीय भाषा के अभिमानियों को मैं इतना ही कहूंगा कि राष्ट्रभाषा के प्रचारक हम लोग हिन्दी-भाषा-भाषी नहीं हैं।"[१]

काका कालेलकर

उन्होंने पहले स्वयं हिन्दी सीखी और फिर कई वर्ष तक दक्षिण में सम्मेलन की ओर से प्रचार-कार्य किया। अपनी सूझ-बूझ, विलक्षणता और व्यापक अध्ययन के कारण उनकी गणना प्रमुख अध्यापकों और व्यवस्थापकों में होने लगी। हिन्दी-प्रचार के कार्य में जहां कोई दोष दिखाई देते अथवा जिन्हीं कारणों से उसकी प्रगति रुक जाती, गांधीजी काका कालेलकर को जांच के लिए वहीं भेजते। इस प्रकार के नाजुक काम काका कालेलकर ने सदा सफलता से किये। इसीलिए 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना के बाद गुजरात में हिन्दी-प्रचार की व्यवस्था के लिए गांधीजी ने काका कालेलकर को चुना। काकासाहब की मातृभाषा मराठी है। पहले उन्होंने हिन्दी सीखी। उसके बाद दक्षिण भारत में रहने के कारण

[१] 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के १९३८ के भाषण-विवरण से।

दक्षिणी भाषाओं का कुछ ज्ञान प्राप्त किया। अब नया काम सौंपे जाने पर उन्होंने गुजराती का अध्ययन प्रारम्भ किया। कुछ वर्ष तक गुजरात में रह चुकने के बाद वह गुजराती में धाराप्रवाह बोलने लगे। साहित्य अकादमी में काकासाहब आज गुजराती भाषा के प्रतिनिधि हैं। गुजरात में हिन्दी-प्रचार को जो सफलता मिली, उसका मुख्य श्रेय काकासाहब को है।

काका कालेलकर उच्च कोटि के विचारक और विद्वान् हैं। उनका योगदान हिन्दी भाषा के प्रचार तक ही सीमित नहीं। उनकी अपनी मौलिक रचनाओं से भी हिन्दी-साहित्य समृद्ध हुआ है। सरल और ओजस्वी भाषा में विचारपूर्ण निबन्ध और विभिन्न विषयों की तर्कपूर्ण व्याख्या उनकी लेखनशैली के विशेष गुण हैं। मूलरूप से विचारक और साहित्यकार होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति की अपनी शैली है, जिसे वह हिन्दी, गुजराती, मराठी और बंगला में सामान्य रूप से प्रयोग करते हैं। उनकी हिन्दी-शैली में एक विशेष प्रकार की चमक और व्यग्रता है, जो पाठक को आकर्षित करती है। उनकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है, इसलिए उनकी लेखनी से प्रायः ऐसे चित्र बन पड़ते हैं, जो मौलिक होने के साथ-साथ नित्य-नये दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। उनकी भाषा और शैली बड़ी सजीव और प्रभावशाली है। कुछ लोग उनके गद्य को पद्यमय कहते हैं। और कुछ हद तक यह सही भी है। उसमें सरलता होने के कारण स्वाभाविक प्रवाह है और विचारों का बाहुल्य होने के कारण भावों के लिए उड़ान की क्षमता है। उनकी शैली प्रबुद्ध विचारक की सहज उपदेशात्मक शैली है, जिसमें विद्वत्ता, व्यंग्य, हास्य, नीति सभी तत्व विद्यमान हैं। अपनी पुस्तक 'जीवन-साहित्य' में 'साहित्य की कसौटी' के सम्बन्ध में काकासाहब ने लिखा है—"साहित्य दैवी शक्ति है। इस शक्ति के बल पर निर्धन मनुष्य भी लोकप्रभु बन सकता है और महासम्राट् भी राजदंड से जो कुछ नहीं कर सकते, उसे शब्द-शक्ति द्वारा आसानी से साधता है। राजा को तनख्वाह देकर अपने यहां 'प्राणत्राण प्रवणमति' हृदय-शून्य सिपाही रखने पड़ते हैं। लेकिन साहित्य-सम्राट के पास सज्जनों की स्वयंसेवी फौज हमेशा तैयार रहती है। . . . लोगों में उत्साह पैदा करना, लोगों की शुभवृत्ति को जाग्रत करना और सरस्वती के प्रसाद से लोगों का धर्म-तेज प्रज्ज्वलित करना, साहित्यकार का काम है। सिर्फ जनरंजन करना, लोगों में जो-जो वृत्तियां उत्पन्न होंगी, उन सबके लिए पर्याप्त आहार दे देना साहित्याकार का धंधा नहीं है। . . . सौंदर्य के साथ अगर शील हो तभी वह शोभा देता है, साहित्य के साथ सात्विक तेज हो तभी वह भी कृतार्थ होता है।"[1]

काकासाहब मंजे हुए लेखक हैं। किसी भी सुन्दर दृश्य का वर्णन अथवा

[1] 'जीवन-साहित्य'—पृष्ठ २२-२३

पेचीदा समस्या का सुगम विश्लेषण उनके लिए आनन्द का विषय है। उन्होंने देश-विदेशों का भ्रमण करके वहां के भूगोल का ही ज्ञान नहीं कराया, अपितु उन प्रदेशों और देशों की समस्याओं, उनके समाज और उनके रहन-सहन, उनकी विशेषताओं इत्यादि का स्थान-स्थान पर अपनी पुस्तकों में बड़ा सजीव वर्णन किया है। काका कालेलकर जीवन-दर्शन के जैसे उत्सुक विद्यार्थी हैं, देश-दर्शन के भी वैसे ही शौकीन हैं। हिमालय ने उन्हें आकर्षित किया और उसके आह्वान पर वह हिमालय की यात्रा के लिए निकल पड़े। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"हिमालय जाने की वृत्ति हिन्दू मात्र में स्वाभाविक रूप से होती है। सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्रा और उनकी सखियां सभी हिमालय की पुत्रियां हैं। इसलिए हरेक नदी-भक्त को कभी-न-कभी अपने ननिहाल में मौज करने जाना ही है। हिमालय का वैभव संसार के सभी सम्राटों के समस्त वैभव से भी बढ़कर है। हिमालय ही हमारा महादेव है। अखिल विश्व की समृद्धि को समृद्ध करता हुआ भी वह अलिप्त, विरक्त, शान्त और ध्यानस्थ है। हिमालय में जाकर, उसीको हृदय में धारण कर लेने की शक्ति जिसमें है, उसीने जीवनभर विजय पाई है।"[1]

काकाकालेलकर को बचपन से ही यात्रा का शौक रहा है। उनके संस्मरणों में यात्रा का विशेष स्थान है। उनकी उदात्त कल्पना ने उपमाओं को भाषा-शैली के साथ ला जोड़ा है। मधुर कल्पना ने भाषा को सौंदर्य प्रदान किया है। इन उपमाओं का उदाहरण देखिये—"ऊपर पहुंचकर जो दृश्य देखा, उसे मैं इस जीवन में भूल नहीं सकता। अनगिनत हिमाच्छादित शिखरों की एक महान परिषद् अर्ध-वर्तुलाकार रचना में विराजित थी, मानो वेदकालीन ऋषियों की कोई महासभा बैठी हो। . . . यह सफेद बरफ इस प्रकार बिछी थी, मानो त्रिकालातीत हो।" . . .

इस अलौकिक दृश्य के साक्षात् से ज्यों-ज्यों उनकी आत्मा में उल्लास आता गया, उनकी भाषा त्यों-त्यों प्रांजल होती गई। आगे चलकर वह कहते हैं—

"यह समूचा दृश्य पहाड़ियों के हिलोरते हुए महासागर के समान मालूम होने लगा। अगर इस तरह की एक भी पहाड़ी हमारे समतल प्रदेश में आकर बसे, तो चारण और कवि बड़े गर्व के साथ निरन्तर उसकी प्रशंसा करते रहें। लेकिन इन पहाड़ियों को कोई पूछता तक नहीं। जिस प्रकार हिन्दुस्तान के संतों की कोई गिनती नहीं, उसी प्रकार हिमालय की इन पहाड़ियों की भी कोई गिनती नहीं।

"अखण्ड हिमप्रदेश का अर्थ है काल के परिवर्तन का पराभव। बारहों महीने यहां की शोभा ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। लेकिन इस शोभा में भी प्रति-

[1] 'हिमालय की यात्रा'—पृष्ठ १२

क्षण लावण्य पूरने का कार्य सवितानारायण की किरणें करती रहती हैं। किसी पुण्य पुरुष के सहवास से जिस तरह आसपास के सारे समाज के धर्मनिष्ठ बन जाने का भास होता है, उसी तरह सुबह की बालकिरणों के फैलते ही समस्त शिखरों के अनुरक्त होने का दृश्य उपस्थित हो ही जाता है। कभी-कभी सारे शिखर गेरुआ रंग धारण कर दशनामी अखाड़ा जमाते हैं।"[१]

भाषा और भाव इतने सुंदर हैं कि पाठक लेखक के साथ ही उसके कल्पना-जगत में पहुंचकर अपनेको भी भूल जाता है। काकासाहब को यदि ऊंचे पर्वतों और शैलमालाओं ने आकर्षित किया और उनके सौंदर्य से वह अभिभूत हुए तो मैदानों में बसनेवाली आदिम जातियों के अनगढ़ जीवन में भी उन्हें जीवन की कला के दर्शन हुए। उनकी जीवन-कला को, उसके सौंदर्य को और रूप को सभ्यता के हाथों परिष्कृत बना देने के लिए उन्होंने लिखा—"इनकी जीवन-कला चाहे कितनी ही असभ्य हो, किन्तु इसमें एक प्रकार की संस्कारिता अवश्य है, जिसके अंग-प्रत्यंग में सामंजस्य है। कपड़े, बाजार, हाट, सिक्के, संग्रह, सूद और सराफी, लेखनकला, स्थापत्य और वस्तु-निर्माण नगर-रचना और साम्राज्य-व्यवस्था आदि सभ्य संस्कृति के किसी भी अंग के साथ इनकी तन्मयता अभी नहीं हुई है। काल-बल का असर इनपर हो रहा है... अगर हम जीना चाहते हैं... इन्हें अपने जैसा बनाकर अपने साथ लिये बिना नहीं चल सकते।"[२]

काका कालेलकर सच्चे अर्थों में बुद्धिजीवी हैं। लिखना सदा से उनका व्यसन रहा है। सार्वजनिक कार्य की अनिश्चितता और व्यस्तताओं के बावजूद यदि उन्होंने बीस से ऊपर ग्रन्थों की रचना कर डाली, इसपर किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इनमें से कम-से-कम पांच-छः उन्होंने मूल रूप से हिन्दी में लिखे हैं।[३] यहां इस बात का उल्लेख भी अनुपयुक्त न होगा कि दो-चार को छोड़-

[१] 'हिमालय की यात्रा'—पृष्ठ १६०

[२] 'आजकल' (आदिवासी अंक) जून, १९५२—पृष्ठ १४ से 'संथाली मुरली' लेख से। संथालों का परिचय पाकर काका कालेलकर ने यह लेख हिन्दी में लिखा था।

[३] हिन्दी में उनकी मूल, अनूदित और संपादित पुस्तकें इस प्रकार हैं—

मूल

१. उस पार के पड़ोसी, २. हिन्दुस्तान के प्रचारक गांधी, ३. हिन्दुस्तानी की नीति, ४. जीवन-संस्कृति की बुनियाद, ५. बापू की झांकियां, ६. जीवन का काव्य ७. जीवन-साहित्य

अनूदित

८. लोक-जीवन, ९. कल—एक जीवन-दर्शन, १०. हिमालय की यात्रा,

कर बाकी ग्रन्थों का अनुवाद स्वयं काकासाहब ने किया है, अतः मौलिक हो या अनूदित वह काकासाहब की ही भाषा-शैली का परिचायक है। हिन्दी में यात्रा-साहित्य का अभी तक अभाव रहा है। इस कमी को काकासाहब ने बहुत हद तक पूरा किया है। उनकी अधिकांश पुस्तकें व लेख यात्रा के वर्णन अथवा लोक-जीवन के अनुभवों के आधार पर लिखे हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में भी उन्होंने कई लेख लिखे हैं। हिन्दी पत्रों के लिए काकासाहब सदा हिन्दी में ही मौलिक रूप से लिखते हैं। कहीं भी हो, उनकी भाषा और शैली निराली ही दिखाई दे जाती है। उनके लेखों और भाषणों से तो हिन्दी भाषा का पोषण हुआ ही है, उनकी पुस्तकों से भी हिन्दी-साहित्य को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के दर्शन हुए हैं। हिमालय से अवतरित होकर कलकल बहती धारा की तरह इन पुस्तकों में उनकी विचार-धारा बही है और तट के पुष्पों की तरह उनकी भाषा और साहित्य का सौंदर्य खिला है। इस तरह काका कालेलकर ने साहित्य को हिन्दी-श्री से समृद्ध किया है और उसके रूप को भाव की लेखनी से सजाने और संवारने में योग दिया है।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

जिस राष्ट्रकवि ने 'भारत भारती' द्वारा राष्ट्र की वन्दना की है, उसी कवि ने कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की अभिवन्दना इन पंक्तियों से की है—

"बैठो विविध विषय निष्णात,
आज कहानी ही होने दो, लो, यह हुंका तात,
बुनो कलापट कथासूत्र से कलित-कल्पना कांत।
भंग करे सौ सुरचापों को रंगों की बरसात,
बजती रहे तुम्हारी वाणी वीणा-सी विख्यात।
बने आपबीती-सी आहा, परबीती भी बात,
जनमें वन में दैत्यभवन में अमरै सुधा अवदात।"[१]

किसकी कल्पना ने साहित्य का कलापट काता और बुना है, इन पंक्तियों से कुछ विस्मय-सा होता है। किन्तु यह अवश्य मानना होगा कि कवि मैथिलीशरण

११. कैद की आजादी (उत्तर की दीवारें), १२. दो आम, १३. स्मरण-यात्रा, १४. जीवन-लीला, १५. धर्मोदय, १६. सूर्योदय का देश जापान,

संपादित

१७. आश्रम की बहनों से, १८. बापू के पत्र आश्रम की बहनों के नाम, १६. पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद, १६. बापू के पत्र बजाज-परिवार के नाम, २०. बापू की कलम से, २१. विवाह-विधि।

[१] 'मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ४३६

[औ]र साहित्यकार मुंशी दोनों ने साहित्य के कलापट का ताना-बाना बुनकर उसे [पू]र्ण किया है। *काव्य की इन दो पंक्तियों के ताने में कवि ने गद्य का बाना भी [बु]नं देना उचित समझा और इसीलिए उन्होंने [इ]ो शब्द लिखकर यह भेंट साहित्यकार मुंशी [क]ो अर्पित कर दी। उन्होंने लिखा, "राजनीति [के] क्षेत्र में लोगों की लोक-प्रियता घटती-[ब]ढ़ती रहती है, परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह [न]हीं, श्री मुंशी महान साहित्यकार हैं।"[१]*

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी गुजराती [औ]र अंग्रेजी दोनों भाषाओं के उच्च साहित्य-[सृ]र्जक होते हुए भी हिन्दी के महान समर्थक [औ]र प्रेमी हैं। ऊंचा साहित्यकार किसी भाषा [क]ा साहित्य हो, उसका स्तर ऊंचा ही देखना [औ]र रखना पसन्द करता है। अंग्रेजी भाषा में [प्र]वीण मुंशीजी के यह विचार जानकर कदाचित लोगों को इस बात से अवश्य [आ]श्चर्य होगा कि मुंशीजी की यह धारणा है कि हिन्दी की भाव-प्रेषणीयता [अं]ग्रेजी से अधिक है। वह गठीली, परिमार्जित व परिष्कृत संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक हैं। भाषा भावनाओं से भरी हो, उद्‌गारों से ओत-प्रोत हो और उसपर कल्पना की कलई चढ़ी हो, ऐसी शैली मुंशीजी की मनभावनी लेखन-शैली है। अपने लेख 'हिमालय की ओर' में वह लिखते हैं—

"हम कत्यूर राजाओं की पुरानी राजधानी गरुड़ गये। किन्तु इस बार आकाश पर बादल थे और हम घाटी में बरफ नहीं देख सके। गांव का मुखिया शुद्ध हिन्दी बोलता था और हमारी उपलब्धियों में उसकी सहज पैठ थी। यदि वे लोग, जो यह कहते हैं कि शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी (बाजारू किस्म की हिन्दी नहीं) एक कृत्रिम भाषा है, इन भागों में आयें और इन मुखियों की भाषा सुनें, तो उन्हें आश्चर्य होगा। उन लोगों की बोलचाल की भाषा बनकर हिन्दी ने इतनी सामर्थ्य और प्रेषणीयता अर्जित कर ली है कि हम अंग्रेजी बोलनेवालों में से बहुतों को उससे ईर्ष्या होगी।"[२]

जीवनभर वकील, मंत्री, राज्यपाल और एक अत्यन्त व्यस्त राजनीतिज्ञ रहते हुए भी श्री मुंशी ने पचास से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं, जो अधिकतर गुजराती में हैं,

---

१ 'मुन्शी अभिनन्दन और वंदन'—'भारतीय साहित्य', वर्ष २, अंक १-२

२ 'मुन्शी अभिनन्दन और वंदन' (रचनामृत खंड ३ से)—पृष्ठ २१२

कुछ अंग्रेजी में। इनमें उपन्यास, कहानी, नाटक, इतिहास, ललित कलाएं शामिल हैं। इसी कारण श्री मुंशी की गणना देश के महान साहित्यकारों में होती है, और उनका नाम शरद, बंकिमचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ लिया जाता है। उनकी रचनाओं में अमर भारतीय साधना, उसकी मूलभूत ज्योति तथा आध्यात्मिकता और उसकी सार्वभौम उदारता के दर्शन होते हैं। यही उनकी प्रेरणा के स्रोत हैं और इन्हींका निखरा हुआ रूप उनकी प्रत्येक रचना से मुखरित हुआ है। अतः मुंशी का साहित्य अधिकतर गुजराती में होते हुए भी किसी भाषा विशेष की सीमाओं में बंधकर रह जानेवाला साहित्य नहीं है। उसका भारतीय रूप, उसका सामान्य प्रेरणास्रोत और प्रत्येक पंक्ति से झलकती राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता इसे सहज सार्वदेशीय बना देती है। भारतीय भाषाएं एक दूसरे से इतनी निकट हैं कि किसी भी भाषा के महान लेखक की कृतियों का अन्य भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। मुंशी की साहित्यिक रचनाओं का परोक्ष रूप से हिन्दी पर प्रभाव पड़ा है और इन रचनाओं के हिन्दी-अनुवाद से यह प्रभाव प्रत्यक्ष हो गया है। उनके ऐतिहासिक उपन्यास और पौराणिक कथाओं पर आधारित रचनाएं हिन्दी में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई हैं मानो मूलरूप से वह इसी भाषा में लिखी गई थीं।

हिन्दी के लिए मुंशी के मन में सदा विशेष स्थान रहा है और अपने कृतित्व में उन्होंने इसका प्रमाण भी दिया है। डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, "हिन्दी उनको अपने प्रबल और अविकम्प्य समर्थक के रूप में जानती है।" श्री मुंशी की यह धारणा रही है कि "विद्या की कोई भी संस्था वास्तविक अर्थ में भारतीय नहीं कही जा सकती जबतक कि उसमें हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध नहीं हो।"[१] उन्होने हिन्दी-प्रचार के कार्य मे सक्रिय भाग लिया है। महात्मा गांधी ने मुंशीजी को इस ओर खींचा था। उन्हीके निर्देश से मुंशीजी ने प्रेमचन्द के साथ बम्बई से लगभग तीस वर्ष हुए सर्वांग सुन्दर मासिक 'हंस' चलाया था, जिसका उद्देश्य हिन्दी को अखिल भारतीय अन्तःप्रान्तीय रूप देना था। उसमें प्रत्येक भाषा का साहित्य हिन्दी और नागरी अक्षरों में प्रकाशित करने का आयोजन था। आज भी उनके द्वारा संचालित भारतीय विद्याभवन की पाक्षिक पत्रिका 'भारती' के द्वारा हिन्दी में "समस्त भारतीय जीवन, साहित्य और संस्कृति की संवेदनावाहिनी क्षमता का ही विकास हो रहा है।"[२] हिन्दी के प्रति उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर ही अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन ने मुंशीजी को सन् १९४६ में होनेवाले वार्षिक अधिवेशन

[१] 'स्पार्क्स फ्राम ए गवर्नर्स एनविल'—जिल्द पहली—पृष्ठ ८०

[२] 'मुंशी-अभिनंदन-ग्रंथ'—डा० विश्वनाथप्रसाद के लेख 'मुंशीजी और हिंदी' से

का अध्यक्ष चुना था। इस अवसर पर हिन्दी के इतिहास और स्थिति के विषय में उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया था, उसमें उन्होंने कहा था, "राष्ट्रभाषा हिन्दी एकमात्र संयुक्त प्रांत की स्वभाषा नहीं है, राजस्थान की भी है... हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा होना है, तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौन्दर्य इसमें लाना चाहिए।"[1] "हिन्दी ही हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है। यह किसी प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं, बल्कि समस्त भारत की भारती के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए।"[2]

उन्होंने अपने 'हिन्दी और हिन्दी का भविष्य' शीर्षक लेख में हिन्दी का समर्थन इन शब्दों में किया है—"हमें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि हम हिन्दी को केवल व्यवहारमात्र या शासन की भाषा बनाना चाहते हैं। हमको तो जैसी इंग्लैंड की अंग्रेजी भाषा है और फ्रांस की फ्रेंच भाषा है, उसी तरह की भारत की भारती हिन्दी को बनाना है।"[3]

भारतीय संविधान में हिन्दी को जो स्थान मिला, उसमें भी मुंशीजी का बड़ा हाथ था। जब हिन्दी के प्रश्न पर संविधान-सभा में विवाद होता था, श्री मुंशी संयोग से सभा की कांग्रेस पार्टी के स्थानापन्न अध्यक्ष थे, क्योंकि डा० पट्टाभि सीतारमैया अस्वस्थ हो गये थे। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर स्वयं कांग्रेस पार्टी में विभिन्न मतों के लोग थे, जिनमें हिन्दी के कट्टर समर्थकों से लेकर इसके विरोधी तक शामिल थे। यह श्रेय श्री मुंशी और उनके कुछ मित्रों को है कि उन्होंने समझौते का ऐसा सूत्र निकाला, जिसपर सब कांग्रेसी ही नहीं बल्कि दूसरे सदस्य भी सहमत हो सकें और इस तरह हिन्दी को सर्वसम्मति से राष्ट्रभाषा का स्थान देने की व्यवस्था की जा सकी।

श्री मुंशी हिन्दी के बहुत बड़े हितचिन्तक हैं। यदि अभी भी किसीको इसमें सन्देह हो तो उसे उन हिन्दी-सेवी-संस्थाओं को देखना चाहिए, जिनका जन्म मुन्शीजी के परिश्रम से हुआ है। आगरा विश्वविद्यालय का 'हिन्दी इंस्टीट्यूट' (विद्यापीठ) तो उनकी हितचिंतकता का ज्वलन्त उदाहरण है।

इसी आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एक आदर्श हिन्दी अनुसन्धानपीठ भी स्थापित हुआ। यहा,समस्त भारतीय भाषाओं और साहित्य के अनुसन्धान का कार्य किया जा रहा है। समस्त भारत में भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक अध्ययन

---

[1] अ० भा० साहित्य सम्मेलन के उदयपुर-अधिवेशन (१९४६) में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का अध्यक्षीय भाषण

[2] 'भारतीय हिंदी परिषद' (१९५३) में अध्यक्ष-पद से भाषण

[3] 'त्रिपथगा', दिसम्बर, १९५५—पृष्ठ १२२

के लिए उच्च स्तर की यह एकमात्र संस्था है। इसका श्रेय भी मुंशीजी को ही है।

१४ दिसम्बर, १९५३ को इस विद्यापीठ का श्री मुंशी ने ही उद्घाटन किया था। उस समय उन्होंने जो कहा, वह महत्व और विचार दोनों का विषय है। उन्होंने कहा, "मुझे आशा है कि आज हम जिस हिन्दी विद्यापीठ का उद्घाटन कर रहे हैं, वह हिन्दी को प्रादेशिक भाषा के रूप में ही स्वीकार नहीं करेगा और उसी रूप में उसे उन्नत करने की पुरानी और प्रथित पद्धति का परित्याग कर देगा।... मुझे विश्वास है कि यह संस्था ऐसा उद्योग करेगी, जिससे हिन्दी विकसित होकर राष्ट्रभाषा के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल रूप पा सकेगी। साथ ही हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था भी यहां होगी। ...उन आन्दोलनों का भी अध्ययन होगा, जो हमारे समस्त साहित्य के लिए प्रेरणाप्रद रहे हैं।..."[1]

मुंशीजी ने हिन्दी के प्रश्न को अपने देश के भविष्य के निर्माण का अभिन्न अंग माना है और उसे हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम समझा है। उनकी दृष्टि में—"संस्कृति और राष्ट्र के पुनर्निर्माण का प्रत्येक युग किसी-न-किसी भाषा के प्रभावशाली विकास के साथ जुड़ा रहता है। गुप्तकाल में संस्कृत की दुंदुभी बजी। यूरोपीय रेनेसां के साथ इटालियन भाषा ने और एलिजाबेथकालीन इंग्लैंड में अंग्रेजी ने महत्व प्राप्त किया। उसी प्रकार भारत के भविष्य का निर्माण राष्ट्रभाषा भारती (हिन्दी) के उद्भव और विकास के साथ संबद्ध है।"[2]

इससे बढ़कर कोई भी, चाहे वह हिन्दी-भाषी हो अथवा अन्य भाषा-भाषी, हिन्दी की उन्नति और प्रतिष्ठा के लिए और क्या कर सकता है। वास्तव में श्री मुंशी की हितचिन्तना और हिन्दी को उच्चतम साहित्यिक पद पर आसीन करने के उनके अनथक प्रयास हमें हिन्दी के ऊपर गुजरात के ऋण की याद दिलाते हैं। उन्नीसवीं शती में जो कार्य स्वामी दयानन्द ने अनेक कठिनाइयों के होते हुए किया और स्वाधीनता-संग्राम के समय जिसे महात्मा गांधी ने अपने लहू-पसीने से सींचा, उनके पद-चिन्हों पर चलकर मुंशीजी यथाशक्ति हिन्दी-साहित्य के विकास और परिवर्द्धन में योग दे रहे हैं। राजनीतिक नेता के साथ-साथ साहित्य-जगत् में भी उच्च स्थान-प्राप्त मुंशीजी से हिन्दी को आगे बढ़ने में सदा सहारा मिला है।

रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर

आपका जन्म ३० सितम्बर १८९४ को धारवार (कर्नाटक) में हुआ था।

---

[1] 'त्रिपथगा'—दिसम्बर, १९५५

[2] 'मुंशी अभिनंदन ग्रंथ'—पृष्ठ ९२

बेलगांव, हुबली, पूना और बम्बई में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। १९१६ से १९२१ तक दिवाकरजी ने धारवार और कोल्हापुर के स्कूल तथा कालेज में अध्यापनकार्य किया। अंग्रेजी और संस्कृत का विशेष अध्ययन किया।

रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर

संस्कृत के अध्ययन के कारण हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना भी उनके लिए सरल बन गया। साहित्य में पहले से ही रुचि थी, अतः राजनीति के साथ-साथ साहित्य-सेवा भी बराबर चलती रही। १९२१ में 'कर्मवीर' नामक कन्नड़ साप्ताहिक निकाला और १९२३ से १९३४ तक एक अंग्रेजी साप्ताहिक का संपादन किया। स्वाधीनता-आन्दोलन में कारावास की अवधि का उपयोग उन्होंने अध्ययन तथा लेखन-कार्य में किया।

सन् १९३५ मे दिवाकरजी ने हुबली में 'नेशनल लिटरेचर पब्लिकेशन ट्रस्ट' स्थापित किया। 'पीपल्स एज्युकेशन-ट्रस्ट' के ट्रस्टी के नाते 'संयुक्त कर्नाटक' (कन्नड़ दैनिक) पत्र निकाल रहे हैं। वह 'कन्नड़ साहित्य सम्मेलन' के आजीवन सदस्य हैं। इस सम्मेलन ने साहित्य के क्षेत्र में बहुत कार्य किया है।

सन् १९४८ मे दिवाकरजी भारत सरकार के सूचना एवं प्रसार-मंत्री रह चुके हैं। इस पद पर रहते हुए उन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की है और हिन्दी के प्रसार में योग दिया है। आजकल गांधी स्मारक निधि के अध्यक्ष-पद से भी हिन्दी-साहित्य, विशेषकर गांधी वाङ्मय में बड़ी रुचि लेते हैं। कर्नाटक राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के अध्यक्षपद पर रहकर इन्होंने क्रियात्मक और रचनात्मक दोनों ही प्रकार से हिन्दी की बड़ी सेवा की है।

धर्म, दर्शन और गांधी-साहित्य में दिवाकरजी की विशेष रुचि है और इन विषयों पर कन्नड़ तथा अंग्रेजी में कई पुस्तकें लिखी है, जिनमें कुछके अनुवाद हिन्दी में हुए हैं और हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनके नाम हैं—'सत्याग्रह और विश्वशांति', 'गांधीजी—जैसा मैंने देखा', 'सत्याग्रह-मीमांसा (अनूदित)', 'उपनिषदों की कहानियां' और 'कर्मयोग'।

इन पुस्तकों की भाषा बड़ी सरल और सुबोध होते हुए भी इनमें विचारों की गहराई, ज्ञान की गरिमा तथा दर्शनशास्त्र की महिमा है। इसमें अविचल विश्वास के दर्शन होते हैं। 'उपनिषदों की कहानियां' पढ़ते हुए अनुभव नहीं होता कि हम उपनिषद् के गंभीर विषय को पढ़ रहे हैं। अनुभव होता है मानो दुग्धपान की तरह

उपनिषदों के तत्वामृत का पान कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ—'प्रश्नोपनिषद्' की कहानी का कुछ अंश लीजिये। दिवाकरजी 'सवालों की झड़ी' शीर्षक कहानी में लिखते हैं—"सुकेशु, सत्यकाम, गार्ग्य, अश्वलायन, भार्गव और कबंडी यह छः नवयुवक, सत्य के जिज्ञासु, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अच्छे गुरु की खोज में यात्रा शुरू करते हैं। चलते-चलते वे प्रसिद्ध मुनि पिप्पालाद के आश्रम में पहुंचते हैं। उन्होंने सोचा—मुनिवर हमारे भी प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर जरूर दे सकेंगे। मुनिवर अपने कुशासन पर शान्त-धीर विराजमान थे कि यह छओं नौजवान अपने हाथों में यज्ञ की अग्नि में देने के लिए समिधाएं—लकड़ी लेकर पहुंचे, या यों कहिये कि ज्ञान की ज्वाला प्रज्वलित करने के लिए उपस्थित हुए।"[1]

इस प्रकार उपनिषद् की सम्पूर्ण कहानी और प्रश्न बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये हैं। कथावार्ता के रूप में जिज्ञासुओं की जिज्ञासा तथा ऋषि के ऊंचे ज्ञान का दर्शन कराया है। उसका अन्त उन्होंने इस प्रकार किया है—"अन्तिम प्रश्न कुछ अनोखे ढंग से पूछा गया। सुकेश ने कहा, 'गुरुदेव, राजकुमार हिरण्यगर्भ मेरे पास आकर पूछते थे कि मैं ऐसे मनुष्य या पुरुष को जानता हूं, जिसकी सोलह कलाएं हों? मैंने कहा, 'मैं तो नहीं जानता। यदि जानता होता तो जरूर बतला देता। जो झूठ बोलता है, उसका सर्वनाश हो जाता है। मैं झूठ क्यों कर कहूं?'. राजकुमार निराश होकर चले गए। मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि सोलह-कला-संपूर्ण 'पुरुष' कौन है?'

"उन्होंने कहा, 'वह पुरुष इसी शरीर में निवास करता है। इसी मनुष्य में यह सोलहों कलाएं मौजूद हैं। प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, प्रकाश, जल, धरती, वीर्य-शक्ति, बुद्धि, शारीरिक बल, तप, मंत्र, कर्म, तीन लोक और नाम, यह सोलहों कलाएं मनुष्य के भाग हैं। जब नदियां सागर में जा मिलती हैं तो उनके अपने नाम नहीं रहते। उसी प्रकार जब यह कलाएं पुरुष में डूब जाती हैं तो इनके नाम और रूप मिट जाते हैं। इस पुरुष का सार ही आत्मा है। इ‌‌‌स से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है। [इ]स प्रकार पिप्पालाद मुनि ने समाप्त किया। शिष्[यों] का शंका-समाधान हो गया [औ]र वे अपने-अपने काम करने के लिए गुरु से विदा लेकर चले गए।"[2]

दिवाकरजी की भाषा-शैली और गभीर विषय को सरल भाषा में प्रस्तुत [क]रने का यह अच्छा उदाहरण है।

अपनी 'कर्मयोग' पुस्तक में दिवाकरजी ने कर्मयोग की महत्ता की इस

[1] 'उपनिषदों की कहानियां'—पृष्ठ ८६
[2] 'उपनिषदों की कहानियां'—पृष्ठ ६५

प्रकार व्याख्या की है —

"इस प्रकार छोटे-से 'कर्मयोग' समास शब्द में आत्मतृप्ति के सरल साधन को हस्तगत कराने की पर्याप्त शक्ति है। जीवन-मरण-रूपी दो सीमाओं के अन्तर्गत कर्ममात्र, मृत्यु भी, गीता में कर्म नाम से सम्बोधित है। इस कर्ममात्र को समबुद्धि से करने की सुन्दर युक्ति ही योग है।... प्रत्येक कर्म की सारता-असारता, योग्यता-अयोग्यता आदि का निर्णय करनेवाली कसौटी नियत कर, उसके अनुसार अनासक्ति से बरतने की सुन्दर युक्ति का उपदेश देना ही कर्मयोग का विषय है। गीता में इस अपूर्व विषय की तात्त्विक-उपपत्ति हृदयस्पर्शी तथा सरल रीति से कही गई है।"[1]

इस शैली में संस्कृत भाषा की प्रधानता स्पष्ट झलकती है। भाषा विषय के अनुरूप सुगठित और प्रवाहमयी है।

कन्नडभाषी होते हुए भी ऐसी सुन्दर और रोचक शैली में इतने गंभीर विषयों को चित्रित करने की निपुणता में उनकी लेखनी की कला उद्भासित हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके शब्दचित्रों में प्रादेशिक भाषा के रंग का किंचित् सम्मिश्रण हम पाते हैं, किन्तु वह संस्कृत के जैल में घुला है, अतः हिन्दी-भाषा का चित्र उससे निखरा ही है। लेखक के रूप में दिवाकरजी ने निस्सन्देह हिन्दीश्री को सात्त्विक रूप प्रदान किया है और उसकी साहित्य-सम्पत्ति को समृद्ध बनाया है।

मोटरू सत्यनारायण

मोटरू सत्यनारायण दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के वैसे ही प्राण रहे, जैसे उत्तर भारत में पुरुषोत्तमदास टंडन। गत सत्तालीस वर्षों से आंध्र प्रदेश में ही नहीं, सारे दक्षिण भारत में उन्होंने हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का नेतृत्व किया है। कांग्रेस के सदस्य वह अवश्य रहे हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दी-प्रचार-सभा को छोड़ उन्होंने किसी भी राजनीतिक अथवा सामाजिक सभा-सोसाइटी को नहीं अपनाया। उनके व्यक्तित्व के सबसे बड़े दो गुण हैं, हिन्दी-प्रचार के लिए उनकी तल्लीनता और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उनका

मोटरू सत्यनारायण

[1] 'कर्मयोग'—पृ० २३

अनथक परिश्रम। इसलिए सत्यनारायणजी के योगदान पर हम दो प्रकार से विचार कर सकते हैं—प्रचारक के रूप में और साहित्यिक के रूप में।

सन् १९२२-२३ में शिक्षा समाप्त कर सत्यनारायणजी ने आंध्र में हिन्दी-प्रचारक के रूप में कार्य आरंभ किया। हिन्दी का कुछ ज्ञान वह पहले ही प्राप्त कर चुके थे, किन्तु चूंकि वह बहुत-सी आशाएं और महत्वाकांक्षाएं लेकर इस क्षेत्र में आये थे, इसलिए हिन्दी पढ़ाने के साथ-साथ स्वयं पढ़ने का अध्यवसाय भी बराबर करते रहे। हिन्दी-साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया और अपने उदाहरण से अनेक दक्षिण भारतीय साथियों और विद्यार्थियों को अनुप्राणित किया। अपने व्यवस्था-कौशल से उन्होंने हिन्दी-परीक्षाओं के प्रबन्ध में बराबर सुधार किये। अपना कौशल दिखाने का अवसर उन्हें सन् १९३६ के बाद मिला, जब दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य चार शाखाओं में विभाजित कर दिया गया। कुछ समय तक सत्यनारायणजी आंध्र के कार्यालय के संचालक रहे, किन्तु उसके बाद ही वर्षों तक उन्होंने दक्षिण की सभी शाखाओं के मुख्य संचालक के रूप में काम किया। हिन्दी-प्रचार-कार्य के स्तर को ऊंचा उठाना और अध्यापन-कार्य को इतना आकर्षक बनाना कि उसमें शिक्षित और त्यागी युवक आ सकें, यह सत्यनारायणजी की दक्षिण भारत-प्रचार-सभा को सबसे बड़ी देन है। सभा की आर्थिक स्थिति और साधारण प्रबन्ध-कार्य का भी उन्हें बराबर ध्यान रहा, जिसके कारण कार्य का विस्तार बराबर होता रहा। त्यागरायनगर, मद्रास में दक्षिण भारत-प्रचार-सभा के मुख्य कार्यालय और उसके विशाल भवन का निर्माण उन्हींके परिश्रम का फल है। वास्तव में तो सत्यनारायणजी और हिन्दी-प्रचार-सभा की प्रगति पर्यायवाची हो गये हैं। उनकी अद्भुत कार्य-कुशलता, संगठनात्मक शक्ति और नई-नई योजनाओं ने उनके व्यक्तित्व के साथ हिन्दी-प्रचार-सभा के यश का भी विस्तार किया।

हिन्दी-प्रचार-कार्य के अतिरिक्त सत्यनारायणजी ने हिन्दी में लेखन-कार्य भी बहुत किया है। वह हिन्दी के अच्छे लेखक हैं। दक्षिण भारत में स्कूलों के पाठ्य-क्रम के लिए उन्होंने बहुत मौलिक पुस्तकें और संकलन तैयार किये हैं। कई विचारपूर्ण साहित्यिक लेख भी लिखे हैं। उनकी लेखन-शैली और भाषणों में ऐसा प्रवाह और ऐसी स्वाभाविकता है कि यह विश्वास होना कठिन है कि हिन्दी उनकी मातृ-भाषा नहीं है।

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी उनके संबंध में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। वह लिखते हैं—"सत्यनारायणजी का उच्चारण इतना शुद्ध है और वह ऐसी धाराप्रवाह हिन्दी बोलते हैं कि किसी हिन्दी-भाषी को यह शक भी नहीं हो सकता

कि वह दक्षिण भारत के निवासी हैं।"[1]

राजेन्द्रबाबू ने भी अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—"आंध्र में मैं सबसे पीछे गया। वहां एक नई बात यह हुई कि मेरे पूरे सफर में हिन्दी-प्रचार-सभा के श्री सत्यनारायण साथ रहे। वह आंध्र के रहनेवाले हैं, पर हिन्दी का ज्ञान उनका इतना अच्छा है कि वह भाषण देने लगें, तो किसी हिन्दी-भाषी को यह सन्देह न होगा कि वह हिन्दी-भाषी नहीं हैं। . . . इस यात्रा से मुझे इस बात का पता चला कि हिन्दी-प्रचार-सभा ने कितने महत्व का काम किया है और यह काम राष्ट्र-निर्माण में कितना सहायक हुआ है तथा आगे कितना सहायक होगा।"[2]

प्रचारक और लेखक के साथ-साथ सत्यनारायणजी उद्भट वक्ता भी हैं। सत्यनारायणजी की प्रतिभा बोलकर ही अपना चमत्कार दिखाती है और प्रचार के क्षेत्र में भी उनकी सफलता की कुंजी हैं। उनकी संग्रहशील कल्पना उनके भाषणों में कभी-कभी बड़ी मार्मिकता उत्पन्न कर देती है। कालीकट के विद्वत् समाज में एक बार उन्होंने कहा था, "सभ्य समाज में जूते और टोपी दोनों की प्रतिष्ठा देखी जाती है। जूतों का दाम साधारणतया टोपी से ज्यादा ही होता है। दैनिक जीवन में जूतों की अनिवार्यता भी सर्वत्र देखी जाती है। पर इससे टोपी की उपयोगिता तथा मान-मर्यादा में कोई फरक नहीं पड़ता है। कोई भूलकर भी सिर पर जूता नहीं रखता और न पैरों में टोपी पहनता है। जो ऐसा करता है, वह पागल माना जाता है। हिन्दी हमारी गांधी टोपी के समान है, तो अंग्रेजी जूता है।"[3] श्रोता बहुत दिनों तक इस अलंकारिक उक्ति को नहीं भूल सके थे।

सत्यनारायणजी मंच पर घंटों धाराप्रवाह हिन्दी में बोल सकते हैं। उनकी भाषा अभ्यास और परिश्रम के कारण इतनी मंज गई है कि उनके भाषण तथा लेख के आधार पर कोई भी उन्हें हिन्दी-भाषी अथवा उत्तर भारत का निवासी समझ सकता है। उनकी भाषा का एक उदाहरण उनके लेख 'साहित्यिक समन्वय' से लें, जिसमें उनकी गद्य-शैली काव्यमयी है। उसमें भाव और भाषा का मधुर समागम है। इसमें उत्तर और दक्षिण दोनों का गौरवगान है—"प्रकृतिमाता ने बड़ी खूबी से भारत को भौगोलिक दृष्टि से भी दो हिस्सों में विभाजित किया है। इन दोनों हिस्सों में कितनी समानताएं हैं। भारत को उत्तर दिशा में शाश्वत प्रहरी-रूप से स्थित उत्तुंग हिमालय पर्वत ने अपनी सहज भव्यता तथा गंभीरता के द्वारा ही नहीं, बल्कि प्रकृतिजन्य अनेक सुविधाओं के द्वारा भी अपनी छाया में रहनेवाले

[1] 'हिन्दी-प्रचार का इतिहास'—पृष्ठ ६१

[2] 'आत्मकथा'—पृष्ठ ४४४

[3] 'सत्यनारायण अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ५५

मानव-पुत्रों को सुसंस्कृत बनाया, उसने अपने हृदय को विदीर्ण कर गंगा, यमुना जैसी पुनीत नदियों को जन्म दिया और बाद में इन्हीं नदियों के तट पर भारत की कला, संस्कृति, तथा जीवन-संबंधी उत्तम साहित्य का सृजन तथा पालन होता रहा है। भारत की मणिमेखला जैसी उत्तर और दक्षिण को विभाजित करनेवाली पर्वतश्रेणी ने भी, जिसमें विन्ध्य हमारा गौरीशंकर कहा जा सकता है, अपनी छाया में एक उच्च संस्कृति को जन्म देकर उसका संवर्धन किया है। इस पर्वतश्रेणी ने भी गंगा और यमुना-जैसी दो पुनीत नदियों को जन्म दिया है, जिनका हम प्रतिदिन गोदावरी और कृष्णा के नामों से स्मरण करते हैं। इन दोनों नदियों के बीच में अवस्थित मध्यप्रदेश भी हमारे लिए उसी तरह पुनीत तथा स्फूर्तिदायी रहा है, जैसे कि गंगा और यमुना के बीच में अवस्थित ब्रह्मावर्त।"[1]

भाषा की समस्या पर भी सत्यनारायणजी के विचार स्पष्ट हैं और देश की एकता की तरह ही वह भाषा की एकता के भी महान समर्थक हैं। वह अपने 'जनगणना और जनभाषाएं' शीर्षक लेख में लिखते हैं—"देश की एकता के लिए एक भाषा का होना जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है देश-भर के लोगों में देश के प्रति विशुद्ध प्रेम तथा अपनापन होना। अगर आज हिन्दी राष्ट्रभाषा मान ली गई, वह इसलिए नहीं कि वह किसी प्रान्त विशेष की भाषा है, बल्कि इसलिए कि वह अपनी सरलता, व्यापकता तथा क्षमता के कारण सारे देश की भाषा हो सकती है और सारे देश के लोग उसे अपना सकते हैं।"[2]

दक्षिण भारत के कुछ लोग वहां हिन्दी-प्रचार की नीति का विरोध जिस तर्क को लेकर प्रायः करते है, उसीके उत्तर में सत्यनारायणजी कहते हैं—"कई लोगों का यह ख्याल है कि हिन्दी उत्तर भारत के लोगों की मातृभाषा है, क्योंकि वह आज राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा आधे पंजाब की प्रादेशिक भाषा के रूप में भी स्वीकार कर ली गई है। इस तरह इन सभी प्रदेशों का रकबा साढ़े पांच लाख वर्गमील और आबादी १६ करोड़ की हो गई है। भू-विस्तार तथा जनसंख्या में आज उसका चालीस प्रतिशत का हक हो गया है। इसलिए कुछ लोगों के मन में यह डर समा गया है कि हिन्दी के द्वारा उत्तर भारत दक्षिण भारत के ऊपर राज करेगा। चार भाषाओं के बीच में बंटे हुए अढ़ाई लाख वर्गमील के भू-विस्तार के दक्षिण भारत को, अपनी दस करोड़ आबादी को लेकर किसी-न-किसी समय उत्तर भारत का लोहा

[1] 'सत्यनारायण अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ४०
[2] 'दक्षिण भारत'—अगस्त, १९५४

मानना पड़ेगा। इन आलोचकों को इस बात की जानकारी नहीं कि समूचे उत्तर भारत में आज भी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या ११ प्रतिशत से कम है। दक्षिण भारत में साक्षरों की संख्या प्रतिशत में उससे करीब दुगुनी है, अर्थात् २२ प्रतिशत है, जिसमें केरल की ३७.३१, मैसूर की १९.४, आंध्र की १२.९७ और मद्रास की २१.९८ फीसदी भी शामिल है। किसी भी राजकाज में अगर किसी विषय को महत्व दिया जा सकता है, तो संख्या को नहीं, बल्कि साक्षरता, विवेक तथा बुद्धि-बल को ही। इन तीनों विषयों में कभी भी दक्षिण भारत ने अपनी हार नहीं मानी है।"[1]

सत्यनारायणजी ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह प्रचार और साहित्य-सृजन दोनों की दृष्टि से स्तुत्य है। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य सुव्यवस्थित ढंग से चलता रहा है। इस कार्य के महत्व का अनुमान इसी बात से लगता है कि आजकल केवल दक्षिण से प्रायः दो लाख छात्र-छात्राएं प्रतिवर्ष हिन्दी-परीक्षाएं देते हैं। आज हिन्दी का प्रचार दक्षिण में इतना आगे बढ़ चुका है कि नई पौध के प्रायः सभी लोग हिन्दी बोलने अथवा कम-से-कम समझने लगे हैं। इस बात का श्रेय दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा और सत्यनारायणजी जैसे उसके कर्मठ तथा त्यागशील कार्यकर्ताओं को ही है।

जस्टिस शारदाचरण मित्र

बंगाल के लोगों ने हिन्दी के निर्माण के लिए जो कुछ किया, उसकी चर्चा हम प्रारम्भ में ही कर आये हैं। हिन्दी को अखिल भारतीय भाषा के रूप में देखने की परिपाटी वहां चली आई है। सन् १९०५ में जस्टिस शारदाचरण मित्र ने एक लिपि-विस्तार-परिषद् को जन्म दिया और उसके तत्वावधान में 'देवनागर' पत्र निकालकर हिन्दी (देवनागरी) के लिए प्रशंसनीय कार्य किया। बिहार में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार के लिए सबसे अधिक प्रयत्न भूदेव मुखर्जी ने किया था।

जस्टिस शारदाचरण मित्र

[1] 'सत्यनारायण-अभिनन्दन ग्रन्थ' (दूसरा भाग)—पृष्ठ २१

सुभाषचन्द्र बोस

आधुनिक युग में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का बंगाल में राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कलकत्ता में सन् १९२९ में गांधीजी के सभापतित्व में आयोजित राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन के सुभाष बोस स्वागता-घ्यक्ष थे। अपने भाषण में उन्होंने हिन्दी की स्थिति पर कितने स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला। हिन्दी-प्रचार की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा, "यह काम बड़ा दूरदर्शितापूर्ण है और इसका परिणाम बहुत दूर आगे चलकर मिलेगा। प्रान्तीय ईर्ष्याद्वेष को दूर करने में जितनी सहायता इस हिन्दी-प्रचार से मिलेगी उतनी दूसरी किसी चीज से नहीं मिल सकती। अपनी

सुभाषचन्द्र बोस

प्रान्तीय भाषाओं की भरपूर उन्नति कीजिये, उसमें कोई बाधा नहीं डालना चाहता और न हम किसीकी बाधा को सहन ही कर सकते हैं। पर सारे प्रान्तों की सार्वजनिक भाषा का पद हिन्दी या हिन्दुस्तानी को ही मिला। नेहरू-रिपोर्ट में भी इसीकी सिफारिश की गई है। यदि हम लोगों ने तन-मन-धन से प्रयत्न किया, तो वह दिन दूर नहीं है, जब भारत स्वाधीन होगा और उसकी राष्ट्रभाषा होगी हिन्दी।"[1]

सुभाष बोस के भाषण से यह उद्धरण तो एक उदाहरण मात्र है। बंगाल के अन्य राष्ट्रीय नेता भी, जैसे आशुतोष मुखर्जी, नलिनीरंजन सेन गुप्ता, डा० विधानचन्द्र राय प्रभृति भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर इसी मत के थे और इन सभीका यथा-समय राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति से संबंध रहा। सुप्रसिद्ध विद्वान और देशभक्त श्री अरविंद घोष ने स्वयं बंगाली होते हुए भी हिन्दी के विषय में अपने 'धर्म्म' नामक साप्ताहिक में लिखा था—"भाषार भेदे आर बाधा हइबे ना, सकले स्व स्व मातृभाषा रक्षा करियाओ साधारण भाषारूपे हिन्दी भाषा के ग्रहण करिया सेई अन्तराय विनष्ट करिब"—अर्थात् 'भाषा के भेद से और बाधा नहीं पड़ेगी, सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करके हिन्दी को साधारण भाषा के रूप में पढ़कर

[1] 'विशाल भारत' जनवरी, १९२९

इस भेद को नष्ट कर देंगे।"*

मोरारजी देसाई

मोरारजी भाई का नाम हिन्दी के साथ जुड़ा देखकर शायद कुछ व्यक्तियों को विस्मय हो, किन्तु सरदार पटेल की तरह उन्होंने भी हिन्दी भाषा के पक्ष को मजबूत बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया है। कम-से-कम उनके नेतृत्व का प्रभाव हिन्दी भाषा के विकास पर अवश्य पड़ा है।

मोरारजी देसाई

मोरारजीभाई ही वह व्यक्ति थे, जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के बम्बई अधिवेशन की बैठक में यह प्रस्ताव लाये थे कि कांग्रेस की सारी कार्रवाई हिन्दी में हो। अन्य विरोधों के रहते हुए गांधीजी उनके प्रबल समर्थक बने थे। इस समय के गुजरात-महाराष्ट्र के स्कूलों में यदि हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जा रही है तो इसका श्रेय मोरारजीभाई को है, जिन्होंने भूतपूर्व बम्बई राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में यह कदम उठाया था। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के कुलपति के रूप में उन्होंने विद्यापीठ का सारा कार्य हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा की नीति पर चलाया और चला रहे हैं। इससे बहुत लोग हिन्दी भाषा और लिपि सीख पाते हैं। आनन्द (गुजरात) में हिन्दी-विश्वविद्यालय और वल्लभ विद्यापीठ भी मोरारजीभाई की ही प्रेरणा तथा प्रयत्न का फल है। बम्बई की हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा के वह सतत आठ वर्षों से अध्यक्ष हैं। इस प्रकार वह जहां और जिस पद पर भी रहे, हिन्दी की प्रगति में मोरारजीभाई ने सदा रुचि ली।

गुजराती-भाषी होते हुए उन्हें हिन्दी भाषा का ज्ञान ही नहीं मातृभाषा की तरह ही स्वाभाविक रूप से वह हिन्दी बोलते हैं, हिन्दी में भाषण देते हैं और हिन्दी में दफ्तर का कार्य भी करते-कराते हैं। हिन्दी के पत्रों का उत्तर, चाहे निजी हो या सरकारी, वह हमेशा हिन्दी में ही देते हैं। उनके इन विचारों और नीति से हिन्दी को बल मिला है और हिन्दी आगे बढ़ी है, इसमें सन्देह नहीं। इस श्रेय की विशेषता इसलिए अधिक है कि वह गुजरात के हैं, गुजराती उनकी मातृभाषा है, किन्तु हिन्दी भाषा के विकास में उन्होंने सदा गुजराती के समान रुचि ली है, ध्यान दिया है और कार्य भी किया है।

* 'राष्ट्रभाषा'—पृष्ठ १७

गोपीनाथ बारदोलाई

जिन अहिन्दी नेताओं के सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण तथा सक्रिय प्रयत्नों के कारण हिन्दी अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में स्थान प्राप्त कर सकी है उनमें गोपीनाथ बारदोलाई का नाम उल्लेखनीय है। इनकी हिन्दी-सेवाएं पूर्वी भारत में साधारण रूप से और असम प्रदेश में विशेष रूप से हिन्दी-प्रचार के कार्य का श्रीगणेश हैं। आरंभ में गांधीजी के आदेशानुसार उन्होंने स्वयं हिन्दी-प्रचार किया। वह इतनी हिन्दी सीख गये थे कि इस भाषा में सार्वजनिक सभाओं में भाषण दे सकते थे और पत्रों में लेखादि भी लिखने लगे थे। उनका राष्ट्रभाषा के प्रति स्नेह असाधारण था। स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् असम के पहाड़ी जिलों में हिन्दी-प्रचार का कार्य बारदोलाई ने ही शुरू किया था। जितने भी हिन्दी-प्रचारक तथा हिन्दी-प्रेमी असम जाते थे, राष्ट्रभाषा के प्रति बारदोलाई की लगन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते थे। उनके संबंध में पुरुषोत्तमदास टंडन ने इस प्रकार लिखा है—"हिन्दी साहित्य सम्मेलन की राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति का जो काम असम प्रदेश में हो रहा था, उसमें श्री बारदोलाई सहायक रहते थे। इसका पता मुझको समय-समय पर कुछ हिन्दी के कार्यकर्ताओं से मिलता था।"[१] अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में हिन्दी-प्रचार का कार्य अथवा वहां की परिस्थितियों को हिन्दी के अनुकूल बनाना भी प्रभावशाली व्यक्ति का काम है। यह कार्य असम में वहां के नेता गोपीनाथ बारदोलाई ने किया।

गोपीनाथ बारदोलाई

हरेकृष्ण मेहताब

उत्कल (उड़ीसा) में ऐसे ही प्रयास हरेकृष्ण मेहताब के रहे हैं। उन्होंने भी स्वयं हिन्दी सीखी और राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा के संचालन में सदा किसी-न-किसी पदाधिकारी के रूप में हाथ बंटाया। आज भी उत्कल में हिन्दी-प्रचार-कार्य के वह प्रमुख आधार हैं और सदा इसके लिए अपना समय और शक्ति देने को उद्यत रहते हैं।

---

१ 'बारदोलाई स्मृति ग्रन्थ'—पृष्ठ ८८

हरेकृष्ण मेहताब उड़िया भाषा के सुयोग्य लेखक हैं। जेल-जीवन में उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, गीता का अनुवाद किया, उपन्यास और कविताएं लिखीं, जो छपने पर तत्कालीन सरकार द्वारा जप्त भी की गईं। किन्तु साहित्य की उस अभिरुचि और आत्माभिव्यक्ति की योग्यता को तो सरकार छीन नहीं सकती थी। आज स्वाधीन होने पर उसी अभिरुचि और अभिव्यक्ति को प्रशस्त पथ मिल गया। उड़िया भाषा को हिन्दी का भी सहयोग और सान्निध्य मिला। गांधीजी की प्रेरणा से जेल-जीवन की शरण ली तो उन्हींके संदेश की प्रेरणा से हिन्दी भाषा की सेवा का भी व्रत लिया। उड़िया की साहित्य-साधना का फल हिन्दी को उनसे मिला, और आज भी मिल रहा है। इनकी 'प्रतिमा', 'साधना-पथ' और 'ओड़िशा का इतिहास' का हिन्दी अनुवाद हो चुका है।

हरेकृष्ण मेहताब

इतिहास श्री मेहताब का प्रिय विषय है। उन्होंने इस विषय में खोज और अनुसन्धान भी किया है। उनकी इस खोज का केवल ऐतिहासिक महत्व ही नहीं, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्व भी है। उदाहरणार्थ उनके इस महत्व की पुष्टि उन्हींके शब्दों में इस प्रकार होती है। वह लिखते हैं—

"भारत के अन्य प्रत्येक भाग की तरह, उड़ीसा का भी अपना समृद्ध इतिहास है। अतीत के इतिहास के अतिरिक्त, आधुनिक विकास भी तीव्र गति से हो रहा है। निस्सन्देह, अतीत और वर्तमान दोनों एक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेंगे। भारत के दूसरे समस्त क्षेत्रों की भांति उड़ीसा भी विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में अपनी महत्ता की अक्षुण्ण परम्परा निरन्तर बनाये रखेगा। यदि कोणार्क का मंदिर खंडहरों में है तो हीराकुड उस अक्षुण्ण परम्परा की रक्षा के लिए प्रस्तुत हुआ है। यदि पुराना भुवनेश्वर विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया है तो नई राजधानी उसी परम्परा की रक्षा के लिए पुनः जन्म ले रही है।"[1]

इस भाषा को देखकर कल्पना नहीं की जा सकती कि यह किसी अहिन्दी-भाषी व्यक्ति के लिखे शब्द हैं। यह उनके उदात्त साहित्य और मौलिक हिन्दी का उत्तम उदाहरण है। इसी प्रकार अपने 'भारतीय संस्कृति को उत्कल की देन' शीर्षक लेख में यह लिखते हैं —

[1] 'राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती ग्रन्थ' में 'दो शब्द' से

"यह संयोग की बात है कि भारतीय संस्कृति की नींव, हमारे ओड़िशा में, अशोक के हृदय-परिवर्तन से हुई। भारत के इस भूभाग या इलाके में कुछ ऐसी विशेषता थी, जिसके फलस्वरूप ऐसी युगान्तकारी घटना घटी थी। कलिंग की जनता ने असीम साहस के साथ युद्ध किया था। उसमें उसने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। कलिंग की जनता का असीम साहस अशोक के हृदय-परिवर्तन का कारण बना होगा।. . . इसमें सन्देह नहीं कि जिस सदाचार और सहनशीलता से भारतीय संस्कृति की नींव पड़ी, उसके भी प्रचार का श्रीगणेश यही भुवनेश्वर था।"[१] उत्कल की संस्कृति और इतिहास के लिए मेहताब के हृदय में जो गौरवपूर्ण भाव भरे हैं, राष्ट्रभाषा के प्रति उनकी अनन्य प्रीति होने के कारण उनकी साहित्यात्मा ने सहज ही उसमें अभिव्यक्ति पा ली।

श्री मेहताब ने क्रियात्मक रूप से हिन्दी की प्रगति में योग दिया है। मुख्यमंत्री-पद से उन्होंने हिन्दी के विकास के लिए अनेक सुविधाएं देकर कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित किया और उनकी कठिनाइयां दूर कीं। उड़ीसा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से उनका सम्बन्ध पुराना है। अभी हाल ही में उत्कल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने अपने पच्चीस वर्षों की पूर्ति पर रजत-जयन्ती उत्सव मनाया, जिसके अध्यक्ष हरेकृष्ण मेहताब थे और उसी अवसर पर प्रकाशित हुए 'राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती ग्रन्थ' के वह प्रधान सम्पादक भी थे। इसकी सफलता का श्रेय श्री मेहताब की पत्रकारिता के अनुभव को दिया जा सकता है। वह 'झंकार' नामक मासिक-पत्र निकालते रहे हैं और उड़ीसा के अनेक लेखकों को प्रोत्साहित करते रहे हैं। उन्होंने संपादक के रूप में इस ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है कि—

"जहांतक मेरी जानकारी है, अन्यत्र उड़िया भाषा में इस तरह का कोई प्रकाशन नहीं हुआ है, जिसमें उड़ीसा के जीवन एवं इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर लेख लिखे गये हों। यह प्रकाशन हिन्दी में है, भारत की जनता को प्रस्तुत करने का सम्मान मुझे प्राप्त हुआ है। . . . चूंकि उड़ीसा की 'राष्ट्रभाषा प्रचार सभा' सांस्कृतिक कार्यों में सक्रिय रूप से संलग्न है, इसलिए वह हिन्दी भाषा को जनता की एक बड़ी संख्या तक पहुंचाने में समर्थ हो सकी है।"

उड़ीसा में ही नहीं, वहां के साहित्य, संस्कृति और इतिहास को उड़ीसा से बाहर प्रसारित करने में मेहताब ने हिन्दी को वाहिनी बनाया।

हरेकृष्ण मेहताब में अपूर्व संगठन-शक्ति है। वह एक 'प्रजातन्त्र' नामक संस्था भी चलाते हैं, जिसकी ओर से प्रतिवर्ष एक साहित्य-अनुष्ठान होता है और वहां विभिन्न लेखकों तथा साहित्यकारों का मिलन होता है। उसके अंतर्गत

१ 'राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रन्थ'—पृष्ठ २४१

साहित्य-गोष्ठी होती है और उससे लेखकों को साहित्य-निर्माण की प्रेरणा मिलती है, नव-विचारों का आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार उत्तम लेखक, सफल संपादक, कुशल संयोजक और सुयोग्य शासक के रूप में हरेकृष्ण मेहताब ने सभी तरह से हिन्दी की अनन्य सेवा की है।

सयाजीराव गायकवाड़

बड़ोदा-नरेश सयाजीराव गायकवाड़ कुशल और सफल शासक ही नहीं समाज-सुधार और शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी थे। इसी कारण उनकी गणना जननायकों में होती है। उनके शासनकाल में इन दोनों क्षेत्रों में बड़ोदा राज्य का स्थान प्रमुख था। मराठी-भाषी होते हुए भी हिन्दी से उन्हें प्रेम था। उन्हीके आदेश से बड़ोदा में प्रथम हिन्दी-शासन-शब्दकोश तैयार किया गया था। बड़ोदा राज्य की प्रचलित भाषाएं गुजराती और मराठी थी, किन्तु वहां के विद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन की पूर्ण सुविधाएं थीं और हिन्दी-प्रचार को प्रोत्साहन दिया जाता था। महाराजा गायकवाड़ की इस उदारवृत्ति के कारण हिन्दी-जगत ने उन्हें अपनाया और मान दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अहिन्दी-भाषी अध्यक्षों में एक सयाजीराव गायकवाड़ भी थे। वह सन १९३४ में सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए थे, जिसके स्वागताध्यक्ष घनश्यामदास बिड़ला थे। इस प्रकार न केवल विचारों से किन्तु क्रियात्मक रूप से भी हिन्दी को सयाजीराव गायकवाड़ का योगदान प्राप्त हुआ। स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी की भांति सयाजीराव भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने के पक्ष में थे और इसी विचार से उन्होंने सदा हिन्दी को प्रोत्साहन दिया।

सयाजीराव गायकवाड़

मन्मथनाथ गुप्त

श्री मन्मथनाथ गुप्त की गणना उन अहिन्दी-भाषी साहित्य-सेवियों में है, जिन्होंने बिहार और उत्तर प्रदेश में रहने के कारण आरम्भ से ही अपनी मातृभाषा बंगला के साथ-साथ हिन्दी को भी अपनाया। बाद में हिन्दी के प्रति इनका अनुराग इतना बढ़ा कि उन्होंने इसे ही अपनी सहचरी बना लिया तथा साहित्य-क्षेत्र में इसे ही सदा अपने साथ रखा। अपनी समस्त साहित्यिक रचनाएं इन्होंने हिन्दी

में ही की। जीवन में उखाड़-पछाड़ के होते हुए और कई बार दीर्घकालीन कारावास की यातना सहते हुए भी इन्होंने जितना विपुल साहित्य लिखा है, वह बहुत ही श्रेयस्कर है तथा उनकी साहित्यिक प्रतिभा का द्योतक है। मन्मथनाथ के राजनीतिक जीवन का धरातल सदा समतल नहीं रहा। अधिकतर वह क्रांतिकारी रहे और अनेक विस्फोटों तथा ब्रिटिश सरकार-विरोधी षड्यंत्रों में इन्होंने भाग लिया। काकोरी-डकैती केस में पकड़े जाने पर इन्हें चौदह वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड मिला और वह जेल से तभी रिहा हुए जब १९३८ में उत्तर प्रदेश में प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ। हाईस्कूल में पढ़ते समय ही राजनीतिक हलचल ने इन्हें आकर्षित किया और आचार्य कृपालानी तथा धीरेन्द्र मजूमदार आदि के प्रभाव में आ जाने के कारण १९२१ में ही इनपर पहली बार अदालती कार्रवाई की गई। सन् १९२२ में जेल से छूटने के बाद वह क्रान्तिकारी हो गये, क्योंकि गांधीजी द्वारा चौरी चौरा की घटना को लेकर सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित करना इन्हें रुचिकर न था। इस बात से सहमत न होने के कारण इन्होंने जोगेश चैटर्जी, रामप्रसाद 'बिस्मिल' आदि के साथ क्रान्तिकारी दल में शामिल होकर हिंसात्मक कार्यक्रम को अपनाया। कुल मिलाकर इन्होंने चौदह राष्ट्रीय डकैतियों में भाग लिया और अन्त में काकोरी केस में पकड़े गए थे।

मन्मथनाथ गुप्त

अपने जेल-जीवन में कई राष्ट्रीय मह[illegible] के प्रश्नों को लेकर इन्होंने अपने साथियों के साथ अनशन किये, जिनका पूर्ण ब्यौरा इनकी पुस्तक 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' में दिया गया है। क्रांति ने ही उनके जीवन में स्थान लिया और क्रान्ति ही उनके साहित्य का विषय बनी।

राजनीतिक जीवन में पदार्पण करते ही इनकी अभिरुचि लेखन की ओर बढ़ी। अपने कार्यक्रम के प्रचार तथा प्रसार के लिए और अपनी उद्वेलित भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ जन-साधारण में चेतना जाग्रत करने के लिए पहले पुस्तिकाएं और छोटे-छोटे 'पेम्फलेट' लिखे और उसके बाद भारत की पराधीन जनता के जीवन का चित्रण करना आरम्भ किया। अपने जेल-जीवन में इन्हें जो अवकाश मिला, उसका उन्होंने साहित्य-रचना में पूर्ण सदुपयोग किया, विशेषकर १९३० से १९३७

और १९४२ से १९४६ की जेल-यात्राओं की अवधि में। दूसरी बार जब जेल से छूटे तो अपने साथ बहुत-सी पुस्तकों की पांडुलिपियां तैयार करके लाये। इनके विचार अब विकसित हो चुके थे और गंभीर विषय उनकी परिधि में आ गये थे। जेल में जहां इन्होंने अनेक कहानियां और उपन्यास लिखे, वहां मार्क्सवाद, समाजशास्त्र, अपराध-विज्ञान आदि विषयों पर बहुत-कुछ लिखा। तबसे (१९४७ से) गुप्तजी बराबर साहित्य-साधना में लगे हैं। अबतक वह तीनसौ से अधिक कहानियां और दो दर्जन से अधिक उपन्यास लिख चुके हैं।[1] इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक विषयों और विशुद्ध साहित्य पर इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य में मन्मथनाथ ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अपनाया है। 'स्वान्तःसुखाय' में इनका विश्वास नहीं। इनकी यह धारणा है कि साहित्य जन-जीवन का एक अविच्छिन्न अंग है और साहित्य की श्रेष्ठता तथा जनसाधारण के लिए उसकी उपयोगिता में किसी भी प्रकार का पारस्परिक संघर्ष नहीं। यही नहीं, इनका मत है कि सच्चा साहित्य जनसाधारण की उच्च भावनाओं को प्रेरित करता है और समाज के भौतिक तथा बौद्धिक विकास में सहायक होता है। प्रगतिवाद अथवा प्रगतिशीलता की ऊपरी चमक-दमक का उनपर कुछ प्रभाव नहीं। प्रगतिशील होने से पहले किसी भी कृति के लिए यह आवश्यक है कि वह साहित्य अवश्य हो। इस सम्बन्ध में उन्होंने बड़े मनोरंजक ढंग से कहा है, "साहित्य उसी प्रकार से एक अलग विषय है, जैसे संगीत। कोई यदि क्रान्ति के जोश में आकर कनस्तर पीट दे और साथ-साथ जोर से चिल्लाये, तो उसके चिल्लाने को महज इसलिए कि वह क्रांतिकारी

---

[1] मन्मथनाथ गुप्त लिखित पुस्तकों की सूची

१. बारूद और तुरादा, २. दो केंचुल एक सांप, ३. बलि का बकरा, ४. बहता पानी, ५. देख कबीरा रोया, ६. अपराजित, ७, जिन, ८. प्रतिक्रिया, ९. नया सवेरा, १०. रक्षक भक्षक, ११. दो दुनिया, १२. रंग-मंच, १३. रैन अंधेरी, १४. जययात्रा १५. रक्त के बीज, १६. दूर की कौड़ी, १७. प्रगतिवाद की रूपरेखा, १८. साहित्य-कला-समीक्षा, १९. बंगला साहित्य दर्शन, २०. प्रेमचन्द, २१. रामधारीसिंह 'दिनकर', २२. प्रेमचन्द और उनका साहित्य, २३. क्रान्तिकारी की आत्मकथा, २४. ऐतिहासिक भौतिकवाद, २५. भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, २६. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, २७. हमारा देश, २८. भारतीय समाज, २९. अपराध, ३०. वीरतापूर्ण आविष्कार और यथार्थ, ३१. गल्प भारती, ३२. सेक्स का स्वभाव, ३३. चन्द्रशेखर 'आज़ाद', ३४. सरदार भगतसिंह, ३५. दादा की कहानियां, ३६. बंगाल की लोक-कथाएं, ३७. आपसी फूट जहर है और मेल अमृत, ३८. आदमी का जन्म, ३९. पचेर पांचाली, ४०. आनन्दमठ, ४१. यौन-विज्ञान और वैवाहिक जीवन, ४२. यौन-मनोविज्ञान।

जोश से उद्भूत हुआ है, संगीत नहीं कहा जा सकता। अक्सर प्रगतिशीलता के व्याख्याकार इस सहज सत्य को भुला देते हैं।"[१] इससे स्पष्ट है कि मन्मथनाथ वादों के चक्कर में नहीं पड़े और साहित्यिक तत्व को किसी भी अवस्था में गौण स्थान देने को तैयार नही। वह कहते हैं, "राष्ट्रीयतामूलक सारा साहित्य, जिसमें विदेशी साम्राज्य के साथ संग्राम अन्तर्निहित है, प्रगतिमूलक होता है।... हमारे नये स्वतंत्र देश में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगों में आशा उत्पन्न करके नये संग्रामों के लिए हमको तैयार करे। और किसी देश में कुछ भी हो, हमारे यहां साहित्य को साहित्य रहते हुए मुस्तैदी के साथ समाज-रचना में भाग लेना पड़ेगा।"[२] मन्मथनाथजी के इन शब्दों से भी यह ज्ञात होता है कि उनका साहित्य-सृजन सोद्देश्य है और वह स्वयं साहित्य को नवसाहित्य के सृजन का कारण मानते हैं, क्योंकि उनका यह मत है कि जिस भावना से प्रेरित होकर मनुष्य साहित्य की रचना करता है, उसमें और अधिक प्रेरणा जगाने की शक्ति हो और इस प्रकार मनुष्य, समाज या देश की प्रगति के साथ साहित्य स्वयं प्रगतिशील बन जाय।

मन्मथनाथ ने जितना विपुल साहित्य लिखा है, उसपर उन्होंने स्वयं कई स्थलों पर आश्चर्य प्रकट किया है। इसका श्रेय उन्होंने अपनी जेल-यात्रा को दिया है। अपने उपन्यासों के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में जो कुछ लिखा है, वह भी कम रोचक नही। प्रत्येक कृति के सम्बन्ध में पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर उन्होंने अपने ध्येय और कृति की कथावस्तु देने का यत्न किया है और अपनी पुस्तक का उद्देश्य बताया है।

मन्मथनाथ की सबसे बड़ी विशेषता उनके साहित्य की व्यापकता है, और यह और भी बड़ी बात है कि उनके लेखन का आधार तथाकथित उच्च शिक्षा नहीं, जीवन का ठोस अनुभव और अनुभव-जन्य अनुभूतियां है, जिन्हें उन्होंने अपने साहित्य में संजोया है। यदि साधारण कथा-साहित्य को छोड़ दें, तो भी बहुत कम ऐसे विषय मिलेंगे, जिनपर उन्होंने अपने विचार प्रकट न किये हों। यदि उन्होंने अपराधियों के लिए अपराध-विज्ञान, समाज-सेवियों के लिए समाजशास्त्र, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए विभिन्न आन्दोलनों के इतिहास और बच्चों के लिए बालोपयोगी साहित्य लिखा है, तो गृहस्थों के लिए वैवाहिक जीवन और तत्सम्बन्धी विज्ञान की रचना की है तथा प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता हैवलक ऐलिस के प्रामाणिक ग्रन्थ 'Psychology of Sex' का भी अनुवाद किया है। बंगला भाषा-भाषी होने के नाते और बंगला साहित्य से सुपरिचित होने के कारण उन्होंने हिन्दी की पुरानी परम्परा को फिर से जीवित किया अर्थात् बंकिमचन्द्र चटर्जी,

[१] 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा'—पृष्ठ ६
[२] 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा'—पृष्ठ १०

विभूतिभूषण बंदोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा नजरुल इस्लाम की कुछ कृतियों का भी हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'बंगला साहित्य दर्शन' में इस समृद्ध साहित्य का पूर्ण परिचय हिन्दी पाठकों को दिया है। मन्मथनाथ के साहित्यिक अनुराग और लेखक के रूप में उन्हें जो सफलता मिली, उसकी कुंजी हमें उनकी 'आत्मकथा' से मिलती है। उन्होंने अपने जेल-जीवन के लेखन-कार्य के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है, "इसके अतिरिक्त हममें कुछ उदीयमान नेता तथा लेखक भी थे।...ऐसे लोगों के होते हुए यह उचित ही था कि थोड़े दिनों में हिन्दी में हस्तलिखित साप्ताहिक निकालने का विचार हुआ। उग्रजी इसके सम्पादक बने।...लेखों की इतनी कमी थी कि मुझ जैसे लोगों से भी उसमें लिखने को कहा गया और मुझे स्मरण है कि कम-से-कम एक लेख मैंने लिखा।"[१] इस प्रकार जेल-जीवन में ही उन्हें लेखन की प्रेरणा और दीक्षा मिली।

मन्मथनाथ १९४८ में भारत सरकार के प्रकाशन-विभाग में 'बाल भारती' के संपादक के रूप में नियुक्त हुए थे। आजकल 'योजना' का सम्पादन कर रहे हैं। पुस्तकों के अतिरिक्त सामयिक विषयों पर इनके लेख कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। राजधानी के हिन्दी-क्षेत्र में इनका अच्छा स्थान है। संभवतः कोई भी और अहिन्दी-भाषी लेखक ऐसा नहीं, जिसने हिन्दी में इतना और इतने विविध विषयों पर लिखा हो।

उपर्युक्त विवरण से जाना जा सकता है कि हिन्दी के प्रचार और हिन्दी-साहित्य के निर्माण की नींव अहिन्दी-भाषी नेताओं ने रखी है। हिन्दी की व्यापकता और इसके प्रसार में दिये गए अहिन्दी-भाषियों के योग को श्री शिवपूजन सहाय ने बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया—

'देशभर की राष्ट्र-भाषा हिन्दी की व्यापकता देखकर हिन्दीतर भाषाओं के विद्वान् और महात्मा भी उसके माध्यम से अपने सिद्धान्त और सन्देश का अधिकाधिक प्रचार करना चाहते थे।...भारतीय भाषाओं में विशेषतः हिन्दी को ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि उसके साहित्य को अन्य भाषा-भाषियों की देन सर्वंथ समृद्ध करती आई है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अन्य भाषा-भाषी साहित्य-कारों की सेवाएं आज भी सादर स्मरणीय हैं।"[२]

अहिन्दी-भाषी नेताओं और विद्वानों के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य के गद्य और पद्य दोनों का विकास हुआ है। हिन्दी अहिन्दी-भाषी नेताओं के इस स्नेह से गौरवान्वित है और उसका साहित्य उनकी सेवा और योगदान से चिर कृतज्ञ।

---

[१] 'क्रान्तिकारी की आत्मकथा'—पृष्ठ १०६

[२] 'हिन्दी को मराठी संतों की देन'—पृष्ठ ४

अध्याय : २०

हिन्दी-सेवी संस्थाएं

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, इस शोध-प्रबंध से संबंधित १८५७ से १९५७ तक का सौ वर्ष का काल भारतीय पुनर्जागरण का काल था। यद्यपि १८५७ की जनक्रांति असफल हो गई थी, तथापि राष्ट्र की आहत आत्मा पुनरुत्थान के मार्ग पर अग्रसर होने को आकुल हो उठी थी। और यही आकुलता ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, देवसमाज, सनातनधर्म सभा, आदि आंदोलनों के रूप में फूट निकली। परन्तु राष्ट्र के आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया की इतिश्री यहींपर होकर नहीं रह गई। इन आन्दोलनों ने तो उस बृहत् राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि उपस्थित कर दी, जिसकी परिणति कालांतर में स्वाधीनता-प्राप्ति के रूप में हुई। इस बृहत् राष्ट्रीय आन्दोलन की अपनी एक विशेषता थी, और वह यह कि इसमें राष्ट्रीयता के सभी तत्वों का नवोन्मेष हुआ। राष्ट्रभाषा भी इस प्रक्रिया से अछूती न रही। सबसे पहले स्वामी दयानंद ने जातीय पुनरुत्थान के हेतु राष्ट्रभाषा के अनिवार्य महत्व को समझा और इसे आर्यसमाज के मूलभूत सिद्धांतों में सम्मिलित भी कर लिया। तो भी अभी देश-व्यापी स्तर पर राष्ट्रभाषा के प्रचार की आवश्यकता थी। राष्ट्रीय जागरण के गांधी-युग में तो राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्यक्रम समग्र राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। डा० राजवली पाण्डेय के शब्दों में—"तो भी अभी राष्ट्रीय आन्दोलन में किसी बात की कमी थी। उसमें गति थी, किन्तु खटक अधिक थी, प्रांतीयता थी, शंकाएं थीं। जनता अब भी आन्दोलन से दूर थी। महात्मा गांधी ने कमजोरी की नब्ज पकड़ी, इस बात पर भी ध्यान दिया कि महान राष्ट्रीय आंदोलन और आम जनता के बीच दरार क्यों पड़ी है। उन्होंने समझा कि जनता की एकता की एक आवाज होनी चाहिए और यह तभी संभव है जब उनकी कोई अपनी राष्ट्रीय भाषा हो।...भारत की राष्ट्रीय भाषा के लिए उन्होंने भी हिन्दी का ही चयन किया।...

"...इस राष्ट्रीय उत्थान में हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनाने और प्रचार करने में कांग्रेस के महान् नेताओं ने एक बड़ी सशक्त क्रांति की।"[1]

---

[1] 'राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ' में डा० राजवली पाण्डेय के लेख 'सांस्कृतिक प्रतिक्रिया' से—पृ० ६८०

इसी "सशक्त क्रांति" के फलस्वरूप हिन्दी-सेवी संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। प्रायः इन सभीके जन्म के मूल में हमारे राष्ट्रीय नेताओं की प्रेरणा काम कर रही थी। इतना ही नहीं, हमारे अनेक नेताओं ने अन्य राष्ट्रीय कार्यक्रमों के साथ-ही-साथ इन हिन्दी-सेवी संस्थाओं को सुदृढ़ करने में भी भरपूर योग दिया। अतः इन संस्थाओं का परिचय देना तथा इन्होंने हिन्दी के प्रचार तथा उसके भंडार को भरने में जो बहुमूल्य योग दिया, उसका मूल्यांकन प्रस्तुत करना समीचीन होगा, क्योंकि उसके अभाव में राष्ट्र-नेताओं द्वारा की गई हिन्दी-सेवा का मूल्यांकन ही अपूर्ण रह जायगा। वैसे तो इस बृहत् आन्दोलन म न जाने कितनी छोटी-बड़ी जानी-अनजानी संस्थाओं ने योगदान दिया, परन्तु यहांपर उन्हीं प्रमुख संस्थाओं का विवरण प्रस्तुत किया जायगा, जिनका किसी-न-किसी रूप में हमारे राष्ट्रीय नेताओं से संबंध रहा है।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

स्थापना और उद्देश्य

१६ जुलाई, सन् १८९३ में नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना वाराणसी में हुई। इसकी संस्थापना में स्व. रामनारायण मिश्र, स्व. श्यामसुन्दरदास तथा श्री शिवकुमारसिंह प्रभृति प्रमुख व्यक्तियों का हाथ था। इस संस्था का मूल उद्देश्य राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा देवनागरी लिपि का देशव्यापी प्रचार करना था। यही सबसे प्रथम संस्था थी, जिसने राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के प्रचारार्थ ठोस और सार्थक कार्यक्रम अपनाया। इस संस्था की प्रारंभ से ही यह नीति रही कि इसने नारेबाजी तथा प्रचार-आंदोलनों की तड़क-भड़क को न अपनाकर क्रियात्मक कार्यक्रम को अंगीकार किया। इस संस्था के प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक अनुपलब्ध तथा लुप्तप्रायः ग्रंथ प्रकाश में आये। सभा ने बीस वर्ष की सतत साधना के उपरांत 'हिन्दी शब्द सागर' नामक कोश प्रकाशित किया। इसमें एक लाख से भी अधिक शब्दों का समावेश हुआ है। आज भी इस दिशा में सभा का कार्य सबसे आगे है। सभा ने अबतक की गई खोजों एवं अनुसंधानों द्वारा उपलब्ध सामग्री के आधार पर हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास सोलह खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। इस ग्रंथ के प्रकाशन में देश के गण्यमान्य साहित्यिकों के अतिरिक्त भारत गणराज्य के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद का आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ है

अबतक इसके दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्ड के सम्पादक डा० राजबली पाण्डेय हैं। इस खण्ड में हिन्दी-साहित्य की पीठिका उपस्थित की गई।

प्रथम खण्ड के पश्चात षष्ठ खण्ड प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक डा. नगेंद्र हैं और यह भाग शृंगारकाल (रीतिबद्ध) की सामग्री उपलब्ध कराता है। हिन्दी के लोक-साहित्य से संबंधित षोडश भाग प्रकाशन की तैयारी में है। इस भाग के सम्पादक श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा. कृष्णदेव उपाध्याय हैं। साहित्य-प्रकाशन के अतिरिक्त सभा द्वारा हिन्दी के विद्वानों तथा लेखकों का सम्मान होता रहता है। नागरी प्रचारिणी सभा को सक्षम और सुदृढ़ बनाने में तथा इसके द्वारा हिन्दी के विकास और प्रचार के लिए महामना मदनमोहन मालवीय ने प्रचुर प्रयत्न किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अंतर्गत १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थापना हुई। सम्मेलन से संबंधित विवरण आगे के पृष्ठों में प्रस्तुत किया जायगा। सभा हिन्दी-प्रचार का उद्देश्य रखने-वाली अनेक संस्थाओं से संबंध रखती है। समूचे भारत में ऐसी ५२ संस्थाएं हैं।[1]

विभाग तथा उनके कार्य

सभा का कार्य इन दस विभागों में विभाजित है —१. पुस्तकालय विभाग, २. हस्तलिखित-ग्रंथ-खोज विभाग, ३. अनुशीलन-विभाग ४. कोश-विभाग, ५. प्रकाशन और विक्रय-विभाग, ६. प्रसाद साहित्य-गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यान-माला विभाग, ७. पुरस्कार एवं पदक विभाग, ८. सत्यज्ञान निकेतन विभाग, ९. संकेत लिपि विभाग, १०. आय-व्यय विभाग। अब क्रमशः इन विभागों द्वारा किये जानेवाले कार्य का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

१. पुस्तकालय-विभाग—सभा के अंतर्गत 'आर्य भाषा पुस्तकालय' चल रहा है। इस पुस्तकालय का निज का एक विशाल भवन है। इसमें हिन्दी के प्राचीन अप्राप्य ग्रंथों (हस्तलिखित और मुद्रित) के अतिरिक्त लगभग चालीस हजार पुस्तकें हैं और इस संख्या में निरंतर वृद्धि होती रहती है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं की भी लगभग पांच हजार महत्वपूर्ण पुस्तकें यहां संगृहीत हैं। इसमें दो सौ के लगभग पत्र-पत्रिकाएं आती हैं। इस प्रकार यह पुस्तकालय शोध करने-वाले विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त हितकारी तथा उपयोगी है।

२. हस्तलिखित ग्रंथ खोज-विभाग—इस विभाग के अंतर्गत प्राचीन अनुपलब्ध साहित्य का अन्वेषण एवं अनुसंधान होता रहता है। अबतक इस विभाग द्वारा अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का पुनरुद्धार हुआ है। इसके अंतर्गत नियुक्त बीस से ऊपर अनुसंधानकर्ता विद्वान देश के विभिन्न भागों में जाकर अनुपलब्ध कृतियों का पता लगाते हैं।

[1] 'हिन्दी-सेवी संसार,' द्वितीय संस्करण—पृष्ठ ४६०

३. अनुशीलन-विभाग—जिस प्रकार अनुसंधान-कर्ता का कार्य होता है कि वह अनुपलब्ध साहित्य को प्रकाश में लाये, उसी प्रकार अनुशीलनकर्ता का काम होता है उपलब्ध साहित्य-भण्डार में से नित-नूतन तथ्यों एवं मान्यताओं का उद्घाटन करना। इसी प्रकार का अनुशीलन-कार्य इस विभाग के अंतर्गत होता है। योग्य विद्वानों को आर्थिक सहायता देकर साहित्य की अभिनव धाराओं को स्पष्ट करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है।

४. कोश-विभाग—इस विभाग के अंतर्गत 'हिन्दी शब्द सागर' और 'संक्षिप्त शब्द सागर' जैसे प्रमुख और अधिकृत कोशों का निर्माण किया गया तथा सभा ने इन्हें प्रकाशित किया है। कई अन्य कोशों के निर्माण का कार्य भी हो रहा है। एक 'राजकीय कोश' को तैयार करने की योजना इस विभाग ने हाथ में ले रक्खी है। उत्तर प्रदेश सरकार इस योजना में सहयोग एवं सहायता दे रही है। राजकीय कार्य में व्यवहार के लिए यह कोश एक पारिभाषिक शब्दावली उपलब्ध करायेगा।

५. प्रकाशन और विक्रय-विभाग—इस विभाग की देख-रेख में हिन्दी की उत्तमोत्तम मौलिक रचनाओं के प्रकाशन तथा उनके विक्रय की व्यवस्था की जाती है। यही विभाग 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' प्रकाशित करता है। यह पत्रिका गत ६६ वर्षों से बराबर निकल रही है तथा इसने हिन्दी साहित्य की लुप्त-प्रायः रचनाओं को प्रकाश में लाने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। यह एक प्रकार से शोध-पत्रिका[1] है। इस पत्रिका ने अनुसंधानकर्ता विद्वानों तथा विद्यार्थियों को यथेष्ट रूप से प्रोत्साहित किया है। इसी विभाग के अंतर्गत निम्नांकित ग्रंथ-मालाओं का प्रकाशन होता है—

नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला, मनोरंजक पुस्तक माला, सूर्यकुमारी पुस्तक-माला, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला, प्रकीर्णक पुस्तकमाला, बालाबक्स राजपूत चारण पुस्तकमाला, देव पुरस्कार पुस्तकमाला, श्री महेंद्रलाल गर्ग विज्ञान-ग्रंथावली, श्रीमती रुक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला, श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला, नवभारतीय ग्रंथमाला, अर्धदानी याज्ञिक ग्रंथावली और राजस्थान साहित्य रक्षा-निधि।

---

[1]पत्रिका के उद्देश्य

(१) नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार,
(२) हिन्दी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन,
(३) भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान,
(४) प्राचीन, अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन

—'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—संवत २०१६, अंक ३-४

६. प्रसाद साहित्य गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यान-माला—यह विभाग सन् १९३० से स्थापित है। स्व० श्री जयशंकर प्रसाद द्वारा दी गई निधि के ब्याज से इस विभाग का संचालन होता है। इसके संचालकत्व में सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवियों की जयंतियों, स्वागत-समारोहों तथा अधिकारी विद्वानों के व्याख्यानों आदि का आयोजन होता रहता है।

७. पुरस्कार और पदक-विभाग—इस विभाग द्वारा हिन्दी-साहित्य की उत्तम और मौलिक कृतियों पर पुरस्कार और पदक दिये जाते हैं। जो पुरस्कार एवं पदक दिये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—पुरस्कार—(१) बलदेवदास बिड़ला पुरस्कार (दो सौ रुपये), (२) बटुकप्रसाद पुरस्कार (दो सौ रुपये), (३) रत्नाकर पुरस्कार (दो सौ रुपये), (४) डा. छन्नूलाल पुरस्कार (दो सौ रुपये), (५) जोधसिंह पुरस्कार (दो सौ रुपये), (६) माधवीदेवी महिला पुरस्कार (दो सौ रुपये), (७) वसुमति पुरस्कार, (८) डा. श्यामसुन्दरदास पुरस्कार (एक हजार तथा दो हजार रुपये)। पदक—(१) डा. हीरालाल स्वर्ण पदक, (२) द्विवेदी स्वर्ण-पदक, (३) सुधाकर पदक (४) ग्रीव्ज पदक (५) राधाकृष्णदास-पदक, (६) बलदेवदास पदक, (७) गुलेरी पदक, (८) रेडि चे पदक।*

८. सत्यज्ञान-निकेतन—ज्वालापुर, हरिद्वार में स्थित यह संस्था नागरी प्रचारिणी सभा के अंतर्गत पश्चिमी भारत में हिन्दी-प्रचार का प्रमुख केंद्र है। सत्यज्ञान-निकेतन के अंतर्गत बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए एक 'हिन्दी विद्या मंदिर' चलता है। निकेतन का अपना एक पुस्तकालय है।

९. संकेत-लिपि विद्यालय—हिन्दी संकेत-लिपि (शार्टहैंड) तथा हिन्दी टाइप का ज्ञान इस विद्यालय द्वारा दिया जाता है। इस दिशा में यह विद्यालय सुधारात्मक कार्य भी करता रहता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने अपने ६८ वर्ष के जीवन में हिन्दी के विकास तथा निर्माण की दिशा में जो बहुमूल्य रचनात्मक योगदान दिया है, वह अद्वितीय है तथा निरंतर उसी गति एवं उत्साह से यह संस्था अपने मार्ग पर अग्रसर है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

स्थापना

सन् १९१० में नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबंध-समिति की एक बैठक में

---

* पुरस्कार एवं पदकों का विवरण 'राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ'—पृष्ठ ६८३-४ से लिया गया है।

स्व. डा. श्यामसुन्दरदास ने इस आशय का एक प्रस्ताव रखा कि देशभर के साहित्यिकों का एक सम्मेलन आयोजित किया जाय, जिसमें नागरी लिपि के व्यापक प्रचार, प्रसार एवं व्यवहार के संबंध में क्रियात्मक विचार-विनिमय किया जाय। प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया और प्रस्तावित सम्मेलन के अधिवेशन के लिए धन-राशि भी एकत्र कर ली गई तथा उसके लिए एक पृथक उप-समिति का निर्माण भी कर दिया गया। पूर्व-निर्णय के अनुसार उसी वर्ष (सन् १९१०) के मई मास में स्व. महामना पं. मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन काशी में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में दूसरे प्रदेशों के प्रतिनिधियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। इसमें बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन ने सरकारी कचहरियों में नागरी लिपि के प्रचार तथा हिन्दी साहित्य के व्यापक विकास के लिए कोष-संग्रह की अपील की। कोष-संग्रह के लिए 'हिन्दी पैसा फण्ड समिति' की स्थापना हुई और उसी समय उस फण्ड में दो लाख पच्चीस हजार पांच सौ छियालीस पैसे एकत्र हो गये।

'सम्मेलन' के अंतर्गत स्थापित संस्थाएं

सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन प्रयाग में हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे पं. गोविंदनारायण मिश्र और श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन प्रधान मंत्री चुने गए। इसी अधिवेशन में टण्डनजी ने एक संक्षिप्त नियमावली भी उपस्थित कर दी। पहले अस्थायी रूप से सम्मेलन का कार्यालय एक वर्ष के लिए प्रयाग में रहा, फिर धीरे-धीरे स्थायी बन गया। इस प्रकार देश के विभिन्न नगरों में प्रमुख विद्वानों एवं साहित्य-सेवियों के सभापतित्व में सम्मेलन के अधिवेशन हुए और उन अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों के प्रकाश में सम्मेलन का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सन् १९१८ में इंदौर-अधिवेशन का सभापतित्व महात्मा गांधी ने किया। इस प्रकार गांधीजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व का यह लाभ सम्मेलन को मिला कि कांग्रेस के अनेक प्रमुख कार्यकर्ताओं तथा नेताओं का सक्रिय संबंध सम्मेलन से हो गया। इसी अधिवेशन (१९१८) में अहिंदी प्रांतों में हिन्दी और देवनागरी लिपि के प्रचार-संबंधी एक प्रस्ताव पास हुआ। इस निश्चय के अनुसार मद्रास प्रांत में हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारंभ हुआ। इस कार्य की सिद्धि-हेतु श्री हरिहर शर्मा, स्व. देवदास गांधी, पं. देवदत्त विद्यार्थी, पं. रामानंद शर्मा, पं. अवधनंदन तथा स्व. पं. रघुवरदयाल मिश्र आदि हिन्दी का संदेश लेकर दक्षिण भारत पहुंचे। इन सभी हिंदी-प्रचारकों के सहयोग से मद्रास में, 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार-सभा' की स्थापना हुई, जिसने अबतक लाखों दक्षिणवासियों को हिंदी सिखाई है।

'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के कार्य-क्षेत्र के अतिरिक्त भी बहुत-सा हिंदीतर क्षेत्र अभी शेष था, जिसमें हिंदी के प्रचार एवं प्रसार की भारी आवश्यकता थी। १९३६ में सम्मेलन के नागपुर-अधिवेशन में, जिसके अध्यक्ष डा. राजेन्द्रप्रसाद थे, एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार समस्त अहिंदी-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रभाषा हिंदी तथा देवनागरी लिपि के प्रचार के लिए एक व्यवस्थित केन्द्र स्थापित किया जाना निश्चित हुआ। परिणामस्वरूप 'राष्ट्रभाषा' प्रचार समिति' की स्थापना हुई और इसका केंद्रीय कार्यालय वर्धा में बना।

परीक्षाएं

हिंदी के व्यापक प्रचार एवं प्रोत्साहन के लिए यह आवश्यक था कि अधिकाधिक विद्यार्थी हिंदी सीखें और उससे लाभ लें। दूसरे, इस बात की भी आवश्यकता थी कि अन्य विषयों को हिंदी के माध्यम से पढ़ाये जाने की दिशा में सक्रिय कदम उठाये जायं। इसी विचार को दृष्टि में रखकर सम्मेलन ने अपने चौथे अधिवेशन (सन् १९१३) में, जिसके अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानंद थे, परीक्षाएं चलाने का निर्णय किया। उसके लिए नियमावली और एक उप-समिति का बन गई। प्रयोगार्थ, प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा इन तीन परीक्षाओं को चलाने का निर्णय हुआ। धीरे-धीरे ये परीक्षाएं लोकप्रिय होती गईं और अब हजारों छात्र प्रतिवर्ष इन परीक्षाओं में बैठते हैं। इन परीक्षाओं द्वारा जहां हिन्दी पढ़े-लिखे छात्रों की संख्या मे वृद्धि हुई वहा हिंदी-साहित्य के प्रति जनसाधारण में रुचि भी जाग्रत हुई। वर्तमान में सम्मेलन द्वारा निम्नांकित परीक्षाएं ली जाती हैं—

प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, आयुर्वेद-विशारद, आयुर्वेद रत्न, कृषि-विशारद, व्यापार-विशारद, शिक्षा-विशारद, सम्पादनकला-विशारद, शीघ्र लिपि-विशारद, मुनीमी, अर्जनवीसी तथा उपवैद्य।

सम्मेलन की परीक्षाओं को सरकारी मान्यता भी प्राप्त है।

सम्मेलन के विभाग

कार्य-संचालन में सुविधा की दृष्टि से सम्मेलन के ये प्रमुख विभाग हैं—प्रबंध-विभाग, परीक्षा-विभाग, संग्रह-विभाग, प्रचार-विभाग, साहित्य-विभाग और अर्थ-विभाग। इन सभी विभागों के अंतर्गत सम्मेलन का काम सुचारु रीति से चलता है।

हिंदी साहित्य सम्मेलन का 'हिंदी संग्रहालय' अपने ढंग की एक महत्वपूर्ण वस्तु है। इसमें लगभग पैंतीस हजार पुस्तकों का संग्रह है। बहुत-सी पुस्तकें तो

इस संग्रहालय में ऐसी हैं, जो अन्यत्र अनुपलब्ध ही हैं।[1] इस संग्रहालय का अपना एक विशाल एवं भव्य भवन है।

सम्मेलन पत्रिका

हिंदी साहित्य सम्मेलन एक पत्रिका भी प्रकाशित करता है, जिसका नाम है 'सम्मेलन पत्रिका'। इस पत्रिका में भारतीय साहित्य तथा संस्कृति से संबंधित गवेषणात्मक रचनाओं का प्रकाशन होता है। साथ-ही-साथ यह पत्रिका साहित्यिक गति-विधियों का ब्यौरा भी प्रस्तुत करती रहती है। सम्मेलन का स्वयं का मुद्रणालय है, जो मुद्रण-कला की आधुनिकतम उपलब्धियों तथा सुविधाओं से युक्त है।

इस प्रकार उच्च हिंदी-साहित्य के प्रकाशन तथा खोज-संबंधी कार्य के निदर्शन का सम्मेलन की गति-विधियों में प्रमुख स्थान है। सम्मेलन के प्रचारात्मक पक्ष से तो हिंदी के पाठक भली प्रकार परिचित हैं ही। टंडनजी के नेतृत्व में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के शिव संकल्प को पूरा करने में सम्मेलन ने प्रमुख भाग लिया है। आज भी सम्मेलन हिंदी-हित की दृष्टि से सतत-जागरूक है और अपने उद्देश्यों[2] की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है।

---

[1] सम्मेलन ने इतिहास के सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान स्व० मेजर वामनदास वसु के निजी पुस्तकालय को खरीद लिया है। इसमें बड़ी ही खोजपूर्ण एवं अप्राप्य सामग्री है।

—'राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ'—पृष्ठ ६८६

[2] सम्मेलन के उद्देश्य

(क) हिन्दी साहित्य के सब अंगों की पुष्टि और उन्नति का प्रयत्न करना।

(ख) देशव्यापी व्यवहारों और कार्यों को सुलभ करने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार बढ़ाने का प्रयास करना।

(ग) नागरी लिपि को मुद्रण-सुलभ और लेखन-सुलभ बनाने की दृष्टि से उसे अधिक विकसित करने का प्रयत्न करना।

(घ) हिन्दी भाषा को अधिक सुगम, मनोरम, व्यापक और समृद्ध बनाने के लिए समय-समय पर उसके अभावों को पूरा करना और उसकी शैली और त्रुटियों के संशोधन का प्रयत्न करना।

(ङ) हिंदी-भाषी राज्यों में सरकारी विभागों, पाठशालाओं, कालेजों, विश्वविद्यालयों, म्युनिसिपैलिटियों और अन्य संस्थाओं, समाजों, जनसमूहों, तथा व्यापार और अदालत के कार्यों में देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का उद्योग करते रहना।

(च) हिन्दी के ग्रंथकारों, लेखकों, कवियों, पत्र-सम्पादकों, प्रचारकों को समय-समय पर उत्साहित करने के लिए पारितोषिक, प्रशंसा-पत्र, पदक, उपाधि आदि से सम्मानित करना।

(छ) सारे देश के युवकों में हिन्दी-अनुराग उत्पन्न करने और बढ़ाने के लिए प्रयत्न

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

यह सर्वमान्य तथ्य है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन कराने का बहुत-कुछ श्रेय अहिन्दी-भाषी जन-नेताओं को है। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानंद, केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय प्रभृति नेताओं ने हिंदी के अखिल भारतीय स्वरूप के मर्म को समझा था और तदनुसार प्रयत्न भी किये थे। परन्तु हिंदीतर प्रदेशों में, विशेषतया दक्षिण भारत में, सर्वसाधारण जनता ने न तो राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप को समझा था और न उन्हें इसके लिए रुचि जाग्रत हुई थी। गांधीजी गुजराती थे। हिंदी उनकी मातृभाषा नहीं थी, पर उन्होंने यह समझ लिया था कि यदि कोई भी एक भाषा सम्पूर्ण भारत को एकता के सुदृढ़ सूत्र में पिरो सकती है, तो वह हिंदी ही है, और हिंदी, बहुसंख्यक जन-समुदाय की मातृभाषा होने पर भी, तबतक विचारों के आदान-प्रदान का अखिल भारतीय माध्यम नहीं बन सकती जबतक हिंदीतर प्रदेशों में लोक-रुचि इसके प्रति जाग्रत न हो। उनका विचार था कि उत्तर भारत की भाषाएं एक ही परिवार की है, परंतु दक्षिण की भाषाएं एकदम भिन्न परिवार की हैं। उनका उद्भव तथा विकास-क्रम उत्तर भारत की भाषाओं से सर्वथा भिन्न रहा है। इसलिए दक्षिण में यदि सफलतापूर्वक हिंदी का प्रचार हो जाय तो उत्तर भारत के हिंदीतर प्रदेशों में हिंदी-प्रचार का कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जायगा।

जब १९१८ में महात्मा गांधी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधि-

---

करना।

(ज) हिन्दी भाषा द्वारा परमोच्च शिक्षा देने के लिए विद्यापीठ स्थापित करना।

(झ) हिन्दी भाषा द्वारा उच्च परीक्षाएं लेने का प्रबन्ध करने के लिए एक हिन्दी विश्वविद्यालय स्थापित करना।

(ञ) जहां आवश्यकता समझी जाय, वहां पाठशाला, समिति तथा पुस्तकालय स्थापित करने और कराने का उद्योग करना तथा इस प्रकार की वर्तमान संस्थाओं की सहायता करना।

(ट) हिन्दी-साहित्य की वृद्धि के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखवाना और प्रकाशित करना।

(ठ) हिन्दी की हस्तलिखित और प्राचीन सामग्री तथा हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माताओं के स्मृति-चिन्हों की खोज करना और इनके तथा सभी प्रकाशित पुस्तकों के संग्रह और रक्षा के निमित्त सम्मेलन की ओर से एक बृहद् संग्रहालय की व्यवस्था करना।

(ड) हिन्दी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी अनुसन्धान का प्रबन्ध करना।

(ढ) उपर्युक्त उद्देश्यों की सिद्धि और सफलता के लिए जो अन्य उपाय आवश्यक और उपयुक्त समझे जायं, उन्हें काम में लाना।

—'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के सैंतालीसवें वार्षिक विवरण से (शक १८८१-८२)

वेशन के अध्यक्ष बने तो उन्होंने दक्षिण भारत में हिंदी-प्रचार की एक योजना प्रस्तुत की। उन्होंने इस योजना के लिए यह आवश्यक समझा कि उत्तर भारत के कुछ युवक दक्षिण में जाकर वहां की भाषाओं से परिचित हों और साथ ही वहां के लोगों में हिंदी के प्रति रुचि जगाकर उन्हें हिन्दी से परिचित करायें। इसके उपरांत महात्माजी ने दक्षिण भारत के पत्रों में सूचना निकाली कि यदि वहां हिंदी-वर्गों का प्रबन्ध किया जा सके तो हिंदी सिखाने के लिए अध्यापक भेजे जायं। इस सब प्रचार-कार्य के लिए बापू की अपील पर अधिवेशन के अवसर पर ही दस-दस हजार की राशि सेठ हुकुमचंद तथा इंदौर-नरेश श्री यशवंतराव होल्कर से प्राप्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत के समाचार-पत्रों में छपी बापू की अपील का उत्तर मद्रास शहर की 'इंडियन सर्विस लीग' नामक समाज-सेवा करनेवाली एक संस्था के लोगों ने भेजा और बापू ने तुरंत अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गांधी को प्रथम हिंदी-प्रचारक के रूप में दक्षिण भारत भेज दिया। इस प्रकार उक्त सेवा-समाज के अध्यक्ष श्री सी. पी. रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती एनी बेसेंट के हाथों प्रथम हिंदीवर्ग का उद्घाटन मद्रास में हुआ। इसके बाद तो पं० हरिहर शर्मा, स्वामी सत्यदेव, शिवराम शर्मा, पं० हृषीकेश शर्मा, पं. अवधनंदन आदि अनेक प्रचारक हिंदी-प्रचार के कार्य में जुट गये।

'हिंदी साहित्य सम्मेलन-प्रचार-कार्यालय'

अभी तक समस्त प्रचार-कार्य हिंदी साहित्य सम्मेलन के संचालन में चलता था, अतः मद्रास में जो कार्यालय खोला गया, उसका नाम रक्खा गया 'हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रचार-कार्यालय, मद्रास'। इस प्रचार-कार्यालय की ओर से 'हिंदी स्वबोधिनी' अंग्रेजी और तमिल में प्रकाशित की गई, जो बाद में तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ में भी प्रकाशित हुई। इसके बाद तीन रीडरें भी तैयार की गईं। पुस्तकों का मुद्रण अन्य प्रेसों में होने के कारण अनेक कठिनाइयां आती थीं, जिसको देखते हुए स्व० श्री जमनालाल बजाज की कृपा तथा सहायता से एक प्रेस स्थापित किया गया, जो आज भी 'हिंदी प्रचार प्रेस' के नाम से मद्रास के प्रमुख मुद्रणालयों में स्थान रखता है।

हिन्दी-विद्यालयों का श्रीगणेश

हिंदी में रुचि रखनेवाले दक्षिण भारतवासियों को प्रयाग जाकर ही हिंदी का अध्ययन करना पड़ता था। इसमें अनावश्यक व्यय तथा भोजनादि की अत्यन्त कठिनाइयां रहती थीं। इसे दृष्टि में रखकर दो हिंदी विद्यालय क्रमशः धवलेश्वर तथा इरोड में खोले गए। वर्षभर बाद इन दोनों ही विद्यालयों को बंद करके एक हिंदी महाविद्यालय मद्रास में स्थापित कर दिया गया।

'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की विधिवत् स्थापना

हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रमुख व्यक्ति दक्षिण भारत आकर हिंदी-प्रचार का निर्देशन करते थे। पर इसमें अनेक कठिनाइयां उपस्थित रहती थीं। और बापू की प्रारंभ से ही राय थी कि दक्षिण में हिंदी-प्रचार का कार्य दक्षिणवासियों के हाथ में ही रहना चाहिए। कुछ विचार-विनिमय के उपरांत 'हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रचार-कार्यालय, मद्रास' का नाम बदलकर 'दक्षिण भाषा हिन्दी प्रचार सभा' रख दिया गया और तबसे यह संस्था अपने स्वतंत्र अस्तित्व में हिंदी-प्रचार का कार्य दक्षिण भारत में कर रही है। पूज्य बापू 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के आजीवन अध्यक्ष रहे। उनके उपरांत राष्ट्रपति डा. राजेंद्रप्रसाद इस सभा के अध्यक्ष हैं।

संचालन-व्यवस्था

इस सभा की संपत्ति की व्यवस्था करनेवाला एक निधिपालक-मण्डल है। सभा के नित्य-प्रति के कार्यों के संचालन हेतु एक कार्यकारिणी-समिति है, जिसमें सभा के स्थायी पदाधिकारियों के साथ-ही-साथ कुछ चुने हुए सदस्य भी होते हैं। स्थायी पदाधिकारियों तथा कार्यकारिणी-समिति का चुनाव व्यवस्थापिका समिति द्वारा ही तीन वर्ष बाद होता है। यही व्यवस्थापिका समिति आय-व्यय पर नियंत्रण रखती है तथा इसकी अनुमति देती है। सभा के कुछ विशेष सदस्य तथा सामान्य सदस्यों द्वारा चुने हुए कुछ लोग और शिक्षा-परिषद् के सभी सदस्य इसका चुनाव करते हैं। सभा के सभी प्रचारकों को शिक्षा-परिषद् के सदस्य चुनने का अधिकार होता है। सभा की चार शाखाएं दक्षिण भारत में हैं—तमिलनाड की शाखा त्रिचिनापल्ली में, केरल की एरनाकुलम में, कर्नाटक की धारवाड़ में और आंध्र की हैदराबाद में। प्रत्येक शाखा के अपने-अपने मंत्री हैं और प्रत्येक शाखा प्रचार-कार्य करने में स्थानीय दृष्टि से स्वतंत्र है।

परीक्षा-विभाग

इस विभाग के अंतर्गत सभा प्रारंभिक तथा उच्च परीक्षाओं का संचालन करती है। प्रारंभिक परीक्षाएं हैं—'प्राथमिक', 'मध्यमा' और 'राष्ट्रभाषा' और उच्च परीक्षाएं हैं—'प्रवेशिका', 'विशारद' और 'प्रवीण'। प्रारंभिक परीक्षाएं चलाने का काम प्रांतीय शाखाओं को दे दिया गया है। अध्यापन-कला में उत्तीर्ण होनेवाले को प्रचारक की सनद दे दी जाती है।

शिक्षा-विभाग

हिंदी-शिक्षा-संबंधी संपूर्ण व्यवस्था इस विभाग की देखरेख में होती है।

हर प्रचारक इस विभाग द्वारा निर्धारित की गई पद्धति पर ही वर्ग चलाता है। सभा के निजी केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य शिक्षा-संस्थाओं द्वारा भी सभा की परीक्षाओं के केन्द्र चलाये जाते हैं, जिन्हें सभा की ओर से पर्याप्त सहयोग एवं सहायता मिलती है।

साहित्य-विभाग

सभा का यह विभाग पुस्तक-प्रकाशन तथा उनकी रचना एवं निर्माण का कार्य संभालता है। सभा ने अनके छोटी-बड़ी पुस्तकें अबतक प्रकाशित की हैं, जिससे दक्षिण भारत में हिंदी सीखने और सिखाने का काम सरल हो गया तथा हिंदी-साहित्य के अध्ययन के लिए लोगों में रस पैदा हुआ।

प्रचारक-विद्यालयों के लिए सरकार की ओर से पूरे वर्ष के व्यय का चौथा भाग ही सहायता के रूप में मिलता है। बाकी सभा अपना सम्पूर्ण कार्य निजी साधनों से करती है। सभा की आय परीक्षाओं, पुस्तक-बिक्री, प्रेस, तथा सभा के सदस्यों द्वारा होती है।

नेता और कार्यकर्त्ता

बापू की प्रेरणा से तो सभा के कार्य का आरंभ ही हुआ और आजीवन वह सभा के कार्यकलाप में गहरी रुचि लेते रहे। काकासाहब कालेलकर, स्व० जमनालाल बजाज, राजाजी, श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर, डा० पट्टाभि सीतारामय्या, वैद्यनाथ अय्यर प्रभृति नेताओं का मार्ग-दर्शन तथा सहयोग सभा को मिलता रहा है। सभा को सहयोग देनेवाली महिलाओं में प्रमुख नाम आते हैं—सर्वश्री अम्बुजम्माल, दुर्गाबाई देशमुख, इंदिरा रामदुरे आदि। इस प्रकार हिंदी प्रचार सभा ने राष्ट्रीय कार्यक्रम में राष्ट्रभाषा-प्रचार के कार्य को महत्वपूर्ण योग दिया है तथा आज भी जब दक्षिण में यदा-कदा राष्ट्रभाषा के विरोध में तूफान-सा आता दिखाई देता है तो इस सभा के रूप में प्रखर आशा की किरण दीप्त हो उठती है।

दक्षिण हिंदी प्रचार सभा के संचालक मो. सत्यनारायण का उल्लेख हम पृथक रूप से पहले ही कर चुके हैं, जिनकी हिंदी-सेवाओं का मूल्य आंकना बहुत ही कठिन है, क्योंकि उनका संपूर्ण जीवन ही हिंदी-प्रचार को समर्पित है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

जिस प्रकार हिंदी साहित्य सम्मेलन के १९१८ के इंदौर-अधिवेशन में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की नींव बापू की प्रेरणा से पड़ी, उसी प्रकार सम्मेलन का १९३६ का नागपुर-अधिवेशन भी राष्ट्रभाषा-प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के व्यापक प्रचार की

दिशा में एक और सक्रिय कदम उठाया गया। इस अधिवेशन के सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद थे। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा प्रस्तावित तथा स्व० श्री जमनालाल बजाज द्वारा अनुमोदित एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, जिसका उद्देश्य था कि दक्षिण भारत के अतिरिक्त अन्य हिंदीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए एक 'हिंदी प्रचार समिति' का गठन किया जाय। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और 'हिंदी प्रचार समिति' के नाम से एक समिति का गठन हुआ। प्रारंभ के तीन वर्षों के लिए जो पंद्रह सदस्य चुने गए, उनके नाम ये थे—सर्वश्री डा० राजेन्द्रप्रसाद, महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टण्डन, सेठ जमनालाल बजाज, काकासाहब कालेलकर, माखनलाल चतुर्वेदी, आचार्य नरेंद्रदेव, बाबा राघवदास, वियोगी हरि, ब्रिजलाल बियाणी, शंकरराव देव, पं० हरिहर शर्मा, सरदार नर्मदासिंह और ठा० श्रीनाथसिंह। इसके पश्चात अगली बैठक में श्रीमती लोकसुन्दरी रमन, श्रीमती पेरीन बेन, श्रीमती रामदेवी चौधुरानी, श्री गुरुमुखीय गोस्वामी, श्री मो. सत्यनारायण और श्रीमन्नारायण अग्रवाल ये पांच सदस्य और शामिल कर लिये गए।

इस प्रकार समिति की कुल इक्कीस सदस्य-संख्या हो गई। उपर्युक्त सदस्यों के नामों से ज्ञात होता है कि समिति को प्रारंभ से राष्ट्रीय नेताओं का सक्रिय सहयोग एवं मार्गदर्शन मिलता रहा है। स्थापना के समय संस्था का नाम 'हिन्दी प्रचार समिति' था, परन्तु बाद में साहित्य सम्मेलन के २७वें अखिल भारतीय अधिवेशन में, काकासाहब कालेलकर के सुझाव पर, इसका नाम 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' कर दिया गया। समिति का केंद्रीय कार्यालय प्रारंभ से ही वर्धा (हिंदी नगर) में है।

उद्देश्य

जैसा कि प्रारंभ में उल्लेख किया जा चुका है, समिति की स्थापना की बुनियाद में एक ही विचार था, और वह विचार था राष्ट्रभाषा का प्रचार हिंदीतर प्रदेशों में करके उसे अखिल भारतीय रूप प्रदान करना और उसके द्वारा भारत की भावनात्मक एकता को परिपुष्ट करना। इसीलिए समिति के स्थापना-काल से ही इसका ध्येय रहा है—"एक हृदय हो भारत जननी" और इसी भावना से ओत-प्रोत होकर समिति उत्तरोत्तर अपने ध्येय-पथ की ओर अग्रसर होती जा रही है।

कार्यक्षेत्र

समिति हिंदी-प्रचार का कार्य देश के साथ-साथ विदेशों में भी कर रही है।

देश में इसके कार्य-क्षेत्र में दिल्ली, उत्कल, असम, बंगाल, मणिपुर, राजस्थान, मध्य प्रदेश, आन्ध्र, कर्नाटक, बेलगांव, मराठवाड़ा तथा अंडमान-निकोबार के प्रदेश सम्मिलित हैं। विदेशों में इसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, फीजी, जापान, अफ्रीका, लंदन, अदन, सूडान और पाकिस्तान आदि जगहों में है। समिति के विस्तृत कार्यक्षेत्र से हिंदी-प्रचार के कार्य में इसके योगदान का मूल्यांकन किया जा सकता है।

परीक्षाएं

समिति के कार्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण कार्य उसके द्वारा परीक्षाओं की आयोजना है। समिति की इन परीक्षाओं द्वारा लाखों लोगों ने अबतक हिन्दी सीखी है तथा हिंदी-साहित्य में उनकी रुचि बढ़ी है। परीक्षाओं के नाम हैं—१. प्राथमिक, २. प्रारंभिक, ३. प्रवेश, ४. परिचय, ५. कोविद, ६. राष्ट्रभाषा-रत्न ७. राष्ट्रभाषा-आचार्य, ८. अध्ययन-कोविद, ९. अध्ययन-विशारद, १० प्रांतीयभाषा-परीक्षा, ११. महाजनी-प्रवेश तथा १२. बातचीत—इन परीक्षाओं में से 'राष्ट्रभाषा कोविद', 'राष्ट्रभाषा-रत्न' तथा 'राष्ट्रभाषा-आचार्य' उपाधि परीक्षाएं हैं। भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने राष्ट्रभाषा-परिचय, राष्ट्रभाषा-कोविद तथा राष्ट्रभाषा-रत्न को क्रमशः मैट्रिक, इंटर तथा बी. ए. की हिंदी-योग्यता के समकक्ष मान्यता प्रदान की है। इसी प्रकार केंद्रीय सरकार के स्वराष्ट्र मंत्रालय, रेलवे-मंत्रालय, सूचना तथा प्रसार मंत्रालय और प्रतिरक्षा-मंत्रालय ने भी 'राष्ट्र-भाषा-कोविद' परीक्षा को मंत्रालय की नौकरियों में न्यूनतम अनिवार्य हिंदी-योग्यता के रूप में मान्यता दे रखी है। असम, बंगाल, उत्कल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पंजाब, काश्मीर, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश की राज्य-सरकारों ने भी समिति की परीक्षाओं को किसी-न-किसी रूप में मान्यता प्रदान की है। समिति की परीक्षाओं में लगभग तेईस लाख व्यक्ति सम्मिलित हो चुके हैं। ६२०० राष्ट्रभाषा प्रचारक समिति की सेवा में संलग्न हैं। २४०० परीक्षा-केन्द्र विभिन्न प्रदेशों में चल रहे हैं। इस प्रकार समिति की परीक्षाओं का गठन और आयोजन पूरी तरह सुव्यवस्थित तथा सुचारु रूप से चल रहा है।

पत्रिकाएं तथा प्रकाशन

परीक्षाओं के आयोजन के अतिरिक्त साहित्य-निर्माण, पाठ्यपुस्तक-प्रकाशन, विद्यालय-संचालन आदि समिति की अन्य प्रवृत्तियां हैं। समिति 'राष्ट्रभाषा' (समिति का मुखपत्र) तथा 'राष्ट्रभारती' (अंतःप्रांतीय भारतीय साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका) का प्रकाशन भी करती है। ये पत्रिकाएं मासिक हैं। अब तक ५२ पुस्तकें पाठ्यपुस्तकों के रूप में समिति प्रकाशित कर चुकी है। समिति ने

अपनी साहित्य-निर्माण-योजना के अंतर्गत राष्ट्रभाषा-कोश, फ्रेंच स्वयं-शिक्षक, भारतीय वाङमय के तीन भाग, मराठी का वर्णनात्मक व्याकरण, सोरठ तेरा बहता पानी (गुजराती उपन्यास), धरती की ओर (कन्नड़-उपन्यास) लोकमान्य तिलक (जीवनी-ग्रंथ) भारत भारती (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मराठी, गुजराती) प्रकाशित किये हैं। समिति का अपना एक बड़ा प्रेस है।

अन्य प्रवृत्तियां

१. राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन—समिति की ओर से प्रतिवर्ष विविध प्रदेशों में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन का आयोजन होता है, ताकि प्रत्येक राज्य के कार्यकर्ता एकत्र होकर राष्ट्रभाषा-संबंधी विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान कर सकें। अबतक वर्धा, अहमदाबाद, पूना, बंबई, नागपुर, पुरी, जयपुर, भोपाल तथा दिल्ली में ये सम्मेलन संपन्न हो चुके हैं।

२. महात्मा गांधी पुरस्कार—१५०१) का यह पुरस्कार हिंदीतर भाषा-भाषी विद्वानों की राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति की गई सेवाओं के सम्मानरूप किसी ऐसे विद्वान को अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन के अवसर पर समिति देती है, जिसने अपनी लेखनी द्वारा राष्ट्रभाषा की सेवा की हो। अबतक यह पुरस्कार आचार्य क्षितिमोहन सेन, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्व. बाबूराव विष्णु पराड़कर, आचार्य विनोबा भावे, प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलाल संघवी, श्री संतराम बी. ए. तथा आचार्य काकासाहब कालेलकर को समर्पित किया जा चुका है।

३. हिन्दी-दिवस—पांचवें अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन में, जिसका अधिवेशन सन् १९५३ में नागपुर में सम्पन्न हुआ था, एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय किया गया कि १४ सितम्बर को, जिस दिन भारतीय संविधान परिषद् ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को तथा राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी को स्वीकृत किया था, स्मृति के रूप में प्रतिवर्ष १४ सितम्बर को 'हिंदी दिवस' मनाया जाय। तभी से समस्त भारत में समिति के निवेदन पर प्रतिवर्ष १४ सितंबर को 'हिन्दी-दिवस' बड़े उत्साह से मनाया जाता है।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा, अपने कार्यक्षेत्र में अबतक आ गये प्रदेशों में स्थानीय समितियों के माध्यम से व्यापक तथा सक्रिय हिंदी-प्रचार में जुटी है।

अन्य संस्थाएं

प्रमुख हिंदी-सेवी संस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त अब हम शेष हिंदी-प्रचारक संस्थाओं का परिचय दे रहे हैं, क्योंकि इनके अभाव में यह प्रकरण

अपूर्ण ही बना रहेगा। ये संस्थाएं या तो स्थानीय हैं, अथवा किसी-न-किसी रूप में उपर्युक्त अखिल भारतीय संस्थाओं से संबद्ध हैं। इनमें से कुछ ऐसी हैं, जिनकी कार्यावधि अभी बहुत ही अल्प हुई है। परन्तु हिंदी-प्रचार के सामूहिक प्रयास की अप्रतिहत शृंखला की ये भी महत्वपूर्ण कड़ियां हैं।

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पूना

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के विवरण में उल्लेख किया जा चुका है कि समिति से संबंधित अनेक स्थानीय समितियां अपने केंद्रीय कार्यालय के संचालन में हिंदी-प्रचार के कार्य में संलग्न हैं, अतः इनका पृथक-पृथक विवरण प्रस्तुत करना मात्र कलेवर का विस्तार करना ही होगा, परन्तु उपर्युक्त महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पूना का इन स्थानीय समितियों में महत्वपूर्ण स्थान है। एक तो यह राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से सम्बन्धित सबसे पहली समिति है, दूसरे इसका क्षेत्र और कार्य भी व्यापक और बहुल है।

सन् १९३७ से स्थापित यह संस्था महाराष्ट्र के बारह जिलों तथा गोमंतक क्षेत्र में आज तक भारतीय प्रकृति तथा परम्परा के अनुरूप सतत प्रचार करती आ रही है। इसके अंतर्गत बारह जिला-समितियां तथा चार शहर-समितियां कार्य कर रही हैं। इसके उद्देश्य राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के ही उद्देश्य हैं। समिति की परीक्षाओं का आयोजन यह अपने कार्य-क्षेत्र में करती है तथा अन्य प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। इसके प्रयत्नों से महाराष्ट्र भर में अबतक चार-पांच लाख परीक्षार्थी समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित हो चुके हैं। समिति के तीन सौ केंद्र हैं। महाराष्ट्र भर में लगभग पन्द्रह-सोलहसौ राष्ट्रभाषा-प्रचारक, परीक्षक तथा मुख्याध्यापक इसके संचालकत्व में हिंदी-प्रचार कार्य में संलग्न हैं।

'जय भारती' समिति की मुख-पत्रिका है। समिति के संचालक श्री पं. मु. डांगरे इसके संपादक हैं। इस पत्रिका द्वारा समिति की प्रवृत्तियों तथा कार्यों का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही साहित्यिक निबंधों द्वारा परीक्षार्थियों को लाभ होता है।

आनंद वाचनालय में पचास-साठ हिंदी-मराठी-संस्कृत-अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाएं नियमित रहती हैं। 'पुरुषोत्तम ग्रंथालय' में पांच हजार पुस्तकें हैं। तुलसी विद्या-निकेतन में समिति की परीक्षाओं के नियमित वर्ग लगते हैं। तुलसी महाविद्यालय में 'राष्ट्रभाषा-रत्न', 'साहित्य विशारद', 'साहित्यरत्न' जैसी उच्च परीक्षाओं के लिए वर्ग लगते हैं। शिक्षक सनद विद्यालय, पूना में बम्बई राज्य की 'जूनियर', 'सीनियर', तथा 'हिन्दी शिक्षक सनद' परीक्षाओं की तैयारी के लिए सरकार-मान्य वर्ग

लगता है। भारतीय वाग्वर्धिनी सभा द्वारा साप्ताहिक चर्चाएं अथवा व्याख्यान आयोजित किये जाते हैं। इस संस्था द्वारा शिविर-योजना भी की जाती है, जिससे राष्ट्रभाषा-कार्यकर्ताओं तथा प्रेमियों की विविध जानकारी में वृद्धि हो।

इस प्रकार महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा समिति, पूना अपने कार्य-क्षेत्र में हिंदी-प्रचार के कार्य में सतत प्रयत्नशील है।

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, पूना

इस संस्था की स्थापना राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के कुछ कार्यकर्ताओं द्वारा १९३७ में हुई। इन कार्यकर्ताओं का समिति से मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने पृथक संस्था की स्थापना कर ली। श्री गो. प. नेने ने, जो समिति की पुना शाखा के मंत्री थे, समिति से अलग होकर सभा के मंत्री-पद को संभाल लिया। तबसे यह संस्था उन्हींके मार्ग-निर्देशन में हिंदी-प्रचार के कार्य में लगी हुई है।

इसकी स्थापना में आचार्य काकासाहब कालेलकर, श्री शंकरराव देव तथा महामहोपाध्याय प्रा. दत्ता वामन पोतदार प्रभृति नेता-साहित्यकारों का विशेष हाथ था। सभा की प्रारंभ से यह मान्यता रही है कि **"भारत में अंतर-प्रांतीय व्यवहार के लिए जिस भाषा का उपयोग सदियों से आमतौर पर चलता आ रहा है, वह हमारी राष्ट्रभाषा है। इसके लिए हिंदी, उर्दू और हिन्दुस्तानी ये तीनों नाम रूढ़ हैं।"**[१] इस सभा की विशेष मान्यता यह है कि **"राष्ट्रभाषा हिंदी सर्वसंग्राही होनी चाहिए। इसके प्रति जनता में अपनापा पैदा हो और यह सच्चे अर्थों में सार्वदेशिक भाषा बने, इस दृष्टि से भारत की समस्त भाषाओं तथा उनके साहित्यों की सहायता से इसका विकास होना चाहिए। यह आसान, आमफहम और उपयोगी बनानी चाहिए।"**[२]

सभा का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप में मराठी-भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित है। सभा के अंतर्गत अनेक परीक्षाओं का आयोजन होता है, जिनमें हर साल लाखों विद्यार्थी भाग लेते हैं। सभा की ओर से कई विद्यालय चलते हैं। शिक्षकों की योग्यता बढ़ाने के लिए सभा शिविरों का आयोजन भी करती है। विद्यार्थियों के मार्गदर्शन के लिए व्याख्यान-मालाएं आयोजित की जाती हैं। स्नेह-सम्मेलन, वार्षिक प्रचार सम्मेलन, अध्ययन-मंडल, वाक्-स्पर्धाएं, लेखन-स्पर्धाएं, नाटक तथा परीक्षार्थियों को पुरस्कार—ये सभा की ऐसी विविध प्रवृत्तियां हैं, जिनसे हिंदी-प्रचार-कार्य में उत्तरोत्तर उत्साह बना रहता है।

[१] 'महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार सभा' के संक्षिप्त परिचय के 'प्रस्ताविक' से उद्धृत—पृष्ठ १

[२] 'महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार सभा' के संक्षिप्त परिचय के 'प्रस्ताविक' से उद्धृत—पृष्ठ १

सभा का अपना प्रकाशन-विभाग तथा मुद्रणालय है। पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त सभा ने 'मराठी हिंदी-शब्दकोश', 'उर्दू साहित्य का इतिहास' 'हिन्दी नागरी प्राइमर (अंग्रेजी), 'राष्ट्रभाषा का अध्यापन', 'मराठी-स्वयं-शिक्षक' और 'हिंदी शब्द-प्रयोग-कोश' आदि पुस्तकें प्रकाशित की है। उपन्यास, नाटक, कहानी, प्रवास, प्रौढ़ नव-साक्षरो तथा बच्चों के लिए साहित्य आदि से संबंधित लोकप्रिय मराठी पुस्तकों के हिंदी-अनुवाद सभा ने प्रकाशित किये है।

'राष्ट्रवाणी' सभा की मासिक पत्रिका है, जो गत पन्द्रह वर्षों से नियमित रूप से निकल रही है। सभी भारतीय भाषाओ के लेखकों के लिए इसका मंच राष्ट्रभाषा के माध्यम से खुला है।

दस हजार से अधिक पुस्तकों से सम्पन्न राष्ट्रभाषा-ग्रंथालय अपने ढंग का एक विशेष ग्रंथालय है। ग्रंथालय-योजना के अंतर्गत सारे मराठी-भाषी प्रदेशों में हिंदी-ग्रंथालय चलाने की योजना के अंतर्गत सौ से भी अधिक ग्रंथालय चलाये जा रहे है, जिनमें संग्रहीत पुस्तकों की संख्या लगभग बीस हजार है।

अनेक राष्ट्रीय नेताओ का सहयोग इसे प्राप्त है तथा समय-समय पर उनका मार्गदर्शन संस्था को मिलता रहता है।

गुजरात विद्यापीठ

गुजरात विद्यापीठ की स्थापना महात्मा गांधी ने १९२० के असहयोग-आंदोलन के फलस्वरूप शाला-महाविद्यालयो का त्याग करनेवाले विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए हुई। गांधीजी स्वयं इसके कुलपति बने और आचार्य डिडवानी, आचार्य कृपालानी, आचार्य काकासाहब कालेलकर जैसे विद्वान तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने इसके विकास में पूरा योग दिया। प्रारंभ से ही विद्यापीठ ने हिंदी-शिक्षा को स्थान दिया तथा माध्यमिक शिक्षा और महाविद्यालय में सदा हिंदी अनिवार्य विषय रही। १९३५ से इसे नवजीवन ट्रस्ट का सहयोग भी प्राप्त हो गया तथा दोनों की ओर से श्री मोहनलाल भट्ट को यह कार्य सौंपा गया। १९३६ में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से इसका सहयोग हुआ। परन्तु १९४२ में हिंदी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर जब 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना हुई तो विद्यापीठ ने उससे सहयोग करना प्रारंभ कर दिया। विद्यापीठ हिंदी की अनेक परीक्षाओं की आयोजना द्वारा हिंदी-प्रचार का कार्य करती है।

अखिल भारतीय हिंदी-परिषद्

सन् १९४९ में इस संस्था की स्थापना हुई। इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ के अनुसार राष्ट्रभाषा हिंदी के निर्माण, विकास और

प्रचार में सहयोग देना है। इसके लिए अनुकूल वातावरण बनाने का कार्य इस परिषद् ने किया है। हिंदी-भाषियों को अन्य भाषाएं सीखने के लिए प्रोत्साहन देना परिषद् के कार्यक्रम का एक विशेष अंग है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक संस्थाओं की स्थापना करने तथा पहले से विद्यमान संस्थाओं को संबद्ध करना भी परिषद् का मुख्य कार्य रहा है।

डा. राजेन्द्रप्रसाद इसके अध्यक्ष बने तथा सर्वश्री स्व. ग. वा. मावलंकर, के. एम. मुंशी, स्व. डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, राजकुमारी अमृतकौर, के. संतानम, आर. आर. दिवाकर, घनश्यामसिंह गुप्त, स्व. इन्द्र विद्यावाचस्पति, स्व. गोविन्दवल्लभ पंत, बालासाहब खेर, विष्णुराम मेधी, स्वामी विचित्रानंददास, एस. के. पाटिल तथा कमलनयन बजाज प्रभृति राष्ट्रीय नेता इसकी कार्यसमिति में लिये गए। श्री शंकरराव देव तथा श्री मो. सत्यनारायण परिषद् के संयोजक चुने गए।

इस परिषद् से 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास,' 'पूर्व भारत राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा, कलकत्ता', 'उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक', 'आंध्र राष्ट्र हिंदी प्रचार सभा, विजयवाड़ा', 'तमिलनाड हिंदी प्रचार सभा, तिरुचिरापल्ली', 'कर्नाटक प्रांतीय हिंदी प्रचार सभा, धारवाड़', 'केरल प्रांतीय हिंदी प्रचार सभा, एरनाकुलम', 'महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, पूना', 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गोहाटी', 'भारतीय हिंदी परिषद', दिल्ली' 'भारतीय हिंदी परिषद्, काश्मीर', 'हैदराबाद हिंदी प्रचार संघ', 'राष्ट्रभाषा प्रचार परिषद, भोपाल', आदि संस्थाएं सम्बद्ध हो गईं।

अहिंदी प्रदेशों के विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा के हेतु परिषद् की ओर से आगरा में एक महाविद्यालय चलाया गया, जो अब केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के नियंत्रण में बनी कमेटी के अंतर्गत कार्य कर रहा है।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा

इस प्रबंध में अनेक स्थलों पर प्रसंगवश उल्लेख किया जा चुका है कि हमारे राष्ट्रीय नेताओं में एक प्रभावशाली वर्ग उन लोगों का था, जो राष्ट्रभाषा के अखिल भारतीय महत्व को तो स्वीकार करते थे, परन्तु जिनकी कल्पना उस भाषा के स्वरूप के संबंध में भिन्न थी। हिंदू-मुस्लिम-एकता के रूप में हमारे राष्ट्रीय नेता जिस मिली-जुली भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन करते थे, वही दृष्टि उनकी राष्ट्रभाषा-संबंधी धारणा में भी थी। हिंदी और उर्दू के इस समन्वित रूप का नामकरण उन्होंने 'हिंदुस्तानी' कर दिया। विशेष बात यह थी कि ऐसे वर्ग की

अगुआई महात्मा गांधी कर रहे थे। इसीलिए इस प्रत्यक्ष मतभेद के कारण पहले से स्थापित अनेक संस्थाओं में से इस प्रकार के लोगों ने संबंध-विच्छेद करके हिंदुस्तानी प्रचार आंदोलन का श्रीगणेश कर दिया।

इसी प्रयास की एक मंजिल के रूप में 'हिंदुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना वर्धा में सन् १९४२ में हुई। १९४२ के आंदोलन में प्रमुख नेताओं की जेल-यात्रा के कारण हिंदुस्तानी प्रचार सभा का कार्य गुजरात विद्यापीठ से संबद्ध होकर चलता रहा। इसके बाद १९४५ में वर्धा में एक बैठक गांधीजी की अध्यक्षता में हुई और एक उपसमिति के अंतर्गत हिंदुस्तानी साहित्य तैयार करानेवाला बोर्ड कायम हुआ, जिसकी देखभाल डा. ताराचंद के सुपुर्द कर दी गई। प्रांतीय संगठनों की स्थापना का फैसला हुआ। यह भी तय हुआ कि पहले से कार्य करनेवाले प्रांतीय संगठनों को इससे संबद्ध कर लिया जाय। सिंध, महाराष्ट्र, विदर्भ, बंगाल उड़ीसा आदि प्रांतों में प्रचार का कार्य काकासाहब कालेलकर को सौंपा गया। गुजरात में हिंदुस्तानी-प्रचार का कार्य गुजरात विद्यापीठ को सौंपा गया। वर्तमान में हिंदुस्तानी प्रचार सभा का कार्यालय राजघाट, नई दिल्ली में है।

हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग

हिंदी और उर्दू के साहित्य की वृद्धि और प्रोत्साहन के लिए १९२७ में इस संस्था की स्थापना हुई। यद्यपि इस संस्था की प्रेरणा और स्थापना में तत्कालीन संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) की सरकार का हाथ था और इसका उद्घाटन भी तत्कालीन गवर्नर सर विलियम मौरिस द्वारा हुआ था, तथापि इसमें गैर-सरकारी साहित्यकारों का भी भरपूर योग रहा है। प्रमुख मौलिक रचनाओं को पुरस्कृत करना और साहित्य-सेवा को प्रोत्साहन देना, उत्तम लेखकों को संस्था की ओर से सम्मानित करना इसके प्रधान उद्देश्य रहे हैं। प्रकाशन के क्षेत्र में इस संस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अबतक साहित्य की अनेक विधाओं से संबंधित लगभग डेढ़सौ ग्रंथ यह संस्था प्रकाशित कर चुकी है। इन प्रकाशनों में अनेक शोध-प्रबंध हैं। प्रतिवर्ष विद्वानों के व्याख्यानों के आयोजन इस संस्था की ओर से किये जाते हैं। 'हिंदुस्तानी' अकादमी की त्रैमासिक मुख-पत्रिका है। खोज-कार्य को प्रेरणा देने, प्राचीन ग्रंथों को प्रकाश में लाने तथा भाषा और साहित्य के स्तर को उन्नत करने में इस पत्रिका का बहुमूल्य योग है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

बिहार राज्य विधान सभा के संकल्प से १९४७ में इस परिषद् की स्थापना पटना में हुई। कला, विज्ञान, एवं अन्यान्य विषयों के मौलिक तथा उपयोगी ग्रंथों

इनके अलावा समय-समय पर साहित्य-प्रदर्शनियों का आयोजन भी किया जाता है। दूसरे साधन के अंतर्गत विभिन्न भारतीय भाषाओं के उत्तम साहित्य का अनुवाद एक-दूसरी भाषा में प्रकाशित किया जाता है, जिससे कि भाषा, लिपि आदि की विभेदक दीवारों को लांघकर साहित्यिक एकात्मता स्थापित हो सके। इतना ही नहीं अकादमी विदेशी भाषाओं के उत्तम साहित्य का भी अनुवाद भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करवाती है। व्यक्तिगत रूप से भी यह लेखकों को उनकी उत्तम रचनाओं के प्रकाशन में सहायता करती है।

प्रत्येक भाषा की उत्तम साहित्यिक रचना पर अकादमी की ओर से ५००० रुपये का वार्षिक पुरस्कार दिया जाता है। साहित्य अकादमी का अपना एक पुस्तकालय तथा वाचनालय है। पुस्तकालय में लगभग १८-१९ हजार उत्तम साहित्यिक पुस्तकें, संदर्भ ग्रंथ विभिन्न भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के संगृहीत हैं। इसमें १२५ साहित्यिक पत्रिकाएं विभिन्न भाषाओं की आती हैं। 'इंडियन लिटरेचर' अकादमी की अर्द्धवार्षिक पत्रिका है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'संस्कृत प्रतिभा' अर्द्धवार्षिक पत्रिका संस्कृत में प्रकाशित होती है। शब्दकोशों तथा संदर्भ-ग्रंथों आदि के प्रकाशन का कार्य भी यह अकादमी करती है। अकादमी द्वारा हिंदी में विभिन्न भाषाओं के अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर तथा साहित्यकार सदन, इलाहाबाद आदि हिंदी की प्रमुख संस्थाएं साहित्य अकादमी से संबंधित हैं।

'हिमतरंगिनी' (माखनलाल चतुर्वेदी), 'पद्मावत'—व्याख्या (डा. वासुदेवशरण अग्रवाल), 'बौद्ध धर्म दर्शन' (स्व. आचार्य नरेंद्रदेव), 'मध्य एशिया का इतिहास' (राहुल सांकृत्यायन), 'संस्कृति के चार अध्याय' ('रामधारीसिंह दिनकर')—इन हिंदी पुस्तकों को अकादमी पुरस्कार मिल चुका है।

उपर्युक्त हिंदी-सेवी संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी-बड़ी तथा जानी-अनजानी संस्थाएं हैं या हो सकती हैं, जिनका विवरण यदि प्रस्तुत किया जाय तो वह पूरे एक ग्रंथ की सामग्री होगी। परन्तु उनका हिंदी के विकास में कम योगदान नहीं है।

अध्याय : २१

उपसंहार

भारत की युग-युगान्तव्यापी बहुमुखी साधना में जिस प्रकार एकता का एक शाश्वत भाव पिरोया है, उसके महान् साधकों और नेताओं की विविध स्वर-युक्त वाणी और कृतियों में भी उसी प्रकार एक विशिष्ट धारा-प्रवाह है। विचारों की इसी चिन्तन-धारा में अवगाहन कर जो अनुभव-ज्ञान मैं पा सकी तथा जिन तथ्यों और भावानुभूतियों को मैं संग्रहित कर सकी, संक्षेप, में उनका निरूपण ही निष्कर्ष है। सन् १८५७ के बाद भारत ने एक नवयुग के दर्शन किये। नये युग में विश्व के चिन्तन की जो हिलोरें उठती हैं, प्रगतिशील प्रदेशों के प्रयासों से जो ध्वनियां गुंजरित होती हैं, वे ही देश-विदेश के जननायकों के हृदयों की प्रतिध्वनियां बन जाती हैं। देश के जननायक इन आदर्शों की वाङ्मयी आराधना करते हैं और तब वहां देशभक्ति की गूंज पैदा होती है, जो जन-जन में व्याप्त हो जाती है। नवयुग में नवभावों का संचार होता है, नवीन आदर्श स्पष्ट होते हैं और नये साहित्य का निर्माण होता है। हमारे देश के नेताओं ने ऐसे साहित्य के निर्माण के लिए हिन्दी को अपनाया। उनकी इस प्रेरणा और प्रवृत्ति के मूल में भी एकता का वही शाश्वत भाव निहित था। स्वाधीनता के निमित्त राष्ट्रीयता उस प्रवृत्ति की क्रिया थी, जो जनजागरण और आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुआ करती है। इस प्रकार देश का संपूर्ण जीवन कर्ममय प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते-चलते भावमय चेतना-पथ तक पहुंचा, जिसकी निष्पत्ति स्वतंत्रता-प्राप्ति में हुई। इस पथ-च्युति का कार्य भी हमारे नेताओं ने ही सफलतापूर्वक किया और इसके संचालन के लिए उन्होंने प्रधानतः हिन्दी को ही अपनाया। भारतीय नेताओं की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के साथ हिन्दी भाषा और साहित्य का निरन्तर विकास कैसे होता गया, उनके व्यक्तित्व से वह कितना प्रभावित हुआ और उनकी प्रतिभा से उसकी कहांतक अभिवृद्धि हुई, इसका मूल्यांकन ही इस प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास, विशेषकर सन् १८५७ से १९५७ तक की साहित्यिक गतिविधि पर, इस प्रबन्ध में जो कुछ अभी तक लिखा गया, उससे स्पष्ट ही कुछ निष्कर्ष निकलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. हिन्दी के विकास में जन-आन्दोलनों का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रहा है कि उसे सहज ही सार्वजनिक का सम्बन्ध कहा जा सकता है।

२. हिन्दी के अधिकांश साहित्य-सेवी सार्वजनिक आन्दोलनों की ओर

में ही पके-सपे हैं। अतः विचाराधीन काल का हिन्दी-साहित्य हमारे विभिन्न जन-आन्दोलनों, विशेषकर राजनीतिक जागृति, का भी इतिहास है।

३. जन-आन्दोलनों के कारण और इन्हीं की पुष्टि के लिए हिन्दी का समग्र रूप अखिल भारतीय होता गया है, जो उन्नीसवीं शती के धार्मिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन में अधिक स्पष्ट रूप से सामने आया और हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम के समय गांधीजी के नेतृत्व में व्यवहार रूप में परिणत हुआ। फलतः हिन्दी के प्रचार और विस्तार में जो महत्व अहिन्दी-भाषी नेताओं के योगदान का है, वह हिन्दी की सर्वप्रथम विशेषता है।

४. इस विशेषता के कारण ही हमारे बहुभाषी देश के प्रतिनिधियों ने स्वाधीनता के पश्चात् सर्वसम्मति से हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया, और बहुत-सी कठिनाइयों के होते हुए भी उस पद पर आसीन होने के लिए हिन्दी बराबर आगे बढ़ रही है। भारत के ही नहीं वरन् विश्व के इतिहास में यह बात ऐसी अनोखी और असाधारण है कि विगत आन्दोलनों के इतिहास और उनसे संबद्ध नेताओं के प्रयास द्वारा ही इसे समझना संभव है।

इन प्रमुख परिणामों को स्थापित करने के लिए इस शोध-प्रबन्ध के पूर्व-गामी अध्यायों में जो कुछ लिखा गया है, संक्षेप में, उसका उल्लेख यहां आवश्यक है। तभी अन्तिम मूल्यांकन, जो निष्कर्ष का ध्येय है, पूर्ण रूप से हृदयंगम हो सकेगा। साहित्य मानव-जाति के अथवा समाज के सामूहिक प्रयत्नों का फल है। ये सामूहिक प्रयास प्रायः आन्दोलनों द्वारा आविर्भूत होते है और तब उनका विस्तार भी संभव होता है। इस प्रकार आन्दोलन साहित्य को जन्म देते हैं और उस युग की विचारधारा की अभिव्यक्ति के लिए नई चेतना और प्रेरणा प्रदान करते हैं। साहित्य उस युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है और तज्जन्य परिस्थितियों को स्थिर तथा व्यापक बनाता है। यह एक सार्वभौम सत्य है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और साहित्य की उन्नति इस सत्य का अपवाद नहीं है।

जन-आन्दोलन और हिन्दी

हिन्दी और आधुनिक जन-आन्दोलनों में इतना निकट सम्बन्ध रहा है कि दूसरे के बिना एक की कल्पना कठिन है। इन आन्दोलनों की भित्ति पर साहित्य का दुर्ग खड़ा हुआ या साहित्य की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के उदाहरण स्वरूप ये आन्दोलन घटित हुए, यह एक विकट प्रश्न है। कौन कह सकता है कि सामाजिक बुराइयों, राष्ट्रीय दुर्बलताओं, हिन्दू जाति के अधःपतन और अंग्रेजों द्वारा शोषण के नितान्त अभाव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रतिभा वैसी ही मुखरित होती, जैसी वह वास्तव में हुई। यह भी विचारणीय है कि वैदिक धर्म के प्रचार की लगन और

स्वामी दयानन्द के खंडन-मंडन के उत्साह के बिना क्या सहसा देशभर में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का उदय होना संभव था। इसके विपरीत यह भी प्रश्न उठ सकता है कि क्या हिन्दी के समर्थ माध्यम के बिना ये आन्दोलन जन-मानस में वे लहरें पैदा कर सकते थे और इतने लोकप्रिय बन सकते थे, जितने वे वास्तव में बन सके। क्या यह सच नही है कि ब्रह्मसमाज जैसा आन्दोलन, जिसके प्रवर्तक और अन्य नेता योग्यता और दूरदर्शिता में तथा समाज-सेवा के उत्साह में किसीसे कम नहीं थे, केवल इसलिए जनव्यापी नही बन सका, क्योंकि हिन्दी उसके प्रचार का सर्वप्रथम माध्यम नही थी और उसका बौद्धिक स्तर इतना ऊंचा था कि जनसाधारण के मानस को वह अधिक प्रभावित और प्रेरित नही कर सका। राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन ने हिन्दी के महत्व को पहचाना अवश्य और यदाकदा उसके उपयोग पर बल भी दिया, किन्तु व्यवहार में अपने धार्मिक विचारों और सिद्धान्तो के प्रचार का वाहन वे हिन्दी को उस प्रकार नही बना सके जैसे स्वामी दयानन्द और उनके साथियों ने बनाया अथवा जिस प्रकार गांधीजी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने उसका अवलम्बन किया। इन सभी तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह स्वीकार करना होगा कि किसी भी आन्दोलन की व्यापकता का उसके संचालन के माध्यम से घनिष्टतम सम्बन्ध है। इसी तथ्य के आधार पर कुछ जन-आन्दोलनों का देशव्यापी होना और उतने ही दृढ़ तथा सारगर्भित आन्दोलनों का सामाजिक स्तर विशेष से नीचे न उतरना अथवा पूर्ण व्यापकता प्राप्त न कर सकना, समझ में आ सकता है। किसी भी दृष्टि से देखें, हिन्दी के विकास और भारत के जनसाधारण की अभिलाषाएं एवं महत्वाकांक्षाएं अन्योन्याश्रित रही हैं।

भाषा तथा साहित्य की उत्पत्ति सामाजिक आन्दोलनों के इतिहास का ही एक अंग है। जनजागरण के परिणाम व्यापक होते हैं और उनके सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आदि पक्ष हो सकते हैं। इन सभी पक्षों का सम्बन्ध मानव की भावनाओं से है और इसी तथ्य से भाषा और साहित्य की उत्पत्ति होती है, अर्थात् साहित्य इन आन्दोलनों के इतिहास का भावात्मक पक्ष है। जैसे इतिहास में जन-आन्दोलनों से सम्बन्धित घटनाएं अंकित होती हैं, वैसे ही साहित्य में उस युग का घनीभूत इतिहास समाहित होता है। आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान को अधिक महत्व दिये जाने का एक कारण यह भी है, क्योंकि राष्ट्रों तथा जातियों का इतिहास उनके द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं में सन्निहित रहता है। हमारे देश में भी इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ने में भाषा-विज्ञान के विद्वानों की सहायता अपेक्षित समझी जाती है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने कहा है कि भारतवर्ष में अनेक

जातियों के लोग समय-समय पर आकर बसते रहे हैं और उन्होंने अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने की प्रणालियां एवं विचार विकसित किये हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में समस्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। जहां-कहीं भी सुसभ्य जाति के मानवों से सुदूर स्थानों में वह बची रह गई है, उनकी भाषाओं द्वारा ही उसका अध्ययन संभव है। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—"भारतीय जन-समुदाय की ऐतिहासिक, धार्मिक और विचारगत विशेषताओं को लेकर बनी हुई संस्कृति के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ आर्यों की भाषा का रहा। आस्ट्रिक और द्रविड़ों द्वारा भारतीय संस्कृति का शिलान्यास हुआ था और आर्यों ने उस आधारशिला पर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया, उस संस्कृति का माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्यभाषा बनी, आरंभ में संस्कृत, पाली, पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (गांधारी) अर्धमागधी अपभ्रंश आदि रूपों में तथा बाद में हिन्दी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला और नेपाली आदि विभिन्न अर्वाचीन भारतीय भाषाओं के रूप में। भिन्न-भिन्न समयों एवं प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के साथ इस भाषा का अविच्छेद्य सम्बन्ध बंधता गया।"[१] विकास की यही श्रृंखला आधुनिक युग में भी चलती रही है। अर्वाचीन आर्यभाषाओं की उत्पत्ति के पश्चात हिन्दी किन कारणों से और किस प्रकार इस भाषा-परिवार की प्रमुख भाषा बनी, यह विचाराधीन आन्दोलनों द्वारा परिलक्षित हो जाता है। हिन्दी द्वारा इस प्रमुख स्थान को प्राप्त करने के कई कारण हो सकते हैं, किन्तु सबसे बड़ा कारण हिन्दी भाषा की अपनी प्रकृति और उसका परपरागत स्वरूप है। हिन्दी ने विरासत में उन प्राकृत भाषाओं तथा उपभाषाओं की व्यापकता व लोकप्रियता को पाया है, जिनके बल पर पौराणिक काल से ही सभी प्रकार के जन-आन्दोलन पनपते आये हैं। किसी प्रदेश विशेष की भाषा न होकर रमते जोगियों और तीर्थ-यात्रियों द्वारा अपनाई जाने के कारण इस बोली का विस्तार कभी सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। ससार की अधिकांश भाषाएं ऐसी हो सकती है, जो साहित्यिक रूप से समृद्ध होने के बाद लोकप्रिय हुई हैं, किन्तु हिन्दी जैसी जन-भाषाएं इस नियम का अपवाद हैं। साहित्यिक समृद्धि हिन्दी को सैकड़ों वर्षों की लोकप्रियता के बाद मिली।

प्राकृत और पाली के सदर्भ से इस बात को समझने में आसानी होगी। गौतम और महावीर के पाचसौ वर्ष बाद ये दोनो भाषाएं अपने प्रचलन और लोकोपयोगिता के सहारे उत्तर से दक्षिण तक बौद्ध और जैन धार्मिक-विचारधाराओं का वहन करते हुए सभी जगह पहुंच गई। आज के विद्यार्थी को इस बात मे आश्चर्य हो

[१] 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी'—पृष्ठ २४-२५

सकता है कि कई शताब्दियों तक प्राकृत के जिस रूप का काश्मीर में चलन था, कांचीपुरम् में भी उसीका प्रयोग होता था। यह सार्वभौम मर्यादा हिन्दी को मिली, और इसीलिए सभी मतमतान्तरों के प्रचार और जन-आन्दोलनों के विस्तार के लिए हिन्दी को अनिवार्य मानना पड़ा। इस काल में हिन्दी के उन्नयन का यही सबसे बड़ा आधार था। सैद्धान्तिक रूप से अखिल भारतीय भाषा के विचार का सूत्रपात हो चुका था। राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन आदि नेताओं तथा उदीयमान धार्मिक संस्थाओं ने हिन्दी को इसके उपयुक्त मान लिया था। किन्तु आर्यभाषा अथवा राष्ट्रभाषा की संकल्पना सबसे पहले स्वामी दयानन्द ने की। इस मान्यता को उन्होंने निस्संकोच व्यवहार का रूप दिया। हिन्दी के पठनपाठन को आर्यसमाज के दस नियमों में स्थान देकर और स्वयं अपने भाषित तथा लिखित प्रचार का माध्यम हिन्दी को बनाकर स्वामी दयानन्द ने हिन्दी की स्थिति में व्यापक परिवर्तन किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने तीन प्रणालियां अपनाईं—१. स्वयं हिन्दी में बोलना और लिखना, २. आर्यसमाज के प्रचार का समस्त कार्य हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशनों द्वारा करना और ३. शिक्षा में हिन्दी को उचित स्थान देना। इन सबसे बढ़कर स्वामी दयानन्द ने निजी उदाहरण से अपने अनुयायियों को अनुप्राणित किया, जिसके फलस्वरूप उनके देहावसान के पश्चात् शिक्षा-संस्थाओं के संस्थापन के रूप में विभिन्न स्थानों में उनके स्मारक बनाये गए। यह महत्वपूर्ण कार्य लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द प्रभृति नेताओं ने दयानन्द एंग्लो वैदिक शिक्षण-संस्थाओं तथा गुरुकुलों की स्थापना द्वारा किया और स्वामी दयानन्द के हिन्दी-प्रचार के ध्येय को पूर्ण करने का प्रयत्न किया। इसी अवधि में धर्म-प्रचार तथा शिक्षा-प्रसार के हेतु विपुल साहित्य का सृजन हुआ।

राष्ट्रीय चेतना तथा हिन्दी

इस शोध-प्रबन्ध की दृष्टि से हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण हिन्दी और राष्ट्रीय आन्दोलन के पारस्परिक सम्बन्ध को आंकना रहा है, जिससे हिन्दी-भाषा और साहित्य समृद्ध बना है। इस काल की सबसे बड़ी घटना यह जन-जागरण है, जो गांधीजी के नेतृत्व में एक विशाल राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर भारत की स्वाधीनता का कारण बन सका और इस चेतना से भाषा और साहित्य को भी नवप्रेरणा दे सका। सन् १८५७ के आन्दोलन के ठीक बाद राष्ट्रीय विचार स्फुट रूप से प्रस्फुटित होने लगे थे। जैसा हमने देखा, बंगाल में सामाजिक जागरण की लहर पहले ही आ चुकी थी और उसका प्रभाव निकटवर्ती हिन्दी-क्षेत्रों पर पड़ चुका था। उसी जागरण का फल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय के रूप में हुआ।

"भारतेन्दु-युग में नई चेतना का अत्यन्त सरल रूप दिखाई देता है। एक

लम्बी निद्रा के पश्चात् आँखें खोलकर देश अपनी वास्तविकता का साक्षात्कार करता है। विवर्तन के एक ही आकुल क्षण में एक युग का अवसान होकर एक नये युग का आविर्भाव होता है। राष्ट्रीयता और जातीयता के पुनरुन्मेष के साथ राष्ट्र अपनी समष्टि के पुनर्मूल्यांकन में संलग्न होता है।"[1] भारतेन्दु-युग के साहित्य में इस राष्ट्रीयता की प्रतिध्वनि और तात्कालिक सामाजिक चेतना की प्रतिक्रिया थी। भारतेन्दुकाल में भाषा के रूप में परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगे थे। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने गद्य और पद्य का रूप निर्धारित करने की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया और साथ ही साहित्य के विभिन्न अंगों को पुष्ट किया। यद्यपि प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को व्यक्त करने में भारतेन्दु ने संकोच नहीं किया, तथापि उनकी प्रेरणा का मूलाधार सामाजिक परिस्थितियां थीं। इसी दिशा में सुधार के लिए उन्होंने तथा उनके साथियों ने बहुत-कुछ लिखा, जिससे गद्य का परिमार्जन हुआ। साहित्य-निर्माण में भारतेन्दु-कालीन साहित्यकारों का विशद विवेचन हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विषय है। अतः उसकी विस्तृत चर्चा इस शोध-प्रबन्ध में नहीं की गई, केवल ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखकर संक्षेप में उनकी सामाजिक तथा साहित्यिक सेवा का निरूपण किया गया है, क्योंकि इस युग का सामाजिक दृष्टिकोण, समाज-सुधार का कार्य और तत्कालीन समाज को ऊंचा उठाने की प्रवृत्तियां ही भावी साहित्य-निर्माण की आधार बनी और इसी समय भारतेन्दु के सहयोगियों तथा अनुयायियों ने प्रत्यक्ष रूप से देश-भक्ति की भावना को, जो अभी तक मूक थी, वाणी प्रदान की। कविताओं में, निबन्धों में और प्रारंभिक कथा-साहित्य में किसी-न-किसी रूप में स्वदेशाभिमान और पराधीनता से मुक्त होने की चाह को अभिव्यक्ति मिली। यद्यपि सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-लेखकों ने बहुत कम चर्चा की है, किन्तु इस क्रांति और तज्जन्य परिस्थितियों का प्रभाव उनकी विचारधारा पर स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकार बीसवीं शती के आरंभ से हिन्दी के राष्ट्रीय साहित्य में नवचेतना का प्रादुर्भाव होता है।

इस राष्ट्रीय विचारधारा और तत्कालीन परिस्थितियों के कारण देश में नवीन राजनैतिक चेतना का उदय हुआ। पूर्वी भारत में घटी घटनाओं ने इस चेतना को राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन का रूप दिया। बंगभंग-आन्दोलन (सन् १९०५) का प्रभाव बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा, दूरस्थ पंजाब में लाजपतराय जैसे और

[1] 'हिन्दी-अनुशीलन' में नन्ददुलारे वाजपेयी के लेख 'राष्ट्रीय साहित्य' से। —पृष्ठ ५२६,

पश्चिम भारत में गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं को इस क्रांतिकारी आन्दोलन से स्फूर्ति मिली, जिससे स्वराज्य के लिए उनके भावी कार्यक्रम का निर्माण हुआ। उन्मुक्ति की एक आकांक्षा, देशाभिमान, भारत के समस्त जन-समाज को एकान्वित करनेवाली मानवता इस कार्यक्रम की भूमिका बन गई। इस राष्ट्रीय विचारधारा का सबसे पहला लक्षण देश की एकता का नारा अथवा जयघोष था। वह देश जो सदियों से कई भागों में बंटा रहा, अंग्रेजी सत्ता के आधीन होते ही काश्मीर से कन्याकुमारी तक और करांची से कलकत्ता तक एक भूखण्ड बनकर साहित्यकारों की कल्पना को प्रेरित करने लगा। यह परतन्त्रता के अभिशाप का वरदान था। प्राचीन साहित्य में 'भारत-माता' की जो संकल्पना थी, वह अब पहली बार साकार होती दिखाई देने लगी। हमारे राष्ट्रनेता जवाहरलाल नेहरू ने इस जयघोष को 'भारतमाता की जय' के साथ अपनी लेखनी से निनादित किया। जन-मानस में 'भारतमाता की जय' का यह घोष उन्हींके शब्दों में—"मैंने उन्हें बताया कि भारत क्या है। किस तरह यह उत्तर में काश्मीर और हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक फैला हुआ है। उसमें पंजाब, बंगाल, बम्बई, मद्रास सब शामिल हैं। इस महाद्वीप में उनके जैसे करोड़ों किसान हैं, जिनकी उन जैसी ही समस्याएं हैं, उन्हींकी-सी मुश्किलें और बोझ, वैसी ही कुचलनेवाली गरीबी और आफतें। यही महादेश हिन्दुस्तान उन सबके लिए 'भारतमाता' है, जो उसमें रहते हैं और जो उसके बच्चे हैं—"[1] अर्थमय बनकर गूंज उठा। कुछ समय तक यह एकता भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विचारों से ही परिपुष्ट होती रही, किन्तु आधुनिक शिक्षा और पश्चिमी विचारधारा के संपर्क ने इसमें राजनैतिक चेतना भर दी। इसीका यह परिणाम था कि सन् १८८५ में स्थापित अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दृष्टिकोण, कार्यप्रणाली और उद्देश्यों में परिवर्तन होते दिखाई देने लगे। अब मानो राष्ट्रीयता के पट खुल गये। दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अरविन्द घोष, लाला लाजपतराय प्रभृति नेताओं की वाणी और लेखनी से राष्ट्रीय भावना पूर्णरूप से विकसित और प्रदर्शित हुई। इसी समय गांधी-युग का आरंभ हुआ, जिसकी दो बड़ी विशेषताएं हैं। एक तो यह कि अब राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र गांधीजी के हाथ में आ गया और दूसरे यह कि हिन्दी भाषा और साहित्य में यह भावना अब पूरी तरह रम-सी गई। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया, त्यों-त्यों जनजागरण और हिन्दी एक दूसरे के निकट आते गए और एक दूसरे को अधिकाधिक बल देते गए। मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, पुरुषोत्तमदास टंडन, राजेन्द्रप्रसाद,

---

[1] 'हिन्दुस्तान की कहानी'—पृष्ठ ११

जवाहरलाल नेहरू, गणेशशंकर विद्यार्थी, आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द आदि नेताओं की रचनाओं ने जहां एक ओर इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया, वहां दूसरी ओर हिन्दी भाषा को साहित्य के शिखर पर चढ़ाया। इन नेताओं के अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय नेताओं ने भी अपनी विविध सेवाओं द्वारा अनायास ही इसके उत्कर्ष व उन्नयन में योग दिया। सारांश यह कि गांधीयुग में राजनैतिक, सामाजिक व रचनात्मक गतिविधि और साहित्यिक रचना एक दूसरे की प्रेरणा का आधार बन गई। कांग्रेस-आन्दोलन का इतिहास सहज ही गांधी-युग में हिन्दी-साहित्य के विकास का इतिहास बन गया। जब-जब आन्दोलन विरोधी शक्तियों का मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा, तब-तब हिन्दी-साहित्य का नवोन्मेष हुआ। सन् १९२०-२१ में गांधीजी के राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलन और अंग्रेजी स्कूल व कालेज के बहिष्कार के कारण कई प्रान्तों में राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई। काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, लाहौर नेशनल कालेज, आदि संस्थाएं शिक्षा का कार्य अधिकतर हिन्दी के माध्यम से ही करने लगीं। गुरुकुलों की स्थापना के बाद भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था जब राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि विषयों की उच्च शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम से दी जाने लगी। इन विद्यापीठों का हमारे राष्ट्रीय जीवन में कितना महत्व है, यह इस बात से प्रमाणित होता है कि इन संस्थाओं के भूतपूर्व अध्यापक और विद्यार्थी आज राजनीति और प्रशासन के क्षेत्रों में उच्च-से-उच्च पदों पर आसीन हैं। स्वयं राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद बिहार विद्यापीठ के उपकुलपति रहे हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव, बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर, लालबहादुर शास्त्री आदि नेताओं की शिक्षा-दीक्षा काशी विद्यापीठ में ही हुई और शिवप्रसाद गुप्त जैसे हिन्दी-प्रेमी इसके संस्थापक थे। लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लाहौर नेशनल कालेज से शिक्षा प्राप्त कई एक व्यक्ति आज भी पंजाब के राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

कांग्रेस और हिन्दी

गांधीजी की भाषा-सम्बन्धी नीति और उनके राजनीतिक तथा रचनात्मक कार्यक्रम के कारण हिन्दी को जो प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रभाषा के रूप में इसके विस्तार की जो योजनाएं बनीं, हमारे देश के और हिन्दी भाषा के इतिहास में वह अपूर्व घटना थी। एक बार यह निर्णय करके कि हिन्दी ही अंग्रेजी के स्थान पर देशभर की भाषा हो सकती है, गांधीजी ने अहिन्दी-भाषी दक्षिण में प्रचार के लिए ठोस कदम उठाये। दक्षिण भारत प्रचार-सभा की स्थापना और कुछ वर्षों बाद सभी अहिन्दी-भाषी प्रांतों में हिन्दी-प्रचार के लिए राष्ट्र-भाषा-समिति का संगठन गांधीजी की दृढ़ता का द्योतक है। अनेक समस्याओं और कठिनाइयों के होने

हुए भी उन्होंने स्वयं सार्वजनिक सभाओं में अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में बोलना आरंभ किया और अपनी पत्रिकाओं के हिन्दी-संस्करण प्रकाशित करने आरंभ किये। हिन्दी के प्रति गांधीजी की इस निष्ठा का प्रभाव सबसे पहले उस संस्था पर पड़ा, जिसके वह कर्णधार और सर्वेसर्वा बन चुके थे। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा है और यथासमय अंग्रेजी के स्थान पर सार्वदेशिक मामलों में इसीका उपयोग होगा, इस मंतव्य का एक प्रस्ताव कानपुर में सन् १९२५ में कांग्रेस द्वारा पास किया गया। इसके साथ ही कांग्रेस का प्रधान कार्यालय अपने पत्र-व्यवहार और दैनिक काम-काज में हिन्दी को अधिकाधिक स्थान देने लगा। हमने देखा कि कांग्रेस के विभिन्न विभागों में अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का भी उपयोग होने लगा था। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार की सामग्री इस कार्यालय द्वारा प्रकाशित और प्रचारित होती रही है। इस विस्तृत कार्य का माध्यम हिन्दी के बन जाने से भाषा तथा विषयवस्तु दोनों की समृद्धि हुई। इस महान् प्रयास का जो प्रभाव हिन्दी की स्थिति पर पड़ा उसका प्रथम दर्शन सन् १९३७ में उस समय हुआ जब छः प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का निर्माण हुआ और राजसत्ता कांग्रेस के हाथ में आई। उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडलों ने शासन के कार्य में हिन्दी को स्थान देने की योजना बनाई। उधर मद्रास और दूसरे अहिन्दी प्रांतों में कांग्रेस सरकारों ने हिन्दी को शिक्षा का अनिवार्य विषय घोषित किया। इन निर्णयों से हिन्दी की स्थिति कितनी उन्नत हुई, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस सरकारी संरक्षण से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को भी कम लाभ नहीं पहुंचा। हिन्दी में सरकारी अथवा अर्द्ध-सरकारी पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। कई विभागों के वार्षिक विवरण अंग्रेजी के साथ-साथ पहली बार हिन्दी में भी प्रकाशित होने लगे। इसका श्रेय सबसे अधिक हमारे दिवंगत स्वराष्ट्रमंत्री और उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पंत तथा स्व० रविशंकर शुक्ल, द्वारकाप्रसाद मिश्र आदि नेताओं को है। हिन्दी की उन्नति का प्रत्यक्ष कारण हमारे राजनैतिक नेताओं की तत्परता ही थी।

द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने से पहले जिन प्रांतों में दो वर्ष तक कांग्रेस-मंत्रिमंडल रहे थे, उनमें हिन्दी की स्थिति में बहुत सुधार हुआ। इस सुधार का ही यह फल था कि युद्ध छिड़ते ही भारत में अंग्रेजी सरकार ने हिन्दी के महत्त्व को समझा। केन्द्रीय सरकार ने पहली बार अपने प्रचार और प्रकाशन-कार्यक्रम में हिन्दी को स्थान दिया। उर्दू को प्रकाशन-विभाग में सन् १९२० से ही मान्यता मिली हुई थी, जबकि हिन्दी को सन् १९३९ में मिली। इस निर्णय का प्रभाव धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार के जनसंपर्क-सम्बन्धी दूसरे विभागों पर भी पड़ने लगा। भारत सरकार

उस समय चाहती थी कि मित्र-राष्ट्रों की युद्ध-सम्बन्धी नीति का व्यापक-से-व्यापक प्रचार हो। इसलिए उसे हिन्दी-पत्रों के महत्त्व को मानना पड़ा और प्रकाशन-सामग्री हिन्दी में तैयार करने की केन्द्रीय व्यवस्था करनी पड़ी।

सन् १९४६ में प्रांतों में कांग्रेसी-मंत्रिमंडल फिर से सत्तारूढ़ हो गये। हिन्दी को प्रोत्साहन देने की नीति पहले की तरह उन्होंने फिर अपनाई। मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में हिन्दी में पारिभाषिक शब्द-कोश बनाने की योजनाएं हाथ में ली गईं। प्रशासन-कार्य में अधिकाधिक हिन्दी का प्रयोग होने लगा। जैसे केन्द्र में 'भारतीय समाचार' नाम की सरकारी पत्रिका छपती थी, उसी प्रकार हिन्दी-भाषी प्रांतों में अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी में भी सरकारी पत्रिकाएं निकलने लगीं और मद्रास-सरीखे अहिन्दी प्रान्त में यह पत्रिका कई भाषाओं में छपनी आरंभ हुई, जिनमें हिन्दी भी एक थी।

नेताओं के योगदान पर एक दृष्टि

हमने संक्षेप में उन महान् नेताओं के योगदान के सम्बन्ध में भी कुछ कहा है, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अथवा अपने नेतृत्व के प्रभाव से अथवा हिन्दी को उन्नत करने के दृढ़ संकल्प से अन्य व्यक्तियों को भी प्रेरित किया। इनमें बालगंगाधर तिलक, मदनमोहन मालवीय, गांधीजी तथा उनके सहयोगियों—पुरुषोत्तमदास टंडन, राजेन्द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द और विनोबा भावे सरीखे नेताओं की हिन्दी-सेवाओं का व्यक्तिगत रूप से वर्णन किया है। तिलक ने गांधीजी के हिन्दी-स्नेह को अपनाया और सार्वजनिक रूप से काशी नागरी प्रचारिणी सभा के मंच से हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। इससे पूर्व भी वह 'केसरी' का हिन्दी संस्करण प्रकाशित करके अपने हिन्दी-प्रेम का परिचय दे चुके थे। मदन-मोहन मालवीय और पुरुषोत्तमदास टंडन ने हिन्दी के पक्ष को अपनाया ही नहीं, वरन् अपने सार्वजनिक जीवन में उसे सर्वप्रथम स्थान दिया। मालवीयजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश में हिन्दी सरकारी दफ्तरों और कचहरियों की भाषा बनी। उन्होंने ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। टंडनजी ने इन संस्थाओं का अपने अथक परिश्रम से पालन-पोषण किया और आज भी वह 'सम्मेलन के प्राण' और हिन्दी-संस्थाओं के प्रहरी माने जाते हैं। संविधान-सभा तथा संसद् में टंडनजी हिन्दी के प्रामाणिक प्रवक्ता हैं और उन्होंने सदा ही हिन्दी के हित की रक्षा की है। राजेन्द्रबाबू की हिन्दी-सेवा सदा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ-साथ रही है। अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ हिन्दी-प्रेम के संस्कार उन्हें मिले और लेखक की मौलिक प्रतिभा ने उनकी लेखनी को सहज ही सरल शैली का अधिकारी बना दिया। राजेन्द्रबाबू

अपने कार्य-क्षेत्र में हिन्दी-प्रचार के लिए सदा प्रयत्नशील रहे हैं तथा साहित्य-क्षेत्र में आत्मकथा-साहित्य व गांधी-साहित्य-सम्बन्धी रचनाएं हिन्दी भाषा को उनकी अमूल्य देन हैं। जवाहरलाल नेहरू का जीवन स्वयं प्रतिभा की एक परिभाषा है और हिन्दी को उनसे जो भावुक, सौंदर्यपूर्ण साहित्य मिला है, उसके प्रत्येक शब्द में उस प्रतिभा की झलक है। उनके विविध विचारों, कल्पना की उड़ानों तथा मानव की कोमलतम भावनाओं से हिन्दी-साहित्य परिचित हुआ और समृद्ध बना है। उनके मौलिक व अनूदित साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। राजेन्द्रबाबू जैसे नेताओं के प्रति जनता की श्रद्धा स्वयं उमड़ पड़ती है, हिन्दी भी उसी तरह उनसे लिपट गई है और दोनों को इसलिए अनायास ही अभिव्यक्ति का प्रसाद मिल गया है। अतः योगदान और प्रभाव दोनों ही दृष्टि से इन दोनों नेताओं का हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्व है। आचार्य नरेन्द्रदेव और संपूर्णानन्द से हिन्दी को बहुत ही मूल्यवान तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। इसका श्रेय इन नेताओं के गहन अध्ययन को है। विशुद्ध हिन्दी भाषा तथा गंभीर विषयों के विवेचन की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य को इनका योगदान अद्वितीय है। विनोबा इस देश की सनातन सन्त-परम्परा की एक लड़ी हैं। भारतीय संस्कृति, भारतीय विचारधारा, भारतीय तत्वज्ञान और भारतीय साहित्य के वह अनन्य चिन्तक हैं। उनकी यह चिन्तन-धारा दैनिक प्रवचनों के रूप में सदा प्रवाहित हुई है तथा उनकी पदयात्रा से उसे विस्तार मिला है। वह अपनी यात्रा में निरन्तर हिन्दी का उपयोग करते हैं, रमते जोगी की तरह जन-जन की वाणी में हिन्दी का साक्षात्कार करते हैं और हिन्दी द्वारा ही अपने विचारों को संचरित करते हैं। आधुनिक युग में विनोबा का हिन्दी भाषा के विकास और हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में वही स्थान है जो मध्ययुग के साहित्य में सन्तों का है।

इन राष्ट्रीय नेताओं के अतिरिक्त हमने जमनालाल बजाज, गोविन्दवल्लभ पंत, रविशंकर शुक्ल, द्वारकाप्रसाद मिश्र, हरिभाऊ उपाध्याय, सेठ गोविन्ददास, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी और पंजाब के स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, स्वामी केशवानन्द इत्यादि कतिपय सार्वजनिक नेताओं की हिन्दी-सेवा का उल्लेख भी किया है। इन सबने अपनी रचनाओं, सार्वजनिक कार्य तथा प्रभाव द्वारा हिन्दी भाषा तथा साहित्य की प्रगति में महत्वपूर्ण योग दिया है।

गत सौ वर्ष से हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं साहित्योन्नति की मूल्यवान साधन रही हैं। जिन धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक आन्दोलनों के साथ हिन्दी के उत्थान का विशेष सम्बन्ध रहा है, उनके प्रवर्तकों के योगदान का इस प्रबन्ध में यथास्थान वर्णन किया गया है। बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मणनारायण गर्दे,

माधवराव सप्रे, गणेशशंकर विद्यार्थी, तथा उनके साथी बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और बनारसीदास चतुर्वेदी इत्यादि का पत्रकार-महारथियों के रूप में विशेष-उल्लेख करके हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में उनके योगदान का मूल्यांकन किया गया है। हमने अहिन्दी-भाषी नेताओं की साहित्य-सेवा तथा हिन्दी प्रचार का इतिवृत्त किया है। असम, उड़ीसा, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण में हिन्दी का जो प्रचार हुआ है, उसका सर्वाधिक श्रेय इन अहिन्दी-भाषी नेताओं को ही है। इनके प्रभाव से ही हिन्दी को इतनी व्यापकता मिली तथा अहिन्दी-भाषी जनता हिन्दी-साहित्य से परिचित हो सकी। गोपीनाथ बारदोलाई, हरेकृष्ण मेहताब, सुभाषचन्द्र बोस और शारदाचरण मित्र, काका कालेलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, सावरकर, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और मोटरू सत्यनारायण के अतिरिक्त ऐनी बेसेन्ट की हिन्दी-सेवा बहुमूल्य है। गांधीजी के राष्ट्रभाषा-प्रचार के सिद्धान्त और भावना को अपनाकर इन सब नेताओं ने हिन्दी के प्रचार के लिए अथक परिश्रम किया है तथा अपनी रचनाओं द्वारा भी साहित्य को समृद्ध बनाया है। आज राजनैतिक मतभेद के कारण राजाजी जैसे व्यक्ति भले ही हिन्दी के विरोधी बन गये हों, किन्तु हिन्दी के लिए उनकी पूर्व-सेवा का विस्मरण नहीं किया जा सकता। आज देश में संतुलन लाने की दृष्टि से भी कतिपय नेता हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी को बनाये रखना चाहते है, किन्तु इस प्रबन्ध में वर्णित नेताओं के कार्यकलापों और ठोस तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह मानना ही होगा कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हिन्दी अपने इस गौरव-पद से हट नहीं सकती तथा जवाहरलालजी के शब्दों में "वह उछलती-कूदती स्वाधीन भारत के प्रांगण में" निरन्तर आगे बढ़ती ही जायगी। इतने नेताओं के प्रभाव की छाया में वह पली है और इतने संकल्पों का संबल उसे प्राप्त हुआ है। हिन्दी-प्रगति की इस संकल्पना में सभी भारतीय नेताओं ने गांधीजी के सिद्धान्त का अनुसरण किया है और यथाशक्ति उसके विकास में योग दिया है। स्वाधीनता के पूर्व अनेक बाधाओं के बीच हमारे नेताओं ने हिन्दी भाषा को आगे बढ़ाया। अब स्वाधीन भारत में यह कार्य उनके लिए सहज हो गया। अंत में हमने उन हिंदी-सेवी संस्थाओं के कार्य का विवरण प्रस्तुत किया है, जो हिन्दी के प्रचार-प्रसार के सामूहिक प्रयत्नों की प्रतीक हैं तथा जिनकी गतिविधियां समग्र राष्ट्रीय आंदोलन का एक अविभाज्य बन गई थी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ऐसी प्रमुख हिंदी-सेवी संस्थाएं हैं, जिनके निर्माण तथा विकास में हमारे राष्ट्रीय नेताओं का विशेष योगदान रहा है।

स्वतंत्रतोत्तर काल में हिंदी

स्वाधीनता के बाद हिन्दी की स्थिति बदल गई। हिन्दी को उन्नत करने के लिए और इसके पक्ष के समर्थन में पहले जो कुछ तर्क की सहायता से करना पड़ता था, अब केवल आदेश द्वारा किया जाने लगा, क्योंकि हिन्दी का महत्व अब विचार अथवा तर्क का विषय न रहकर एक स्वतःसिद्ध अनिवार्यता मान ली गई। राज्यों में देवनागरी लिपि के सुधार और शब्दकोश तैयार करने की जो योजनाएं चालू थीं, अब केन्द्र द्वारा उनका समन्वय होने लगा।

स्वाधीनता के बाद ही हमारी संविधान-सभा देश का संविधान तैयार करने में जुट गई। लोगों को इस बात का भय था कि राष्ट्रभाषा का विषय बहुत जटिल और विवादास्पद है, इसलिए सभा ने इस प्रश्न पर निर्णय करने का काम अन्त में हाथ में लिया। संविधान-सभा में सभी भाषाओं के प्रतिनिधियों की एक समिति बनी, जिसने संविधान के पारिभाषिक शब्दों के लिए हिन्दी-पर्याय-वाची शब्द एकत्रित किये और इन्हीं शब्दों को सभी भाषाओं के प्रतिनिधियों ने अपनी-अपनी भाषा के लिए स्वीकृत किया और संविधान के हिन्दी-रूपान्तर में यही पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हैं। समाचार-पत्रों ने भी इन्हें पर्याप्त मान्यता दे दी।

सन् १९४९ में प्रायः पांच-छः महीनों तक संविधान-सभा में राष्ट्रभाषा की समस्या की गूंज रही। इस प्रश्न के मौलिक महत्त्व को देखते हुए कांग्रेस के संसदीय दल ने सब सदस्यों को मत देने की छूट दे दी और किसीको किसी भाषा विशेष के पक्ष अथवा विपक्ष में मत देने के लिए बाध्य नहीं किया। हमारे राष्ट्रीय विकास के इतिहास में यह सबसे बड़ा सुखद आश्चर्य था कि यह छूट होते हुए भी और संविधान-सभा के करीब ६० प्रतिशत सदस्य अहिन्दी-भाषी होते हुए भी, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में जो निर्णय हुआ, वह सर्वसम्मत था। इस आश्चर्य-जनक घटना के पीछे कांग्रेस के परम्परागत सिद्धांत तथा आदर्श थे। देश की एकता और राजनैतिक उन्नति को सर्वोपरि मान अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने हँसी-खुशी हिन्दी को समस्त राष्ट्र की भाषा स्वीकार किया, ऐसी भाषा जो कालांतर में (पंद्रह वर्षों में) अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करेगी। इस कालावधि के औचित्य तथा समीचीनता के विषय में मतभेद हैं, जिनका न्यायान्याय इतिहास निर्णय करेगा, किन्तु यह अभी से स्पष्ट है कि यह छूट देने से ही हिन्दी के तात्का-लिक शासकीय उपयोग में और उसके तदनुकूल बनने की सम्पूर्ण क्षमता के विकास में देर हो रही है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन कर, संविधान के अनुसार इसका प्रसार करना और भावी दायित्व वहन करने योग्य इसे बनाना हमारी सरकार

का कर्त्तव्य हो गया। केन्द्रीय सरकार द्वारा इस कार्य के लिए, विशेषकर अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी-प्रचार के लिए, वार्षिक अनुदानों की व्यवस्था की गई। दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और दूसरी गैर-सरकारी संस्थाओं को आर्थिक सहायता मिलने लगी। इस क्षेत्र में हमारे जननायक निरन्तर पहले की तरह ही उत्साहपूर्वक काम करते आ रहे हैं और उनका सहयोग बराबर उपलब्ध है। यद्यपि कहीं-कहीं हिन्दी का विरोध भी हुआ है, पर वस्तुस्थिति यह है कि अहिन्दी-क्षेत्रों में हिन्दी की साक्षरता अप्रत्याशित रूप से बढ़ती जा रही है। इसका श्रेय अधिकतर अहिन्दी-भाषी हिन्दी-प्रेमी नेताओं को ही है।

संविधान के अनुसार हिन्दी-सम्बन्धी स्थिति के सिंहावलोकन के लिए हिन्दी-आयोग की नियुक्ति सन् १९५६ में हुई। आयोग ने समस्याओं के सभी पहलुओं पर विचार करके विवरण-प्रस्तुत किया, जिससे हिन्दी को और भी संबल मिला।

हिन्दी-सम्बन्धी विशेष घटनाओं का और राजनैतिक तथा अन्य आन्दोलनों के नेताओं के योगदान का विवरण हमने संक्षेप में दिया है। इस अवधि में हिन्दी-भाषा और साहित्य के कलेवर और उसके विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात करने से हमने जो कुछ कहा है, वह और भी अच्छी तरह समझ में आ सकेगा।

बीसवीं शती के आरंभ से, विशेषकर कांग्रेस का सूत्र-संचालन गांधीजी के हाथ में आने के समय से, हिन्दी भाषा और स्वातंत्र्य-आन्दोलन एक दूसरे को प्रभावित तथा प्रेरित करते हुए आगे बढ़े हैं। गांधी-विचारधारा और आजादी के युद्ध की हिन्दी-साहित्य पर विविध रूपों में पूरी छाप पड़ी है। प्रेमचन्द, चतुरसेन, जैनेन्द्र, वृंदावनलाल वर्मा, यशपाल आदि के उपन्यासों में, कौशिक, सुदर्शन की कहानियों में, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र आदि की कविताओं में, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचन्द्र माथुर, आदि के नाटकों में और प्रायः सभी सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा नेताओं के निबन्धों और भाषणों में जहां पराधीन भारत की करुणा झलकती है, वहां परतन्त्रता के विरुद्ध संघर्ष और स्वाधीन देश की गौरव-गाथा की पूरी झांकी भी मिलती है। साधारण रूप से साहित्यिकों की लेखनशैली और विचारधारा तो इन बदलती हुई परिस्थितियों से प्रभावित हुई ही है, इन चालीस वर्षों में प्रमुख साहित्यिक रचनाएं, उपन्यास, महाकाव्य, कथा-साहित्य आदि अधिकांश ऐसे हैं, जो राष्ट्र की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं पर आश्रित हैं। जो प्रेरणा प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य को राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर से मिली, वही प्रेरणा आधुनिक शताब्दी के लेखकों को तिलक, लाजपतराय, मालवीय, गांधी, जवाहर और राजेन्द्रबाबू जैसे

जननायकों से मिली। साथ ही यह भी सत्य है कि इन हिन्दी-साहित्यकारों की सबल और सप्राण लेखनी ने राष्ट्रीय चेतना को मूर्त्त कर प्रसारित करने में नेतृत्व तथा जनता दोनों पर भरपूर प्रभाव डाला। राष्ट्रीय समर में हिन्दी-साहित्य की जीवंत क्रियाशीलता स्वयं ही एक देशव्यापी आन्दोलन बन गई। यह परम्परा कांग्रेस के जन्म से पहले भारतेन्दु-युग से चली आई थी।

राष्ट्रीयता का संबल आदर्श और लोक-महत्वाकांक्षा होती है। आलोच्य अवधि में इन दोनों पर ही हमारे भारतीय नेताओं की अनुरक्ति थी। हमारे जननायकों का जीवन किसी-न-किसी रूप से, चाहे वह राजनीतिक हो, सामाजिक हो अथवा धार्मिक, राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत रहा है, और राष्ट्रीय जीवन-दर्शन का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है, क्योंकि साहित्य का सीधा प्रयोजन सर्वजनहिताय है, अर्थात् निपट मानवीयता है। साहित्य की मानवीय वस्तु और भावविनियोग की क्षमता राष्ट्रीय सीमाओं का सदा अतिक्रमण कर विश्वजनीय बनती है। साहित्य के इस विराट अंतरंग में ही उसके सच्चे स्वरूप के दर्शन होते हैं। किन्तु जो दृष्टि विशिष्ट राष्ट्रीय तत्वों का उल्लंघन करके चलती है, वह साहित्य के मर्म तक नहीं पहुंचती। महान साहित्य का सम्बन्ध युग-विशेष की सामाजिक वस्तु-स्थिति से अविच्छिन्न होता है। विश्व-साहित्य के विकास में ऐसे युग आये हैं, जो परिवर्तित सामाजिक स्थिति के परिणाम हैं, किन्तु जिनके कारण सामाजिक स्थितियों ने पुनः नया रूप धारण किया है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण महात्मा गांधी की विचारधारा का व्यापक प्रभाव है, जिसने वास्तव में ही विश्व-साहित्य पर प्रभाव डाला है। इस प्रभाव के फलस्वरूप आज विश्व-साहित्य में सत्य-अहिंसा के शान्तिप्रेरक आदर्श स्थापित हो रहे हैं, जो फिर अपने जन-जीवन की परिस्थितियों को तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को भी परिवर्तित करने लगे हैं। यह द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त, गांधीवादी आदर्श और भारतीय समाज तथा साहित्य के परस्पर प्रभाव भी उतनी ही सचाई से फलीभूत हुआ है।

हमारे देश में धर्म और लौकिक जीवन का दो टूक विभाजन कभी नहीं हुआ। सिद्धान्त और कला सदा भारत के जीवन में साथ रहे हैं। नीति और रीति का सदा मेल रहा है। आधुनिक भारतीय साहित्य में भी इसका सामंजस्य है ही। भारतीय साहित्य और सैद्धान्तिक प्रक्रिया में भी हम लगभग इस प्रकार का बाहुल्य पाते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि आधुनिक भारत का विकास बहुत कुछ पश्चिम के प्रभाव तथा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया की द्वन्द्वात्मकता के अन्तर्गत हुआ है। आधुनिक साहित्य में ऐसे तत्व मिल जाते हैं, जो पश्चिम से अपने मूलरूप में ले लिये गए हैं। इसमें हमारे उन जननायकों का बहुत हाथ रहा है, जिन्होंने

अंग्रेजी सभ्यता में पलकर ही शिक्षा-दीक्षा पाई। साथ ही पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त अथवा पाश्चात्य साहित्य-संस्कृति के साहित्यकारों ने भी इस प्रक्रिया में विशेष योग दिया है। परन्तु विशुद्ध राष्ट्रीय चिन्तन की धारा ने उन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। वह भारतीय परम्परा के विकास पर ही ज़ोर देती आई है। जवाहरलाल नेहरू का जीवन, उनकी विचारधारा और चिन्तनधारा से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। राष्ट्रीय जीवन को अपनाकर उन्हें भारतीय जीवन-वाणी का ही सहारा लेना पड़ा और इसलिए हमारे ऐसे नेताओं के विचारों में पुरातन और नूतन, पश्चिम और पूर्व के समन्वय का प्रयास है, जो उनकी कृति, वाणी और लेखनी से व्यक्त हुआ। वैसे भी वर्तमान नेताओं तथा साहित्यकारों ने नई जीवन-दृष्टि तथा नई-नई शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में राष्ट्रीयता के तत्व को सुरक्षित रक्खा है।

हिन्दी-साहित्य के आधुनीकरण और बहुमुखी अभिवृद्धि का महत्तम लक्षण उसकी व्यापकता है। इस व्यापकता का प्रभाव लेखक और लेखन दोनों ही पर एक जैसा पड़ा है। पहले हिन्दी लेखक, नेता, कवि, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्ध-कार, पत्रकार सभी कुछ होता था। साहित्यिक विभाजन और विषय-विशेषज्ञता तब हिन्दी में नहीं आई थी। किन्तु अब साहित्य के अंगों का विश्लेषण इतना अधिक हो चुका है कि एक ही व्यक्ति एक या दो से अधिक साहित्यिक विधाओं में दखल देने का दावा नहीं करता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—

"पहले हिन्दी-वाला 'सबकुछ' होता था। जो पत्रकार था, वह कवि भी था, आलोचक भी था, अनुवादक भी था, कहानी-लेखक भी था और भी बहुत-कुछ था। धीरे-धीरे हिन्दी का क्षेत्र व्यापक होता गया। आपने तीन महारथियों के निधन की बात लिखी है, द्विवेदीजी, गणेशशंकरजी और पद्मसिंह शर्माजी। पर कई को भूल गये हैं, सदा भूलते रहे हैं, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, प्रसाद, श्यामसुन्दरदास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, काशीप्रसाद जायसवाल, जो अपने-अपने क्षेत्रों में दिग्गज थे। ये वे लोग हैं, जिन्होंने हिन्दी-लेखक के चित्त से हीनता-ग्रन्थि पर हथौड़े मारे हैं। पहले के लेखकों के क्षेत्र सीमित थे। बाद में व्यापक होते गए। विश्वविद्यालयों में, सरकार में, कांग्रेस में, हिन्दी के प्रयोग का प्रश्न अधिक ज्वलंत होकर प्रकट हुआ। ग्रंथ-सम्पादन, अध्यापन, शोध आदि की नई दिशाएं दिखाई पड़ीं। धीरे-धीरे सारी समृद्ध भाषाओं की भांति विशेषज्ञता की मांग बढ़ती गई। अभी और बढ़ेगी। अब सभी विषयों में, विज्ञान और यंत्र-कौशल में भी, कूटनीति और सैन्य-संचालन में, बैंकिंग और करेंसी में भी, कानून और प्रशासन में भी, हिन्दी हाथ-पैर पसार रही है और बड़ी दृढ़ता और आत्म-विश्वास के साथ।

उप्पल राजगोपाल कृष्णय्या आदि

हिन्दी प्रचार का इतिहास, प्र. सं., सन् १९५७, आंध्र राष्ट्र हिन्दी प्रचार संघ, विजयवाड़ा

कपिलदेव सिंह (डॉक्टर)

ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, प्र. सं., सन् १९५६, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

कमलापति त्रिपाठी

बापू और मानवता, द्वि. सं., सन् १९४८, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी
पत्र और पत्रकार, प्र. सं., ज्ञान-मण्डल लि., वाराणसी
बापू और भारत, द्वि. सं., सन् १९४८, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी
बापू के चरणों में, प्र. सं., सरस्वती मन्दिर, वाराणसी

कृपाशंकर

राष्ट्रनिर्माता तिलक, सन् १९५९, किताब महल, दिल्ली

कृष्णचन्द्र विरमानी

दयानन्द-सिद्धांत-भास्कर, प्र. सं., सन् १९३३, कृष्णचन्द्र विरमानी, रावलपिंडी

कृष्णवल्लभ द्विवेदी

भारत-निर्माता, प्र. सं., सन् १९४९, हिन्दी विश्वभारती कार्यालय, लखनऊ

केशरीनारायण शुक्ल

भारतेन्दु के निबन्ध, प्र. सं., संवत् २००८, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

साहित्य-विवेचन, प्र. सं., सन् १९५२, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

गणेशबिहारी मिश्र

मिश्रबन्धु-विनोद, तृ. सं., संवत् १९८६, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ

गोविन्ददास (सेठ)

स्मृतिकण, सन् १९५९, भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, प्र. सं., सन् १९५१, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद

घनश्यामदास बिड़ला

गांधीजी की छत्रछाया में, प्र. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
बिखरे विचार, प्र. सं., सन् १९४१, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
रुपये की कहानी, प्र. सं., सन् १९४४, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
डायरी के पन्ने, प्र. सं., सन् १९५८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
बापू, छठा सं., सन् १९५६, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

रूप और स्वरूप, द्वि. सं., सन् १९६०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
ध्रुवोपाख्यान, द्वि. सं., सन् १९६०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
कर्जदार से साहूकार, द्वि. सं., १९४५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

चंद्रबली पांडे

कचहरी की भाषा और लिपि, प्र. सं., संवत् २०००, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
भाषा का प्रश्न, प्र. सं., संवत् २०००, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
राष्ट्रभाषा पर विचार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
शासन में नागरी, प्र. सं., संवत् २००५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
हिन्दी गद्य का निर्माण, प्र. सं., संवत् २००५, चन्द्रबली पांडे, बनारस

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

हिन्दी की गद्य शैली का विकास, परिवर्द्धित, संवत् २०१२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
हिन्दी गद्य के युग-निर्माता, द्वि. सं., सन् १९५८, सरस्वती मन्दिर, काशी

जमनालाल बजाज

पत्रव्यवहार : भाग १, प्र. सं., सन् १९५८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
पत्रव्यवहार : भाग २, प्र. सं., सन् १९५८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
पत्रव्यवहार : भाग ३, प्र. सं., सन् १९५८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

जयप्रकाश नारायण

छात्रों के बीच, प्र. सं., सन् १९५६, सर्व सेवा संघ, वर्धा
जीवन-दान, प्र. सं., सन् १९५५, सर्व सेवा संघ, वर्धा
मेरी विदेश-यात्रा, प्र. सं., सन् १९६०, सर्व सेवा संघ, वर्धा
समता की खोज में, प्र. सं., सन् १९५८, सर्व सेवा संघ, वर्धा
मजदूरों से, सर्व सेवा संघ, वर्धा

जवाहरलाल नेहरू

आजादी के आठ साल, प्र. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
बड़ी चीजों के बड़े दाम, प्र. सं., सन् १९५७, पब्लिकेशन डिविजन, नई दिल्ली
अठारहसौ सत्तावन का स्वाधीनता-संग्राम, सन् १९५७, पब्लिकेशन डिविजन, नई दिल्ली
मेरी कहानी (संपूर्ण), तृ. सं., सन् १९३८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
नया भारत, प्र. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
राजनीति से दूर, प्र. सं., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

राष्ट्रपिता, प्र. सं. सन् १९४९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
राष्ट्रभाषा का सवाल, प्र. सं., सन् १९४९, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
विश्व-इतिहास की झलक (प्रथम खंड), प्र. सं., सन् १९३७, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
विश्व इतिहास की झलक (द्वितीय खंड), प्र. सं., सन् १९३७, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
हमारी समस्याएं (भाग १ से ३), प्र. सं., सन् १९५१, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
हिन्दुस्तान की समस्याएं नौवीं बार, सन् १९५८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
लड़खड़ाती दुनिया, तृ. सं., सन् १९५४, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
जवाहरलाल नेहरू के भाषण (१९४६ से १९४९), प्र. सं., सन् १९५४, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन

भारत का भाषा-सर्वेक्षण, प्र. सं., सन् १९५९, सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश

डी. टार. टोलीवाल

भारत की विभूतियां, प्र. सं., सन् १९५४, ग्रेट इंडिया पब्लिशर्स, नागपुर

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

बापू के पत्र आश्रम की बहनों को, प्र. सं., सन् १९५०, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
उस पार के पड़ोसी, प्र. सं., सन् १९५१, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
कला—एक जीवन-दर्शन, प्र. सं., सन् १९३७, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
उत्तर की दीवारें, प्र. सं., सन् १९५३, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा
जीवन का काव्य, प्र. सं., सन् १९४७, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
जीवन-संस्कृति की बुनियाद, प्र. सं., सन् १९५५, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा
जीवन-साहित्य, तृ. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
दो आम, तृ. सं., सन् १९५२, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा
बापू की झांकियां, तृ. सं., सन् १९५७, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
भारतीय साहित्य परिषद्, तृ. सं., सन् १९३६, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
लोक-जीवन, द्वि. सं., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
स्मरण-यात्रा, प्र. सं., सन् १९५३, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
हिन्दुस्तानी के प्रचारक—गांधीजी, द्वि. सं., सन् १९४९, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा
हिमालय की यात्रा, प्र. सं., सन् १९४८, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद

दयानन्द सरस्वती

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (संपादित), प्र. सं. संवत्. २००२, रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर
राजधर्म (संपादित), प्र. सं., सन् १९५०, सार्वदेशिक प्रेस, दिल्ली
सत्यार्थप्रकाश, १९ वीं बार, संवत् २००३, वैदिक यंत्रालय, अजमेर

द्वारिकाप्रसाद मिश्र

कृष्णायन, हिन्दी विश्वभारती कार्यालय, लखनऊ
मध्यप्रदेश में स्वाधीनता-आन्दोलन का इतिहास, मध्यप्रदेश सरकार, भोपाल

धीरेन्द्र वर्मा (डाक्टर)

हिन्दी भाषा का इतिहास, च. सं., सन् १९५३, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग

नगेन्द्र (आदि)

कविभारती, प्र. सं., संवत् २०१०, साहित्य सदन, झांसी

नन्ददुलारे वाजपेयी

नया साहित्य, नये प्रश्न, विद्यामंदिर, वाराणसी
हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, प्र. स., सन् १९५८, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

नरेन्द्रदेव (आचार्य)

बौद्धधर्म दर्शन, प्र सं., सन् १९५६, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
राष्ट्रीयता और समाजवाद, प्र. सं., संवत् २००६, ज्ञानमंडल लि., बनारस

नारायणदत्त

श्रद्धानन्द-दर्शन, प्र. सं., संवत्. १९९३, अखिल भारतीय श्रद्धानन्द स्मारक ट्रस्ट, दिल्ली

पट्टाभि सीतारामय्या

कांग्रेस का इतिहास : भाग १ से ३, चौथी बार, सन् १९४६, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

पद्मसिंह शर्मा

पद्मपराग, प्र. सं., संवत् १९८६, भारती पब्लिशर्स लि., मुरादपुर
हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, तृ. सं., सन् १९५१, हिन्दुस्तान अकादमी, प्रयाग
बिहारी की सतसई (जीर्ण प्रति)

पांडुरंग गणेश देशपांडे

लोकमान्य तिलक, प्र. सं., सन् १९५६, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

पुरुषोत्तमदास टंडन

शासन-पथ-निदर्शन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
लेखपुंज, प्र. सं., सन् १९३९, बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, बम्बई

प्रकाशचन्द्र गुप्त

हिन्दी-साहित्य की परम्परा, प्र. सं., सन् १९५३, किताब महल, इलाहाबाद

प्रणवचन्द्र राय चौधरी

विहार में १८५७, प्र. सं., सन् १९५९, विवरणिका पुनरीक्षण कार्यालय, पटना

प्रेमनारायण माथुर

गांधी-ग्रंथ (संकलित), सन् १९४९, रामनारायण लाल, इलाहाबाद

बनारसीदास चतुर्वेदी

पद्मसिंह शर्मा के पत्र, प्र. सं., सन् १९५६, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

रामप्रसाद विस्मिल, सन् १९५९, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

गणेशशंकर विद्यार्थी, प्र. सं., आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

राष्ट्रभाषा, प्र. सं., संवत् १९७६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

रेखाचित्र, प्र. सं., सन् १९५२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

साहित्य और जीवन, प्र. सं., सन् १९५४, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

बंकटलाल ओझा

हिन्दी समाचारपत्र निर्देशिका, प्र. सं., सन् १९५५, हिन्दी समाचारपत्र संग्रहालय, हैदराबाद

बाबूराम मिश्र

स्वतंत्र भारत की एक झलक, प्र. सं., सन् १९५९, सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश

बाबूराम सक्सेना

दक्खिनी हिन्दी, प्र. सं., सन् १९५२, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद

बालकृष्ण भट्ट

भट्ट-निबन्धावली, तृ. सं., सन् १९४२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

उर्मिला, प्र. सं., अत्तरचंद कपूर एन्ड सन्स, दिल्ली

विनोबा-स्तवन, प्र. सं. संवत् २०१०, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

बालमुकुन्द गुप्त

बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, प्र. सं., संवत् २००७, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, कलकत्ता

ब्रजरत्नदास

खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य का इतिहास, द्वि. सं., संवत् २००९, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी

ब्रजलाल बियाणी

कल्पना-कानन, प्र. सं., सन् १९४६, हिन्द-प्रकाशन, अकोला

ब्रह्मानन्दजी

श्रीरामकृष्ण उपदेश (संकलित), प्र. सं., सन् १९४९, श्री रामकृष्ण-आश्रम, नागपुर

भगवानदास (डॉक्टर)

समन्वय, तृ. सं., सन् १९४७, पुस्तक भवन, वाराणसी

भगवानदास केला

भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन, प्र. सं., सन् १९४९, भारतीय ग्रन्थमाला, इलाहाबाद

भवानीशंकर त्रिवेदी

हमारा हिन्दी-साहित्य और भाषा-परिवार, प्र. सं., संवत् २००७, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु-नाटकावली, प्र. सं., इण्डियन प्रेस, प्रयाग

भोलानाथ (डॉक्टर)

हिन्दी-साहित्य, प्र. सं., सन् १९५९, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

मगनभाई प्रभुदास देसाई

राजा राममोहनराय से गांधीजी, प्र. सं., सन् १९५९, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद

मन्मथनाथ गुप्त

भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन का इतिहास, द्वि. सं., सन् १९६०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली

माखनलाल चतुर्वेदी

साहित्य देवता, प्र. सं., सन् १९४३, भारतीय साहित्य प्रकाशन, खंडवा

मोहनदास करमचंद गांधी

अनासक्तियोग, छठी बार, सन् १९४९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

अमृतवाणी, (संकलन), प्र. स., सन् १९५६, साधना सदन, इलाहाबाद

अहिंसक समाजवाद की ओर, प्र. सं., सन् १९५५, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद

आज का विचार—भाग १-२, प्र. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

आत्मकथा, नवमी बार, सन् १९४८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

आरोग्य की कुंजी, प्र. सं., सन् १९५४, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद

खादी क्यों और कैसे ? प्र. सं., सन् १९५७, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद
खुराक की कमी और खेती (संकलित), प्र. सं., सन् १९५६, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद
प्रार्थना-प्रवचन (भाग १) प्र. सं., सन् १९४८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
प्रार्थना-प्रवचन (भाग २), द्वि. सं., सन् १९५९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
गीता-माता प्र. सं., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
पंद्रह अगस्त के बाद, प्र. स., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
धर्म-नीति, प्र. सं., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह तृ. सं., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
मेरे समकालीन प्र. सं., सन् १९५१, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
आत्म-संयम, प्र. सं., सन् १९५४, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
गीता बोध, आठवीं बार, सन् १९४९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
ग्राम-सेवा छठी बार सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
दिल्ली-डायरी, प्र. सं., सन् १९४८, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
नई तालीम की ओर, प्र. सं., सन् १९५६, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद, सन् १९५३, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
बुनियादी शिक्षा, द्वि. सं., सन् १९५३, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
ब्रह्मचर्य, चौथी बार, सन् १९५४, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
भाइयों और बहनो—अंक १ से ५, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली
रचनात्मक कार्यक्रम, तृ. सं., सन् १९५१, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
रामनाम, प्र. सं., सन् १९४९, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, चौथी बार, सन् १९५६, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
वर्ण-व्यवस्था, पुनर्मुद्रण, सन् १९५६, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
विद्यार्थियों से, प्र. सं., सन् १९५९, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
शिक्षा की समस्या, प्र. सं., सन् १९५४, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
सच्ची शिक्षा, द्वि. सं., सन् १९५६, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास, प्र. सं., सन् १९४८, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
संपूर्ण गांधी वाङ्मय, प्र. सं., सन् १९५८, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली
सर्वोदय, प्र. सं., सन् १९५५, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
हमारे गांवों का पुनर्निर्माण, पुनर्मुद्रण, सन् १९५५, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
हरिजन-सेवकों के लिए, प्र. सं., सन् १९५५, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद
हिन्द स्वराज्य, प्र. सं., सन् १९४८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

हृदय-मंथन के पांच दिन, प्र. सं., सन् १९४८, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

यज्ञदत्त शर्मा

हिन्दी गद्य का विकास, प्र. सं., राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर

उपनिषदों की कहानियां, प्र. सं. राजहंस प्रकाशन, दिल्ली,
कर्मयोग, राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली
सत्याग्रह और विश्वशांति, प्र. सं., प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली
सत्याग्रह-मीमांसा, प्र. सं, सन् १९४९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

रविशंकर शुक्ल

राष्ट्र-निर्माण की घड़ी में, प्र. सं., सन् १९५६, मध्यप्रदेश, सूचना-विभाग,

राजेन्द्रप्रसाद (डॉक्टर)

आत्मकथा, प्र. सं., सन् १९४७, साहित्य संसार, पटना
खंडित भारत, दूसरी बार, १९४७, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी
गांधीजी की देन, प्र. सं., सन् १९५३, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
चंपारन में महात्मा गांधी, प्र. सं., सन् १९५५, आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली
बापू के कदमों में, प्र. सं., सन् १९५०, अजन्ता प्रेस, पटना
भारतीय शिक्षा, प्र. सं., सन् १९५३, आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली
मेरे यूरोप के अनुभव, प्र. सं., सन् १९३८, ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना
राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के भाषण, प्र. सं., सन् १९५७, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली
संस्कृत का अध्ययन, द्वि. सं., संवत् १९९८, आरती मन्दिर, पटना
साहित्य, शिक्षा और संस्कृति, प्र. सं, सन् १९५२, आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

भारत के पक्षी, प्र. सं., सन् १९४८, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली

रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य का इतिहास, छ. सं., संवत् २००७, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

रामधारीसिंह 'दिनकर'

संस्कृति के चार अध्याय, प्र. सं., सन् १९५६, राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली

रामनरेश त्रिपाठी

कविता-कौमुदी, छ. सं., संवत् १९९०, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

ग्राम-साहित्य (संपादित), प्र. सं., सन् १९५१, हिन्दी मन्दिर, सुलतानपुर

रामनाथ 'सुमन'

गांधीवाद की रूपरेखा, प्र. सं., सन् १९३९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
हमारे राष्ट्र-निर्माता, प्र. सं., सन् १९३३, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
गांधी-वाणी, चौथी बार., सन् १९५२, साधना सदन, इलाहाबाद
हमारे नेता और निर्माता दशम सं. सन् १९५८, साधना सदन, लूकरगंज, इलाहाबाद

रामविलास शर्मा (डॉक्टर)

भारतेन्दु-युग, तृ. सं०, सन् १९५६, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
संस्कृति और साहित्य, प्र. सं., सन् १९४९, किताब महल, इलाहाबाद

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

राष्ट्रभाषा प्रचार सर्वसंग्रह, प्र. सं., सन् १९४९, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

राहुल सांकृत्यायन

बुद्धचर्या द्वि. सं., सन् १९५२, महाबोधि सभा, सारनाथ
हिन्दी काव्यधारा, प्र. सं., सन् १९४५, किताब महल, इलाहाबाद

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉक्टर)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य, प्र. सं., सन् १९५४, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद
आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका, प्र. सं., सन् १९५२, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद
फोर्ट विलियम कालेज, प्र. सं., संवत् २००४, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद

वल्लभभाई पटेल

सरदार वल्लभभाई पटेल के भाषण, (१९१८ से १९४७) प्र. सं. सन् १९५० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद

विजयेन्द्र स्नातक (डॉक्टर)

हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति, प्र. सं., सन् १९५२, आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली

विनयमोहन शर्मा

हिन्दी को मराठी संतों की देन, प्र. सं., सन् १९५७, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

विनोबा भावे

आत्मज्ञान और विज्ञान, प्र. सं., सन् १९५९, सर्व सेवा संघ, काशी
उपनिषदों का अध्ययन, प्र. सं., सन् १९५६, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
कार्यकर्ता वर्ग, प्र. सं., सन् १९५५, सर्व सेवा संघ, काशी
गांधीजी को श्रद्धांजलि, प्र. सं., सन् १९४९, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
भूदान गंगा—भाग १-३, प्र. सं., सन् १९५६, सर्व सेवा संघ, काशी

भूमिदान-यज्ञ, प्र. सं., सन् १९५१, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
विनोबा के विचार, छठी बार, सन् १९५२, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
शांतिसेना, तृ. सं., सन् १९५९, सर्व सेवा संघ, काशी
शिक्षण-विचार, प्र. सं., सन् १९५५, सर्व सेवा संघ, काशी
सर्वोदय-विचार, प्र. सं., सन् १९५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
साहित्यिकों से, प्र. सं., सन् १९५५, सर्व सेवा संघ, काशी
जीवन और शिक्षण, द्वि. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
गीता-प्रवचन, चौ. सं., सन् १९५४, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
शांति-यात्रा, द्वि. सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
स्थितप्रज्ञ-दर्शन, प. सं., सन् १९५३, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

विवेकानन्द

स्वाधीन भारत जय हो, प्र. सं., सन् १९४९, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप, प्र. सं., सन् १९५०, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
परिव्राजक, प्र. सं., सन् १९५०, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
प्राच्य और पाश्चात्य, तृ. सं., सन् १९४७, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
भक्तियोग, तृ. सं., सन् १९५०, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
महापुरुषों की जीवन-गाथाएं, प्र. सं., सन् १९४९, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
वर्तमान भारत, तृ. सं., सन् १९४९, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
शिक्षा, प्र. सं., सन् १९४८, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर
हिंदुधर्म, द्वि. सं., सन् १९५०, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर

शमशेरसिंह नरूला

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, प्र. सं., सन् १९५७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

शितिकंठ मिश्र

खड़ी बोली का आन्दोलन, प्र.स., संवत् २०१३, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

शिवपूजन सहाय

शिवपूजन रचनावली, नवीन सं., सन् १९५६, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

श्यामसुन्दरदास (डॉक्टर)

भाषा-विज्ञान, सप्तम सं., संवत् २००९, इंडियन प्रेस, प्रयाग
साहित्यालोचन, नया सं., संवत् २००६, इंडियन प्रेस, प्रयाग

श्रद्धानन्द

कल्याण मार्ग का पथिक, प्र. सं., संवत् १९८१, ज्ञानमंडल, काशी

भगवद्गीता, प्र. सं., सन् १९५८, कार्तिकचरण लाहा, कलकत्ता

श्रीकृष्णलाल

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, तृ. सं., सन् १९५२, हिन्दी परिषद्, प्रयाग

श्रीप्रकाश

गृहस्थ गीता

नागरिक शास्त्र, द्वि. सं., सन् १९५२, साहित्य सदन, झांसी

भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार, प्र. सं., सन् १९४१ ज्ञानमंडल, काशी

हमारी आंतरिक गाथा, प्र. सं., संवत् २०१५, साहित्य सदन, झांसी

सत्येन्द्रनाथ मजूमदार

विवेकानन्द-चरित, प्र. सं., सन् १९४८, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर

सत्यदेव परिव्राजक

आत्मकथा, प्र. सं., सन् १९५१, ज्ञानधारा-कार्यालय, ज्वालापुर

जर्मनी में मेरे आध्यात्मिक प्रवचन, प्र. सं., सन् १९६०, सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर

सन्तराम बी. ए.

हमारा समाज, प्र. सं., सन् १९४९, नालन्दा प्रकाशन, बम्बई

संपूर्णानन्द (डॉक्टर)

अन्तरिक्ष यात्रा, प्रकाशन-शाखा, सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ

अंतर्राष्ट्रीय विधान, तृ. सं., संवत् २०११, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी

अलकनन्दा मंदाकिनी के दो तीर्थ, प्रकाशन-शाखा, सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश

आर्यों का आदि देश, तृ. सं., संवत् २०१२, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

चिद्विलास, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

ज्योतिर्विनोद, सन् १९१६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

दर्शन और जीवन, इंडियन प्रेस, प्रयाग

पृथ्वी से सप्तर्षि मंडल, प्रसाद परिषद्, वाराणसी

ब्राह्मण सावधान, द्वि. सं., संवत् २००१, ज्ञानमंडल लि. काशी

भारतीय बुद्धिजीवी, प्र. सं., शक संवत् १८७९, पब्लिकेशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश लखनऊ

भाषा की शक्ति और अन्य निबन्ध, प्र. सं., सन् १९५०, कला मन्दिर, इलाहाबाद

भौतिक विज्ञान, सन् १९१६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

महाराज छत्रसाल, सन् १९१६, ग्रंथ प्रकाशन समिति, काशी
समाजवाद, चतुर्थ सं., संवत् २००२, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
समाजवाद (पुस्तिका), प्रकाशन-शाखा, सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश
हिन्दु-विवाह में कन्यादान का स्थान, प्र. सं., सन् १९५४, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

सावरकर वि. दा.

भारतीय स्वातंत्र्य समर, प्र. सं., संवत् २००३, निर्मल साहित्य प्रकाशन, पूना
हमारी समस्याएं प्र. सं., राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
हिन्दुत्व, प्र. सं., राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली

सुतीक्ष्ण मुनि उदासीन

हिन्दु धर्म-व्यवस्था, प्र. सं., संवत् १९९७, सुतीक्ष्ण मुनि उदासीन, सक्कर

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि. सं., सन् १९५७, राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली
भारत की भाषाएं और भाषा-सम्बन्धी समस्याएं, प्र. सं., सन् १९५१, हिन्दी भवन, जालंधर

सुंदरलाल

गीता और कुरान, प्र. सं., सन् १९४९, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद
विश्वसंघ की ओर, द्वि. सं., सन् १९५०, भारती ग्रन्थमाला, प्रयाग
हजरत ईसा और ईसाई धर्म, प्र. सं., सन् १९४५, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद
हजरत मुहम्मद और इस्लाम, प्र. सं., सन् १९४१, विश्वंभरनाथ, इलाहाबाद

सुरेन्द्रनाथ सेन

अठारहसौ सत्तावन, प्र. सं., सन् १९५७, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली

सूर्यकान्त शास्त्री

जवाहरलाल, प्र. सं., सन् १९४९, मुंशी गुलाबसिंह एण्ड सन्स, दिल्ली
हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, प्र. सं., सन् १९३१, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर

हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाथ-संप्रदाय, प्र. सं., सन १९५०, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद
मध्यकालीन धर्म-साधना, प्र. सं., सन् १९५२, साहित्य-भवन लि., इलाहाबाद
हिन्दी साहित्य, प्र. सं., सन् १९५२, अतरचन्द कपूर एंड सन्स, दिल्ली

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, प्र. सं., सन् १९५२, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना
हिन्दी-साहित्य की भूमिका, चतुर्थ सं., सन् १९५०, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई

हनुमच्छास्त्री

तेलुगु और उसका साहित्य, प्र. सं., राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली

हंसराज अग्रवाल

हिन्दी-साहित्य की परंपरा, प्र. सं., सन् १९५०, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, लश्कर

हरिदत्त वेदालंकार

भारत का सांस्कृतिक इतिहास, प्र. सं., सन् १९५२, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली

हरिभाऊ उपाध्याय

श्रेयार्थी जमनालालजी, प्र. सं., सन् १९५१, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
युगधर्म, प्र. सं., सन् १९५८, सस्ता साहित्य, मंडल, नई दिल्ली
सर्वोदय की बुनियाद : शान्ति स्थापना, प्र. सं., सन् १९५७, सस्ता साहित्य, मंडल, नई दिल्ली
साधना के पथ पर, सन् १९४५, नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

हरेकृष्ण मेहताब तथा अन्य

राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती ग्रंथ, उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक

अभिनन्दन ग्रन्थ

केशवानन्द स्वामी, प्र. सं., सन् १९५८, कुम्भाराम आर्य, संगरिया
गंगाप्रसाद जज, प्र. सं., सन् १९५९, प्रेमचंद शर्मा, उत्तर प्रदेश
गांधी, पंचम सं., सन् १९५५, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
गोविन्ददास (सेठ), गोविन्ददास जयती समारोह समिति, नई दिल्ली
धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, सन् १९६०, हिन्दी अनुशी न पत्रिका, प्रयाग
नारायण, सन् १९४५, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनि. सभा, दिल्ली
नेहरू, सन् १९४९, आर्यावर्त प्रकाशनगृह, कलकत्ता
पुरुषोत्तमदास टंडन, सन् १९६०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली
पंत अभिनंदन पुस्तिका, सन् १९५६, उत्तरप्रदेश छात्र संघ, कलकत्ता,
वरदले स्मृति ग्रन्थ, सन् १९५२, अकेला प्रकाशन मन्दिर, तिनसुकिया
बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ, संवत् २००७, गुप्त स्मारक ग्रन्थ-समिति
महामना मदनमोहन मालवीय
मुंशी अभिनन्दन और वंदन, सन् १९५७, विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
मुंशी, सन् १९५०, राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली

राजेन्द्रप्रसाद, सन् १९५०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
सत्यनारायण, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा., मद्रास
संपूर्णानन्द, सन् १९५१, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
संपूर्णानन्द, हिन्दी भवन, कालपी

पत्र-पत्रिकाएं

अरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र, पत्रिका, अप्रैल १९५९
आजकल, सितम्बर १९५१, जून १९५२, सितम्बर १९५२
आलोचना, अक्तूबर १९५२, जनवरी १९५३, अक्तूबर १९५४, जनवरी १९५५, जनवरी, अप्रैल, अक्तूबर १९५७, अप्रैल १९५९
आर्यमित्र, १६ दिसम्बर १९३५, २१ फरवरी, १९६०
कविवचन-सुधा, दिसम्बर १८७३
गांधीजी (श्रद्धांजलियां), खंड १ से १२, सन् १९४८ से १९५०
गुरुकुल-पत्रिका—स्वर्ण जयन्ति विशेषांक, आश्विन २०१६, कार्तिक २००६
जनवाणी, मई १९४७
त्रिपथगा, दिसम्बर १९५५, जनवरी, मार्च, जून, अक्तूबर, १९५६, जनवरी १९५७, अक्तूबर, नवम्बर १९५८, जनवरी, फरवरी, मार्च, १९६०
नवनीति, फरवरी १९१५
नागरी प्रचारिणी पत्रिका—संवत् २००४ अंक ३, संवत् २००६ अंक २,३, ४, संवत् २००७ अंक १,२, ३, संवत् २००८ अंक १, संवत् २००९ अंक १, संवत् २०१० अंक ४, संवत् २०११ अंक १, संवत् २०१२ अंक ३,४, संवत् २०१३ अंक १, संवत् २०१५ अंक २, संवत् २०१६ अंक १
प्रताप, १ दिसम्बर १९२९
भारतीय साहित्य, अक्तूबर १९५९
भारतोदय, सितम्बर १९१०
राजभाषा, अगस्त १९५८, २२ मई १९५९
राष्ट्रभाषा पत्र, जुलाई १९५९, जनवरी १९६०
राष्ट्रभारती, दिसम्बर १९५८
राष्ट्रभाषा-दर्शन (मध्यप्रदेश राष्ट्र भाषा प्रचार समिति), १४ सितम्बर १९५९
विशाल भारत, जनवरी १९२९, जनवरी-दिसम्बर १९३२, २५ जुलाई १९३७, मार्च १९५०, मई १९५९

विश्वज्योति, अप्रैल १९६०
वीणा, अगस्त १९३७, अगस्त १९६०
संघर्ष, ३ दिसम्बर १९४९, २८ अक्तूबर, १९४०
संस्कृति, सितम्बर, अक्तूबर १९५९, मार्च, अप्रैल १९६०
समालोचक, मई १९५८
सम्मेलन पत्रिका, शक १८८० कला अंक, शक १८८० अंक १, ४, शक १८८१, अंक ३-४; संवत् २०१२, अंक ३; संवत् २०१३ भाग ४२, अंक २; संवत् २०१३ भाग ४२, अंक ३-४; संवत् २०१३, भाग ४३, अंक २ संवत् २०१४, भाग ४३, अंक ४
सरस्वती, मई १९०३, दिसम्बर १९५८
सर्वोदय, सन् १९३८, १९३९ जिल्द, अप्रैल-मई १९५५
साहित्य, जनवरी १९५७, जनवरी १९५८
हरिजन-सेवक, १० सितम्बर १९३९, २० जुलाई १९४०
हिन्दी-अनुशीलन, जनवरी-दिसम्बर १९५६, अंक १-४
हिन्दी नवजीवन, १९ फरवरी १९२४
हिन्दी प्रचारक, फरवरी १९२९ से जनवरी १९३६ तक की संपूर्ण जिल्दें
हिन्दी प्रचार समाचार, जनवरी १९४९ से फरवरी १९५१ तक की संपूर्ण जिल्दें
हिन्दी सन्देश, दिसम्बर १९५६
हिन्दुस्तानी, जनवरी से मार्च १९५८
हिमालय, मार्च, अप्रैल १९४८
Calcutta Review Feb. 1941.
Hindu (Daily) Feb. 4, 1929, Nov. 14, 1946.

प्रतिवेदन

अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन उदयपुर में श्री के. एम. मुन्शी का अध्यक्षीय भाषण, १९४६
गांधी सेवा संघ के अधिवेशनों का विवरण, दूसरा—फरवरी १९३६, पांचवां—मई १९३९, छठा—फरवरी १९४०
गांधी सेवा संघ का कार्य-विवरण, दिसम्बर १९३५
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचारक-सम्मेलन का विवरण, जनवरी १९३३ से नवम्बर १९३३ तक

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास रजत-जयन्ती-रिपोर्ट, जनवरी, फरवरी, मार्च, १९४६
पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रजत जयंती स्मृति-अंक, अप्रैल १९५८
श्री गुरु श्रीचंद्र उदासीन उपदेशक सभा की १९६० की रिपोर्ट
सनातन धर्म प्रतिनिधि-सभा, नई दिल्ली (संक्षिप्त विवरण)
Annual Report of the Ramkrishna Mission of 1959.
Congress Report of 1886
Report of the Official Language Commission 1956
Hindi Review, July 1960.

मराठी पुस्तकें

नरसिंह चिंतामण केलकर

लोकमान्य टिलक यांच्या आठवणी व आख्यायिका भाग, १, २, ३, द्वि. सं., सन् १९२४, सदाशिव विनायक बापट, पूना
लोकमान्य टिलक यांचे चरित्र, सन् १९२३, न. चि. केलकर, पूना

सावरकर वि. दा.

समाज चित्रें, प्र. सं, सन् १९५८, रा. के. नगरकर, बम्बई
साहित्य नवनीत, प्र. सं., सन् १९५८, शंकरवामन कुलकर्णी, बम्बई

बालगंगाधर तिलक

लोकमान्य, टिलकांचे केसरीतील लेख—भाग १, २, ३, प्र. सं., सन् १९२२, केसरी मराठा संस्था, पूना

अंग्रेजी-ग्रंथ

Nation Building.—Annie Besant.
The Works cf Late Pandit Guru Datta Vidyarthi M.A. with a Biographical Sketch.
—Aryan Printing, Publishing & G. Trading Co. Ltd.
Bankim-Tilak-Dayanand.—Aurobindo.
Annie Besant & the Changing World.
Communalism and its Cure by Theosophy.
The Fundamental idea of Theosophy.
The Religion of Theosophy.
The Science of Religion or Sanatan Vaidik Dharma.
—Bhagavandas.
Congress in Evolution.—D. Chakrabarty.
Lokamanya Tilak.
Savarkar and his Times.—Dhanajay Keer.
Indian Nation Builders.—D.N. Banerjee.
Hinduism through the Ages.—D.S. Sharma.
Lokamanya Tilak.—D.V. Tahmankar.
Modern Religious Movements in India.—Farquhar.
Excellence in English.—Frank H. Callan.
History of the Ramkrishna Math & Mission.
—Gambhiranand Swami.
Philosophy of Dayanand.—Ganga Prasad Upadhyaya.
Gleanings from Convocation Addresses.—Gurukul Kangri University.
Linguistic Survey of India. Vol. VI & IX Part I.
—G. A. Grierson.
On the New Year.—H.P. Blavatsky.
The Hand Book of the Theosophical Society in India.
—Indian Book Shop.
Ram Mohan Ray.—Iqbal Singh.
The Discovery of India.—Jawahar Lal Nehru.
In the Lahore Fort.—Jaya Prakash Narain
A Comperative Grammar of Modern Aryan Languages.
—John Beams.
Encyclopedia of Literature.—Joseph T. Shiply.
History of India Journalism.—J. Natrajan.
Three Great Sages.—Kewal Motwani.
The Arya Samaj.—Lajpat Rai.
Speeches of Lord Macaulay.
Prose & Poetry.
—Macaulay.

India—What can teach us ?—Maxmular.
The Unrepealed Central Acts Vol. VIII.—Ministry of Law.
The Hindi Prachar Movement.—M P. Desai.
Indian Literature.—Nagendra.
Vivekananda.
Ramkrishna.—Nikhilanand (Swami)
Netaji in Germany—N.G. Ganpulay.
Keshub Chander Sen.—P.K. Sen.
Biography of a New Faith Vol. I & II.—Prosanto Kumar Sen.
The Ramkrishna Mission.—Ranganathananda (Swami).
The Centre of Indian Culture.
The Religion of an Artist.—Ravindra Nath Tagore.
The Life of Ramkrishna.—Romain Rolland.
Paramahansa Sri Ramkrishna.—R.R. Diwakar.
Contemporary Indian Literature.—Sahitya Akademy.
Sparks from a Governor's Anvil Vol. I.—Sampurnanand.
Inside Congress.—Shraddhananda (Swami).
Annie Besant.—Sri Prakash.
Indo-Aryan & Hindi.—S.K. Chatterjee.
Lokamanya Bal Gangadhar Tilak.—S.L. Karandikar.
History of Bengali Literature.—Sukumar Sen.
Vinoba & His Mission.—Suresh Ramabhai.
The Legacy of Lokamanya.—Theodore L. Shay.
A Seminar on Saints.—T.M.P. Mahadwan.
Lokamanya Tilak.—V.G. Bhat.
Hindustani Language.—W. Hooper.
World Parliament of Religions Commemoration Volume
—Chidanand (Swami).
Dayanand Commemoration Volume—Harbilas Sarda.
Munshi—His Art & Work.—J.H. Dave.
Homage to Malviyaji.—V.A. Sundaram.